श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ५ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. NO. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE 1938.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर और जैनएन्टीकेरी, अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४।) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर; जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ५ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद. एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९५

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

|| श्रीजिनाय नमः ||

भास्कर

THE JAINA ANTIQUARY.

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ५ | जून १९३८ । ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४६४ | किरण १

श्रीपूज्यपाद और उनका 'समाधितंत्र'

(लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार)

जैनसमाजमें 'पूज्यपाद' नामके एक सुप्रसिद्ध आचार्य विक्रमकी छठी शताब्दीमें हो गये हैं, जिनका पहला अथवा दीक्षानाम 'देवनन्दी' था और जो बादको 'जिनेन्द्रबुद्धि' नामसे भी लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। आपके इन नामोंका परिचय अनेक शिलालेखों तथा ग्रन्थों आदिपरसे भले प्रकार उपलब्ध होता है। नीचेके कुछ अवतरण इसके लिये पर्याप्त हैं:—

> यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
> श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥ २ ॥
>
> —श्र० शि० नं० ४० (६४)

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी,
बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये,
यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः ॥ २० ॥

—श्र० शि० नं १०५ (२५४)

श्रवणबेल्गोलके इन दोनों शिला-वाक्यों परसे, जिसका लेखनकाल क्रमशः शक सं० १०३७ व १३२० है, यह साफ़ जाना जाता है कि आचार्य महोदयका प्राथमिक नाम 'देवनन्दी' था, जिसे उनके गुरु ने रक्खा था और इसलिये वह उनका दीक्षानाम है; 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम बुद्धिकी प्रकर्षता एवं विपुलताके कारण उन्हें बादको प्राप्त हुआ था; और जबसे उनके चरण-युगल देवताओंसे पूजे गये थे तबसे वे बुधजनों द्वारा 'पूज्यपाद' नामसे विभूषित हुए हैं।

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥

—श्र० शि० नं० १०८ (२५८)

शक संवत् १३५५ में उत्कीर्ण हुए इन शिला-वाक्योंसे स्पष्ट है कि 'श्रीपूज्यपादने धर्मराजका उद्धार किया था—लोकमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की थी—इसीसे आप देवताओंके अधिपति-द्वारा पूजे गये और 'पूज्यपाद' कहलाये। आपके विद्याविशिष्ट गुणोंको आज भी आपके द्वारा उद्धार पाये हुए—रचे हुए—शास्त्र बतला रहे हैं—उनका खुला गान कर रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्वबुद्धिके धारक—समस्त शास्त्र-विषयोंके पारंगत—थे और कामदेवको जीतनेवाले थे, इसीसे आपमें ऊँचे दर्जेके कृतकृत्य भावको धारण करनेवाले योगियोंने आपको ठीक ही 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है।' इसी शिलालेखमें पूज्यपाद-विषयक एक वाक्य और भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है :—

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

इसमें श्रीपूज्यपाद मुनिका जयघोष करते हुए उन्हें अद्वितीय औषध-ऋद्धिके धारक बतलाया है। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि विदेहक्षेत्र-स्थित जिनेन्द्रभगवानके दर्शनसे उनका गात्र पवित्र हो गया था और उनके चरण-धोए जलके स्पर्शसे एक समय लोहा भी सोना बन गया था।

इस तरह आप के इन पवित्र नामोंके साथ कितना ही इतिहास लगा हुआ है और वह सब आपकी महती कीर्ति, अपार विद्वत्ता एवं सातिशय प्रतिष्ठाका द्योतक है। इसमें संदेह नहीं कि श्रीपूज्यपादस्वामी एक बहुत ही प्रतिभाशाली आचार्य, माननीय विद्वान, युगप्रधान और अच्छे समर्थ योगीन्द्र हुए हैं। आपके उपलब्ध ग्रंथ निश्चय ही आपकी असाधारण योग्यताके जीते-जागते प्रमाण हैं। भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानन्द जैसे बड़े बड़े प्रतिष्ठित आचार्योंने अपने राजवार्तिकादि ग्रन्थोंमें आपके वाक्योंका—सर्वार्थसिद्धि आदिके पदोंका—खुला अनुसरण करते हुए बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें स्थान ही नहीं दिया बल्कि अपने ग्रन्थोंका अंग तक बनाया है। शब्दशास्त्रमें आप बहुत ही निष्णात थे। आपका 'जैनेन्द्र' व्याकरण लोकमें अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है—निपुण वैयाकरणोंकी दृष्टिमें सूत्रोंके लाघवादिके कारण उसका बड़ा ही महत्व है और इसीसे भारतके आठ प्रमुख शाब्दिकोंमें आपकी भी गणना है*। कितने ही विद्वानोंने किसी आचार्यादिकी प्रशंसामें उसके व्याकरण-शास्त्रकी निपुणताको आपकी उपमा दी है: जैसा कि श्रवणबेल्गोलके निम्न दो शिला-वाक्योंसे प्रकट है:—

"सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।" (शि० नं० ४७, ५०)

"जैनेन्द्रे पूज्यपादः।" (शि० नं० ५५)

पहला वाक्य मेघचंद्र त्रैविद्यदेवकी और दूसरा जिनचंद्राचार्यकी प्रशंसामें कहा गया है। पहलेमें, मेघचंद्रको व्याकरण-विषयमें स्वयं 'पूज्यपाद' बतलाते हुए पूज्यपादको 'अखिल-व्याकरण-पण्डितशिरोमणि' सूचित किया है और दूसरेमें जिनचंद्रके 'जैनेन्द्र'-व्याकरण-विषयक ज्ञानको स्वयं पूज्यपादका ज्ञान बतलाया है, और इस तरह 'जैनेन्द्र' व्याकरणके अभ्यासमें उसकी दक्षताको घोषित किया है।

पूज्यपादके इस व्याकरणशास्त्रकी प्रशंसामें अथवा इस व्याकरणको लेकर पूज्यपादकी प्रशंसामें विद्वानोंके ढेरके ढेर वाक्य पाये जाते हैं। नमूनेके तौरपर यहाँ उनमेंसे दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं:—

कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥

—आदिपुराणे, जिनसेनः।

---

* इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलीशाकटायनाः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

—धातुपाठः।

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥ १८ ॥

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराजः।

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः॥

—पांडवपुराणे, शुभचन्द्रः।

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे।

—नियमसारटीकायां, पद्मप्रभः।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

—नाममालायां, धनञ्जयः।

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥

—जैनेन्द्रप्रक्रियायां, गुणनन्दी।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

—ज्ञानार्णवे, शुभचन्द्रः।

इनमेंसे प्रथमके दो वाक्योंमें पूज्यपादका 'देव' नामसे उल्लेख किया गया है, जो कि आपके 'देवनन्दी' नामका संक्षिप्त रूप है। पहले वाक्यमें श्रीजिनसेनाचार्य लिखते हैं कि 'जिनका वाङ्मय—शब्दशास्त्ररूपी व्याकरण तीर्थ—विद्वज्जनोंके वचनमलको नष्ट करनेवाला है वे देवनन्दी कवियोंके तीर्थङ्कर हैं, उनके विषयमें और अधिक क्या कहा जाय? दूसरे वाक्यमें वादिराजसूरिने बतलाया है कि 'जिनके द्वारा—जिनके व्याकरणशास्त्रको लेकर—शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं वे देवनन्दी अचिन्त्य-महिमायुक्त देव हैं और अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा सदा वन्दना किये जानेके योग्य हैं। तीसरे वाक्यमें, शुभचंद्र भट्टारकने, पूज्यपादको पूज्योंके द्वारा भी पूज्यपाद तथा विस्तृत सद्गुणोंके धारक प्रकट करते हुए उन्हें व्याकरण-समुद्रको तिरजानेवाले लिखा है और साथ ही यह प्रार्थना की है कि वे मुझे पवित्र करें। चौथे में, पद्मप्रभमलधारी देवने पूज्यपादको 'शब्दसागरका चन्द्रमा' बतलाते हुए उनकी वन्दना की है। पाँचवेंमें, पूज्यपादके लक्षण (व्याकरण) शास्त्रको अपूर्व रत्न बतलाया गया है। छठेमें, पूज्यपादको नमस्कार करते हुए उनके लक्षणशास्त्र (जैनेन्द्र) के विषयमें यह घोषणा की

गई है कि जो बात इस व्याकरणमें है वह तो दूसरे व्याकरणोंमें पाई जाती है परन्तु जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती, और इस तरह आपके 'जैनेन्द्र' व्याकरणको सर्वाङ्गपूर्ण बतलाया गया है। अब रहा सातवाँ वाक्य, उसमें श्रीशुभचन्द्राचार्यने लिखा है कि 'जिनके वचन प्राणियोंके काय, वाक्य और मनःसम्बन्धी दोषोंको दूर कर देते हैं उन देवनन्दीको नमस्कार है।' इसमें पूज्यपादके अनेक ग्रन्थोंका उल्लेख संनिहित है - वाग्दोषोंको दूर करनेवाला तो आपका वही प्रसिद्ध 'जैनेन्द्र' व्याकरण है, जिसे जिनसेनने भी "विदुषां वाङ्मलध्वंसि" लिखा है, और चित्तदोषोंको दूर करनेवाला आपका मुख्य ग्रन्थ "समाधितंत्र" है, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, और जिसका कुछ विशेष परिचय प्रस्तुत लेखमें आगे दिया जायगा। रहा कायदोषको दूर करनेवाला ग्रन्थ, वह कोई वैद्यकशास्त्र होना चाहिये, जो इस समय अनुपलब्ध है।

विक्रमकी १५वीं शताब्दीके विद्वान कवि मंगराजने कनडी भाषामें 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामका एक चिकित्साग्रन्थ लिखा है और उसमें पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थको भी आधाररूपसे उल्लेख किया है, जिससे मंगराजके समय तक उस वैद्यकग्रन्थके अस्तित्वका पता चलता है। परन्तु सुहृद्वर पं० नाथूराम जी प्रेमी उसे किसी दूसरे ही पूज्यपादका ग्रन्थ बतलाते हैं और इस नतीजे तक पहुँचे हैं कि 'जैनेन्द्र'के कर्ता पूज्यपादने वैद्यकका कोई शास्त्र बनाया ही नहीं—यों ही उनके नाम मँढ़ा जाता है, जैसा कि उनके "जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्यदेवनन्दी" नामक लेखके निम्नवाक्यसे प्रकट है*:—

"इस (खगेन्द्रमणिदर्पण) में वह (मंगराज) अपने आपको पूज्यपादका शिष्य बतलाता है और यह भी लिखता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादके वैद्यक-ग्रंथसे संगृहीत है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपाद नामके एक विद्वान विक्रमकी तेरहवीं (१४वीं ?) शताब्दीमें भी हो गये हैं और लोग भ्रमवश उन्हींके वैद्यकग्रन्थको जैनेन्द्रके कर्ताका ही बनाया हुआ समझ कर उल्लेख कर दिया करते हैं।"

इस निर्णयमें प्रेमीजीका मुख्य हेतु 'मंगराजका अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाना' है, जो ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थ परसे यह स्पष्ट नहीं कि मंगराजने उसमें अपनेको किसी दूसरे पूज्यपादका शिष्य बतलाया है—वह तो पूज्यपादके विदेह-गमनकी घटना तकका उल्लेख करता है, जिसका सम्बन्ध किसी दूसरे पूज्यपादके साथ नहीं बतलाया जाता है; साथही, अपने इष्ट पूज्यपाद मुनीन्द्रको जिनेन्द्रोक्त सम्पूर्ण सिद्धांतसागरका पारगामी बतलाता है और अपनेको उनके चरणकमलके गन्धगुणोंसे आनन्दितचित्त प्रकट करता है, जैसा कि उसके

* देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग १, अङ्क २, पृ० ८३ और 'जैनहितैषी' भाग १५, अङ्क १-२, पृ० ५७।

।नम्न अन्तिम वाक्योंसे प्रकट है :—

"इदु सकल-आदिम-जिनेन्द्रोक्तसिद्धान्तपयःपयोधिपारग-श्रीपूज्यपादमुनीन्द्र-चारु-चरणारविन्द-गन्धगुणनन्दितमानस-श्रीमदखिलकलागमोत्तुंग-मंगविभुविरचितमप्प खगेन्द्र-मणिदर्पणदोलु षोडशाधिकारं समाप्तम् ॥"—(आरा० सि० भ० प्रति)

इससे मंगराजका पूज्यपादके साथ साक्षात् गुरु-शिष्यका कोई संबंध व्यक्त नहीं होता और न यही मालूम होता है कि मंगराजके समयमें कोई दूसरे 'पूज्यपाद' हुए हैं—यह तो अलंकृत भाषामें एक भक्तका शिष्य-परम्पराके रूपमें उल्लेख जान पड़ता है। शिष्यपरम्पराके रूपमें ऐसे बहुतसे उल्लेख देखनेमें आते हैं। उदाहरणके तौर पर 'नीतिसार'के निम्न प्रशस्ति-वाक्यको लीजिये, जिसमें ग्रन्थकार इन्द्रनन्दीने हज़ार वर्षसे भी अधिक पहलेके आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीका अपनेको शिष्य (विनेय) सूचित किया है :—

"—स श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरिभावानुभावी।
दैवज्ञः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचंचुः ॥"

ऐसे वाक्योंमें पदों अथवा चरणोंकी भक्ति आदिका अर्थ शरीरके अंगरूप पैरोंकी पूजादिका नहीं, किन्तु उनके पदोंकी—वाक्योंकी—सेवा-उपासनादिका होता है, जिससे ज्ञान-विशेषकी प्राप्ति होती है।

दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि मंगराजके सक्षात् गुरु दूसरे पूज्यपाद थे और उन्होंने वैद्यकका कोई ग्रन्थ भी बनाया है, तो भी उससे यह लाज़िमी नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि उन्हींके उस वैद्यकग्रन्थके भ्रममें पड़कर लोग 'जैनेन्द्र' के कर्ता पूज्यपादको वैद्यकशास्त्रका कर्ता कहने लगे हैं। क्योंकि ऐसी हालतमें वह भ्रम मंगराजके उत्तरवर्ती लेखकों-में ही होना संभव था—पूर्ववर्तीमें नहीं। परन्तु पूर्ववर्ती लेखकोंने भी पूज्यपादके वैद्यक-ग्रन्थका उल्लेख तथा संकेत किया है। संकेतके लिये तो शुभचन्द्राचार्यका उपर्युक्त श्लोक ही पर्याप्त है, जिसके विषयमें प्रेमीजीने भी अपने उक्त लेखमें यह स्वीकार किया है कि "श्लोकके 'काय' शब्दसे भी यह बात ध्वनित होती है कि पूज्यपाद स्वामीका कोई चिकित्सा-ग्रन्थ है।" वह चिकित्साग्रन्थ मंगराजके साक्षात् गुरुकी कृति नहीं हो सकता; क्योंकि उसके संकेत-कर्ता शुभचन्द्राचार्य मंगराजके गुरुसे कई शताब्दी पहले हुए हैं। रही पूर्ववर्ती उल्लेखकी बात, उसके लिये उग्रादित्य आचार्यके 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थका उदाहरण पर्याप्त है, जिसमें पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थका 'पूज्यपादेन भाषितः' जैसे शब्दोंके द्वारा बहुत कुछ उल्लेख किया गया है और एक स्थानपर तो अपने ग्रन्थाधारको व्यक्त करते हुए 'शालाक्यं पूज्यपाद-प्रकटितमधिकं' इस वाक्यके द्वारा पूज्यपादके एक चिकित्साग्रन्थका स्पष्ट नाम भी दिया है और वह है 'शालाक्य' ग्रन्थ जोकि कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख और शिरोरोगकी चिकित्सासे सम्बन्ध रखता है। अतः प्रेमीजीने जो कल्पना की है वह निर्दोष मालूम नहीं होती।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि चित्रकवि सोमने एक 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थ कनडी भाषामें लिखा है, जो कि मद्य-मांस-मधुके व्यवहारसे वर्जित है और जिसमें अनेक स्थानोंपर गद्य-पद्य-रूपसे संस्कृत वाक्य भी उद्धृत किये गये हैं। यह ग्रन्थ पूज्यपाद मुनिके 'कल्याणकारकवाहडसिद्धान्तक' नामक ग्रन्थके आधार पर रचा गया है; जैसा कि उसके "पूज्यपादमुनिगलुं पेल्द कल्याणकारकवाहडसिद्धान्तकविष्टं" विशेषणसे प्रकट है। इससे पूज्यपादके एक दूसरे वैद्यक-ग्रन्थका नाम उपलब्ध होता है। मालूम नहीं चित्रकवि सोम कब हुए हैं। उनका यह ग्रन्थ आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें मौजूद है।

इसके सिवाय, शिमोगा ज़िलान्तर्गत 'नगर' ताल्लुकके ४६ वें शिलालेखमें, जो कि पद्मावती-मंदिरके एक पत्थरपर खुदा हुआ है, पूज्यपाद-विषयक जो हक़ीक़त दी है वह कुछ कम महत्त्वकी नहीं है और इसलिये उसे भी यहाँ पर उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है। उसमें जैनेन्द्र-कर्ता पूज्यपाद-द्वारा 'वैद्यशास्त्र'के रचे जानेका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा :—

"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो—
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥

इसमें पूज्यपादके चार ग्रन्थोंका क्रमनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया गया है, जिनमें से पहला ग्रन्थ है 'जैनेन्द्र' नामक न्यास (व्याकरण), जिसे संपूर्ण बुधजनोंसे स्तुत लिखा है; दूसरा पाणिनीय व्याकरणके ऊपर लिखा हुआ 'शब्दावतार' नामका न्यास है; तीसरा मानव-समाजके लिये हितरूप 'वैद्यशास्त्र' और चौथा है तत्त्वार्थसूत्रकी टीका 'सर्वार्थसिद्धि'। यह टीका पहले तीन ग्रन्थोंके निर्माणके बाद लिखी गई है, ऐसी स्पष्ट सूचना भी इस शिलालेखमें की गई है। साथ ही, पूज्यपाद स्वामीके विषयमें लिखा है कि वे राजासे* वन्दनीय थे, स्वपरहितकारी वचनों (ग्रंथों) के प्रणेता थे और दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे परिपूर्ण थे।

इस अवतरणसे पूज्यपादके 'शब्दावतार' नामक एक और अनुपलब्ध ग्रंथका पता चलता है, जो पाणिनीय व्याकरणका न्यास है और 'जैनेन्द्र' व्याकरणके बाद लिखा गया है। विक्रमकी १२वीं शताब्दीके विद्वान् कवि वृत्तविलासने भी अपने 'धर्मपरीक्षे' नामक कनडी ग्रन्थमें, जो कि अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा' को लेकर लिखा गया है, पाणिनीय व्याकरण पर पूज्यपादके एक टीकाग्रन्थका उल्लेख किया है, जो उक्त 'शब्दावतार' नामक न्यास ही जान

* यह गंगराजा 'दुर्विनीत' जान पड़ता है, जिसके पूज्यपाद शिक्षागुरु थे।

पड़ता है। साथ ही, पूज्यपादके द्वारा भूरक्षणार्थ (लोकोपकारके लिये) यंत्र-मंत्रादि-विषयक शास्त्रोंके रचे जानेको भी सूचित किया है—जिसके 'आदि' शब्दसे वैद्यशास्त्रका भी सहज हीमें ग्रहण हो सकता है—और पूज्यपादको 'विश्वविद्याभरण' जैसे महत्त्वपूर्ण विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। यथा :—

"भरदिं जैनेन्द्रं भासुरं एनल् ओरेदं पाणिणीयक्के टीकुं ब—
रेदं तत्वार्थमं टिप्पणदिम् आरपिदं यंत्रमंत्रादिशास्त्रोक्करमं।
भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमं तालिदं विश्वविद्याभरणं।
भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम्॥"

पाणिनीयकी काशिकावृत्तिपर 'जिनेन्द्रबुद्धि' का एक न्यास है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने उक्त लेखमें प्रकट किया है कि 'इस न्यासकार 'जिनेन्द्रबुद्धि' के नामके साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नामकी बौद्ध पदवी लगी हुई है, इससे यह ग्रन्थ बौद्धभिक्षुका बनाया हुआ है। आश्चर्य नहीं जो वृत्त-विलास कविको पूज्यपादके 'जिनेन्द्रबुद्धि' इस नाम-साम्यके कारण भ्रम हुआ हो और इसीसे उसने उसे पूज्यपादका समझकर उल्लेख कर दिया हो।' परंतु ऊपरके शिलालेखमें न्यासका स्पष्ट नाम 'शब्दावतार' दिया है और उसे काशिकावृत्तिका नहीं बल्कि पाणिनीयका न्यास बतलाया है, ऐसी हालतमें जब तक यह सिद्ध न हो कि काशिकापर लिखे हुए न्यासका नाम 'शब्दावतार' है और उसके कर्त्ताके नामके साथ जो बौद्ध विशेषण लगा हुआ है वह किसीकी बादकी कृति नहीं है तब तक धर्म-परीक्षाके कर्ता वृत्तविलासको भ्रमका होना नहीं कहा जा सकता: क्योंकि पूज्यपादस्वामी गंगराजा दुर्विनीतके शिक्षागुरु (Preceptor थे, जिसका राज्यकाल ई० सन ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है और उन्हें हेब्बुर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्रपत्रादिकों) में 'शब्दावतार'के कर्तारूपसे दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लेखित किया है*।

इन सब ग्रन्थोंके अतिरिक्त पूज्यपादने और कितने तथा किन किन ग्रन्थोंकी रचना की है इसका अनुमान लगाना कठिन है—'इष्टोपदेश' और 'सिद्धभक्ति' जैसे† प्रकरणग्रन्थ तो शिलालेखों आदिमें स्थान पाये बिना ही अपने अस्तित्व एवं महत्त्वको स्वतः स्थापित कर रहे

* देखो, 'कर्णाटकइन्स्क्रिपशन्स' भा० ३; 'मैसूर एण्ड कुर्ग' जिल्द १, पृ ३७३; 'कर्णाटकभाषाभूषणम्' भू० पृ० १२; 'हिस्टरी आफ़ कनडीज़ लिटरेचर' पृ० २५ और 'कर्णाटककविचरिते'।

† सिद्धभक्तिके साथ श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति तथा नन्दीश्वरभक्ति नामके संस्कृत प्रकरण भी पूज्यपादके प्रसिद्ध हैं। क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी सिद्ध-भक्ति-टीकामें, "संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः" इस वाक्यके द्वारा उन्हें पूज्यपाद-कृत बतलाया है।

हैं। हाँ, लुप्तप्राय ग्रन्थोंमें छंद और काव्यशास्त्र-विषयक आपके दो ग्रन्थोंका पता और भी श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४० के निम्न वाक्यसे चलता है :—

"जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्घकविता जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥ ४ ॥"

इस वाक्यमें, ऊँचे दर्जेकी कुछ रचनाओंका उल्लेख करते हुए, बड़े ही अच्छे ढंगसे यह प्रतिपादित किया है कि 'जिनका "जैनेन्द्र" शब्दशास्त्रमें अपने अतुलित भागको, 'सर्वार्थसिद्धि' (तत्त्वार्थटीका) सिद्धांतमें परम निपुणताको, 'जैनाभिषेक' ऊँचे दर्जेकी कविताको, 'छन्दःशास्त्र' बुद्धिकी सूक्ष्मता (रचनाचातुर्य)को और 'समाधिशतक' जिनकी स्वात्मस्थिति (स्थितप्रज्ञता)को संसारमें विद्वानों पर प्रकट करता है वे 'पूज्यपाद' मुनीन्द्र मुनियोंके गणोंसे पूजनीय हैं।

'एकान्तखण्डन' ग्रंथमें लक्ष्मीधरने, पूज्यपाद स्वामीका 'षड्दर्शनरहस्य-संवेदन-सम्पादित-निस्सीमपाण्डित्य-मण्डिताः' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, उनके विषयमें एक खास प्रसिद्धिका उल्लेख किया है—अर्थात् यह प्रकट किया है कि उन्होंने नित्यादि सर्वथा एकान्त पक्षकी सिद्धिमें प्रयुक्त हुए साधनोंको दूषित करनेके लिये उन्हें 'विरुद्ध' हेत्वाभास बतलाया है; जब कि सिद्धसेनाचार्यने 'असिद्ध' हेत्वाभास प्रतिपादन करनेमें ही संतोष धारण किया है और स्वामी समन्तभद्रने 'असिद्ध-विरुद्ध' दोनों ही रूपसे उन्हें दूषित किया है। साथ ही, इसकी पुष्टिमें निम्नवाक्य 'तदुक्तं' रूप से दिया है :—

असिद्धं सिद्धसेनस्य विरुद्धं देवनन्दिनः।
द्वयं समन्तभद्रस्य सर्वथैकान्तसाधनमिति ॥

एकान्त साधनको दूषित करनेमें तीन विद्वानोंकी प्रसिद्धिका यह श्लोक सिद्धिविनिश्चय-टीका और न्याय-विनिश्चय-विवरणमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः।
द्वेधा समंतभद्रस्य हेतुरेकांतसाधने ॥

न्यायविनिश्चय-विवरणमें वादिराजने इसे 'तदुक्तं' पदके साथ दिया है और सिद्धिविनिश्चय-टीकामें अनन्तवीर्य आचार्यने इस श्लोकको एकबार पाँचवें प्रस्तावमें "यद्वक्ष्यत्यसिद्धः सिद्ध-सेनस्य" इत्यादि रूपसे उद्धृत किया है, फिर छठे प्रस्तावमें इसे पुनः पूरा दिया है और वहाँ पर इसके पदोंकी व्याख्या भी की है। इससे यह श्लोक अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चय ग्रंथके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठे प्रस्तावका है। जब अकलंकदेव जैसे प्राचीन—विक्रमकी सातवीं शताब्दी के—महान् आचार्यों तकने पूज्यपादकी ऐसी प्रसिद्धिका उल्लेख किया है तब

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पूज्यपाद एक बहुत बड़े तार्किक विद्वान् ही नहीं थे बल्कि उन्होंने स्वतंत्ररूपसे किसी न्यायशास्त्रकी रचना भी की है, जिसमें नित्यादि-एकान्तवादोंको दूषित ठहराया गया है और जो इस समय अनुपलब्ध है अथवा जिसे हम अपने प्रमाद एवं अनोखी श्रुतभक्तिके वश खो चुके हैं!

ऊपरके सब अवतरणों एवं उपलब्ध ग्रन्थोंपरसे पूज्यपादस्वामीकी चतुर्मुखी प्रतिभाका स्पष्ट पता चलता है और इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि आपने उस समयके प्रायः सभी महत्वके विषयोंमें ग्रन्थोंकी रचना की है। आप असाधारण विद्वत्ताके धनी थे, सेवा-परायणोंमें अग्रगण्य थे, महान् दार्शनिक थे, अद्वितीय वैयाकरण थे, अपूर्व वैद्य थे, धुरंधर कवि थे, बहुत बड़े तपस्वी थे, सातिशय योगी थे और पूज्य महात्मा थे। इसीसे कर्णाटकके प्रायः सभी प्राचीन कवियोंने—ईसाकी ८वीं, ९वीं, १०वीं शताब्दियोंके विद्वानोंने—अपने ग्रन्थोंमें बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ आपका स्मरण किया है और आपकी मुक्तकंठसे खूब प्रशंसा की है।

आपके जीवनकी अनेक घटनाएँ हैं—जैसे, १ विदेहगमन, घोर तपश्चर्याके कारण आँखोंकी ज्योतिका नष्ट हो जाना तथा 'शान्त्यष्टक'*के एकनिष्ठा एवं एकाग्रतापूर्वक पाठसे उसकी पुनः सम्प्राप्ति, ३ देवताओंसे चरणोंका पूजा जाना, ४ औषधि-ऋद्धिकी उपलब्धि, ५ और पादस्पृष्ट जलके प्रभावसे लोहेका सुवर्णमें परिणत हो जाना। इनपर विशेष विचार करने तथा ऐतिहासिक प्रकाश डालनेका इस समय अवसर नहीं है। ये सब विशेष ऊहापोह के लिये यथेष्ट समय और सामग्री की अपेक्षा रखती हैं। परंतु इनमें असंभवता कुछ भी नहीं है—महायोगियोंके लिये ये सब कुछ शक्य हैं।

पितृकुल और गुरुकुलके विचारको भी इस समय छोड़ा जाता है। हाँ, इतना ज़रूर कह देना होगा कि आप मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघके प्रधान आचार्य थे, स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं—श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों (नं० ४०,१०८) में समन्तभद्रके उल्लेखानन्तर 'ततः' पद देकर आपका उल्लेख किया गया है और आपके एक शिष्य वज्रनंदीने विक्रम सं० ५२६ में द्राविड़संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रन्थमें पाया जाता है। आप कर्णाटक देशके निवासी थे। कन्नड भाषामें लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजावलीकथे' नामक ग्रन्थोंमें आपके पिताका नाम 'माधवभट्ट' तथा माता का 'श्रीदेवी' दिया है और आपको ब्राह्मणकुलोद्भव लिखा है। इसके सिवाय, प्रसिद्ध व्याकरणकार 'पाणिनि' ऋषिको आपका मातुल (मामा) भी बतलाया है, जो समयादिककी दृष्टिसे विश्वास किये जाने के योग्य नहीं है।

* यह शान्त्यष्टक 'न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्' इत्यादि पद्यसे प्रारम्भ होता है और 'दशभक्ति' आदि में प्रकाशित भी हो चुका है।

समाधितंत्र

अब मैं पूज्यपादके ग्रन्थोंमेंसे 'समाधितंत्र' ग्रंथका कुछ परिचय अपने पाठकोंको देना चाहता हूँ। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है और जहाँ तक मैंने अनुभव किया है आपके अंतिम जीवनकी कृति है—उस समयके क़रीबकी रचना है जब कि आचार्य महोदयकी प्रवृत्ति बाह्य-विषयोंसे हटकर बहुत ज़्यादा अन्तर्मुखी हो गई थी और आप स्थितप्रज्ञ-जैसी स्थितिको पहुंच गये थे। यद्यपि जैनसमाजमें अध्यात्म-विषयके कितने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं और प्राकृतभाषाके 'समयसार' जैसे महान एवं गूढ़ ग्रंथ भी मौजूद हैं परंतु यह छोटा सा संस्कृत ग्रन्थ अपनी खास विशेषता रखता है। इसमें थोड़े ही शब्दों-द्वारा सूत्ररूपसे अपने विषयका अच्छा प्रतिपादन किया गया है; प्रतिपादन-शैली बड़ी ही सरल, सुन्दर एवं हृदय-ग्राहिणी है; भाषा-सौष्ठव देखते ही बनता है और पद्य-रचना प्रसादादि गुणोंसे विशिष्ट है। इसीसे पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको मन नहीं होता—ऐसा मालूम होता है कि समस्त अध्यात्म-वाणीका दोहन करके अथवा शास्त्र-समुद्रका मन्थन करके जो नवनीताऽमृत (मक्खन) निकाला गया है वह सब इसमें भरा हुआ है और अपनी सुगन्धसे पाठक हृदयको मोहित कर रहा है। इस ग्रंथके पढ़नेसे चित्त बड़ा ही प्रफुल्लित होता है, पद-पद पर अपनी भूलका बोध होता चला जाता है, अज्ञानादि मल छँटता रहता है और दुःख-शोकादि आत्माको सन्तप्त करनेमें समर्थ नहीं होते।

यह ग्रन्थ १०५ पद्योंका है, जिनमेंसे दूसरा पद्य 'वंशस्थ' वृत्तमें, तीसरा 'उपेन्द्रवज्रा'में, अन्तिम पद्य 'वसंततिलक' छंदमें और शेष सब 'अनुष्टुप्' छंद में हैं। अन्तिम पद्यमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए, ग्रन्थ का नाम 'समाधितंत्र' दिया है और उसे उस ज्योतिमय कैवल्यसुख की प्राप्तिका उपायभूत-मार्ग बतलाया है जिसके अभिलाषियोंको लक्ष्य करके ही यह ग्रन्थ लिखा गया है। साथही, ग्रन्थ-प्रतिपादित उपायका संक्षिप्त रूपमें दिग्दर्शन कराते हुए ग्रन्थके अध्ययन एवं अनुकूल वर्तनका फल भी प्रकट किया गया है। वह अन्तिम सूत्रवाक्य इस प्रकार है:—

"मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतमधिगम्य समाधितंत्रम् ॥ १०५ ॥

प्रायः १०० श्लोकोंका होनेके कारण टीकाकार प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको अपनी टीकामें 'समाधिशतक' नाम दिया है और तबसे यह "समाधिशतक" नामसे भी अधिकतर उल्लेखित किया जाता है अथवा लोकपरिचयमें आ रहा है।

इस ग्रन्थमें शुद्धात्माके वर्णनकी मुख्यता है और वह वर्णन पूज्यपादने आगम, युक्ति तथा अपने अन्तःकरणकी एकाग्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभवके बलपर भले प्रकार जाँच पड़तालके

बाद किया है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न प्रतिज्ञा-वाक्यसे प्रकट है :—

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति
समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां
विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

शुद्धात्मा को समझनेके लिये अशुद्धात्माको जाननेकी भी ज़रूरत होती है, इसीसे ग्रन्थमें आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद करके उनका स्वरूप समझाया है। साथ ही, परमात्माको उपादेय (आराध्य), अन्तरात्माको उपायरूप आराधक और बहिरात्माको हेय (त्याज्य) ठहराया है। इन तीनों आत्म-भेदोंका स्वरूप समझानेके लिये ग्रन्थमें जो कलापूर्ण तरीका अख़्तियार किया गया है वह बड़ा ही सुन्दर एवं स्तुत्य है और उसके लिये ग्रन्थको देखते ही बनता है। यहां पर मैं अपने पाठकोंको सिर्फ उन पदोंका ही परिचय करा देना चाहता हूँ जो बहिरात्मादिका नामोल्लेख अथवा निर्देश करनेके लिये ग्रन्थमें प्रयुक्त किये गये हैं और जिनसे विभिन्न आत्माओंके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करनेमें सहज हीमें अवगत हो जाता है। इन पदोंमेंसे कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका मूल प्रयोग द्वितीयादि विभक्तियों तथा बहुवचनादिके रूपमें हुआ है परन्तु अर्थावबोधकी सुविधा एवं एकरूपताकी दृष्टिसे उन्हें यहाँ प्रथमाके एकवचनमें ही रख दिया गया है। अस्तु; बहिरात्मादि-निदर्शक वे पद क्रमशः निम्न प्रकार हैं। उनके स्थान-सूचक-पद्याङ्क भी साथमें दिये जाते हैं :—

(१) बहिरात्म-निदर्शक पद—

बहिः ४; बहिरात्मा ५, ७, २७ : शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः ५; आत्मज्ञानपराङ्मुखः ७ : अविद्वान् ८; मूढः १०,४४,४७; अविदितात्मा ११ : देहे स्वबुद्धिः १३; मूढात्मा २९,५६,५८, ६० ; उत्पन्नात्ममतिर्देहे ४२ ; परत्राहम्मतिः ४३; देहात्मदृष्टिः ४९,९४ : अविद्यामयरूपः ५३ ; वाक्शरीरयोः भ्रान्तः ५४ ; बालः ५५; पिहितज्योतिः ६० ; अबुद्धिः ६१, ६९ ; शरीरकंचुकेन संवृतज्ञानविग्रहः ६८; अनात्मदर्शी ७३, ९३ ; दृढात्मबुद्धिर्देहादौ ७६ ; आत्मगोचरे सुप्तः ७८; मोही ९० ; अनन्तरज्ञः ९१, अक्षीणदोषः-सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शी ९३ ; जड़ः १०४ ।

(२) अन्तरात्म-निदर्शक पद—

अन्तः ४,१५,६० ; आन्तरः ५ : चित्तदोषाऽऽत्मविभ्रान्तिः ५; स्वात्मन्येवात्मधीः १३ ; बहिरव्यापृतेन्द्रियः १५; देहादौ विनवृत्तात्मविभ्रमः २२ ; अन्तरात्मा २७,३० : तत्वज्ञानी ४२; स्वस्मिन्नहम्मतिः ४३; बुधः ४३, ६३-६६ ; आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ३४; अवबुद्धः ४४ ; आत्मवित् ४७ ; स्वात्मन्येवात्मदृष्टिः ४९; नियतेंद्रियः ५१ ; आरब्धयोगः-भावितात्मा ५२ ;

वाक्शरीरयोरभ्रान्तः ५४ ; आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः ५७ ; प्रबुद्धात्मा ६० ; बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ६० ; दृष्टात्मा ७३, ९२ ; आत्मन्येवात्मधीः ७७ ; व्यवहारे सुषुप्तः ७८ ; दृष्टात्मतत्त्वः—स्वभ्यस्तात्मधीः ८० ; मोक्षार्थी ८३ ; योगी ८६, १०० ; दृष्टभेदः ९२ ; आत्मदर्शी ९३ ; ज्ञातात्मा ९४ ; मुनिः १०२ ; विद्वान् १०४ ; परात्मनिष्ठः १०५ ।

(३) परमात्म-निदर्शक पद—

अक्षयानन्तबोधः १, सिद्धात्मा १ ; अनीहिता-तीर्थकृत् २ ; शिवः-धाता-सुगतः-विष्णुः २; जिनः २, ६ ; विविक्तात्मा ३, ७३ ; परः ४,८६, ९७ ; परमः ४,३१,९८ ; परमात्मा ५,६,१७,२७,३० ; अतिनिर्मलः ५ ; निर्मलः-केवलः-शुद्धः-विविक्तःप्रभुः-परमेष्ठी-परात्मा-ईश्वरः ६ ; अव्ययः ६,३३ ; अनन्तानन्तधीशक्तिः-अचलस्थितिः ९ ; स्वसंवेद्यः ९,२०,२४ ; निर्विकल्पकः १९ ; अतीन्द्रियः-अनिर्देश्यः २२ ; बोधात्मा २५, ३२ ; सर्वसंकल्पवर्जितः २७ ; परमानंदनिर्वृतः ३२ ; स्वस्थात्मो ३९ ; उत्तमः कायः ४० ; निष्प्रिनात्मा ४७ ; सानंदज्योतिरुत्तमः ५१ ; विद्यामयरूपः ५३ ; केवलज्ञप्तिविग्रहः ७० ; अच्युतः ७९ ; परमं पदमात्मनः ८४,८९,१०४ ; परं पदं ८५ ; परात्म-ज्ञानसम्पन्नः ८६ ; अवाचां गोचरं पदं ९९ ।

यह त्रिधात्मक पदावली त्रिधात्माके स्वरूपको व्यक्त करनेके लिये कितनी सुन्दर एवं भावपूर्ण है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं—सहृदय पाठक सहज हीमें उसका अनुभव कर सकते हैं। हाँ, इतना ज़रूर कहना होगा कि एक छोटेसे ग्रंथमें एक ही आत्मविषयको स्पष्ट करनेके लिये इतने अधिक विभिन्न शब्दोंका ऐसे अच्छे ढंगसे प्रयोग किया जाना, निःसंदेह साहित्यकी दृष्टिसे भी कुछ कम महत्त्वकी चीज़ नहीं है। इसमें ग्रंथकार महोदयके रचना-चातुर्य अथवा शब्द-प्रयोग-कौशल्यका भी कितना ही पता चल जाता है।

ग्रन्थके अमृतवाक्योंमेंसे कुछ सूक्तियाँ भी, स्वकीय अनुवादके साथ, नमूनेके तौर पर नीचे उद्धृत की जाती हैं, जिनके रसास्वादनसे पाठक इस ग्रन्थके गौरव एवं ग्रन्थकारकी महत्ताका कितना ही अनुभव कर सकते हैं :—

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

शरीरादिकमें जिसे आत्माकी भ्रान्ति हो रही है—जो काय, वचन और सविकल्प मनको आत्मा समझता है, उनकी प्रवृत्तिको आत्माकी प्रवृत्ति मानता है अथवा अपने शरीर-को अपना आत्मा और तत्संबंधी स्त्री-पुत्र धनादिकको 'ये मेरे हैं' इस प्रकार आत्मीय समझता है—वह बहिरात्मा है। चित्त, दोष और आत्माके विषयमें जिसकी भ्रान्ति मिट

गई है—जो चित्तको चित्तरूपसे, रागादिक दोषोंको दोषरूपसे और शुद्धात्माको शुद्धात्मरूपसे अनुभव करता है—एकमें दूसरेकी कल्पना नहीं करता—उसे अन्तरात्मा कहते हैं। और जो अति निर्मल है—अशेषकर्ममल अथवा घाति-कर्ममलसे रहित है अर्थात् आत्माकी परम विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त है—वह परमात्मा पदका वाच्य है।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥१३॥

देहमें जो आत्मबुद्धि धारण करता है वह निश्चयसे आत्माको देहके साथ जोड़ता है—उसे भवभ्रमणके योग्य दीर्घ संसारी बनाता है—; और जो अपने आत्मामें ही आत्मबुद्धि धारण करता है वह निश्चयसे निजात्माको शरीरके बन्धनसे छुड़ा लेता है—मुक्त हो जाता है।

मूलं संसारदुःखस्य, देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

संसारके दुःख-समूहका मूल कारण देहमें आत्मबुद्धिका होना है—यदि यह न हो तो इस जीवको संसारमें कोई दुःख भी न हो। अतः इस देहात्मबुद्धिको छोड़ कर, बाह्य-विषयोंमें इन्द्रिय-व्यापारको हटाते हुए, अन्तरंगमें प्रवेश करना चाहिये—आत्मामें ही आत्मबुद्धिको धारण करके अन्तरात्मा बनना चाहिये, जिससे इन सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा मिले और आत्मा अपने वास्तविक सुखस्वभावका अनुभव करनेमें समर्थ हो सके।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

ज्ञानस्वरूप आत्माका वास्तवमें दर्शन—अनुभवन—करनेवालेके इसी जन्ममें रागादिक - राग-द्वेष काम क्रोध-मोहादिक—नाशको प्राप्त हो जाते हैं। अतः मेरा—मुझ आत्मानुभवीका—न कोई शत्रु है और न मित्र है—किसीके भी प्रति शत्रु-मित्रका भाव नहीं है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

यह अज्ञ जगत् जो मुझे—मेरे शुद्धस्वरूपको—देखता-जानता ही नहीं मेरा शत्रु नहीं है और न मित्र है—अपरिचित व्यक्तिके साथ शत्रुता-मित्रता बन नहीं सकती। और यह ज्ञानी लोक जो मुझे—मेरे आत्मस्वरूपको—भले प्रकार देखता जानता है मेरा शत्रु नहीं है और न मित्र है—हो नहीं सकता; क्योंकि आत्माका दर्शन होने पर रागद्वेषादिका नाश हो जाता है और रागद्वेषादिके अभावमें शत्रुता—मित्रता बनती नहीं। इस तरह न मैं किसीका शत्रु-मित्र हूं, और न मेरा कोई शत्रु-मित्र है।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

आत्मा और देहके भेदविज्ञान-जन्य आह्लादसे जो सुखी है वह तपश्चर्याके अवसर पर घोर उपसर्गादिक कष्टोंको भोगता हुआ भी खेदखिन्न नहीं होता ।

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

जिसका चित्त विक्षिप्त है—रागद्वेषादिसे आकुलित है—उसीको अपमानादिक सताते हैं, जिसके चित्तमें विक्षेप नहीं—जो रागादिसे आक्रान्त नहीं—वह अपने अपमानादिकको महसूस नहीं करता—और इसलिये तज्जन्य कष्ट भी नहीं उठाता ।

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

यह जो कुछ दृश्य दिखाई देता है—इन्द्रियोंके द्वारा प्रतीतिमें आनेवाला शरीरादिकका व्यापार है—वह सब अचेतन है; जड़ है—कुछ समझता ही नहीं—और जो चेतन है—बोध-स्वरूप आत्मसमूह है—वह अदृश्य है—इन्द्रियगोचर ही नहीं; तब मैं किस पर रोष करूँ और किस पर अपना संतोष व्यक्त करूँ ?—जड़ और अदृश्य दोनोंमेंसे कोई भी रोष-तोषका विषय नहीं । अतः मैं तो मध्यस्थ होकर रहता हूं—रोष-तोषको छोड़कर उदासीन भाव धारण करता हूँ ।

यदन्तर्जल्पसम्पृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

यह जो अन्तर्जल्पको लिये हुए आत्माका उत्प्रेक्षा-जाल है—चित्तमें बैठे बिठाए नाना प्रकारके विकल्प उठा करते हैं और कोई समक्ष न होते हुए भी भीतर ही भीतर बातचीत चला करती है अथवा हवासे बातें की जाती हैं—वह सब दुःखका मूल कारण है । उस उत्प्रेक्षा-जाल अथवा अन्तर्वचन-व्यापारमय कल्पनाचक्रके नाश हो जाने पर जो अवशिष्ट शुद्ध चैतन्य रह जाता है वही अपना इष्ट परमपद है । अथवा उस उत्प्रेक्षाजालके विनष्ट होने पर ही अपने इष्ट परमपदकी सम्प्राप्ति कही गई है ।

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

लिंग अथवा जटाधारण-नग्नत्वादिरूप वेष देहाश्रित देखा जाता है—शरीरका धर्म होनेसे—; इसी प्रकार ब्राह्मणादिरूप जाति भी देहाश्रित दीख पड़ती है, और देह ही इस आत्माका संसार है; अतः वे लोग संसारसे मुक्त नहीं हो सकते जो लिंग अथवा जातिका ही आग्रह पकड़े हुए हैं—लिंगविशेष अथवा जातिविशेषको ही मुक्तिका कारण मान रहे हैं।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

जो ज्ञान—शरीरादिसे भेदरूप आत्मस्वरूपका परिज्ञान—दुःखोंकी भावनासे रहित है—कायक्लेशादि कष्टोंके विना ही सुकुमार उपाय-द्वारा ज्ञानाभ्यास करनेसे उत्पन्न हुआ है—वह दुःखोंके उपस्थित होने पर क्षीण हो जाता है—स्थिर नहीं रहता—; अतः मुनिको—अन्तरात्मा योगीको—चाहिये कि वह दुःखोंके साथ आत्माकी भावना करे—कष्टसहिष्णु हुए आत्माका चिन्तन किया करे, जिससे उत्पन्न हुए ज्ञानके विनाशकी संभावना ही न रहे।

इस प्रकारकी सूक्तियोंसे यह सारा ग्रंथ भरा हुआ है। पूर्ण रसास्वादनके लिये पूरे ही ग्रंथको देखनेकी ज़रूरत है *।

*यह लेख उस प्रस्तावनाका एक अंश है जो संस्कृत-हिन्दी-टीकाओंके साथ प्रकाशित होने वाले 'समाधितंत्र' के लिये लिखी जा रही है। लेखक.

गुरु और शिष्य

(श्रीकालीपद मित्र, एम० ए०, साहित्य-कौस्तुभ)

जैनशास्त्रों में अच्छे और बुरे गुरु और शिष्यों को पहचानने का वर्णन मिलता है। उनमें यह भी बतलाया गया है कि किस प्रकार के गुरु शिक्षा देने के अधिकारी हैं और किस प्रकार के शिष्यगण शिक्षा-ग्रहण करने के पात्र हैं। इन विषयों के सुन्दर उदाहरण भी उनमें मिलते हैं। आजकल के गुरु और शिष्यों के लिये शायद वह रुचिकर हों।

कौन सा गुरु और कौन सा शिष्य योग्य अथवा अयोग्य है, इस बात का निर्णय करने के लिये निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं :--

(१) गोणो (गौ)—एक गांव में किसी मनुष्य ने एक रोगी गाय खरीदी, जो उठने में भी लाचार थी। उसने गाय के बैठे रहने पर भी खरीद लिया। अब उस गाय को बेंचने की फिक्र सवार हुई। ग्राहकों ने कहा "अच्छा, देखें गाय कैसे चलती है और कितना दूध देती है?" उस मनुष्य ने कहा कि "भाई, मुझ पर विश्वास करो, मैंने इसे ऐसे बैठे ही बैठे खरीदा है—तुम भी ऐसे ही खरीद लो।" ग्राहकों ने कहा कि "भाई तुम बेवकूफ बने, तो तुम्हारे साथ हम क्यों बनें? हम नहीं खरीदते।" इसी तरह वह आचार्य जो प्रश्न पूछने पर ठीक उत्तर नहीं दे सकता है और कहता है कि "भाई ऐसा ही मैंने सुना है और ऐसा ही तुम सुन लो" शिक्षा देने के अयोग्य है, क्योंकि वह शङ्का की निवृत्ति न कर सकने के कारण शिष्यों को पथभ्रष्ट कर सकता है। इसके विपरीत वह आचार्य जो ग्राहकों की तरह वस्तु का ठीक निर्णय करता है, शिक्षा देने का अधिकारी है। इसी प्रकार एक शिष्य जो रोगी गाय के पहले खरीददार की तरह है जिसने आँख मीच कर उसे खरीद लिया था, वह अविवेकी और अयोग्य है, एवं जो शिष्य दूसरे ग्राहकों के समान हैं योग्य हैं।

(२) चन्दन कंठा—द्वारिका में वसुदेव के यहां तीन बाजे (drum) थे, जिनके नाम क्रमशः संगमिया, अब्भूइया, और कौमुइया थे। पहला संग्राम के समय बजता था, दूसरा किसी संकट के समय और तीसरा कौमुदीमहोत्सव के अवसर पर बजाया जाता था। तीनों ही गोशीर्षनामक चन्दन के बने हुये थे। उनका चौथा बाजा अशुभनाशक (असिवप्पसमनी) कहलाता था। उसकी उत्पत्ति के विषय में कहा जाता था कि उस समय देवेन्द्र शक्र वसुदेव की प्रशंसा कर रहे थे कि वह सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं—दूसरों के अपराधों का बुरा नहीं मानते और नीच वृत्तिरूप में संग्राम नहीं करते। एक देव यह सुनकर उनकी परीक्षा

लेने चला। इस समय वसुदेव जिनदेव की पूजा करने जा रहे थे। देवने विक्रियासे काले कुत्ते की सड़ी लाश रास्ते में डाल दी। लोग नाकसिकोड़ कर भागने लगे। वसुदेव भगे नहीं। उन्होंने उसे देखा और कहा कि "देखो, इस काले कुत्ते के मुंह में पीले दांत ऐसे चमकते हैं मानो मरकतमणि की नविका में(? मोती लगे हों।" देवने सोचा—"ठीक तो है, वसुदेव गुणग्राहक हैं।" फिर वह देव वसुदेव का बढ़िया घोड़ा ले भागा, सईस ने ढूंढ़ कर उसका पता सरदारों और उमरावों को दिया। किन्तु देव ने उन्हें मार भगाया। तब वसुदेव स्वयं आये और देव से पूछने लगे कि "भाई, तुमने मेरा घोड़ा क्यों चुराया? यह तो मेरा है।" देव बोला—"संग्राम में मुझे हराओ और तुम्हारा घोड़ा है तो ले जाओ।" वसुदेव ने उत्तर में कहा कि "अच्छी बात है, पर लड़ोगे कैसे? तुम तो धरती पर हो और मैं रथ में हूं। तो तुम रथ ले लो।" देव ने कहा—"मुझे रथ नहीं चाहिये।" हठात् संग्राम हुआ, जिसमें वसुदेव ने धर्मयुद्ध का परिचय दिया। देव प्रसन्न हुआ और बोला कि "कोई वर लीजिये।" वसुदेव ने कहा—"तो भाई, मुझे अशुभनाशक बाजा दो।" देव ने वह उन्हें दिया। इस प्रकार इस बाजे की कथा थी। उसे छठे महीने बजाया जाता और जो कोई उसकी आवाज सुनता वह रोगमुक्त हो जाता और आगे छः महीने तक उस पर रोग का आक्रमण नहीं होता। एक दिन एक विदेशी व्यापारी वहां आया। वह तीव्र ज्वर से पीड़ित था। उसने बाजा के रखवाले से कहा, "ले भाई, यह हजार मुद्रा ले और कुछ क्षणों के लिये यह बाजा मुझे दे दे।" रखवाले ने लालच में फंसकर वह बाजा उसे दे दिया। व्यापारी ने उसे लौटाया तो परन्तु उसमें चिथड़ा लगा हुआ और चंदन लिपटा हुआ था। रखवाला उसे और लोगों को भी देने लगा, जिसका नतीजा यह हुआ कि बाजा चिथड़ों से भर गया और उस पर खब ही चन्दन का लेप हुआ। एकदा वसुदेव को उसके बजाने की आवश्यकता हुई। बाजे में से एक अजीब आवाज हुई। परीक्षा कराई तो बाजे में चिथड़े लगे हुये पाये गये। इस अपराध में रखवाले को प्राणदण्ड मिला। वसुदेव ने आठ दिन का उपवास किया और देव को प्रसन्न कर के एक नया बाजा प्राप्त किया। वह बाजा एक दूसरे रखवाले के सुपुर्द किया गया, जिसने उसे सावधानी से रक्खा। उसका सम्मान हुआ। इसी प्रकार एक शिष्य जो सूत्र और उसके अर्थ में अन्य पाखंड की मान्यताओं को मिला कर गड़बड़ (कंथमूकरोति) करता अथवा सूत्र और उसके अर्थ को भूल जाने पर अन्य आचार्य से घमण्ड के वश हो नहीं पूछता, बल्कि अंट-शंट मिला देता, वह अयोग्य है—अपात्र है। इसी तरह एक आचार्य जो अन्य सूत्रों को यथार्थ सूत्रों में मिलाता है शिक्षा देने का अधिकारी नहीं है।

(३) चेदियो—वसन्तपुरमें एक वृद्ध श्रेष्ठी की कन्या रहती थी और वहीं एक नये

श्रेष्ठी की कन्या का आवास था। उन दोनों में परस्पर मैत्री थी। एकदा दोनों एक तालाब में नहाने गईं। नये श्रेष्ठी की कन्या १४ प्रकार के गहने पहने हुये थी। उसने उन्हें उतार कर तालाब किनारे रख दिया और आप नहाने लगी। वृद्ध श्रेष्ठी की कन्या उन्हें लेकर चम्पत हुई। पहली ने समझा कि उसकी सखी दिल्लगी कर रही है। उसने अपनी सखी के माता-पिता से जा कहा, परन्तु उन्होंने उलटा उसे ही झिड़का। तब उसने जाकर अपने माता-पिता से जा कहा। उन्होंने वृद्ध श्रेष्ठी से गहने मांगे, परन्तु वह झट से बोला कि 'हमारे ही बहुत गहने हैं—हम तुम्हारे गहनों को क्यों लेते ?' मामला अदालत में पहुंचा, पर गवाह कोई भी न था। तब न्यायाधीश ने दोनों कन्याओं को बुलाकर गहने पहनने के लिये कहा। जिसके गहने थे उसने तो ठीक ठीक पहने, पर दूसरी पहनने में गड़बड़ा गई। उसे सज़ा मिली। इसी प्रकार जो आचार्य यथार्थ बात को बताने में गड़बड़ा जाता है उसे अनन्त संसार की सज़ा मिलती है। इसके विपरीत जो यथार्थ बात बताता और अर्हत् आज्ञा मानता है वह शिक्षा देने का अधिकारी है।

(४) <u>श्रावक</u>—एक श्रावक ने अपनी पत्नी की सखी को सुंदर वस्त्राभूषण पहने देखा। उसके ध्यान में वह दुबला होने लगा। पत्नी के आग्रह पर उसे दिल की बात बतानी पड़ी। पत्नी ने सखी को उससे मिला देने का वायदा किया। शाम को पत्नी ने वही वस्त्राभूषण पहने जो उसकी सखी पहने थी और अन्धेरे में जा खड़ी हुई। दूसरे दिन श्रावक ने आतुर होकर कहा कि 'तुमने आज अपना वचन पूरा नहीं किया।' वह बोली— 'नहीं, मैंने तो अपना वचन पूरा कर दिया क्योंकि कल भी मैं ही थी।' श्रावक लज्जित हो चुप रहा। वह व्यक्ति शिष्य होने के अयोग्य है जो श्रावक की तरह पूर्व परिचित होने पर भी सूत्रार्थ को याद नहीं रखता है।

(५) <u>बधिर मनुष्य</u>—एक ग्राम में एक बहरा कुटुम्ब रहता था। बुड्ढा-बुड्ढी और उनका लड़का-बहू, सब बहरे थे। लड़का हल जोता करता था। एक दिन जब वह बैल लिये खेत को जा रहा था तो रास्ते में राह भूले हुये पथिकों ने उससे मार्ग पूछा। उत्तर में वह बोला—'मेरे बैल घर जाना चाहते हैं' और वह खेत को चला गया। जब खेत पर उसको पत्नी खाने को भात लाई तो उसने कहा—'देखो, इन बैलों के सींग हैं।' पत्नी ने कहा—'नमक, बिमक—मैं कुछ नहीं जानती; खाना तुम्हारी मां ने बनाया है।' उसने लौटकर यही बात अपनी सास से जा कही। वह सूत कात रही थी। उसने कहा— "मोटा पतला, कैसा भी मेरा सूत हो, पर इससे बिचारे बुड्ढे के कपड़े बन जायंगे।" बुड्ढा सरसों के खेत का रखवाला था। बुढ़िया ने उसे कहा कि 'तुम्हारी बहू ऐसे-ऐसे कहती थी।' बुड्ढे ने उत्तर दिया—"तुम्हारी कसम, मैंने सरसों का एक दाना भी नहीं खाया

है।" इसी प्रकार वह आचार्य जो बधिरों का तरह एक बात के पूछे जाने पर दूसरी बात कहता है, आचार्य ही नहीं कहा जा सकता और न वह योग्य शिष्य है जो एक बात को छोड़कर उसके स्थान पर दूसरी ग्रहण करता है।

(६) टन्कन-व्यवहार—उत्तरापथ में म्लेच्छ रहते थे, जो टन्कन नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होंने दक्षिणापथ के व्यापार में खूब सोना और हाथी-दांत लिया। वे वहां के व्यापारियों की बोली नहीं जानते थे। इसलिये उन्होंने स्वयं अपने हाथों से इच्छित वस्तुओं को अपने मन-भर के इकट्ठा किया। इसी प्रकार आचार्य को चाहिये कि वह शिष्य को तब तक समझावे जब तक उसकी तृप्ति न हो। शिष्य को भी तब तक प्रश्न करते रहना चाहिये जब तक कि वह विषय को अच्छी-तरह समझ न ले।

आगे जैन शास्त्रोंमें शिष्योंके गुणों और अवगुणों का खास तौर पर वर्णन किया गया है। शिष्यों की परीक्षा के लिये उनमें निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं :—

(१) शैलघन—शैल मूंग बराबर पत्थर का छोटा टुकड़ा था और घन बड़ा-सा बादल था। कल्पना करिये उनमें परस्पर लड़ाई हुई। बादल ने मूसलधार पानी बरसा कर पत्थर को तहस-नहस कर डालने का प्रयत्न किया। पत्थर ने कहा—'ऐसे पानी से उसका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा।' बादल ने सात दिनों तक अहर्निश वर्षा की और सोचा कि अब तो पत्थर का नामोनिशान भी मिट गया होगा। उसने बरसना बन्द कर दिया। उधर पत्थर धुल-धुलकर खूब चमकने लगा और बादल का उपहास करने लगा। बादल अपना-सा मुंह लेकर भाग गया। इसी प्रकार एक शिष्य जो मुगसेल बराबर भी विषय को नहीं समझता और आचार्य के क्रोध करने पर उल्टा कहता है कि शिष्य नहीं समझता तो इसमें गुरु का आलस्य कारण है। ऐसे शिष्य को शिक्षा देना उचित नहीं है। क्योंकि ठंठ गाय को कितना भी सहलाओ वह दूध नहीं देगी, वैसे ही वह शिष्य भी एक पद भी नहीं सीखेगा। इसमें यही नहीं कि शिष्य को कुछ लाभ न होता हो, बल्कि हानि भी है, क्योंकि लोग कहेंगे कि गुरु में पढ़ाने की पर्याप्त क्षमता की कमी है और वह शिक्षा भी ठीक नहीं जिसे शिष्य समझ न पाये; वरन क्या बात थी जो शिष्य उसे न समझ पाता? इसके साथ ही योग्य शिष्यों की पढ़ाई में विलम्ब होगा। इसके विपरीत काली मिट्टी का उदाहरण है, जो कितना भी पानी बरसे सब को पी जाती है। जो शिष्य सूत्रार्थ को खूब ग्रहण करता है वह काली मिट्टी के समान है और योग्य है।

(२) कुट (घट)—घड़े दो प्रकार के होते हैं (१) नये (२) पुराने। पुराने दो तरह के हैं (१) गंधसहित (२) और गंधरहित। गंधसहित (१) अच्छे, जैसे कपूर-अगरु-चंदन की धसहित और (२) बुरे जैसे प्याज, शराब, तेल आदि की दुर्गन्ध वाले। गंधरहित

घड़ों में न सुगन्ध है और न दुर्गन्ध ; वे कोरे हैं। इसी प्रकार शिष्य भी दो तरह के होते हैं (१) नये (२) पुराने। वह जो जवान हैं मूर्ख हैं, अब जिन्होंने कुछ सीखना प्रारंभ किया है नये हैं। पुराने शिष्य दो प्रकार के होते हैं अभवित अर्थात् जिन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा है और भवित अर्थात् जिन पर प्रभाव पड़ चुका है। अभवित व्यक्ति ही शिष्य होने के योग्य हैं।

दूसरी तरह से घड़े चार प्रकार के हो सकते हैं (१) छिद्रकूट अर्थात् जिसकी तली में छेद हो (२) खंडकूट अर्थात् एक भाग खंडित हो, (३) कंठहीनकूट अर्थात् टुटनी-रहित और (४) सम्पूर्ण कूट। इसी तरह शिष्य भी चार तरह के होते हैं (१) वह जो सभा में सब कुछ समझता है, परन्तु बाहर जाते ही सब भूल जाता है, छिद्रसहित घड़े के समान है। वह घड़ा भी जमा रहने पर पानी को नहीं बहाता। (२) वह शिष्य जो सूत्रार्थ का आधा, पौना, चौथाई या और भी कमती समझता है, उतना दृढ़ता से याद रखता, वह खण्डकूट के सदृश है। (३) वह शिष्य जो सूत्रार्थ को कुछ कम समझता है और बाद में उसे भी भूल जाता है, वह टुटनी-हीन घड़े के तुल्य है। (४) वह शिष्य जो सूत्रार्थ को पूरा समझता है और उसे वैसे ही याद रखता है, सम्पूर्ण घड़े के समान है। पहले प्रकार का शिष्य योग्य है—उपरान्त वह क्रमशः अधिक-अधिक योग्य समझना चाहिए।

(३) चलनी—पानी यदि चलनी में डाला जाय तो वह उसमें नहीं ठहरता और धरती पर जा पड़ता है; इसी तरह वह शिष्य जो सूत्रार्थ के सुनाई पड़ते रहने पर भी उन्हें भूलता जाता है चलनी के सदृश है और अयोग्य है।

(४) परिपूनग—बया अथवा वैसी ही चिड़ियों का घोंसला होता है, जिसे आभीर-गण (ग्वाला) घी छानने के लिये ले जाते हैं। उस घोंसले में से घी तो छन जाता है और फूंक रह जाता है। वैसे ही जो छात्र उपदेश के समय अच्छी बातों को छोड़कर बुरी बातों को ग्रहण करता है उस घोंसले के तुल्य अयोग्य है।

(५) हंस—पानी मिले दूध में से दूध ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार जो शिष्य आचार्य के उपदेश में कमजोरियों का ध्यान न कर के केवल सदुपदेश को ही ग्रहण करता है, वह हंस के समान और सर्वथा योग्य है। हंस की जिह्वा में कुछ तिक्त-क्षार रहता है, जिससे वह केवल दूध ही ग्रहण करता है।

(६) महिष—जैसे एक भैंस तालाब में घुसकर सींगों से उछाल उछाल कर पानी को गन्दा कर देता है, वैसे ही वह शिष्य जो अनुपयुक्त प्रश्नों की झड़ी लगाकर विषयान्तर को उपस्थित करता है अथवा झगड़ा करता है, भैंस के समान है और सर्वथा अयोग्य है।

(७) मेष—जैसे एक मेष अपने छोटे-से मुंह से गाय के खुर इतने गड्ढे में से पानी को बिना मैला किये पी लेता है, वैसे ही वह शिष्य जो विनय-द्वारा गुरु के मन को प्रसन्न कर के सूत्रार्थ को स्पष्ट कर लेता है, मेष के तुल्य है और सर्वथा योग्य है।

(८) मशक—वह शिष्य जो गुरु की जाति-कुल आदि बातों को छेड़कर उसके मन को दुखाता है, मशक के समान, सर्वथा अयोग्य है।

(९) जोंक—जिस प्रकार जोंक देह से चिपटते ही खून चूसती हैं वैसे ही जो छात्र खूब ही शास्त्र-ज्ञान पीते हैं जलौक-तुल्य योग्य हैं।

(१०) बिल्लि—एक बिल्ली अपनी चंचलता के वश हो कढ़ाई से खिंडा कर के दूध पीती है। ठीक वैसे ही वह छात्र जो स्वभावगत संकोच के वश हो स्वयं तो गुरु के पास नहीं जाता परन्तु दूसरों से सुन लेता है, बिल्ली के समान है और अयोग्य है।

(११) जहक—सेही धीरे-धीरे दूध पीता है और बरतन भी चाटता है। वैसे ही एक शिष्य जो सूत्रार्थ को धीरे धीरे ग्रहण करता है—पहले पाठ को याद कर के तब दूसरा पाठ लेता है, सेही के समान है और योग्य है।

(१२) गाय—एक गृहस्थ ने एक पर्व पर चार चतुर्वेदी ब्राह्मणों को एक गाय भेंट की उन्होंने सोचाः—'यह एक गाय हम चारों को दी गई—अब क्या करें ?' एक ने कहा "उसे क्रम से दुहा करिये।" सब ने यह बात पसन्द की। पहले दिन जिस ब्राह्मण ने उसे दुहा उसने यह सोचकर कि दूध तो दुही लिया—अब कल दूसरा दुहेगा—मैं क्यों व्यर्थ ही इसे खिलाऊं'—उसे चारा नहीं खिलाया। शेष ब्राह्मणों ने भी यही सोचा और किया। बेचारी गाय भूखों मरी। लोगों ने उन ब्राह्मणों को धिक्कारा। ठीक ऐसे ही जो शिष्य यह सोचते हैं कि गुरु जी हम अकेले को ही थोड़े पढ़ाते हैं—हम ही क्यों उनकी सेवा-विनय करें। अन्य शिष्य सोचते हैं कि इनके खास शिष्य जब उनकी विनय नहीं करते तो हम क्यों करें ? विचारे गुरु जो विनय से वञ्चित रहे। यह शिष्य उपर्युक्त ब्राह्मणों के सदृश हैं और अयोग्य हैं। इसके विपरीत उन चार ब्राह्मणों का उदाहरण है जिन्होंने दक्षिणा में मिली गाय को बारी-बारी से दुहा और खूब खिलाया। इन ब्राह्मणों के समान वे शिष्य बताये गए हैं जो अपने-पराये का भेद न कर के गुरु की खूब ही विनय और सुश्रूषा करते हैं—वे सर्वथा योग्य हैं।

(१३) अभेरी—एक अभीर (अहीर) ने घी की गाड़ी भरी और अहीरनी को साथ लेकर शहर में घी बेंचने गया। बाज़ार में पहुंचकर एक दूकान के आगे गाड़ी खड़ी कर के वह घी-भरे घड़े उतार-उतार कर के अहीरनी को देने लगा। इत्तफाक़ से अहीरनी के हाथ से एक घड़ा गिर गया। अहीर यह देखकर भल्ला गया और अहीरनी से लड़ने लगा।

पति-पत्नी में खूब झगड़ा हुआ। ऐंचातानी में गाड़ी का भी घी खूब ही बिखरा। कुछ कुत्तों ने खाया, कुछ यार लोगों ने आंख बचा दुबकाया। जब लड़-झगड़ कर वे चुप हुए, तो बचे खुचे घी को बेंचा और उन दामों से कुछ खरीद कर के घर चले। रात हो चली थी—मार्ग में वे लूट लिये गये और बड़े दुःखी हुए। इस दृष्टान्त का यह भाव है कि गुरु शिष्य को परस्पर शान्तभाव रखना चाहिये - इन्हें तीक्ष्ण शब्द कह कर अहीर-अहीरनी की तरह लड़ना नहीं चाहिए, ऐसा करने से उन दोनों को संसार के दुःख उठाने पड़ते हैं। उपर्युक्त उदाहरण के विपरीत यह दृष्टान्त है कि जब घड़ा फूटा तो समझदार अहीर-अहीरनी उसे बटोरने के लिये तुल पड़े, जिससे थोड़ा-सा घी खराब हुआ और दोनों ही अपनी-अपनी गलती कहने लगे। उन्होंने अच्छे दामों में घी बेचा और मनचाही चीजें खरीद कर दिन में ही मजे में घर पहुंच गए। इसी तरह यदि कदाचित् गुरु किसी तरह से कोई गलत बात बता जाय तो मीठे शब्दों में उसे छात्र को बताकर ठीक कर दे। छात्र ऐसे अवसर पर यही कहे कि महाराज आपने तो ठीक बताया होगा—मैंने ही गलत याद कर लिया—अब ठीक याद किये लेता हूं। ऐसे गुरु और शिष्य सर्वथा योग्य और प्रशंसनीय हैं।

('माडर्न-रिव्यू' से अनुवादित—का० प्र०)

वैराट अथवा विराटपुर

(ले० श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम०,आर०,ए०,एस०, साहित्य-मनीषी)

मत्स्यदेश की प्राचीन राजधानी का नाम वैराट अथवा विराटपुर था, जो मथुरा से दक्षिण-पश्चिम की ओर अवस्थित थी। वर्तमानकाल में जयपुर राज्य के अन्तर्गत बैराट नाम का एक क़स्बा है। वह जयपुर से दिल्ली को जानेवाली सड़क पर जयपुर शहर से क़रीब ५२ मील दूरी पर विद्यमान है। जयपुर राज्य में इसी नाम की तहसील का वह केन्द्रस्थान (Headquarters of a Tehsil) है। अपनी आकृति और भग्नावशेषों से वह प्राचीन विराटपुर होने का दावा करता है। सन १८७१—७२ में कनिंघम साहब ने वैराट को देखकर उसका वर्णन अपनी रिपोर्ट में लिखा था। उपरान्त सन १९०९—१० में डॉ० डी० आर० भाण्डारकर भी वहाँ गये थे। किन्तु हाल में श्रीमान रा० ब० दयाराम जी साहनी सा० ने बैराट नगर की खुदाई की है और वहाँ अत्यन्त प्राचीन मौर्य्यकालीन कीर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। साहनी सा० को वहाँ कुछ ऐसी चीजें भी मिली हैं जिनमें वैराट का सम्बन्ध सिन्धु उपत्यका के मोहन जोदड़ों से होना अनुमानित है।* साहनी सा० जयपुर-राज्य के पुरातत्व-विभाग के अध्यक्षपद पर नियुक्त हैं और यह आशा की जाती है कि जयपुर राज्य ऐसे विज्ञ पुरातत्त्वज्ञ-द्वारा वहाँ पुरान्वेषणकार्य को प्रगतिशील बनाये रखकर भारत की अमरकीर्ति को प्रकाश में लाने के लिये कुछ उठा न रक्खेगा। प्रस्तुत लेख में साहित्य और शिलालेखीय साक्षी के आधार से विराटपुर अथवा वैराट का दिग्दर्शन कराना अभीष्ट है।

भारतीय साहित्य में विराट का अच्छा वर्णन मिलता है। 'महाभारत' से यह स्पष्ट है कि युधिष्ठिरादि पांचों पांडवों के समय में यहाँ पर विराट नाम का राजा राज्य करता था। संभवत: राजा विराट के नामानुकूल ही यह नगर विराटपुर अथवा वैराट नाम से प्रसिद्ध हुआ था। अपने बनवास के तेरहवें वर्ष में पाँचों पाण्डव वीर और द्रौपदी बैराट में आकर रहे थे। मनु महाराज ने अपनी 'संहिता' में वैराट का उल्लेख किया है। वहाँ लिखा हुआ बताया जाता है कि 'सेना में कुरुक्षेत्र, मत्स्य अथवा विराट, पाञ्चाल अथवा कान्यकुब्ज और शूरसेन देशों में जन्मे हुये मनुष्यों को भरती करना चाहिये।'† इस उल्लेख से स्पष्ट है कि विराट के अधिवासी अपने शौर्य और वीरता के लिये प्रसिद्ध थे।

---

* Archaeol : Remains & Excavations at Bairat Intro : pp. 2—4.

† Cnnn'ngham's Ancient Geography of India, p. 390—392.

श्रीजिनसेनाचार्य (शक सं० ७०५) ने अपने 'हरिवंशपुराण' में विराट नगर का वर्णन निम्न प्रकार किया है :—

'अविज्ञातसुखच्छेदा स्वेच्छया विहृतिं श्रिताः'
निन्युरेकादशाब्दानि धन्यास्ते मान्यचेष्टिताः ॥२२॥
अतः परं पुनः प्राप्ता विराटपुटभेदनं ।
विराटो यत्र राजासौ भार्या यस्य सुदर्शना ॥२३॥
अव्यक्ताः पांडवास्तत्र द्रौपदी च विचक्षणा ।
विराटनगरे तस्थुर्विराटस्यातिपूजिताः ॥२४॥
यथायथं विनोदेन तत्र संवसतां सतां ।
प्रयाति सुखिनां काले प्रमादरहितात्मनां ॥२५॥४६॥'[1]

भावार्थ—"अपनी इच्छानुसार जहाँ तहाँ पृथ्वी पर विहार करते हुए उत्तम चेष्टा के धारक पाण्डवों के ग्यारह वर्ष गुप्तरीति से कट गये। तब वे विराटनगर आये। विराटपुर में उस समय राजा विराट राज्यशासन करता था और उसकी रानी सुदर्शना नाम की थी। पांडव वहां गुप्तरूप में रहने लगे। चतुर द्रौपदी ने भी अपने को किसी पर व्यक्त नहीं किया। इस प्रकार राजा विराट-द्वारा सत्कृत हुए वे पांडव विराट में सानन्द रहते थे।" रानी सुदर्शना चूलिका नगरी के राजकुमार कीचक की बहन थी। कीचक अपनी बहन से मिलने के लिये विराटनगर आया और वहाँ उसने द्रौपदी को देखा। वह उसकी रूपराशि पर दिवोना हो गया। महाबली भीम ने कीचक को उसके किये के लिये खूब छकाया। कीचक ऐसे शरमाये कि वह दुनियां को ही छोड़ गये—साधु हो गये और कर्मों का नाश करके सिद्ध परमात्मा बन गये। लोक उनकी वन्दना करता है। महानुभाव पांडवों का सम्पर्क उनके लिये मुक्तिदाता हुआ। पांडव विराट में रहते रहे। दुर्योधनादि कौरवों को आशङ्का हुई कि हो न हो पांडव विराट में छिपे हुए हैं। वे झट से विराट पर चढ़ आये और वहाँ का गोधन छीन कर ले चले। पांडव इस अत्याचार को चुपचाप कैसे देखते? उनके वनवास के बारह वर्ष भी समाप्त हो रहे थे। उन्होंने प्रकट होकर कौरवों पर आक्रमण किया और विराट के अधिवासियों को उनके त्रास से मुक्त किया'। जिस समय मगध के राजा जरासिंधु ने यादवों पर आक्रमण किया और कुरुक्षेत्र में घमासान युद्ध हुआ तो उस समय राजा विराट यादवों की ओर से लड़े थे।[2]

१ हरिवंश पुराण सटीका (कलकत्ता) पृष्ठ ४४०—४४३।
२ हरि०, पृ० ४६१।

श्रीगुणभद्राचार्य ने अपने 'उत्तर पुराण' में भी विराट-विषयक उपर्युक्त वर्णन का सामान्य उल्लेख निम्न प्रकार किया है :–

'द्यूतं युधिष्ठिरस्यात्र दुर्योधनमहीभुजा। भुजंगशैलपुर्यां यत्कीचकानां विनाशनं।
विराटभूपतेर्भूरिगोमंडलनिवर्तनं। अनुयातेन भूपस्य विराटस्य सुशर्मणः॥'

अर्थात्—"किसी एक दिन राजा युधिष्ठिर ने दुर्योधन के साथ जूआ खेला। जूआ में वे सब हार गये और नगर छोड़कर छिपकर विराट के राजा के यहां सेवक बन कर रह गये। वहां पर भीम ने भुजङ्गशैल नगर में कीचक को मारा और राजा विराट का गो-मंडल शत्रुओं से छुड़ाया। इस प्रकार उन्होंने राजा विराट को सुखी किया।"[1]

किंतु पांडवों के विराट-आगमन का विस्तृत विवरण श्रीशुभचंद्राचार्य ने अपने 'पांडव-पुराण' में दिया है। कवि बुलाकीदास जी ने उसका हिंदीरूपांतर छंदोबद्ध किया है। उससे प्रकट है कि पांडव विराट में आकर गुप्तरूप में रहकर आजीविकोपार्जन करते थे। सती द्रौपदी रनवास में टहल करतो सुरक्षित थीं। कवि महोदय ने लिखा है :—

'भूतल मांहि भ्रमते बहु ठांइ। विषय विराट सो पहुंचे जाइ॥
तहाँ विराटपुर उत्तम बसै। इंद्र-नगर-सम शोभा लसै॥५२॥

इससे प्रकट है कि उस समय विराट खूब ही समृद्धशाली था। उपरांत कवि ने कीचक-वध की सब कथा लिखी है। 'हरिवंशपुराण' से उसमें यह विलक्षणता है कि कीचक का साधु होना उसके अनुसार असंभव है, क्योंकि वहां भीम के हाथों से कीचक का मरण हुआ बताया गया है। कीचक के शेष भाइयों का मरण भी भीमराज की कोपाग्नि में हुआ था। दुर्योधनादि इन समाचारों को सुनकर तथा पांडवों को ढूँढने के लिये विराट पर चढ़ आये थे। पहले कौरवों की आज्ञा से जालंधर-पुराधीश ने विराट का गोधन छीना था। राजा विराट गोधन छुड़ाने के लिये उनसे लड़ा, परंतु वह स्वयं उसमें बन्दी हुआ। इस संकट के अवसर पर पांडवों ने उसकी सहायता की थी। कौरव हार कर भाग गये। राजा विराट पांडवों को पाकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और कृतज्ञता ज्ञापन हेतु उसने अपनी राजकुमारी पांडवों को भेंट करना विचारा। अर्जुन के संकेत पर उस विराट राजकुमारी का विवाह अभिमन्यु के साथ बड़े समारोह के साथ किया गया। इस विवाह में सम्मिलित होने के लिये द्वारिका से नारायण कृष्ण और यादवगण आये थे। आखिर उन्हीं के साथ पांडव-कुटुम्ब द्वारिका चला गया था।*

---

१ उत्तर पुराण (इन्दौर) पृष्ठ ११६—११७।
भुजंगशैलपुर संभवतः वही स्थान है जहां पर आज भीम की तांप बताई जाती है।

* श्रीशांतिनाथ दिगम्बर जैनमंदिर अलीगंज की प्रति (सं० १८४७) के पृष्ठ ६०—६५।
'चलत भयो जालंधर तबै……नृप विराट को गोकुल हर्यो।'

इस प्रकार जैनशास्त्र भी 'महाभारत' के समान ही पाण्डवोंका विराट में रहना बताते हैं। आगे कवि राजमल्लजी ने विराट नगर का आंखों देखा वर्णन लिखा है। उस समय मुगल सम्राट् अकबर का राज्य था। कवि राजमल्ल ने उनका भी प्रशंसनीय वर्णन लिखा है। कवि महोदय ने विराट के प्रसिद्ध दिगम्बर जैन मन्दिर में आकर 'लाटीसंहिता' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में उन्होंने विराट की शोभा खूब ही वर्णन की है। विराट को उन्होंने 'वैराट' लिखा है और उसे बड़ा ही समृद्धशाली बताया है। उन्होंने लिखा है कि 'यहां कोई दरिद्र नज़र नहीं आता था, प्रजा में परस्पर असूया अथवा ईर्षा-द्वेषादि के वशवर्ती होकर छिद्रान्वेषण का भाव नहीं था, वह परचक्र के भय से रहित थी, सब लोग खुशहाल तथा धर्मात्मा थे, चोरी वगैरह के अपराध नहीं होते थे और इससे नगर के लोग दण्ड का नाम भी नहीं जानते थे। नगर कोट खाई से युक्त और उसकी पर्वतमाला में कितनी ही तांबे की खानें थीं, जिन से उस वक्त तांबा निकाला जाता था और उसे गलागुला कर-निकालने का एक बड़ाभारी कारखाना भी कोट के बाहर, पासमें ही, दक्षिण दिशा की ओर स्थित था। नगर में ऊंचे स्थान पर एक सुंदर प्रोत्तुंग जिनालय - दिगम्बर जैनमंदिर था, जिसमें यज्ञस्तम्भ और समृद्ध कोष्टों (कोठों) को लिये हुए चार शालायें थीं, उनके मध्य में वेदी और वेदी के ऊपर उत्तम शिखर था। कवि ने इस जिनालय को वैराट नगर के सिरका मुकुट

'धेनु छुड़ावन कारणे, मांडो रण वैराट।'

'धनुषधार जालंधर शर छोड़त चलो। ...नृप विराट को बांध्यो बंधन जकर ही।'

'नृप विराट को बांधो रण में जानि के। कह्यो धर्मसुत भीमहि क्रोध सुठानि के॥
नृप विराट को संकट विकट छुटाइके। मो मनोर्थ तुम पूरो शत्रु हटाइ के॥'

× × × ×

'तहाँ बाँध जालंधर नृप कौ बहु दूढे। पुनि विराट छुटकाइ दयो रथ ही चढे॥'

× × × ×

"यह वतंत सुन दुरजोधनके क्रोधियो। ...पुर विराट सो पहुंचो कौरव सैन सों।
ठयो जुध को उत्तर द्वारह चैन सों।"

× × × ×

'तब विराट बादित्र बजाए जीत के। केर संग भट कौरव पार्थव मीत के।'

'मो घर तनुजा सुंदर महा। जरासिंधु के पुत्रो जोइ। बार अनेकहि जाची सोइ।
ताहि विवाहौ पार्थव मुदा। सो सुन अरजुन बोलयो तदा।
मो नंदन अभिमन्यु कुमार। उपजो कूख सुभद्रा सार। निज तनुजा तुम ताको देहु।'

—इत्यादि

बतलाया है, साथ ही यह सूचित किया है कि वह नानाप्रकार की रङ्गबिरंगी चित्रावली से सुशोभित था और उसमें निर्ग्रन्थ जैनसाधु भी रहते थे। यह मंदिर साधु दूदा के ज्येष्ठ पुत्र और फामन के बड़े भाई 'न्योता' ने निर्माण कराया था।[1] कवि ने पांडवों के अस्तित्वसूचक परंपरागत चिह्नों का होना भी वैराट में बताया है।[2] उन्होंने यह भी लिखा है कि वैराट में उस समय श्रीकाष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगण लोहाचार्यान्वय के प्रकाण्ड विद्वान भट्टारक हेमचंद्रजी की प्रसिद्ध आम्नाय के ताल्हू नामक विद्वान थे, जिन्होंने धनिक श्रेष्ठी फामन को धर्मज्ञान का बोध कराया था। अग्रवाल जैनियों में उस समय फामनश्रेष्ठी और उनके वंशज प्रमुख थे।[3]

अबुलफजल ने अपने ग्रन्थ 'आइन-इ अकबरी' में वैराट का उल्लेख किया है और बताया है कि वहां पर तांबे की बड़ी-बड़ी खानें थीं। परन्तु इनसे पहले वैराट का वर्णन चीनी यात्री ह्यूनसांग के भारतभ्रमण में मिलता है। ह्यूनसांग ने लिखा है कि मथुरा से ५०० ली (८३⅓ मील) की दूरी पर वैराट अवस्थित था। और उस समय उसका विस्तार १४ या १५ ली (करीब २½ मील) था। वैराट के निवासी वीर और साहसी थे और उनका राजा जो फै-शे (Fei-she) जाति (वैश्य अथवा बैस राजपूत) का था, अपनी शूर वीरता और संग्रामनैपुण्य के लिये प्रसिद्ध था। ह्यूनसांग को वैराट में तब आठ बौद्ध-संघाराम मिले थे, परंतु वे जीर्णदशा में थे और उनमें बौद्धभिक्षु भी बहुत थोड़े थे। बौद्धेतर अनेक मतावलम्बी अधिक संख्या में थे, जिनके बारह मंदिर थे। देश में फल-फूल कम होते थे परंतु यहां की भेड़ें और बैल प्रसिद्ध थे।[4]

सन १००९ ई० में महमूद गजनवी ने वैराट पर आक्रमण किया था और उससे तत्कालीन राजा ने संधि कर ली थी, परंतु वह संधि कुछ कार आमद न हुई क्योंकि सन १०१४

---

[1] लाटी संहिता (बम्बई) में ग्रंथकर्त्ता का परिचय (पृष्ठ १३—२१) और प्रथम सर्ग में 'कथा-मुख-वर्णन' देखना चाहिये। वैराट के महत्व को कवि ने यों लिखा था :—

'इत्याद्यनेकैर्महिमाप्यमानैः वैराटनाम्ना नगरं विलोक्य।
स्तोतुं मनाक्सम्मतया प्रवृत्तः सानंदमास्ते कविराजमल्लः ॥४८॥'

१ 'श्रीमति काष्ठासंघे माथुरगच्छेऽथ पुष्करे च गणे। लोहाचार्यप्रभृतौ समन्वये वर्तमाने च ॥६४॥
आसीत् सूरिकुमारसेनविदितः पट्टस्थभट्टारकः। स्याद्वादैरनवद्यवादनगरैर्वादीभकुम्भेऽमित।
येनेदं युगयोगिभिः परिभूते सम्यग्दृगादित्रयी। नाना तत्र चने वृष प्रवहणं निनेऽस्य पारंपरम् ॥६५॥
तत्पट्टेऽजनि हेमचन्द्रगणभृद्भट्टारकोर्वीपतिः। काष्ठासंघनभोऽङ्गणे दिनमणिर्मिथ्यान्धकाराराजित्।
बह्नामस्तुतिमात्रतोऽन्यगणिनो विच्छायतामागताः। खद्योता इव वाथवाप्युडुगणा भान्तीव भास्वत्पुरः
॥६६॥ इत्यादि

ई० में महमूद ने वैराट पर फिर धावा बोला और इस बार अबूरिहां बताता है कि उसने नगर को नष्ट कर डाला था, जिसके कारण लोग अपने प्राण लेकर इधर-उधर भाग गए थे।[1]

कवि राजमल्लजी के उल्लेखानुसार यह पहले ही लिखा जाचुका है कि वैराट के निकट पांडवों के अस्तित्वसूचक प्राचीन चिह्न मौजूद थे। वह चिह्न आज भी वैराट के पुरातत्त्वमें मिलते हैं। बीजक की पहाड़ी, महादेवजी-की-डुंगरी, भीमजी की-डुंगरी आदि स्थानों पर प्राचीन कीर्तियां उपलब्ध होती हैं। बीजक-की-पहाड़ी पर सम्राट् अशोक का एक धर्मलेख मिला था, जो वैराट कलकत्ता (अथवा भाब्रू) शासनलेख के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीसाहनी महोदय ने इसी स्थान पर खुदाई का काम कराया था। इस पहाड़ी से सारे वैराट का दृश्य देखने में बड़ा ही मनोरम प्रतीत होता है और यहीं पर पाषाण की एक ७३ फीट लम्बी शिला है, जिसे लोग 'भीम की तोप' कहते हैं। खुदाई में जो ईंटें यहां निकली हैं वह २ फीट ७ इञ्च लम्बी और १ फीट ४ इञ्च चौड़ी तथा ३ इञ्च मोटी हैं। प्रकट हुये भग्नावशेषों से जाना जाता है कि यहां पर पहले एक बौद्ध संघाराम (Monastery) था। इस संघाराम की कई कोठरियों के निशानात मिले हैं जिनमें मिट्टी के बरतनों, लोहे की कीलों तावीजों आदि के अतिरिक्त चांदी के ३६ सिक्के मिले हैं, जिनमें से २८ यवन और भारतीय-यवन (Greek & Indo Greek) राजाओं के हैं। इन सिक्कों में बंधा हुआ कपड़ा भी मिला है, जो ईस्वी पहली शताब्दी के भारतीय कपड़े का नमूना है। यहां से एक ननकी अथवा यक्षी की भग्न मूर्ति भी मिली है जो प्रायः नग्न है। मथुरा के पुरातत्त्व में भी ऐसी मूर्तियां मिली हैं। इसी स्थान पर एक गोलाकार मंदिर मिला है जिसके चारों ओर परकोटा भी है और जिसे साहनी सा० सम्राट् अशोक के जमाने का बतलाते हैं। उसी के पास अशोक-स्तंभों के टूटे हुये अंश भी प्राप्त हुए हैं। साहनी सा० का अनुमान है कि इन्हें श्वेत हूण मिहिर-कुल ने नष्ट किया था। स्तंभ-अंशों के अतिरिक्त वहां से उपलब्ध हुई चीजों में एक धूपदान और सर्पफण भी है।[2]

'भीमजी-की-डुंगरी' नामक स्थान पर कोई खास प्राचीन कीर्ति नहीं है। वहां माघ

१ कनिंघम, एंशियेन्ट ज्योगरफी ऑव इण्डिया, पृष्ठ ३६० - ३९४।

२ साहनी सा० के वर्णनानुसार यह लिखा गया है, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं। विशेष के लिये उनकी पुस्तक "Archaeological Remains & Excav: at Bairat" देखना चाहिये। सर्पफण पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की प्रतिमाओं पर होता है। मालूम नहीं कि क्या वह किसी मूर्ति का टूटा हुआ अंश है?

और भादों में मेला भरता है। इस पहाड़ी के नीचे ही 'बीजक-की-पहाड़ी' पर अशोक का धर्म-लेख कारलाइल सा० को मिला था। इसी के पास एक अर्वाचीन ईंटों का बनाहुआ मंदिर है। इस स्थान के आगे पूर्व दिशा में वैराट की स्मशान भूमि है, जहां सैकड़ों छत्रियां बनी हुई हैं। उनपर के लेखों से विदित है कि मध्यकाल में सती होने का रिवाज खूब प्रचलित था। वहीं एक ईदगाह है जिसमें बादशाह जहांगीर के समय का एक शिलालेख है। पास ही एक 'जैनबाग' है जिस में भी कई छत्रियां बनी हुई हैं। उनमें से एक में काष्ठासंघी पुष्कर-गण और माथुरगच्छ के भट्टारक ललितकीर्ति की चरणपादुकायें हैं, जिनका स्वर्गवास विक्रम सं० १८५१ को हुआ था। इसी छत्री के बगल में एक दूसरी छत्री भ० ललित कीर्ति के शिष्य और पट्टधर पण्डित सदासुख की है, जिनका देहान्त सं० १९३७ में हुआ था। इस लेख से यह भी स्पष्ट है कि जैनबाग को किसी ऋषभदासजी ने बनवाया था।[१]

जिस टीले पर वर्तमान बैराट नगर अवस्थित है, यदि उसकी खुदाई हो तो कई प्राचीन प्रस्तरों का निकलना अनुमान किया जाता है। इस टीले पर ऊपर दो प्राचीन इमारते हैं, जिनमें एक सम्राट् अकबर के समय का बना हुआ जैनमंदिर बताया जाता है। यह मंदिर तहसील के नजदीक है और वेदी, सभामण्डप आदि से युक्त अच्छी हालत में है। इस मंदिर के अहाते की दक्षिणवर्ती दीवाल में एक पत्थर का टुकड़ा लगा हुआ है, जिस पर सम्राट् अकबर के समय का एक शिलालेख ४० पंक्तियों का है। डा० भाण्डारकर ने इस शिलालेख को देखा था और साहनी सा० इसके आधार पर लिखते हैं कि 'श्रीमाली जाति और राकमाण गोत्र के इन्द्रराज ने भ० पार्श्वनाथ की एक पाषाण-मूर्ति, भ० चन्द्रप्रभ की एक धातुमयी प्रतिमा और श्रीऋषभदेव तथा विमलनाथ तीर्थंकरों की प्रतिमायें निर्माण कराई थीं; जिनमें मूलनायक प्रतिमा विमलनाथ जी की थी। उन्होंने बैराट में एक इन्द्र-विहार अथवा महोदय-प्रासाद नामक जिनालय भी निर्माण कराया था, जिसकी प्रतिष्ठा शक सं० १५०९ फाल्गुण शुक्ल २ रविवार को श्रीहीरविजयसूरि और उनके शिष्य कल्याणविजय गणि-द्वारा हुई थी। इस लेख में अकबर बादशाह की बड़ी प्रशंसा की गई है और यह भी उल्लेख है कि उन्होंने वर्ष में १०६ दिनों के लिये अपने राज्य में हिंसा-बन्दी का फरमान निकाल दिया था।'[२] इस शिलालेख को देखकर विद्वज्जन उपर्युक्त तहसीलवाले दिगम्बर जैनमंदिर को ही

---

१ Arch: Rem: Exc: at Bairat, pp 14-15. इस शिलालेख के यह पं० सदासुखजी जयपुर वासी प्रसिद्ध टीकाकार पं० सदासुखजी ही प्रतीत होते हैं, जिन्होंने 'भगवती आराधना टीका' संवत् १९०८ में समाप्त की थी। अन्तिम जीवन में वह शायद् बैराट में उत्तम शैली देखकर वहाँ चले आए थे।

२ Ibid. p. 16.

'इन्द्रविहार' समझने की गलती करते हैं। किन्तु इस विषय में कई साल पहले जैन विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने निम्न पंक्तियाँ लिखी थीं, वे हम यहाँ उद्धृत करते हैं :—

"पार्श्वनाथ का यह मंदिर दिगम्बर जैन है, और दिगम्बर जैनों के ही अधिकार में है। इस मंदिर के पास के कंपाउण्ड की दीवार में एक लेखवाली शिला चुनी हुई है और उस पर शक संवत् १५०९—वि० सं० १६४४—में 'इन्द्रविहार' अपर नाम 'महोदय-प्रासाद' नाम के श्वेताम्बर मंदिर के निर्मापित तथा प्रतिष्ठित होने का उल्लेख है। इस परसे डॉ० भांडारकर ने 'आर्किओ० सर्वे वेस्टर्न सर्किल, प्रोग्रेस रिपोर्ट सन १९१०' में यह अनुमान किया है कि उक्त मंदिर पहले श्वेताम्बरों की मिलकियत था (देखो 'प्राचीन लेख-संग्रह' द्वितीय भाग) परन्तु भांडारकर महोदय का यह अनुमान, लाटीसंहिता के उक्त कथन को देखते हुये समुचित प्रतीत नहीं होता और इसके कई कारण हैं—एक तो यह कि लाटीसंहिता उक्त शिलालेख से साढ़े तीन वर्ष के करीब पहले की लिखी हुई है और उसमें वैराट जिनालय को, जो कितने ही वर्ष पहले बन चुका था, एक दिगम्बर जैनद्वारा निर्मापित लिखा है! दूसरे यह कि शिलालेख में जिस मंदिर का उल्लेख है उसमें मूलनायक प्रतिमा विमलनाथ की बतलाई गई है। ऐसी हालत में मंदिर विमलनाथ के नाम से प्रसिद्ध होना चाहिये था, पार्श्वनाथ के नाम से नहीं; और तीसरे यह कि शिलालेख एक कंपाउण्ड की दीवार में पाया जाता है जिससे यह बहुत कुछ सम्भव है कि यह दूसरे मंदिर का शिलालेख हो, उसके गिर जाने पर कंपाउण्ड की नई रचना अथवा मरम्मत के समय वह उसमें चुन दिया गया हो। इसके सिवाय दोनों मंदिरों का पास-पास तथा एक ही अहाते में होना भी कुछ असंभवित नहीं है। पहले कितने ही मंदिर दोनों संप्रदायों के संयुक्त रहे हैं; उस वक्त आजकल जैसी बेहूदा कशाकशी नहीं थी।"[1]

इस प्रकार विराट के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि विराटनगर का अस्तित्व महाभारत-कालीन है। विराटनगर का पहला राजा विराट था और उन्हीं के वंशधर विराट के शासनाधिकारी रहे। उपरान्त अशोक के शासन लेख से पता चलता है कि उस समय विराट मौर्य्यराज्य के अन्तर्गत था। विराट के स्वामी मौर्य नृपराज रहे। मौर्यों के पश्चात् उत्तर—पश्चिमीय भारत और राजपूताना में इण्डोग्रीक राजाओं ने अपना अधिकार जमा लिया था। विराटनगर में कई इण्डोग्रीक राजाओं के सिक्के मिले हैं, जिनसे अनुमान होता है कि इन राजओं का भी विराट पर राज्याधिकार था। यह सिक्के हेलियोक्लेस, अपोलोडटस, मेनेन्डर, एन्टियल्कदस, स्ट्रेटो प्रथम, एन्टिमकस निकेफोरस, हरमैउस और हरमैउस रानी सहित के हैं। पातञ्जलि के भाष्य से स्पष्ट है कि मेनेन्डर का अधिकार

१ लाटी संहिता की भूमिका, पृष्ठ, २१-२२।

राजपूताना की माध्यमिका नामक नगरी पर हो गया था।[1] वहाँ से उस बादशाह की प्राचीन कीर्त्तियां भी मिली हैं। अतः उनका विराटपर शासन करना संभव है। ईस्वी सातवीं शताब्दी में विराट का शासनसूत्र बैसराजपूत वंश के राजाओं के हाथों में पहुंचा था; जैसे कि ह्युन्साँग के उल्लेख से स्पष्ट है। मुसलमानों के आक्रमणों के समय में भी यहां सम्भवतः इसी वंश के राजाओं का राज्य था। उपरान्त विराट मुगल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और मुगलों के बाद जयपुर के प्रसिद्ध हिन्दूराज्यवंश के अधिकार में आया। यह विराट के भाग्य की रूपरेखा है। उसका शृङ्खलाबद्ध इतिहास तभी लिखा जा सकेगा जब विराट के पुराने टीले के गर्भ में सुरक्षित कीर्त्तियां प्रकाश में आवेंगी! देखिये, वह दिन कब नसीब होता है?

---

१ राजपूताने का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ६६।

समन्तभद्र ही 'श्रीविजय' हैं ?

(एक तर्क)

(श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

महाकवि पंप ने अपने काव्य के आदि में समन्तभद्र, कविपरमेष्ठी एवं पूज्यपाद की वन्दना की है। इसी प्रकार अन्य कन्नड़-कवियों ने भी आप की इस वन्दना-पद्धति का अनुसरण किया है। 'कर्णाटक-कविचरिते' के मान्य लेखक ने भी लिखा है कि "इन तीनों कवियों ने कन्नड़ में ग्रन्थ रचना की है कि नहीं: यह ज्ञात नहीं होता। फिर भी अनेक कर्णाटक-कवियों ने इनकी स्तुति की है।" साथ ही साथ समन्तभद्र के सम्बन्ध में लिखते हुए 'कविचरिते' के लेखक ने लिखा है कि "इन की संस्कृत एवं प्राकृत ग्रंथों पर पुराने कन्नड की व्याख्यायें मिली हैं।" इसी प्रकार कविपरमेष्ठी के विचार की आलोचना करते हुए इन्होंने कहा है कि "मालूम होता है कि नृपतुंगने प्राचीन कन्नड-कवियों के नामोल्लेख करते हुए 'परम श्रीविजय, कवीश्वर, पण्डित लोकपालादिगल्' इस पद्यभाग में 'कवीश्वर' नामक एक कवि का नाम अङ्कित किया है। संभव है कि वह इन्हीं कविपरमेष्ठी का नाम हो।" पूज्यपाद के विषय में लिखते हुए उल्लिखित 'कविचरिते' के लेखक लिखते हैं कि "इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण एवं कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ लिखा है। यह (पूज्यपाद) गंगराज दुर्विनीत के गुरु थे।" फिर दुर्विनीत के सम्बन्ध में विचार करते हुए आप यों कहते हैं कि "नृपतुंग ने कर्णाटक गद्य-ग्रन्थकर्त्ताओं के नामों में (विमलोदय नागार्जुन समेत जयबन्धु दुर्विनीतादिगल्) इस प्रकार इनका भी नाम लिया है। साथ ही साथ 'कविचरिते' के लेखक ने यह भी लिखा है कि "इससे सिद्ध होता है कि लगभग ५वीं शताब्दी में ही कन्नडगद्य-ग्रंथ विशेष मात्रा में मौजूद थे।"

समन्तभद्र की तपोभूमि मणुवकहल्लि थी; पूज्यपाद का जन्म-स्थान कर्णाटकान्तर्गत कोल्लागाल पुर था। इन के मामा का वासस्थान मुडिगुंड था; इन्होंने पदिनाडि में तप किया था आदि चरित्र-सम्बन्धी ये बातें 'राजावलिकथे' से ज्ञात होती हैं। साथ ही साथ इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इन दोनों आचार्यों का कर्णाटक से सम्बन्ध था। हाँ, कविपरमेष्ठी के स्थान का पता नहीं लगता। इन उल्लिखित बातों से नृपतुंग के द्वारा प्रतिपादित पाँच पूर्व कवियों में "परम श्रीविजय, कवीश्वर, पण्डित" प्रारंभ के ये तीन कवि क्रमशः समन्तभद्र, कविपरमेष्ठी और पूज्यपाद ही क्यों नहीं हैं ? यहाँ यह विचार उठ खड़ा होता है। समन्तभद्र ही श्रीविजय रहे होंगे इस तर्क को स्थान देनेवाले प्रमाणों का उल्लेख करने के पहले शेष

दो नामों के कवीश्वर—कविपरमेष्ठी, पण्डित—पूज्यपाद इस समीकरण के सामञ्जस्य को थोड़ा स्पष्ट कर देना मैं उचित समझता हूं।

'कविचरिते' के लेखक ने ही 'कवीश्वर' को कविपरमेष्ठी अनुमान किया है। "कर्णाटक-कविराजमार्गम्" ग्रन्थ के सम्पादक स्वर्गीय श्रीमान् ए० वेङ्कटराय और श्रीमान् पण्डित एच० शेष अय्यङ्गार ने अपनी अवतरणिका में 'कवीश्वर' नाम के एक कवि का अनुमान करके सूचित किया है कि वह श्रीविजय का शिष्य रहा होगा। (पृष्ठ VIII—IX इनके सूचनानुसार 'कवीश्वर' अथवा 'कविचरिते' के संकेतानुसार 'श्रीविजय' का नृपतुंग के समासदों में रहना संभवपरक नहीं है। श्रीविजय और कवीश्वर इन दोनों को जब नृपतुंग ने स्पष्ट ही पूर्व कवि लिखा है तब फिर इन्हीं को उनके (नृपतुंग के) सभासद कहना वदतो व्याघात है। 'कविराजमार्गम्' ग्रन्थ के सम्पादकों के द्वारा 'आद्य' शब्द के लिये किया गया भाष्य (पृष्ठ X) इस उलझन को हल नहीं कर सकता है।

अब पूज्यपाद के लिये 'पण्डित' यह उपाधि सर्वथा उचित है। क्योंकि वह वैद्य एवं वैयाकरण थे। सारांशतः विदित होता है कि समन्तभद्र, कविपरमेष्ठी (ये भी उपाधि ही होनी चाहिये*), पूज्यपाद ये तीनों उपाधिभूत 'श्रीविजय', 'कवीश्वर', पण्डित इन नामों से ही नृपतुंग के द्वारा उल्लिखित किये गये हैं। *प्रस्तुत विषय है—समन्तभद्र ही श्रीविजय हैं?।*

समन्तभद्र के सम्बन्ध में अन्यान्य ग्रन्थकर्ताओं के कथनानुसार निम्न लिखित बातें ज्ञात होती हैं:—(१) कविपरमेष्ठी और पूज्यपाद के पहले आपका नामोल्लेख (२) आप बड़े वादी थे (३) आप संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थों के निर्माता थे (४ मन्त्रशक्ति के द्वारा चन्द्रप्रभ भगवान् को आह्वान करके आपने कलियुग में जिनधर्म का प्राशस्त्य प्रकट किया था। (समन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः) (५) आप की आप्तमीमांसा, रत्नकरण्ड, श्रावकाचारादि† ग्रन्थों से दक्षिण देश के जैनधर्म की एक नवीन नीव पड़ी (६) आपका जन्म भीमरथी श्रीकृष्णवेणी के मध्यवर्त्ती उत्कलिका ग्राम में हुआ था (७) अनेक नामरूपों को धारण कर आपने अनेक देशों का पर्यटन किया था (८) आपने तत्त्वार्थभाष्य एवं तर्कशास्त्र की रचना की है (९) आप स्याद्वाद-मार्ग के प्रमुख थे (यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते)।

अब श्रीविजय-सम्बन्धी उल्लेखों को लीजिये—(१) नृपतुंग के द्वारा उल्लेख किये गये पाँच कवियों में इन का नाम प्रथम आया है (२) यह मंगरस (सन् १५०९) के द्वारा देवचंद्र से स्तुत और चम्पूकाव्य के निर्माता तथा दोड्डय्य (सन् १६वीं शताब्दी) के द्वारा 'चन्द्रप्रभ-पुराण' के रचयिता कहे गये हैं। दुर्गसिंह के पञ्चतन्त्र (कन्नड) (सन् ११वीं शताब्दी का

* इसके लिये प्रमाण अपेक्षणीय है। —के० बी० शास्त्री

† रत्नकरण्ड एवं श्रावकाचार एक ही ग्रन्थ हैं, दो नहीं। —के० बी० शास्त्री

आदिम भाग) में 'कविमार्ग' नामक अलंकार-ग्रन्थ के आप प्रणेता बताये गये हैं। साथ ही साथ श्रीमान् बी० एम० श्रीकण्ठय्य आदि विद्वानों का मत है कि नृपतुंग के नाम से प्रख्यात या नृपतुंग-प्रणीत कहे जानेवाले 'कविराजमार्गम्' ग्रन्थ को पहले श्रीविजय ने ही बनाया होगा। मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'कविराजमार्गम्' के सम्पादकों का अभिप्राय है कि नृपतुंग के 'कविराजमार्गम्' में श्रीविजय का 'कविमार्ग' गर्भित हुआ होगा (४) केशिराज के उल्लेखानुसार भी श्रीविजय ने व्याकरण शास्त्र या किसी उत्तम काव्य की रचना की होगी (५) श्रीविजय को सभी ने बहुवचन—'श्रीविजयर' से उल्लेख किया है। दुर्गसिंहसदृश ब्राह्मण कवि ने भी बहुत ही आदर के साथ आप का उल्लेख किया है। नृपतुंग 'परम श्रीविजय' एवं चावुंड राय 'समन्तभद्र देव के समान' इन शब्दों से आपका स्मरण करते हैं।

समन्तभद्र और श्रीविजय इन दोनों में जो समानता पायी जाती है वह निम्न प्रकार है:—(१) दोनों बहुवचनों से एवं 'देवर्' इस गौरवास्पद शब्द से उल्लिखित हुए हैं (३) काव्य, व्याकरण और अलंकार-ग्रन्थों से दोनों का सम्बन्ध है (४) समन्तभद्र कविपरमेष्ठी से बड़े हैं, श्रीविजय कवीश्वर के गुरु हैं (५) श्रीविजय का उल्लेख कवीश्वर एवं पण्डित के साथ है; समन्तभद्र का उल्लेख कविपरमेष्ठी और पूज्यपाद के साथ है (६) समन्तभद्र अपने देश में जन्म ले एवं वृद्धिंगत होकर कन्नड-कवियों के काव्य के प्रारंभ में वन्दनीय हुए हैं; श्रीविजय कविसमुदाय के मनका दर्पण, 'देवर्', साथ ही उनका 'सुमार्ग' वैयाकरणों के लिए निदर्शनभूत हैं। इन्हों ने कन्नड में कविता लिखी है।

अब देखना है कि समन्तभद्र और श्रीविजय इन दोनों का इससे भी कोई निकट सम्बन्ध है या नहीं ? कुछ है ज़रूर।

समन्तभद्र के समय में एक ही व्यक्ति अनेक नामों से प्रसिद्ध होते थे। कोण्डकुन्द, उमास्वाति, पूज्यपाद आदि आचार्यों के अनेक नाम थे। समन्तभद्र के भी अनेक नाम थे।* बहुत से कवियों के काव्य नाम अथवा संकेत भिन्न-भिन्न थे। माघ का संकेत 'श्री', भारवि का 'लक्ष्मी', प्रवरसेन का 'अनुराग', पञ्चशिख का 'आनन्द'—इस प्रकार इन संकेतों को वे कवि अपने काव्य या सर्ग के आदि एवं अन्त के पद्यों में जोड़ लेते थे। समन्तभद्र को 'श्रीविजय', 'विजय', 'जय' इन शब्दों को जोड़ना अभीष्ट था। इसलिये कवियों में श्रीविजय नामसे इनका ख्यात होना समुचित है।

"तव जिनशासनविभवो जयति ॥ १३५ ॥

"जयति जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्।
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ॥ ११५ ॥ —'आप्तमीमांसा'

* वे कौन से नाम हैं? —के० बी० शास्त्री।

"ज्ञातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा"

—'जिनशतक'

इस से भी स्पष्ट 'युक्त्यनुशासन' के आदि और अन्त में इस प्रकार यह संकेत उपलब्ध होता है:—

"श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः।

× × ×

प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः" ॥ १ ॥

"महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये।

विधेया मे भक्तिः पथि भवत एवाप्रतिनिधौ" ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार 'कविराजमार्गम्' के अन्त के प्रतिपद्य में 'श्रीविजय' पद मिलता है।

अब 'श्रीविजय' के साथ के 'परम' शब्द पर कुछ विचार करना भी परमावश्यक है। 'कविराजमार्गम्' में इस 'परम' शब्द की दुहाई विशेष मात्रा में दी गयी है।

"परमालंकारोचित। विरचनेगल् नेगल्गुमार वदनोदारदोल् ॥

नेरमका परमकवी। श्वररेमर्गा कृतियोलक्कतकाचारपरर ॥"

—'कविराजमार्गम्' १—२

यहीं पर 'नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे' इस आदिम पुराणोक्ति और सरस्वती स्वैर-विहारभूमयः। समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः' वादिराज की इस स्तुति को मिलान कर देखना चाहिये। 'कविराजमार्गम्' में परमाचार्य अनेकत्र सादर स्मरण किये गये हैं। इसलिये श्रीविजय का कविमार्ग (मत्रः कविराजमार्गम् में गर्भित) कन्नड में कन्नड-कवियों को कर-दीपक एवं दर्पण तो था ही, साथ ही साथ भट्टाकलंक के कुछ वाक्यों से यह भी विचार उठ खड़ा होता है कि 'परमागमसूत्र' रच कन्नड भाषाकी नींव देकर समन्तभद्र स्वयं श्रीविजय हुए हों।

ज्ञात होता है कि समन्तभद्रजी ने एक प्राकृत व्याकरण का भी प्रणयन किया है। किन्तु उसमें उन्होंने कन्नड-भाषा के सम्बन्ध में विचार नहीं किया होगा। भट्टाकलंक के शब्दानु-शासन में (सन् १९२३ का संस्करण) ४४३ के सूत्र के 'कर्मणि' की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि—सर्वेऽपि करोत्यर्थव्याख्या... .....सर्वेऽपि भवत्यर्थव्याख्या.......... सर्वत्र विधिरेव वाक्यार्थः... ...."भावनैव वाक्यार्थ इति च महान्विचारोऽस्ति। तत्सर्वं आप्तमीमांसादिमहाशास्त्रपरिश्रमशालिनां विदुषामेव विषयो नान्येषामविदुषाम्" (पृष्ठ सं० ३८१) आप्तमीमांसा के रचयिता समन्तभद्र हैं—यह बात

सुप्रसिद्ध है। सकर्मकक्रियापद भी अकर्मक ही हैं और अकर्मक क्रियापद भी सकर्मक ही हैं। इस गूढ़ सिद्धान्त को जानने के लिए समन्तभद्र के आप्तमीमांसादि ग्रन्थों को अध्ययन करने के लिये भट्टाकलंकजी फरमाते हैं। शब्दानुशासन के ६ ठे पृष्ठ में समन्तभद्र के और एक वाक्य को भट्टाकलंक ने उद्धृत किया है। साथ ही साथ भट्टाकलंक ने समन्तभद्र के तात्त्विक विचारों का अपने शब्दशास्त्र की मूलभित्ति में उपयोग किया है। आगे 'सत्तावीसा तहा सरा भणिया' इति वचनात् ... 'चौसट्टिमूलवण्णाहु' इति वचनात् (पृष्ठ १७) ये किनके वचन हैं इस बातका पता नहीं लगता*। किन्तु 'चत्तारि जोगवाहा:' इति प्रवचनकारा: (पृष्ठ २०) यों और एक प्राकृत सूत्र (?) आदरपूर्वक उद्धृत किया गया है। ये तीनों वचन प्रवचनकार के ही विदित होते हैं। प्रवचनकार का यह मत परमागम का अनुकरण करता है। पृष्ठ १७ में 'परमागमे मध्यम-विवक्षया मूलवर्णाश्चतु:षष्टि:' ऐसा प्रमाण मिलता है। उसी पृष्ठ में योगवाह-विषयक विचार करते हुए भट्टाकलंक कहते हैं कि मैंने परमागम के अनुकूल ही मूलवर्णों को स्वर, व्यञ्जन और योगवाह के भेदसे त्रिविध निर्दिष्ट किया है। परमागम व्याकरण-विषय को भी विचार करता है—यह बात स्पष्ट है। परन्तु इसे किसने बनाया है यह बात मालूम नहीं होती है।† 'कविराजमार्गम्' में 'अरिदादं कन्नडदोल्'—(पृ० ५,१—४२) इस पद्य में परमाचार्य की प्रशंसा की गयी है। नागवर्म ने 'काव्यावलोकन' की 'शब्दस्मृति' नामक अधिकरण में सरस्वती की स्तुति करते हुए उन्हें परमागम की प्रतिमा बता कर परमागम के महत्त्व को दरसाया है। केशिराज ने परमागका नाम नहीं लिया है अवश्य, फिर भी उन्होंने 'श्रीविजयर' यों बहुवचन से 'परम श्रीविजय' को सादर स्मरण किया है। सारांशत: 'परमागम' सरस्वती के साक्षात् मूर्ति-स्वरूप हो वाङ्मय के मस्तक को सुशोभित करता था। भट्टाकलंक "कर्णाटके मूलवर्णा: चतु:षष्टिरित्य ववादम्" (पृ० १८) ऐसा परमागम ने कर्णाटक-भाषा के मूलवर्णों के सम्बन्ध में विचार किया है यों बतलाते हैं। श्रीविजय का कविमार्ग परमाग के कारण ही कन्नड का दर्पण एवं करदीपक सिद्ध हुआ होगा। इस कविमाग को कविराजमार्गम् के रूप में विस्तृत कर नृपतुंग ने 'परमसरस्वती तीर्थावतार' अर्थात् परमागम-रूपी सरस्वती तीर्थ में प्रविष्ट हो उसे उपयोग में लाने के लिये सुन्दर-

* ये दोनों गाथांश और आगे उद्धृत 'चत्तारि जोगवाहा:' यह सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र-कृत 'गोम्मटसार' के जीवकाण्ड-सम्बन्धी ३५१ की गाथा के हैं। इनका शुद्ध एवं अविकल रूप इस प्रकार है—"तेत्तीसवेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया। चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ" ॥ ३५१ ॥—के० बी० शास्त्री।

† मूल लेखक की इन सब शंकाओं का उत्तर मेरी उल्लिखित टिप्पणी ही देगी।

—के० बी० शास्त्री।

सोढ़ियों को बनवा दिया है। ब्रह्मशिव ने (लगभग सन् ११२५) अपनी कविचक्रवर्ती इस उपाधि प्राप्ति का कारण बतलाते हुए 'त्रैलोक्य-चूड़ामणि-स्तोत्र' में 'एडेयाडुत्तमनूनजैन-भवनक्कानन्दविन्द्'तल' '(कविचरिते' नूतनसंस्करण, भाग १, पृष्ठ १३२) इस पद्य में यों परमागम की उत्कृष्टता सूचित को है। 'भावे तनः' इस ४३०वें सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टाकलंक ने शाब्दिक समय एवं न्यासकारों का वचन उद्धृत कर अन्त में सब से उत्कृष्ट प्रमाण घोषित करते हुए "यदाह भगवान् परमागमसूत्रकारोऽपि 'सद्द्रव्यलक्षणम्' इति" इस सूत्र को अंकित किया है। परमागमसूत्रकार का भट्टाकलंक 'भगवान्' इस गौरवसूचक शब्द से उल्लेख करते हैं और केशिराज सरस्वती को परमागम की प्रतिमा कह रहे हैं। ऐसी अवस्था में समन्तभद्र ने ही परमागम सूत्र को संस्कृत में लिख कर और उसी के आशय को 'परम-श्रीविजय' इस उपाधि से कविराजमार्ग में कन्नडभाषा-द्वारा अनुवाद किया होगा यों अनुमान करना अनुचित नहीं होगा।*

समन्तभद्रने परमागम को रचा है यह बात अभीतक ज्ञात नहीं हुई है। साथ ही साथ 'श्रीविजय' यह नाम है या उपाधि यह भी अन्य प्रमाणों से साबित नहीं होता है। फिर भी यह तर्क सामंजस्य एवं तथ्य सिद्ध होनेपर नवीन अन्वेषकों के लिये लक्ष्य मिल जायगा। †

नोट—यह लेख मैसूर विश्वविद्यालय के मुखपत्र 'प्रबुद्धकर्णाटक' के संपुट १९, संचिके १ में प्रकाशित श्रीयुत द० रा० बेन्द्रे के कन्नड लेख का अनुवाद है।

— के० बी० शास्त्री

---

*पर उपर्युक्त 'सद्द्रव्यलक्षणम्' यह द्रव्यलक्षण-प्रतिपादक सूत्र आचार्य उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ-सूत्र' गत ५ वें अध्याय का २९ वाँ सूत्र है। अतः भट्टाकलंक ने उमास्वाति को ही परमागम-सूत्रकार के रूप में स्मरण किया होगा, न कि समन्तभद्र को।

—के० भी शास्त्री।

† इस लेख की कतिपय बातों पर विद्वानों में मतभेद हो सकता है। फिर भी लेख गंभीर, गवेषणापूर्ण एवं विचारणीय है। अतः अन्वेषक विद्वानों को इस ओर लक्ष्य देकर इस नवीन तर्क पर अपना खण्डनात्मक या मण्डनात्मक विचार प्रकट करना चाहिये। खास कर आचार्य समन्तभद्रजी के परमोपासक एवं उनकी कृतियों के एकान्त अध्ययन और मननशील मित्रवर पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार इस नवीन तर्क पर अवश्य प्रकाश डालेंगे ऐसी मेरी दृढ़ आशा है।

—के० बी० शास्त्री।

भूतकालीन जैन सामयिकपत्र

(ले०—श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

ओसवाल नवयुवक वर्ष ८, संख्या १, तदनुसार मई १९३७ के अङ्क में मैंने "जैन-समाज के वर्त्तमान सामयिक पत्र" शीर्षक लेख प्रकाशित किया था और उसमें ५९* जैन पत्र-पत्रिकाओं का विवरण दिया गया था। मैंने उक्त लेख के अन्त में "पाठकों को यह प्रयास उपयोगी और रुचिकर हुआ तो बन्द हुए पत्रों का परिचय भी फिर कभी दिया जायगा" इन शब्दों द्वारा भूतकालीन जैनपत्रों के विषय में प्रकाश डालने की मनोभावना व्यक्त की थी और तभी से एतत्सम्बन्धी खोज-शोध भी आरंभ कर दी, फलतः १०५ भूतकालीन जैनपत्रों का विवरण संगृहीत हो गया है; फिर भी विशेष सामग्री मिलने की आशा है। अत एव इस लेख-द्वारा मेरे कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा अङ्कित करनेका प्रयास किया जाता है। आशा है, इतिहास-प्रेमी सज्जनगण आवश्यक एवं उपयोगी विशेष सूचनाएँ मुझे सूचित या प्रकाशित कर इस परमावश्यक कार्य में विशेष सफल बनाने में सहयोग प्रदान करेंगे।

भारतीय सामयिक पत्र-सम्बन्धी खोज अभी तक नगण्य सी ही हुई है, फिर भी एतत्सम्बन्धी जो कुछ सामग्री मेरे अवलोकन में आई हैं उनकी संक्षिप्त सूची नीचे दी जाती है, जिससे इस विशाल कार्य की खोज-शोध कितनी अल्प हुई है, पाठकों को स्वतः ज्ञात हो जायगी।

बंगला

१—देशीय सामयिक पत्रेर इतिहास (खण्ड १)—ले० श्रीब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय, पृ० १२४। इसमें बंगाल प्रांतसे प्रकाशित सन् १८१८ से १८३९ तक के पत्रोंका इतिहास है। प्रस्तुत ग्रन्थ बड़े परिश्रम एवं खोज-शोध से लिखा गया है। इसका द्वितीय खण्ड भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा, उसमें सन् १८४० से १८६७ के पत्रों का विवरण रहेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ वंगीय साहित्य

---

* इनमें धर्मदिवाकर, पुण्यभूमि आदि कई अब बन्द हो गये हैं और १ जैन होस्टल मैगजीन २ झलक का पीछे से पता लगा एवं ३ जैनहैरल्ड ४ महाराष्ट्रीय जैन ५ वीरवाणी ६ जैनविकाश के निकलने को सूचना उक्त लेख के पश्चात् मिली है।

परिषत् पत्रिका बंगीय सं० १३३८ में लेखरूप से प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थरूप से प्रकाशन का पता इस प्रकार है :—

"रंजन पब्लिसिंग हाउस", नं० २५।२, मोहन बागान रोड, कलकत्ता, मूल्य २)

सामयिक पत्रों का ऐसा विशद इतिहास शायद भारत के अन्य किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ है, पर प्रस्तुत इतिहास केवल बंगाल प्रान्त से प्रकाशित पत्रों का ही है। अतः हम अन्य प्रान्त के खोजशोध-प्रेमी विद्वानों से यह अनुरोध करेंगे कि वे भी इसी प्रकार समस्त भारत के सामयिक पत्रों का इतिहास संकलन कर शीघ्र ही प्रकाशित करें।

२—बंगला संवादपत्रेर इतिहास, लेखक कविवर ईश्वरचन्द्र गुप्त

(प्र० साहित्य-प्रभाकर १२ एप्रिल, १८५२)

३—बंगला संवादपत्रेर इतिहास—सं० गोपालचंद्रो मुखोपाध्याय

(प्र० नवजीवन १२९३, आषाढ़)

४—संक्षिप्त इतिवृत्तसह बंगभाषार पत्रिकार प्रयोजनीयता

(प्र० ऐतिहासिक चित्र १३१६, पृ० ५१० से ५२८)

५—आसामेर पत्र-पत्रिका—ले० पद्मनाथ भट्टाचार्य

(प्र० साहित्य परिषत्पत्रिका, भाग २४, पृ० ६५)

हिन्दी

१—हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास—सं० राधाकृष्णदास, काशी।

बहुत वर्षों पूर्व प्रस्तुत लघु ग्रंथ प्रकाशित हुआ था, शायद हिन्दीपत्रों का इतिहास यह सर्वप्रथम ही हो, पत्र-पत्रिकाओं की संख्या इसके बाद बहुत अधिक बढ़ गई है, अतः अब पुनः पूरी खोज-शोध से एक विशाल इतिहास-प्रकाशन की नितान्त आवश्यकता है। आशा है हिन्दी-साहित्य महारथी-गण इस ओर समुचित ध्यान देंगे।

२—गुप्त-निबंधावली—ले० बालमुकुन्द गुप्त।

इस निबंधावली में हिन्दी एवं उर्दू पत्रों का अच्छा विवरण है।

३—हिन्दीसमाचार पत्रों का इतिहास—ले० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य।

उक्त निबंध का कुछ अंश "हिन्दीसमाचार पत्र और मेरे अनुभव" शीर्षक लेख विशालभारत, वर्ष १, खंड १, सं० २, सं० १९८४ में प्रकाशित हुआ था।

४—कलकत्ते के प्राचीन हिन्दी-पत्र—ले० पं० विष्णुदत्त शुक्ल

(माधुरी वर्ष ११, खंड २, संख्या ३)

५—पत्रकार-कला की प्राचीन सामग्री—ले० विष्णुदत्त शुक्ल (विशालभारत में प्रकाशित)

६-७—पं० नंदकुमार देव शर्मा लिखित 'पत्र सम्पादन कला' और पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल-

लिखित 'पत्रकार-कला' ग्रन्थ में भी कुछ उपयोगी सामग्री है। पर जैसा चाहिये अभी तक शृङ्खलाबद्ध विस्तृत इतिहास कोई नहीं निकला, तभी तो श्रीव्रजेन्द्र बाबू हिन्दी भाषा-भाषियों को उलाहना देते हुए लिखते हैं—"दुःखेर विषय हिन्दी भाषा-भाषीरा ताहादेर मातृभाषाय प्रकाशित संवाद-पत्रेर आदि इतिहास जानेना"।

निष्कर्ष

श्रीव्रजेन्द्र बाबू लिखित "देशीय सामयिक पत्रों का इतिहास" द्वारा एतद्विषयक जो विशेष ज्ञातव्य जाना जाता है; पाठकों को उपयोगी होने से उसका निष्कर्ष यहाँ लिखा जाता है :—

मुद्रणायन्त्र और सर्व-प्रथम पत्र—

भारतवर्ष में ई० १८वीं शताब्दी के शेष भाग में मुद्रणयन्त्र सर्वप्रथम स्थापित हुआ। इस सुयोग से सर्व प्रकार की साहित्य-समृद्धि की सृष्टि और वृद्धि हुई, उनमें संवादपत्र भी एक है। भारत में सब से प्रथम संवादपत्र ई० १७८० के २९ जनवरी से "बंगाल गजट" नामक अंगरेजी पत्र निकला। इसे हिकि साहब ने निकाला, पर यह साप्ताहिक पत्र दो वर्ष के भीतर ही बंद हो गया। इसके बाद इन्डिया-गजट, कलकत्ता गजट आदि कई पत्र निकले।

बंगला भाषा का सर्व-प्रथम पत्र

ई० १८१८ के एप्रिल में श्रीरामपुर से मिश्नरी द्वारा "दिग्दर्शन" नामक बंगला मासिक पत्र सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। इसके कुछ दिन पश्चात् ही सन् १८१८ के २३ मई को "समाचार-दर्पण" नामक साप्ताहिक पत्र भी उक्त मिशन ने प्रकाशित किया और इसके कई दिन बाद "बंगला गजट" पत्र निकला।

उर्दू का सर्व-प्रथम पत्र

सन् १८२२ के २८ मार्च को कलकत्ते से "जामई जाहान नूमा" नामक उर्दू पत्र निकला।

फार्सी का सर्व प्रथम पत्र

सन् १८२२ के १२ एप्रिल को "मीरात्-उल-अखबार" पत्र भी कलकत्ते से निकला।

सर्व-प्रथम हिन्दी पत्र

सन् १८२६ के ३० मई को कलकत्ते से पं० जुगल किशोर शुक्ल के संपादन में "उदन्त मार्तण्ड" नामक पत्र निकला। यह पत्र प्रति-मंगलवार को नं० ३७ आमडातला गली-कोलूटोले से प्रकाशित होता था। मू० २) था।

संवाद-पत्रों के प्रकाशन में पहले गवर्नमेण्ट प्रसन्न नहीं थी, उसके समक्ष अधिकांश संवादपत्रों की रचना तथा भाषा अयोग्य ज्ञात होती थी, अतः सन् १७९९ के मई में लार्ड वेलेस्ली ने सर्वप्रथम संवाद-पत्रों का स्वाधीनता को रोक यह नियम बनाया कि अब से कोई भी पत्र सरकारी सेक्रेटरी के द्वारा परीक्षित किये बिना प्रकाशित न हो सकेगा, नियम भंग करने से संपादक को योरोप निर्वासित होना पड़ेगा। स्मरण रहे कि इस समय तक सभी संवादपत्र अंग्रेजी भाषा और योरोपीयन संपादकों के संपादकत्व में ही प्रकाशित होते थे। इस कठोर नियमानुसार संवाद तो क्या विज्ञापन तक भी प्रकाशन से पूर्व सेक्रेटरी के पास मंजूर कराने के लिये भेजने पड़ते थे।

इसके १८ वर्ष बाद सन् १८१८ के १९ अगस्त को बड़े लाट लार्ड हेस्टिंग्स ने संपादकों का यह बंधन हटाया। उन्होंने परीक्षक को हटा कर संपादकों को निर्देश कर कई साधारण नियम बना डाले और इन नियमों के द्वारा सरकार एवं लोकहित की हानिकर आलोचना प्रकट नहीं हो पाती थी। पर अंग्रेजी संवादपत्रों—विशेषतः कलकत्ता जनरल आदि में सरकार को दृष्टि में कई आपत्तिजनक लेख प्रकाशित होने लगे; तब सन् १८२२ के ७ अक्तूबर को फिर से संवादपत्रों को कठिन शृङ्खला में बांधने का प्रयत्न हुआ। १८२३ के ४ मार्च को एक कड़ी "प्रेस आईन" बनाई गई। तब से सभी संवादपत्र सरकार की अनुमतिपूर्वक निकलने लगे। सन् १८३५ में यह स्वतंत्रता-विरोधी आइन उठा दी गई, पर १८५७ से पुनः जारी की गई।

सर्व-प्रथम जैनपत्र

जैन सामयिक-पत्र-सम्बन्धी अभी तक कोई खोज हुई ज्ञात नहीं होती, अतः सर्वप्रथम जैनपत्र कौन सा और कब निकला निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी मेरे अन्वेषण में जितने पत्र-पत्रिकाओं का पता चला है उनमें शायद "जैनदिवाकर" सब से प्राचीन है। यद्यपि इसकी फाइल व अङ्क अवलोकन में नहीं आने से प्रकाशन की निश्चित तारीख ज्ञात नहीं हुई, फिर भी "मुद्रित जैन श्वेताम्बरग्रन्थगाईड" और "जैनसाहित्य नो संक्षिप्त इतिहास" से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत मासिक पत्र वि० सं० १९३२ में अहमदाबाद से छगनलाल उमेदचंद-द्वारा प्रकाशित हुआ था, भाषा संभवतः गुजराती होगी और पत्र करीब १० वर्ष निकला होगा।

इसके बाद सं० १९३३ में रा० केशवलाल शिवराम-द्वारा "जैनसुधारस" नामक पत्र निकला, पर वह संभवतः वर्ष भर ही चला होगा। उपर्युक्त दोनों पत्र श्वेतांबर समाज-द्वारा गुजरात से गुजराती में निकले थे। इनके बाद ८ वर्ष तक किसी अन्य पत्र का जन्म हुआ या नहीं अज्ञात है। सं० १९४१ के माघ से जैन नाटककार डाह्याभाई धोलशाजी के निरीक्षण में श्रीजैनधर्म-प्रवर्त्तक सभा, अहमदाबाद-द्वारा "स्याद्वाद-सुधा" नामक पत्र निकला, और

इसके कई मास बाद ही सं० १९४१ के वैशाख से जैनहितेच्छु सभा, भावनगर-द्वारा "जैन-हितेच्छु" पत्र निकला, ये सभी पत्र अब बन्द हैं।

दि० जैनपत्रों में सर्वप्रथम ई० १८८४ में बाबू जीयालाल जी द्वारा फर्रुखनगर से "जैन" (जीयालाल प्रकाश) साप्ताहिक पत्र निकला ज्ञात होता है। इसका वार्षिक मूल्य २।।) था। यह पत्र हिन्दीजैनपत्रों में शायद सर्वप्रथम होगा। इसके बाद दि० "जैनबोधक" और श्वे० "जैनधर्म प्रकाश" नामक पत्र निकले जो अब भी निकलते हैं।

इसके बाद तो अनेक जैनपत्रों का जन्म हुआ और अस्त हुआ, अतः उनकी आलोचना न कर अब भूतकालीन जितने जैनसामयिक पत्रों का नामादि विवरण मैं संग्रह कर सका हूं, उनकी अकारादि क्रम से सूची नीचे दी जाती है :—

अनेकान्त	जैननारी-हितकारी †	जैनमुनि
आत्मानंद	जैनतत्त्व प्रकाशक †	जैनयुवक
आत्मानंद जैनपत्रिका	जैनतत्त्वप्रवेशक †	जैनरत्नमाला †
आदर्श जैन †	जैनदिवाकर †	जैनरीव्यु †
आदर्श जैन चरितमाला †	जैनधर्म प्रकाश †	जैन वर्त्तमान
आनंद	जैनधर्मज्ञानदीपक †	जैनवाग्विलास †
उत्कर्ष †	जैनधर्मोदय †	जैनविजय †
ओसवाल	जैनपताका (कलकत्ता)	जैनविजय-तरंग †
कच्छी जैनमित्र	जैनपताका (अहमदाबाद)	जैनविवेक-प्रकाश
गोलापूर्व जैन	जैन-पत्रिका †	(श्वेताम्बराभ्युदय)
जागृति †	जैनप्रभात	जैनशासन
जातिप्रबोधक (झाँसी)	जैनप्रभाकर (बनारस)	जैन श्वे० कॉं० हेरल्ड
,, (आगरा	जैनप्रभाकर (लाहौर)	जैनसमाचार (बा०मी०
जिनवाणी	जैनप्रभाव †	,, (मणि०)†
जैन (जीयालाल प्रकाश) †	जैनप्रबोध †	जैनसुधारक
जैनआदर्श †	(जैनमित्र, जैनभास्कर,	जैनसुधारस †
जैन एडवोकेट †	जैनसमालोचक)	जैनसमाज
जैन जगत्	जैनबन्धु	जैन साहित्य-संशोधक
जैन जागृति	जैनबन्धु (कन्नड)	जैनसंसार
जैन जीवन	जैन मार्त्तन्ड	जैनसिद्धांत†
		जैनहितैषी

जैनहितेच्छु (भावनगर) †	भारतभानु	श्रावक †
,, (बा० मो०)	महावीर (पूना)	श्राविकासुबोध
जैनज्ञानप्रकाश	,, (सिरोही)	श्वेताम्बर जैन
जैनोदय †	महिलाभूषण †	श्वे० स्था० कॉ० प्रकाश
जैसवाल जैन	मारवाड़ी ओसवाल	सत्यवादी
दशा श्रीमालीहितेच्छु	मारवाड़ी जैनसुधारक	सत्योदय
धर्मध्वज (हस्तलि०) †	मुनि (जाति प्रबोधक)	सद्धर्मभास्कर
धर्मदिवाकर †	रतलाम टाइम्स †	सनातन जैन
धर्माभ्युदय	रंगीला	समालोचक †
प्रजाबन्धु †	वन्दे जिनवरम्	स्याद्वादसुधा †
पद्मावतीपुरवाल	विजयधर्मप्रकाश † (हस्तलि०)	स्याद्वादी †
प्रभात	विनोद (जैनसिद्धांत प्रचारक)	सोसुखदपण (श्राविका)
प्रवचन-वचनामृत †	विविध-विचारमाला †	हिन्दी जैन †
परवारबन्धु	विश्वबन्धु	ज्ञानप्रकाश
पुण्यभूमि †	वीरवाणि	
पोलपत्रिका †	वीरसन्देश	
बुद्धिप्रभा	वीशा श्रीमाली हितेच्छु †	

अब वर्त्तमान जैन सामयिक पत्रों की अकारादिक्रम से सूची नीचे दी जाती हैं, इन में कोई बन्द हो गया हो या सूची से अतिरिक्त कोई पत्र निकलता हो तो सूचित करने का अनुरोध है।

आत्मानन्द प्रकाश	जैन	जनप्रवचन
ओसवाल नवयुवक	जैनज्योति	जैनप्रकाश
ओसवाल	जैनदर्शन	जैनबन्धु (हिन्दी)
कच्छीदशा ओशवाल प्रकाश †	जैनध्वज	,, (बम्बई)
खंडेलवाल हितेच्छु	जैनधर्मप्रकाश	जैनबोधक
गोग्रास †	जैनपथप्रदर्शक	जैन महिलादर्श
चन्द्रसागर	जैन प्रचारक †	जैनमित्र
जैनगजट (अंग्रेजी)	जैनप्रभात †	जैनयुग
जैनगजट (हिन्दी)	जैनप्रदीप †	जैनविकाश

† इस चिन्हवाले पत्रों का केवल उल्लेख ही पाया गया है; अङ्क नहीं अत: जहां, इन पत्रों की का हों हों सूचित करें।

	तरुणकच्छ †	वीरसन्देश
जैनशिक्षण-सन्देश	तरुणी †	वीरवाणी †
जैनसन्देश	तारणपन्थ दि० जैन †	वीर
जैनसत्यप्रकाश	दिगम्बर जैन	वैद्य
जैनसिद्धान्त	धर्मरत्न	शान्तिसिन्धु †
जैनसिद्धान्त भास्कर	प्रगति †	शिक्षणपत्रिका
जैनहैरल्ड †	प्रगतिआणि जिनविजय †	शान्तिवैभव †
जैन होस्टल मेगजीन	परिवर्तन †	सनातन जैन
जैसवाल जैन †	परिचयपत्रिका †	सिद्धचक्र
जिनविजय (कन्नड)	बुद्धिसागर	समयधर्म
जीवनज्योति	महाराष्ट्रीय जैन †	सत्यप्रकाश अने स्वदेश
जीवनसुधा	रत्नाकर	स्थानकवासी जैन
भजक	विवेकाभ्युदय (कन्नड)	
तरुणजैन	वीरशासन	

हाल ही में और भी कई नये पत्रों के निकलने की सूचना मिली है पर वे निकले या नहीं ज्ञात नहीं। भूतकालीन पत्रों का इतिहास विशेष मनोरञ्जक होगा। जैनसमाज में थोड़े ही वर्षों में अनेक पत्र निकल कर सभी बन्द होगये या हो रहे हैं, इसके कारणों पर विशेष रूप से आलोचना होकर भविष्य के मार्ग का निर्णय करना परमावश्यक है; अन्यथा न तो पत्रों का हित है न समाज का ही आशा है; सम्पादक गण विशेष ध्यान देंगे।

हमारे समाज में पत्रों की फाइलें संगृही कर रखने की प्रवृत्ति अत्यल्प है, इससे भूतकालीन पत्रों का इतिहास जैसा चाहिये लिखा जाना संभव-परक नहीं। मैंने इस लेख में भूतकालीन जैन पत्रों की जो सूची दी है उनमें से करीब आधे पत्रों की फाइलें बा० पूर्णचन्दजी नाहर-के संग्रह एवं चतुर्थांश पत्रों के अङ्क हमारे संग्रह में हैं। कई पत्रों के तो केवल नामोल्लेख ही प्राप्त है अतः जिन जिन ग्रन्थालयों में भूतकालीन पत्रों की फाइलें हों कृपया मुझे सूचित करने की कृपा करें।

पत्रों का विवरण मैंने १ पत्रनाम २ सम्पादक ३ प्रकाशन पता ४ भाषा ५ सम्प्रदाय ६ वार्षिक चन्दा ७ प्रकाशन-समय ८ प्रथमांक प्रारम्भ समय ९ बन्द होने का समय आदि-विषयक संग्रह किया है। मेरा विचार है कि महत्त्वपूर्ण उपयोगी पत्रों का एवं उनमें प्रकाशित विशिष्ट लेखों का संक्षिप्त परिचय दिया जाय, पर यह पत्रों की फाइलें मिलने पर ही हो सकता है, अतः सभी अनुभवी सहयोगियों से विशेष सूचना एवं सहायता देनेका नम्र निवेदन है।

† इन पत्रों के अंक अभी तक अवलोकन में नहीं आये, अतः सम्पादकगण अंक भिजवावें।

विविध विषय

क्या उडुपि पहले जैन क्षेत्र था ?

[१]

'उडुपि' हिन्दुओं के दक्षिण भारत के प्रसिद्ध पुण्य क्षेत्रों में से एक है। यह क्षेत्र मद्रास प्रान्तान्तर्गत दक्षिण कन्नड जिला में अवस्थित है। उडुपि इस जिला के प्रमुख शहर मंगलूर से ४५ मील दूर पर वर्तमान है और वह दक्षिण कन्नड़ जिला का दूसरा शहर है। यह नगर समुद्र-तट पर बसा हुआ है। इसलिये स्वास्थ्य एवं व्यापार की दृष्टि से भी यह एक उल्लेखनीय स्थान है। बंबई से मंगलूर जाने-आने वाले जहाज उडुपि होकर ही आते जाते हैं। इधर यहाँ के मणिपाल नाम के मैदान में क्षयरोगियों के लिये एक अस्पताल भी बन गया है। यह अस्पताल ही यहाँ का जल-वायु की उत्तमता को प्रमाणित करता है। विद्या का भी यहाँ अच्छा प्रचार है। लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार की शिक्षा का उडुपि में पर्याप्त प्रबन्ध है। इसके लिये यहाँ का हाई स्कूल एवं संस्कृत-महाविद्यालय आदि ही भव्य निदर्शन हैं। यहाँ से कुछ पत्र भी निकलते हैं। कई प्रेस एवं प्रकाशन-संस्थाएँ भी मौजूद हैं। धर्म का तो यह केन्द्र ही है। यहाँ पर हिन्दुओं के एक-दो नहीं, आठ मठ हैं। ये 'अष्टमठ' नाम से प्रख्यात हैं। इन मठों के संस्थापक श्रीमध्वाचार्य हैं। आप परम वैष्णव एवं द्वैतसिद्धान्त के एकान्त प्रचारक थे। आप के मत के अनुयायी 'माध्व' कहलाते हैं। मध्वाचार्य ने अपने जमाने में समग्र भारत में घूम कर अपने माध्व मत का प्रचार किया था। आज भी आपकी एक मूर्ति उडुपि कृष्णदेव स्थानके गर्भगृह की उत्तर दिशा में स्थित दरवाजे के भीतर वर्तमान है।

उडुपि के हिन्दू देवालयों में अनन्तेश्वर और चन्द्रमौलि देवालय ही प्रधान हैं। इन देवालयों के आकार-प्रकार बिल्कुल जैन देवालयों से मिलते हैं। बल्कि अनन्तेश्वर देवस्थान के सामने आज भी एक छोटा सा सुन्दर शिलामय मानस्तम्भ मौजूद है। स्तम्भ इस बात को प्रमाणित करता है कि यह देवालय मूल में जैनियों का ही रहा होगा। क्योंकि मानस्तंभ जैनदेवालयों का एकांत चिह्न है। हिन्दू देवालयों में यह कहीं भी नहीं पाया जाता। प्रत्युत इस बात को हिन्दू विद्वान् भी मानते हैं। पूर्वोक्त दोनों देवालय पूर्व में जैनियों के ही थे इस बात को श्रीयुत एस० यू० पणियाडि, एम० गणपतिराव, के० के० शेट्टि आदि मान्य हिन्दू विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। बल्कि श्रीयुत पणियाडि जी का कहना है कि यहाँ पर अवस्थित 'शास्ता' नामक मूर्ति भी जैनियों की ही होनी चाहिये। पर कारणवश परसाल (नवम्बर,

१९३७) उस यात्रा में उस मूर्त्ति को मैं नहीं देख सका। इसलिये इस विषयमें इस समय कुछ भी अपना मत नहीं दे सकता। साथ ही साथ उडुपि पूर्व में जैनियों के हाथ में था यह बात निम्न लिखित हेतुओं से भी पुष्ट होती है—

'कट्पाडि' बल्लालों की गद्दी पहले जैनियों की रही। आजकल हिन्दुओं के हस्तगत है; फिर भी पट्टाभिषिक्त होने के बाद वहाँ के वर्तमान बल्लाल उपनयन के अनधिकारी होते हुए भी जनेऊ पहनते हैं; ब्राह्मणों के ही हाथ का भोजन करते हैं। मांस-मदिरादि अभक्ष्य पदार्थों का आजीवन उपयोग नहीं करते। मरने पर उनका दाह संस्कार आदि भी स्थानीय ब्राह्मण क्षत्रियादि उच्चवर्ण वालों के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। कहने का आशय यह है कि वे प्रायः जैनानुकूल रीति-रिवाजों को ही अपनाये हुए हैं। यहाँ तक सुना जाता है कि जहाँ पर उनकी गद्दी रहती है, वहाँ पर मद्यमांसादि-भक्षक जाने ही नहीं पाते। 'पडुबिदुरे' बल्लालों की गद्दी पूर्ववत् आज भी जैनियों के ही हाथ में है और इन दोनों बल्लालों में सम्मान का आदान-प्रदान यथावत् आज भी प्रचलित है। यह बात कट्पाडि गद्दी को जैन सिद्ध करने में मुख्य सहायक होती है।

एक बात यहाँ उल्लेख कर देना परमावश्यक है। वह यह है कि बल्लालों की कुल गद्दियाँ पूर्व में जैनियों की ही थीं और ये ही इस समग्र जिला के शासक रहे। उन्हीं के महल (आवसस्थान) 'बीडु' के नाम से आज भी प्रख्यात हैं। उडुपि के आस-पास के 'निडुम्बूरु' एवं 'चित्पाडि' बल्लालों की गद्दी इस वक्त भले ही ब्राह्मणों के हाथ में हों, किन्तु पहले जैनियों के ही हाथ में थी—जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं। आस-पास के इन बल्लालों का अधिकार उडुपि मठों और मन्दिरों पर कुछ पहले विशेषरूप से था; पर आज भी इन बल्लालों को यथायोग्य सम्मान इन मठों एवं मन्दिरों से प्राप्त है। यह उडुपि को पूर्व में जैनक्षेत्र सिद्ध करने में काफी सहायक है।

इस ज़िला के अन्तर्भुक्त बारकूर जैनियों की एक सुप्राचीन राजधानी है। बल्कि इस बारकूर के सम्बन्ध में भास्कर भाग ४, किरण ४ में मेरा एक विस्तृत लेख प्रकाशित हो भी चुका है। जिस समय बारकूरु समृद्धशाली रहा उस समय उसके आस-पास जैनियों की संख्या बहुत बढ़ी-चढ़ी रही होगी। उडुपि बारकूर से केवल ९ मील पर है, अतः वहाँ पर उस जमाने में जैनियों की सत्ता विशिष्टरूप से रहना स्वाभाविक है। यही उडुपि को जैनक्षेत्र सिद्ध करने का तीसरा कारण है।

मैं आशा करता हूं कि अन्वेषक विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

हिन्दी के कुछ जैन कवि और उनकी रचनायें

[२]

हिन्दी जैनसाहित्य विशाल है और उसका अपना गौरवपूर्ण व्यक्तित्व है ; किन्तु खेद है कि उसके विषय में जितनी उपेक्षा जैनियों ने की है, वैसी शायद ही किसी और समाज ने की हो। श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी के अतिरिक्त हिन्दी जैनसाहित्य की सार-संभाल, अध्ययन और अन्वेषण करनेवाला और कोई दिखाई ही नहीं दिया। यह बात भी नहीं है कि जैनियों में हिन्दी-प्रेमी विद्वानों का अभाव हो—अभाव है तो मात्र रुचि, परिश्रम उठाने के भाव और अन्वेषण के साधनों का। क्या ही अच्छा हो कि क्षमताशील विद्वज्जन संगठित हो कर इस दिशा में अग्रसर हों। प्रेमीजी ने अपने 'हिन्दी जैनसाहित्य के इतिहास' में अनेकों जैन-कवियों का परिचय और उल्लेख किया है, परन्तु फिर भी ढूंढ़ने से और भी अनेक कवियों का पता चल सकता है। निम्न पंक्तियों में हम कुछ ऐसे ही अश्रुतपूर्व कवियों का उल्लेख उनकी रचनाओं के नमूनों सहित करते हैं:—

(१) हंसराय—लेखक (का० प्र०) के ताऊजी पं० तेजराम के संग्रह में उसे एक गुटका संवत् १८०० अश्विनसुदी ६ का किन्हीं निहचंत राइ का लिखा हुआ मिला है। उस में कवि विनोदी लालजी एवं अन्य कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित कवित्त किन्हीं हंसरायजी महोदय के रचे हुए दिये गये हैं:—

"देव गुरु जानै नहिं, प्रभु पहचानै नहिं, करत कनास (?) काम कस कस कै ;
नतनमै सहमी कि निद्र करै (?) पापै नहिं नैक डरे, ऐसे तो जगत जीव जननी ने जनमै।
आप समझै नहिं और को अनिष्ट करै, ऐसे महामूढ़ प्राणी देखे भववन में ;
कहत हैं 'हंसराइ' सुनो भवि चितलाइ, जगत के वासी देखें हंसी आवे मन में ॥"

× × × × ×

"परम पुनीत अहो सूत्र को सुनै नहिं, उज्जलसी देह करै तन लटकत है ;
सुरत है माया माँहि, सुबुध सौं नेह नहिं, धरम को नहिं सुनें, और दपटत है।
अरे जीव, वैयरा के मारे तो को आवै काल फँदि गहि जम भटकत है ;
कहत हैं 'हंसराइ' सुनो भवि चितलाइ, करम के मोलन भव भटकत हैं।"(?)

(२) पारस—उपर्युक्त संग्रह में एक अन्य गुटका पालीनगर में हरषचन्द का लिखा हुआ है। उसमें पारस एवं अन्य कवियों की रचनायें लिखी हुई हैं। पारसजी का केवल एक

यही पद्य है:—

'हीवै झले ये तो जीव करम बसरे ॥ टेक ॥
मोह करम कौं वृक्ष बड़ो छै, कुमता नै जलगाइरे,
मिथ्या मतकी पाट कड़ी मैं चेतन बैठ्योरे, ॥ १ ॥
कुगुरन का झौटा जब लाग्या, दुरगति जाय पड्योछैरे,
दुख ही दुख भुगतैछे, सुख को नाम न आ नैरे ॥ २ ॥
कबहुंक तिरजंच गतिमाहि पड्यो छै, आप ही आप मखै छै रे,
किंचित् पूरण पायकै (?) मनुषा देह धरै छैरे,॥ ३ ॥
कोऊ कहै म्हारे त्रिया नांही, कोऊ सुत को झूरै रे,
पारस तो जिन सुमरन सेती वसुविधि चूरै रे ॥ ४ ॥'

(३) चैनविजय या चन्द्रविजय—के निम्न लिखित पद उक्त गुटके में मिलते हैं:—

"कंथा समझाई, बनिता बन आई ॥ टेक ॥
कहत मन्दोदरि सुनि पिय रावण, कुमति कहाँ तैं आई,
मति के हीन बुद्धि के ओछे, त्रिया हरत पराई ॥ १ ॥

× × ×

"समझायो समझै नहिं प्राणी, अशुभ उदै जो आई।
चैनविजै और भाई भभीषण, धर्मसूं प्रीत लगाई ॥ ३ ॥"

× × ×

"जिन-पूजा रचाऊँ, कब मैं औसर पाऊँ ॥ टेक ॥
रतन जड़त कंचन की झाड़ी, गंगाजल भर लाऊं :
केसर अगर कपूर घसाऊँ, तंदुल धवल धुवाऊं;
माल पौफन की गुथाऊं ॥ जिन पूजा० ॥

× × ×

नाचत चंद्रविजै प्रभू आगे, बार बार सिर नाऊं ।
नच रावल दर्शन पाऊं ॥ जिनपूजा० ॥"

(४) जिनदास—उक्त गुटके में इनका रचा हुआ 'सुगुरुशतक' है, जिसके आदि-अन्त के पद्य निम्न प्रकार है:—

"नमूं साधु निर्ग्रन्थ गुरु, परम धरम हित दैन।
सुगति करन भवि जनन कूं, आनन्द रूप सुवैन ॥ १ ॥"

× × ×

पढ़ै सुनै इस शतक कूं, मन में धारै ज्ञान।
होय दिगंबर पंथ को, ताही कै सरधान ॥ ६५ ॥
अलपकाल में शिव लहै, यामैं संशै नाहिं।
सुगुरु दिगंबर पंथ के, इत उत भटकै कांहि ॥ ९६ ॥
मद्धि देश में देश यह, नाम ढुढाहड सोइ।
जयपुर नगर सुहावनो, तामैं कहिए सोइ ॥ ९७ ॥
तहाँ जैनमत को बड़ो सदा रहै परभाव।
जैन जैन में हो रहे, भेदाभेद लखाव ॥ ९८ ॥
भेदभाव अति (?) होतही, सुविद्ध भई परतीत।
पितामह पितातैं हमैं, तजी कुलिंगनी प्रीति ॥ ९९ ॥
गोधा जाको गोत है, श्रावग कुल है जास।
अध्यातम शैली विषै, नाम हैं जिनदास ॥ १०० ॥
अठारासै बावनें चैतमास तमलीन।
सोमवार आठै तहाँ शतकै संपूरण कीन ॥ १०१ ॥"

(५) पं० अचलकीर्ति—मिती अश्विन वदी ७ संवत् १९२३ का लिखा हुआ आप का 'विषापहार स्तोत्र भाषा' मिला है। उसका आरम्भ और अन्त इन पद्यों में है:—

"विश्वनाथ विमल गुण ईश, वरहमान वंदौं जिन बीस।
गनधर गौतम शारद माइ, वर दीजै मोहि बुद्धि सहाइ ॥ १ ॥"

× × ×

"पढ़ै सुनें जे परमानन्द, कल्पवृक्ष महा सुखकन्द।
अष्टसिद्धि नवनिधि सो लहै, अचल कीर्ति पंडित इम कहै ॥"

(६) हरिचन्द—मिति अश्विन शुक्ला ६ संवत् १९३४ के लिखे हुए गुटका में कवि हरिचन्दजी की रचनाएँ लिखी हुई हैं। पहले ही 'पंचकल्याणक प्राकृत छन्द' लिखे हुए हैं। यह श्री रूपचन्दकृत 'पंचमङ्गलपाठ' के सदृश है। इसकी भाषा हिन्दी से मिलती जुलती अपभ्रंश है। नमूना इस प्रकार है:—

"शक्र चक्र मणि मुकटःवसु, चुंबित चरण जिणेश।
गम्भादिक-कल्लाण पुण, वरणउ भत्ति-विशेष ॥ १ ॥
गब्भ-जन्म-तप णाण-पुण, महा अमिय कल्लाण।
चउविय-शक्र आयकिय, मण वक्काय महाण ॥ २ ॥"

"सौधर्म्मिंद्रास अवधिधारा। कल्याणगर्भ जिया अवधारा।
यायरी रचना अमाविरणी। कुब्वेर सिक्ख सिर धर लिण्णी ॥ ३ ॥"

× × ×

"अस्सणिमासे अलिअरकाए। दशमय दिवसे गुण अरकाए॥
संवत्सर वसुवश तप्पाये। षटतिंश अधिक मङ्गल गाये॥ १५७॥
कल्याणक गिव्वाणा यह। थिर सव पढ़ि दातार।
दीजै जया हरिचन्द कौ लीजै अपणो सार॥ १५८॥"

इस रचना के पश्चात् हिन्दी भाषा में इन्हीं कवि का रचा हुआ 'पञ्चकल्याण-महोत्सव' लिखा हुआ है, जिसके आदि-अन्त के छन्द निम्न प्रकार हैं:—

"कल्यानक नायक नमो। कल्प कुरुह कुलकन्द (?)।
कलमषहर कल्याणकर। बुध-कुल-कमल-दिनंद॥ १॥"
मंगलनायक वंदि के। मंगल पंच प्रकार॥
वर मंगल मुझ दीजिये मंगल वरणन सार॥ २॥"

× × ×

"मो मति अति हीनी, नहीं प्रवीनी, जिन-गुण महा महंत।
अति भक्तिभाव तें, हिये चावते, नहि यश हेत कहंत॥
सबके मानन कों, गुण जानन कौं, मो मन सदा रहंत।
जिनधर्म प्रभावन, भव-भव-पावन, जण हरिचन्द चहंत॥ ११८॥"

× × ×

"तीन तीन वसु चंद्र ये। संबत्सर के अङ्क।
जेष्ट सुकल सप्तमि सुभग। पूरन पढ़ो निसङ्क॥ १२१॥"

—का० प्र०

जैनबद्री (श्रवण बेल्गोल) मूलबद्री 'मूडबिदुरे' की चिट्ठी

(३)

उक्त पण्डितजी के संग्रह के उपर्युल्लिखित पानी स्थान में लिखे हुए गुटके में एक रचना 'जैनबद्री मूलबद्री की चिट्ठी' शीर्षक दी हुई है; जिसे सं० १८२० में पानीपत-निवासी अग्रवाल श्रावक श्रीमजलसराय जी ने हैदराबाद दक्षिण से पानीपत के भाई उग्रसेनजी को लिखा था। इस चिट्ठी की यह प्रतिलिपि संवत् १८७९ चैतसुदी ४ को हुई प्रतिलिपि से ला० जीवराजजी

दिल्लीवाले ने सं० १८९८ को पाली में कराई थी। चिट्ठी से दक्षिण भारतीय प्रसिद्ध दिगम्बर जैन-तीर्थ क्षेत्रों का अच्छा परिचय मिलता है। इस यात्रा में उनको डेढ़ वर्ष लगा था। गोम्मट स्वामी के दर्शन करके उन्हों ने लिखा कि मूर्ति की महिमा वरणी न जाय। वह भागनगर (?) से दो कोस है। वहाँ से कोस ५० की दूरी पर एक सुरगनगर पट्टण को करणाटक देश में अवस्थित बताया है; जहाँ नगर और पर्वत २५ चैत्यालय तथा ५००-७०० प्रतिमायें थीं। यहाँ जैनधर्म की विशेष प्रधानता थी। इस नगर से १०-१५ कोस दूर असनो नगर लिखा है, जहाँ के मनोज्ञ चैत्यालय में १६ हाथ ऊँची कसौटी की प्रतिमा श्रीशांतिनाथजी की थी और कसौटी पाषाण की ३ हाथ ऊंची श्रीपार्श्वनाथ जी की भी प्रतिमा थी। इनके अतिरिक्त और भी छोटी-छोटी प्रतिमायें थीं। मन्दिर के खंभे भी कसौटी के लिखे हैं। लिखा है कि "ऐसा चैत्यालय कहीं देखने में आया नहीं।" आगे कंकरपटण नगर के दो चैत्यालयों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त ७२ छोटे चैत्यालय वहाँ और थे। वहाँ से ५० कोस दूर इसनी नगर है, जहाँ १२ चैत्यालय धातु रतन और पाषाण प्रतिमाओं सहित थे। शास्त्रानुसार चौथे काल का सा व्यवहार प्रचलित बताया है। वहीं निकट वन में 'शास्त्र के पाठी जती' (निर्ग्रन्थ मुनि ?) रहते बताये हैं। आगे बदनपुर लिखा है, जहां के निवासी भी धर्मात्मा थे। फिर उन्होंने असननगर में मूलनायक अजितनाथ की पद्मासनप्रतिमा-सहित चैतालय के दर्शन किये थे। वहाँ से ४० कोस दूर उत्तर नगर गये।' तलघट का मुलक है—समुद्र के किनारे वन है'—१००-२०० कोस तक चंदन, दालचीनी, इलायची आदि के पेड़ हैं। उस वन से १० कोस दूर उगर नगर है जो वनमें बसता बताया है। एक बड़े से तालाब के बीच में लिखा है कि 'सिखिरबंध देवर' (मन्दिर) है। कोटचार दरवाजा १६ हैं। तामैं प्रतिमा सिखरबंध खड़ी जोग हैं। प्रतिमा बहुत हैं। यात्रा-निमत्त नाव में बैठ कर गये थे सो यात्रा करी।' वहीं नगर के चैत्यालय में श्रीनेमिनाथ जी की मूलनायक-प्रतिमा एवं अन्य सोने-चाँदी, हीरा-पन्ना आदि की रत्नमयी प्रतिमायें थीं। लिखा है कि 'उस जगह की महिमा वरणी न जाय।' वहाँ से आठ कोस दूर कारकाल नगर लिखा है, जहाँ श्रीगोम्मट स्वामी की प्रतिमा के दर्शन उन्होंने किये थे। वहाँ नगर व वन में अठारह चैतालय और लगभग १००० प्रतिमायें स्फटिक और रत्नमयी थीं। पर्वत तथा छोटी गुफा में भी उन्हों ने जिन प्रतिमा के दर्शन किये थे। गुफा में मुनि महाराज भी आते और ध्यान करते लिखे हैं। यहाँ चौथा काल समान बरतता लिखा है। आगे जैन-बद्री (?) मूलबद्री नगर के ४० चैत्यालयों के दर्शन किये लिखा है। जिनमें सात हजार प्रतिमा विराजमान थीं। श्रीचंद्रप्रभूजी का चैत्यालय बहुत बड़ा था, जो समवशरण की तरह था तथा जिसके ४ कोट, १६ दरवाजे व १००८ खंभे थे। छत तांबे की है। 'वर्णन लिखने में

आवै नहीं' ऐसा अपूर्व वह चैत्यालय था। चैत्यालयों में प्रतिमायें सुवर्ण और रत्नमयी बताई हैं। जिनकी आराधना देवता करते हैं। इस चैत्यालय में निम्नलिखित रत्नमयी प्रतिमा विराजमान थी:—

१	प्रतिमा	लहसनिया की	अंगुल	११	प्रमाण।
१	,,	हीरा की	,,	३	,,
१	,,	पन्ना की	,,	११	,,
१	,,	फिरोजा की	,,	११	,,
१	,,	माणिक्य की	,,	४	,,
१	,,	पुखराज की	,,	५	,,
१	,,	गोमेद	,,	५	,,
१	,,	मूंगा	,,	११	,,
१*	,,	विषमणि	,,	×	,, (इसका गंधोदक लगानेसे सर्पविष दूर होता है।)

इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त दर्शनीय ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है कि तीन बड़े शास्त्र ताड़पत्र पर लिखे हुए अर्थात् धवल, जैधवल और महाधवल है। उस समय उनके पढ़ने के लिए कोई सामर्थ्यवान नहीं था। यहाँ दो मुनिराज भी विराजमान थे। एक का नाम ऋषभ प्रभु था, जो वन में रहते थे और निर्ग्रन्थ थे। नगर में एक महीने के बाद आते थे और पाँच घरों की मर्यादापूर्वक आहार ग्रहण कर के वन को वापिस चले जाते थे। उनकी उम्र ९० वर्ष की थी, पर घोर तपस्या करते बताये हैं। दूसरे मुनि महाराज प्रभाचन्द्र नामक थे, जिनकी आयु ७० वर्ष की थी। वन में रहते थे। आहार-निमित्त दूसरे-तीसरे दिन नगर में आते थे। वैसे दिन रात वनमें ही रहते थे। नग्नमुद्रा का सेवन करते थे। श्रीमजलस रायजी ने बनमें जाकरके दर्शन किये थे। मूलबद्री के राजा और प्रजा जैनी लिखे हैं। यहाँ से ४ कोस दूर 'होगलं देश बड़ा नगर, लिखा है; जहाँ राजा की रानी जैनधर्म सेवती थी। उसका एक भव्य चैतालय भी था, जिसमें १०८ प्रतिमायें विराजमान थीं। वहाँ से आगे ४ कोस पर अगननगर के पर्वत पर गोम्मट स्वामी (७ हाथ) के और १८ चैत्यालयों के दर्शन किये जिनमें लगभग ३-४ हजार (?) प्रतिमायें बताई हैं। वहाँ का राजा भी जैनी

---

* मूडबिदुरे में स्थित इन रत्नमयी प्रतिमाओं का विशेष विवरण 'दिगम्बर जैन' वर्ष २५ अङ्क १-२ में प्रकाशित मेरे लेख में देखें।

—के० बी० शास्त्री

लिखा है जो गुणी था। कतिपय प्रतिमायें रत्नों की थीं। उपरान्त देशाटन करते हुए यह यात्री महाशय लौटे थे। इन के साथ इनकी पत्नी और भावज भी थीं। दक्षिणवासी लोग इनको देखकर आश्चर्य करते थे, क्योंकि उस समय उत्तर भारत से यदा-कदा यात्री पहुंचते थे। श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में सं० १८०० से १८४२ तक पानीपत से आये हुये अग्रवाल जैनी यात्रियों के दर्शन करने के उल्लेख हैं। इनमें से नं० ३४६ व ३४७ में संभवतः मजलसरायजी का उल्लेख है।

—का० प्र०

"जैन एण्टीक्वेरी" के लेख

(भा० ३ अङ्क ४)

१—श्री वासुदेवशरणजी ने खंडगिरि मथुरा आदि से प्राप्त जैनपुरातत्त्व में ब्राह्मण देवताओं को स्थान मिला दरसाया है, जैसे मथुरा की एक जिनमूर्ति में शासन देवताओं के साथ कृष्ण बलराम की भी मूर्तियाँ हैं।

२—श्रीचम्पतरायजी विद्यावारिधि ने सिद्ध किया है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय से दिगम्बर सम्प्रदाय प्राचीन है।

३—नवीं अखिल भारतीय पूर्वीय तत्त्व-सम्मेलनमें जो जैनधर्म-विषयक लेख पढ़े गये थे। उनका सार श्रीउपाध्येजी ने दिया है। 'श्रीमत्परमगम्भीर' आदि श्लोक जो 'जैनएण्टीक्वेरी' के आदि में छपता है और जो दक्षिण के शिलालेखों में मिलता है वह श्रीभट्टाकलंक देव के 'प्रमाणसंग्रह' का मङ्गलाचरण है।

—का० प्र०

साहित्य-समालोचना

सहजानन्द सोपान

[१]

सम्पादक—ब्र० शीतल प्रसाद जी; प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत; भाषा हिन्दी; पृष्ठ सं० २७४; वीर सं० २४६३; मूल्य 'जैन-मित्र' के ३० (?) वे वर्ष के ग्राहकों को श्रीमती चन्दरबाई खंडवा की ओर से भेंट और सर्वसाधारण के लिये १) रुपया।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी एक अध्ययन एवं मननशील अध्यात्मप्रेमी व्यक्ति हैं। आपकी अध्यात्मप्रियता के लिये आप के द्वारा रचे गये अनुभवानन्द; स्वसमरानन्द, निश्चय धर्म का मनन, आध्यात्मिक सोपान आदि इस विषय के ग्रंथ ही निदर्शन हैं। प्रस्तुत रचना में आपने (१) भेदविज्ञान (२) स्वानुभव (३) सहजानन्द इन तीन खंडों में बहुत से विषयों पर काफी प्रकाश डाला है। यह कृति खासकर संस्कृत या प्राकृत भाषा से अपरिचित हिन्दी भाषा-भाषियों के लिये विशेष उपयोगी है। ब्रह्मचारी जी लिखते हैं बहुत; इसमें कोई सन्देह नहीं। पर ग्रन्थों को अधिक गंभीर एवं मौलिक बनाने की ओर ध्यान दें तो और अच्छा होगा। आशा है कि ब्रह्मचारी जी मेरी इस स्पष्टोक्ति से असहमत नहीं होंगे। अब प्रकाशक कापड़िया जी की ओर कुछ संकेत कर देना भी अनुचित नहीं होगा। कापड़िया जी एक उत्साही धर्मप्रेमी व्यक्ति हैं। आप अपने यहां से प्रकाशित होनेवाले पत्रों के ग्राहकों को उपहार देने के व्याज से ही सही, हर साल कुछ पुस्तकें अवश्य प्रकाशित कर देते हैं। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। समाज के कुछ व्यक्ति कापड़िया जी के इस प्रकाशन-प्रयास को व्यापार का ही एक ढंग समझते हैं; पर मैं तो यही कहूंगा कि यह ढंग अगर व्यापारिक भी हो तो भी बुरा नहीं है। किसी व्याज से ही सही, कई रचनायें प्रकाश में तो आ गईं। हाँ, कापड़िया जी को दो बातों की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। एक तो उपहार में देकर बची हुई अतिरिक्त प्रतियों का मूल्य बहुत कम रखना और दूसरी ऋषि-प्रणीत प्राचीन मौलिक ग्रन्थों का भी प्रकाश में लाने का यथाशक्ति यत्न करना। अन्त में मैं प्रत्येक अध्यात्मप्रेमी से अनुरोध करूंगा कि इस सहजानन्द-सोपान को मंगाकर वे एकबार अवश्य पढ़ें।

—के० भुजबली शास्त्री

जैनबौद्ध तत्त्व-ज्ञान (द्वितीय भाग)

[२]

लेखक—ब्र० शीतल प्रसाद जी; प्रकाशक—मूलचंद किसनदास कापडिया, सूरत; भाषा हिन्दी; पृष्ठ सं० २६४, वीर सं० ३४६४; मूल्य 'जैनमित्र' के ३८वें वर्ष के ग्राहकों को श्रीमती ज्वालादेवी हिसार की ओर से भेंट और सर्वसाधारण के लिये १)

इसके प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९३२ ई० में हुआ है। प्रस्तुत इस द्वितीय भाग में श्रीमान् ब्रह्मचारी जी ने कई दृष्टांत देकर दिखलाया है कि प्राचीन बौद्धधर्म और जैनधर्म के तत्त्वज्ञान का समन्वय बहुत अंश में दृष्टिगोचर होता है। बल्कि इसी के लिये आपने पाठकों को बौद्धपालि-साहित्य का अध्ययन करने के लिये संकेत किया भी है। आपका कहना है कि प्राचीन बौद्धधर्म से वर्तमान बौद्धधर्म बहुत भिन्न है। तुलनात्मक दृष्टि से आलोचना करने पर ब्रह्मचारी जी की यह धारणा समूल ही साबित होगी। नवमी शताब्दी के प्रधान जैनाचार्य देवसेन जी भी गौतम बुद्ध को श्रीपार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की परम्परा में होनेवाले पिहिताश्रव मुनि के सतीर्थ बतलाते हैं। उनका कहना है कि गौतम बुद्ध ने मतभेद के कारण ही पीछे से एक स्वतन्त्र मत प्रचलित किया। खैर, यह एक गहन विषय है। इस सम्बन्ध में और अधिक खोज करने की ज़रूरत है। परन्तु ब्रह्मचारी जी के इस मत को बौद्ध विद्वान् शायद ही स्वीकार करें। बल्कि इसके प्रथम भाग की समालोचना करती बार सारनाथ बनारस से प्रकट होनेवाले बौद्ध पत्र 'धर्मदूत' ने ब्रह्मचारी जी के उपर्युक्त मन्तव्य का विरोध किया है। कुछ भी हो ब्रह्मचारी जी ने इसके प्रणयन में पर्याप्त परिश्रम किया है। आपने विद्वानों का ध्यान एक नये विषय की खोज की ओर आकृष्ट किया है—यह आपका कार्य अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय है।

—के० भुजबली शास्त्री

मरण-भोज

[३]

लेखक—पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ, सूरत; प्रकाशक—सिंघई मूलचंद जैन, ललितपुर एवं शा० साकेरचन्द मगनलाल लरैया, सूरत; भाषा हिन्दी; पृष्ठ-सं० १०४; वीर सं० २४६४; मूल्य 'जैनमित्र' और 'वीर' के ग्राहकों को भेंट और सर्वसाधारण के लिये आठ आने।

इसमें नवयुवक उत्साही विद्वान् लेखक ने मरणभोज की उत्पत्ति, मरणभोज की भयंकरता आदि बारह विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। पं० परमेष्ठीदास जी मरणभोज के कट्टर

विरोधी हैं। आपका कहना है कि मरण-भोज धर्म और समाज का घातक एवं एक भयङ्कर पाप है। इस रचना का जन्म मरणभोज को निर्मूल करने के उद्देश्य से ही हुआ मालूम होता है। इसमें आपने अनेक विद्वानों की सम्मति भी समाविष्ट कर दी है और साथ ही साथ करुणाजनक कई सच्ची घटनायें भी। इससे मालूम होता है कि उत्तर भारत के कुछ प्रांतों में इसका बड़ा दौर-दौरा है। संभव है कि इसे देखकर ही पं० जी का हृदय करुणार्द्र हो गया हो। दक्षिण भारत के जैनसमाज में इसने इतनी भयङ्करता को नहीं धारण किया है। इसीलिये वहाँ पर इसके विरोध में कोई चर्चा अब तक नहीं उठी। मरणभोज के समर्थकों को भी इस पुस्तक को एकबार साद्यन्त पढ़ कर इस पर निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करना चाहिये। कोई रस्मरिवाज जब अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन कर जाता है तब ही उसके मूलोच्छेद के लिये क्रांति उपस्थित होती है। यह समझना चाहिये कि जो रस्म एक ज़माने में समाज के लिये हानिकारक नहीं था वही दूसरे जमाने में समाज का घातक बन सकता है। अनेकान्तवादी जैनियों को अनेकान्त से काम लेना चाहिये न कि एकान्त से। किन्तु इस का यह अर्थ समझना अन्याय होगा कि मैं शुद्धि और प्रायश्चित्त को नहीं मानता।

—के० भुजबली शास्त्री

प्राप्ति-स्वीकार

निम्न लिखित पुस्तकें भी समालोचनार्थ प्राप्त हुई हैं जो सधन्यवाद स्वीकृत की गई :—

(१) 'कविवर भूधरदास और जैन-शतक'—लेखक बाबू शिखरचंद जैन 'साहित्यरत्न'; प्रकाशक—सार्वजनिक वाचनालय, इन्दौर।

(२) 'विविध धर्म-सम्मेलन का तृतीय और चतुर्थ वार्षिक विवरण' (कन्नड);—प्रकाशक—श्रीयुत मंजय्य हेग्गडे, धर्मस्थल।

(३) 'तीर्थयात्रादर्शक' (कन्नड);—प्रकाशक—श्रीयुत चन्द्रराज शेट्टि एवं वर्द्धमान हेग्गडे, पुत्तूरु।

(४) 'जिनशासन का रहस्य' लेखक—न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द्र; प्रकाशक—जैनमित्रमण्डल, देहली।

कई पुस्तक-प्रकाशक 'भास्कर' के १०वें नियम के अनुसार समालोचना के लिये दो-दो प्रतियाँ नहीं भेज कर एक ही प्रति भेज देते हैं। आशा है कि आगे से वे अवश्य इस नियम का पालन करेंगे; अन्यथा विवश होकर भास्कर में उन पुस्तकों की चर्चा नहीं की जायगी।

—के० भुजबली शास्त्री

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

एक्कोणवीसलक्खा तेत्तीससहस्सतिसयतेत्तीसा ।
एक्ककला तदियाए वसुहाए वंसणा होइ[1] वित्थारो ॥१३७॥

१९३३३३३ । १ ।
३

अट्ठारसलक्खाणि इगिदालसहस्सछस्सयछासट्ठी ।
दोण्णि कला तदियाए भूए पंजलिदवित्थारो ॥१३८॥

१८४१६६६ । २ ।
३

सत्तरसलक्खाणि पण्णाससहस्सजोयणाणि च ।
उज्जलिदइंदयस्स य वासो वसुहाय तदियाए ॥१३९॥

१७५०००० ।

सोलस जोयणलक्खा अडवण्णसहस्सतिसयतेत्तीसा ।
एक्ककला तदियाए संपज्जलिदस्स वित्थारो ॥१४०॥

१६५८३३३ । १ ।
३

पण्णरसलक्खाणि छस्सट्ठिसहस्सछसयछासट्ठी ।
दोण्णि कला तदिएसं (?) संपज्जलिदस्स वित्थारो ॥१४१॥[2]

१५६६६६६ । २ ।
३

चोद्दसजोयणलक्खा पणसत्तरि तह सहस्सपरिमाणा ।
तुरिमाए पुढवीए आरिंदयं इंदपरिमाणं ॥१४२॥

१४७५००० ।

तेरसजोयणलक्खा तयसीदिसहस्स तिसयतेत्तीसं ।
एक्क कला तुरिमाए महीए मारिंदए इंदो ॥१४३॥

१३८३३३३ । १ ।
३

बारसजोयणलक्खा इगिणउदिसहस्सछस्सयछासट्ठी ।
दोण्णि कला तिविहत्ता तुरिमाइंदस्स इंदाउ ॥१४४॥

१२९१६६६ । २ ।
३

---

1 S चडणिय होइ, वणिण्दो हि (?); 2 This verse occurs twice in A and B.

बारसजोयणलक्खा तुरिमाए वसुंधराय[1] विस्थारो ।
तब्भंतयस्स रुंदो णिद्दिट्ठं सव्वदरिसीहिं ॥१४५॥
१२००००० ।

एक्कारसलक्खाणि अट्ठसहस्साणि तिसयतेत्तीसा ।
एक्ककला तुरिमाए महिए तमगस्स विस्थारो ॥१४६॥
११०८३३३ । १ ।
३

दसजोयणलक्खाणि छस्सयसोलससहस्सछासट्ठी ।
दोण्णि कला तुरिमाए बादिंदयवासपरिसंखा ॥१४७॥
१०१६६६६ । २ ।
३

पणवीससहस्साधियणवजोयणसयसहस्सपरिमाणा ।
तुरिमाए खोणीए खलखलणामस्स विस्थारो ॥१४८॥
९२५०००

लक्खाणि अट्ठ जोयण तेत्तीससहस्सातिसयतेत्तीसा । सहस्सातिसय
इंदय । एक्ककलातमयंदयवित्थारो पंचमधराए ॥१४९॥
८३३३३३ । १ ।
३

सगजोयणलक्खाणिं इगिदालसहस्सछस्सयछासट्ठी ।
दोण्णि कला भमइंदयरुंदो पंचमधरित्तीए ॥१५०॥
७४१६६६ । २ ।
३

छज्जोयणलक्खाणिं पण्णाससहस्ससमधियाणिं च ।　स
धूमप्पहावणीए झसइंदयरुंदपरिमाणं ॥१५१॥
६५०००० ।

लक्खाणि पंचजोयण अडवण्णसहस्सतिसयतेत्तीसा ।
क । एक्ककलायंदिदय[2] वित्थारो पंचमखिदीए ॥१५२॥
५५८३३३ । १ ।
३

1 वसुंधराए (?); S तब्भंतयस्स; 2 A एक्ककलायंदिंदिय ।

चउओयणलक्खाणि छासट्ठिसहस्सछस्सयछासट्ठी ।
दोभिण्णा कला तिमिस्सिंदयरुंदं पंचमधरित्तीए ॥१५३॥

४६६६६६ । २ ।
३

तियओयणलक्खाणि सहस्सया पंचहत्तरिपमाणा ।
छट्ठीए वसुमाइं हिमइंदयरुंदपरिसंखा ॥१५४॥

३७५०००

दो ओयणलक्खाणि तेसीदिसहस्सतिसयतेत्तीसा ।
एककला छट्ठीए पुढवीए होइ वद्दलेसु रुंदो ॥१५५॥

२८३३३३ । १ ।
३

एक्कं ओयणलक्खा इगिणउदिसहस्सछस्सयछासट्ठी ।
दोभिण्णकलावित्थारो लल्लंके छट्ठवसुहाए ॥१५६॥

० । १९१६६६ । २ ।
३

वासो ओयणलक्खो अवधिट्ठाणस्स सत्तमखिदीए ।
जिणवरवयणविणिग्गदतिलोयपण्णत्तिणामाए ॥१५७॥

० । ० । १००००० ।

एक्कादियखिदिसंखं तियचउसत्तेहिं गुणिय छब्भजिदे ।
कोसा इंदयसेढीपइण्णयाणं च बहलत्तं ॥१५८॥

अथवा

आदी छ अट्ठ चोद्दस तद्दलवड्ढिय जाव सत्तखिदिकोसं ।
छहिदे(?) इंदयसेढीपइण्णयाणं च बहलत्तं ॥१५९॥

१ । ३ । २ । ५ । ३ । ७ । ४ । ४ । २ । ८ । १० । ४ । १४ । १६ ।
२ २ २ ३ ३ ३ ३ ३
७ । ७ । १४ । ३५ । ७ । ४९ ।
३ २ ३ ६ ६

रयणादिछट्ठमंतं णियणियपुढवीण बहलमज्झादो ।
ओयणसहस्सजुगलं अवणिय सेसं करिज्ज कोसाणि ॥१६०॥

णियणियइंदयसेढीबद्धाणं पइण्णयाण बहलाणि ।
णियणियपदरपवण्णिदसंखागुणिदाण लद्धरासी य ॥१६१॥
पुव्विल्लयरासीणं मज्झे[1] तं सोहिऊण पत्तेक्कं ।
एक्कोणणियणियइंदयचउगुणिदेणं च भजिदव्वं ॥१६२॥
लद्धो जोयणसंखा णियणियखेयण्णा मुट्ठाण ।
जाणेज्ज पदट्ठाणे किंचूणयरज्जुपरिमाणं ॥१६३॥
सत्तमखिदीय बहले इंदयसेढीण बहलपरिमाणं ।
सोधिय दलिदे हेट्ठिमउवरिमभागा हवंति पदराणं ॥१६४॥
पढमखिदीयवणीणं रुंदं सोहेज्ज एक्करज्जूए ।
जोयणतिसहस्सजुदे होदि परं ठाणविच्चालं ॥१६५॥
दुसहस्सजोयणाधियरज्जू तदियादिपुढविरुंदूणं ।
छट्ठो त्ति परिट्ठाणे विच्चालपमाणमुद्दिट्ठं ॥१६६॥
सयकदिऊणाइं रज्जुजुदं चरिमभूमिरुंदूणं ।
मघविस्स चरिमइंदयअवधिट्ठाणस्स विच्चालं ॥१६७॥
णवणवदिजुदचदुस्सयछस्सहस्सा जोयणाइं बे कोसा ।
एक्कारसकलबारसहिदा य घम्मिदयाण विच्चालं ॥१६८॥

६४९९ को २ । ११ ।
१२

रयणप्पहचरमिंदयसक्करपुढविंदयाण विच्चालं ।
दोलक्खणवसहस्सा जोयणहीणेक्करज्जू य ॥१६९॥

७ । रिण । जो २०९,०००।

एक्कविहीणा जोयणतिसहस्सा धणुसहस्सचत्तारि ।
सत्तसयाणि माए एक्कारसइंदयाण विच्चालं ॥१७०॥

२९९९ । दंड । ४७०० ।

एक्का हवेदि रज्जू छव्वीससहस्सजोयणविहीणा ।
धणलोलुगस्स तत्तिं इंदयदो होदि विच्चाले ॥१७१॥[2]

७ । रिण । २६००० ।

तिण्णि सहस्सा दुसया जोयण उणवण्ण तदियपुढवीए ।
पणतीससयधणूणि पत्तेक्कं इंदयाण विच्चालं ॥१७२॥

३२४९ । दंड । ३५०० ।

1 AB °मज्झादो ; 2. A has lost some nine verses here.

एक्को हवेदि रज्जू बावीससहस्सजोयणविहीणा।
दोण्णं विच्चालमिणं संपज्जलिदारणामाणं ॥१७३॥

७। रिण। जो। २२०००

तिण्णि सहस्सा छस्सय छस्सट्ठीजोयणविहीणपंकाए।
पणगत्तरिसयदंडा पत्तेक्कं इंदयाण विच्चाले ॥१७४॥

३६६५। जो दंड। ७५००।

एक्को हवेदि रज्जू अट्ठारससहस्सजोयणविहीणा।
खलखलत्तमिंदयाणं दोण्णं विच्चालपरिमाणं ॥१७५॥

७। रिण जो। १८०००।

चत्तारि सहस्साणिं चउसयणवणवदिजोयणाणिं पि।
पंचसयाणि दंडा धूमपहाइंदयाण विच्चालं ॥१७६॥

४४९९। दंड ५००।

चोद्दससहस्सजोयणपरिहीणा होदि केवलं रज्जू।
तिमिस्सिदयस्स हिमइंदयस्स दोण्णं पि विच्चाले ॥१७७॥

७। रिण जो १४०००।

अट्ठाणउदी णवसयछस्सहस्सा जोयणाणि[1] मघवीए।
पणवण्णसयाणि धणू पत्तेक्कं इंदयाण विच्चालं ॥१७८॥

६९९८। दंड ५५००।

छट्ठमखिदिचरिमिंदयअवधिट्ठाणाण होइ विच्चालं।
एक्का रज्जू ऊणा जोयणतिसहस्सकोसजुगलेहिं ॥१७९॥

७। रिण ३००० को २।

तिण्णि सहस्सा णवसयणवणउदी जोयणाणि बे कोसा।
[2]उड्ढाधरभूमीणं अवधि ट्ठाणस्स परिमाणं ॥१८०॥

३९९९ कोस २।

णवणउदि णवसयाणि दुसहस्सा जोयणाणि वंसाए।
तिसहस्सछसयदंडा उड्ढाणं सेढीबद्धविच्चालं ॥१८१॥

२९९९। दंड ३६००।

---

1. जोयणाणि (?); 2 S उड्ढाधर।

णवणउदीजुदचउस्सयछस्सहस्सा जोयणाणि बे कोसा ।
पंच कला णवभजिदा घम्माए सेढिबद्धविच्चालं ॥१८२॥

१,६४९९ कोस २ ५/९ ।

उणवण्णा दुसयाणिं तिसहस्सा जोयणाणि मेघाए ।
दोण्णि सहस्साणि धणू सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८३॥

३२४९ । दंड २००० ।

णवहिदबावीससहस्सदंडहीणा हवेदि छासट्ठी ।
जोयणछत्तीससयं तुरिमाए सेढिबद्धविच्चालं ॥१८४॥

३६६५ दंड ५५५५ । ५/९ ।

अट्ठाणउदी जोयणा चउदालसयाणि छस्सहस्सधणू ।
धूमप्पहपुढवीए सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८५॥

४४९८ । दंड ६००० ।

अट्ठाणउदी णवसय छस्सहस्सा जोयणाणि मघवीए ।
दोण्णि सहस्साणि धणू सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८६॥

६९९८ दंड २००० ।

णवणउदिसहिदणवसयतिसहस्सा जोयणाणि एककला ।
तिहिदा य माघवीए सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८७॥

३९९९ । १/३ ।

सट्ठाणे विच्चालं एवं जाणिज्ज तह परट्ठाणे ।
जं इंदयवरठाणे भणिदं तं एत्थ वत्तव्वं ॥१८८॥
णवरि विसेसो एसो लल्लंकयअवधिठाणविच्चाले ।
जोयणयाधं छब्भागूणं सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८९॥

॥ सेढीबद्धाण विच्चालं सम्मत्तं ॥

छक्कदिहिदेक्कणउदी कोसोणा छस्सहस्सपंचसया ।
जोयणया घम्माए पइण्णयाणं हवेदि विच्चालं ॥१९०॥

६४९९ को १ । १७/३६ ।[1]

1. Numbers are confused in all the Mss.; I am following continuous numbering upto the close of an Adhikāra ; 2 S 17

णवणउदीजुदणवसयदुसहस्सा जोयणाणि वंसाए।
तिण्णिसयदंडयाणं उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ॥१९१॥

२९९९ दंड ३००।

अडताल[1] दुसयतिसहस्सा जोयणाणि मेघाए।
पणपणसयाणि धणू उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ॥१९२॥

३२४८ दंड ५५००

चउसट्ठि छस्सयाणि तिसहस्सा जोयणाणि तुरिमाए।
उणहत्तरीसहस्सा पणसयदंडा य णवभजिदा ॥१९३॥

३६६४ दंड ६९५००
९

सत्ताणवदी जोयणचउदालसयाणि पंचमखिदीए।
चउसयजुदछस्सहस्सा दंडेण पइण्णयाण विच्चालं ॥१९४॥

४४९७ दंड ६४००।

सट्ठाणे विच्चालं एदं जाणिज्ज तह परट्ठाणे।
जं इंदयपरठाणे भणिदं तं पत्थ[2] वत्तव्वं ॥१९५॥

एवं पइण्णयाणं विच्चालं सम्मत्तं

॥ एवं णिवासखेत्त[3] सम्मत्तं ॥

धम्माए णारइया संखठिदाउ होंति पढमाणं।
सेढीए गुणगारा विदंगुलविदियमूलकिंचूणं ॥१९६॥

। — १२
१२

वंसाए णारइया सेढीए असंखभागमेत्ता वि।
सो रासी सेढीए बारसमूलावहिदा सेढी ॥१९७॥

।१२।

मेघाए णारइया सेढीए असंखभागमेत्ता वि।
सेढीए दसममूलेणं भाजिदो होदि सो सेढी ॥१९८॥

१०

1. S अडतालं। 2. AB बत्थ; 3. खेत्तं (?)।

तुरिमाए णारइया सेढीए असंखभागमेत्ता वि ।
सो सेढीए अट्ठममूलेणं पवहिदा[1] सेढी ॥१९९॥

[८]

पंचमखिदिणारइया सेढीए असंखभागमेत्ते वि ।
सो सेढीए छट्ठममूलेणं भाजिदा सेढी ॥२००॥

६

मघवीए णारइया सेढीए असंखभागमेत्ता वि ।
सेढोए तदियमूलेण हरिदा सेढोय सो रासो ॥२०१॥

३

सत्तमखिदिणारइया सेढीए असंखभागमेत्ता वि ।
सेढीए बिदियमूलेण हरिदसेढीअ सो रासी ॥२०२॥

२

॥ एवं संखा समत्ता ॥

णिरयपदरस्स आऊ सीमंतादीसु दोसु संखेज्जा ।
तदिए संखासंखो दससु यसंखो तहेव सेसेसु ॥२०३॥

२ । १ । ७ । १० । ७ ।

एगं तिणिण य सत्तं दह सत्तारस दुवीस तेत्तीसा ।
रयणादीचरिमिंदियजेट्ठाऊ उवहिउवमाणा ॥२०४॥

१ । ३ । ७ । १० । १७ । २२ । ३३ ।

दसणउदसहस्साणि आऊ अवरा य जेठसीमंते ।
वरिसाणि णउदि लक्खा णिरइंदयआउउक्कस्सो ॥२०५॥

१०००० । ९०००० । ९०००००० ।

रोरुगए जेट्ठाऊ संखातीदा हु पुव्वकोडीउ ।
भत्तस्सुक्कस्साऊ सायरउवमस्स दसमंसो ॥२०६॥

पुव्व ।२ । सा । १
१० ।

दसमं सचउत्थंमये जेट्ठाऊ सोहिऊण णवभजिदे ।
आउस्स पढमभाए णायव्वा हाणिवड्डीउ ॥२०७॥

1 S वविहिदा ।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

अरहन्ताणं, ओं ह्रीं अर्हं णमो सिद्धाणं, ओं ह्रीं अर्हं णमो आइरियाणं, ओं ह्रीं अर्हं णमो उवज्झायाणं ओं ह्रीं अर्हं णमो साहूणं इति पञ्चपदैर्वेष्टयेत्। ततः षट्कोणयन्त्रं लिखेत्। अग्रे स्वस्तिकं लाञ्छितं ततः षट्कोणेषु सव्यक्रमेण अप्रतिचक्रे फट् इति मन्त्रावयवस्यैक-कोणेऽप्येकैकाक्षरं दद्यात्।

× × × ×

मध्यभाग (पत्रपृष्ठ ५, पंक्ति ४)—

मध्ये षट्कोणचक्रं लिखितजिनपतेः (?) क्ष्माधरं पीडबंधम
वामे ह्रीं दक्षिणे भर्व्वी श्रियमधरतले तेषु सव्यापसव्यम्।
कोणेऽप्यप्रतिचक्रे फडिति सविचक्राय होमान्तमन्त्रम्
देवीनां चैव पत्राणां बहिरपि विलिखेन्मन्त्रमग्रे च कोणे॥

× × ×

अन्तिम भाग

अन्तश्चन्द्रावृतं हंस इति युतमतो दिक्षु पं वं विदिक्षु
नालाग्रे भर्व्वी तदाद्यमृतमतिमितं समपत्रं द्विपद्मम।
लं पीताम्भोजपत्रे मुखकमलदले वं घटीरूपयन्त्रम्
झं क्ष्मं ह्रः ठः पोठाग्रे गतमुदवपुः संक्षमेतत्प्रशस्तम॥

यन्त्रमध्ये लं वं झं वं क्ष्मं ह्रः ठः पः हः भर्व्वी र्क्ष्वीं हं सः देवदत्तस्य शीतोष्णाज्वरहरं कुरु कुरु स्वाहा। इति संलिख्य ततो भर्व्वी र्क्ष्वीं हंसः इत्येतैर्बहिर्वेष्ट्य बाह्ये कलशाकारं संवेष्ट्य तस्य नालाग्रे भर्व्वी नालादौ क्ष्वीं पीठगतसप्तपत्रेषु प्रतिपत्रं लं। मुखगतसप्तदलानां मध्ये वं तदग्रेषु झं वं क्ष्मं ःः ठः पः हः इत्येकैकमक्षरमग्रं प्रति संलिखेत्॥

इस 'कल्प' में सर्वप्रथम यन्त्र लिखने का क्रम, मूलमन्त्र, इन मूलमन्त्रों के वश्यादि प्रत्येक कार्य में जपने की विधि एवं आगे गणधरयन्त्र का उल्लेख किया गया है। इसी यन्त्र-प्रकरण में अक्षि, कुक्षि, कर्ण एवं शिरोरोग आदि के लिये प्रत्येक मन्त्र का जप निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त ज्ञानवृद्धि, आयुःपरिज्ञानादि के लिये भी जाप्य मंत्र दिये गये हैं। बाद गणधरवलययन्त्र की पूजा, नवग्रह पूजा के साथ विस्तार से बतलायी गयी है। इसमें किस किस ग्रह के लिये किस किस वृक्ष की लकड़ी एवं कुण्ड की किस दिशा में किन किन की स्थापना श्रेय है इत्यादि का भी दिग्दर्शन कराया गया है। आगे "जंघया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जंघया। पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः॥ तत्र पद्मासनं पादौ जंघाभ्यां अयतो यतः। ततोरुपर्यधोभागे पर्यङ्कासनमिष्यते॥" इत्यादि रूप से आसनों का लक्षण कहा गया है। पश्चात् प्रतिष्ठा, शान्ति आदि होम में "सर्वधान्यकृतैर्लाजैस्तद्रजोभिर्गुडान्वितैः।

चन्दनागरुकर्पूरगुग्गुलान्नघृतादिभिः ॥ पायसान्नाक्षतैर्मिश्रैर्व्रीह्यवृत्तोद्भवादिभिः। सोमधाभिश्चरेद्धोमं प्रतिष्ठाशांतिपौष्टिके ॥" इस विधि से हवनद्रव्य का उल्लेख कर पौष्टिकादि कार्य के लिये "वश्याकृष्टिस्तंभननिषेधद्वेषचलनशान्तिकपुष्टीः। कुर्यात् सोमयमामरहृद्याग्निमरुद्ग्धिनिर्ऋतदिग्वदनः ॥" इस प्रकार अलग अलग दिशायें बतलायी गयी हैं। बाद में प्रत्येक कार्य के लिये समय, आसन, मुद्रा, बीजाक्षर आदि का विशद विवेचन किया गया है। वश्याकर्षण कार्य में त्रिकोण, चतुष्कोण आदि भिन्न-भिन्न कुण्ड तथा भिन्न-भिन्न वर्ण वाले पुष्पों की उपयोगिता लिखी गयी गयी है। किस किस कर्म के लिये किस किस अङ्गुली से जप करना विधेय है, इस बात को "मोक्षशान्त्योर्वशाकर्षस्तम्भद्वेषापसारके। अङ्गुष्ठमध्यमानामितर्जनीभिर्मणि चरेत् ।" यों अङ्कित किया है। अन्त में षोडशोपचार के द्रव्यों को गिना कर अग्निमण्डलों का लक्षण दिया गया है। अस्तु, इसके कर्त्ता अज्ञात हैं, पर निम्न लिखित तीन विद्वान गणधरवलय पूजा के कर्त्ता अब तक प्रसिद्ध हैं:—(१) भट्टारक धर्मकीर्ति (२) शुभचन्द्र (३) हस्तिमल्ल।

---

(३४) ग्रन्थ नं० २४६/ख

प्रवचनपरीक्षा

कर्त्ता—नेमिचन्द्र

विषय—खण्डनमण्डन

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या ५८

प्रारम्भिक भाग—

त्रिलोकीतिलकायार्हत्पुंवराय नमो नमः।
वाचामगोचराचिन्त्यबहिरभ्यन्तरश्रिये ॥

अथ निखिलजनचेतश्चमत्कारिजनिजानुभावपराक्रमानुरूपोपनतसकलभोगसाधनसंसिद्धसमिद्धाभिमानीकसुखसुधाम्भोनिधिनिमग्नइन्द्राजाधिराजमहाराजार्धमण्डलीकमहामण्डलीकार्धचक्रवर्तिसकलचक्रवर्तीन्द्राहिपदलक्षणाभ्युदयलक्ष्मीलाभाय पुरुषार्थपराकाष्ठागतनित्यनिरुपमनिर्बाधपरमानन्दमन्दिरनिःश्रेयससमधिगमाय चतुर्विधदुरन्तदुःखैकनिबन्धनांहःसंहाराय हंहो

देहिनः सुखासुखावाप्तिपरिहाररूपपुरुषार्थद्वयविगानकारणं सद्धर्मं शर्मकामाः समाराधयन्तु भवन्तः। तथाच पुरातनैर्निरूपितम्,—

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं भवतु सुकीर्त्तिः सदा धर्मः॥

× × ×

मध्य भाग (पत्रपृष्ठ २६, पंक्ति ७)

अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवदिति।

न चेदं साधनमसिद्धं प्रत्यक्षादिनामन्यतमस्यापि प्रमाणस्य सर्वज्ञबाधकस्यासंभवात्तदुक्तम्।

सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्यचिद्बाधकात्ययात्।
सर्वत्र बाधकाभावादेव वस्तुव्यवस्थितिः॥
न तस्य बाधकं तावत्प्रत्यक्षमुपपद्यते।
तस्यात्तज्जत्वादत्यक्षे न विधिर्न निषेधनम्॥
न चानुमानोपमानं च युक्तमिष्टविघाततः।
तथा हि खचरादीनां न स्यात् खगमनादिकम्॥
तस्मान्नरविशेषोऽसौ यस्य सा सकलज्ञता।
तथा खरविशेषश्चेदिष्टा तस्यापि शृंगिता॥
न चार्थापत्तिरप्यस्ति सर्वज्ञाभावसाधनी।
कोऽप्यर्थो संभवी तेन विना यस्तं प्रकल्पयेत्॥
नाप्यागमेन सर्वज्ञः कृतकेनेतरेण वा।
बाध्यते कर्तृहीनस्य तस्यात्यन्तमसम्भवात्॥
कर्तुरस्मरणादिभ्यः कर्त्रभावो न सिध्यति।
अज्ञातकर्तृकैर्वाक्यैर्व्यभिचारस्य संभवात्॥
न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति पौरुषेयष्वसंभवी।
अतीन्द्रियार्थसंवादः सर्वज्ञोक्तेऽपि संभवेत्॥
विवादविषयापन्नं ततः शास्त्रं सकर्तृकम्।
दृष्टकर्तृकतुल्यत्वादकलङ्कादिशास्त्रवत्॥
तदेवमकर्तृकं शास्त्रं नास्तिसर्वज्ञबाधकम्।
कृतकञ्च द्विधा भिन्नं सर्वज्ञेतरहेतुकम्॥
असर्वज्ञकृतं तावन्नप्रमाणमतीन्द्रिये।
सकलज्ञप्रणीतं तु तस्य प्रत्युत साधनम्॥

प्रस्तुतस्यानुमानस्य साधकत्वेन संभवात्।
प्रमाणपञ्चकाभावोऽप्यखिलज्ञे न बाध्यते ॥
तस्मादशेषवित्कश्चिदस्तीत्यागमसंभवा।
प्रमाणं बाधकाभावाद्बुद्धिरत्नादिबुद्धिवत् ॥

तदेव प्रमाणबलादज्ञानादिदोषरहितः सामान्यतो यः सिद्धः स चार्हन्नेव सर्वज्ञ युक्ति-शास्त्राविरुद्धवाक्यात्।

× × × ×

अन्तिम भाग :—

इदममलमनल्पस्यामर्मीमांसितादेः प्रवचननिकरस्यादाय बोधाय मास्म।
रचितमुचितवाग्भिर्वैदिकावैदिकानां प्रकटयितुमशंकं भेदमस्मादृशानाम् ॥
इति प्रवचनस्येह परीक्षा विहिता मया। अन्ययोगव्यवच्छेदाद्भेदानां प्रतिपत्तये ॥
स्खलितमिह विहायाल्पत्पदं किञ्चिदार्यैः प्रभवति यहु मन्तुं बालकस्यादरान्मे।

× × ×

तदयतननिमित्तं कथं स्यात्प्रमाणमिति मास्म मन्यथाः।
अर्थतस्तिरद् सूरीन्द्रभाषितं नापरं किमपि कल्पितं मया ॥
परमामृतदानेन प्रीणयद्विबुधान परं।
शरणं भक्तिम नेमिचन्द्रवज्जिनशासनम ॥

इस 'प्रवचनपरीक्षा' के कर्त्ता कवि नेमिचन्द्र हैं। 'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' इस तालिका में निम्नलिखित ग्रन्थ भी इन्हीं नेमिचन्द्र के द्वारा प्रणीत कहे गये हैं:—

(१) द्विसन्धानकाव्य की टीका (२) द्विसन्धान काव्य द्वितीय (श्लोक सं० ३०००) (३) उत्सवपद्धति (४) प्रतिष्ठातिलक (श्लोक सं० ५०००) (५) त्रैवर्णिकाचार (श्लोक सं० ३०००)। इनमें द्विसन्धान काव्य (द्वितीय) एवं उत्सवपद्धति ये दो ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आये हैं। हां, शेष ग्रन्थों को मैंने देखा है। त्रैवर्णिकाचार और प्रस्तुत प्रवचनपरीक्षा इनमें नामनिर्देश के सिवा भवन की प्रतियों में कवि नेमिचन्द्र का कुछ भी परिचय नहीं मिलता है। द्विसन्धान काव्य की टीका में निम्नलिखित दो श्लोक मिलते हैं अवश्य:—

"जीयान्मृगेन्द्रो विनयेन्दुनामा संविन्मदाराजितकण्ठपीठः।
प्रतीववादीभकपोलभित्ति प्रमादरैः स्वैर्नखरैर्विदार्य ॥
तस्याय शिष्योऽजनि देवनन्दी सद्ब्रह्मचर्यव्रतदेवनन्दी।
पदाम्बुजद्वन्द्वमनिन्द्यमच्य तस्योत्तमाङ्गेन नमस्करोमि ॥

इन श्लोकों से सिद्ध होता है कि कवि नेमिचन्द्र के प्रगुरु विनयचन्द्र एवं गुरु देवनन्दी थे। बल्कि निर्णयसागर प्रेस बंबई से प्रकाशित इसी द्विसन्धान काव्य के नवीन टीकाकार पं० बदरीनाथ जी ने इस नेमिचन्द्र को विनयचन्द्र का शिष्य लिखा है; यह इस नवीन टीकाकार की भूल है। क्योंकि विनयचन्द्र नेमिचन्द्र के गुरु नहीं थे किन्तु प्रगुरु। अब लीजिये 'प्रतिष्ठातिलक' को। 'सखाराम नेमिचंद जैन ग्रन्थमाला' सोलापुर से मुद्रित इस ग्रन्थ के इस संस्करण में कोई प्रशस्ति नहीं दी गई है। पर 'जैनहितैषी' भाग १२, पृष्ठ १६५ में श्रवणबेल्गोल-निवासी स्वर्गीय पं० दोर्बली शास्त्री के गृहग्रन्थालयस्थ इस प्रतिष्ठा-तिलक ग्रन्थ की एक ताड़पत्राङ्कित प्रति पर से ली गई 'शास्त्रावतार' नामक ४५ पद्यों की एक लम्बी चौड़ी प्रशस्ति प्रकाशित हुई है। इस प्रशस्ति में इस कवि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। इसमें ग्रन्थकर्ता नेमिचन्द्र ने अपने वंश आदि का स्पष्ट परिचय दिया है। प्रशस्ति में ब्राह्मणकुल की प्राचीनता को दिखलाते हुए उन्हीं ब्राह्मणों की सन्तान में अकलङ्क, इन्द्रनन्दी, अनन्तवीर्य, वीरसेन, जिनसेन, वादीभसेन, वादिराज और हस्तिमल्ल आदि अनेक विद्वानों का जन्म (?) होने का कथन उन्होंने किया है और इन विद्वानों की वंशपरम्परा में अपने कुटुम्ब का क्रम विस्तार से बतलाया है। विस्तारभय से इस परम्परा को मैं उद्धृत नहीं कर सका। कवि नेमिचन्द्र ने अपने वंश का चोल राजवंश के द्वारा सम्मानित एवं अन्यान्य शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों से अलंकृत लिखा है। जैसे—सत्यनाथ को तार्किक, राजमल्ल को कवि, चिन्तामणि को वाग्मी और वाग्मी, अनन्तवीर्य को स्याद्वाद-विशारद, पार्श्वनाथ को गीत और अलङ्कारशास्त्र का ज्ञाता (बहुत कुछ संभव है कि यही संगीत-समयसार के कर्ता हों), आदिनाथ को आयुर्वेद में निपुण, लोकपाल राम को धनुर्वेद का वेत्ता, ब्रह्मदेव को बड़ा बुद्धिमान तथा पद्मनाभ को और देवेन्द्र को संहिताशास्त्र में निष्णात एवं राजमान्यतादि गुणों से सम्पन्न लिखा है। चन्द्रपार्य, ब्रह्मसूरि और पार्श्वनाथ इन तीन को कवि ने अपना मातुल बतलाया है। यह ब्रह्मसूरि वही हैं जिन्होंने प्रतिष्ठापाठ, त्रैवर्णिकाचारादि ग्रन्थों की रचना की है। नेमिचंद्र के पिता देवेन्द्र और माता आर्यदेवी थीं। इन्हें आदिनाथ, नेमिचन्द्र और विजयप्प नाम के तीन पुत्र हुए। नेमिचन्द्र नाम का पुत्र ही प्रस्तुत कवि नेमिचन्द्र हैं। आपने अपने तीन भाइयों के सुपुत्रों का नाम-निर्देश करते हुए इन्हें भी विद्वान् लिखा है। नेमिचन्द्र जी ने इस ग्रन्थ में अपने को अभयचन्द्र का शिष्य स्पष्ट बतलाया है। इससे मालूम होता है कि द्विसन्धान काव्य के टीकाकार देवनन्दी का शिष्य नेमिचन्द्र इनसे भिन्न है।

इस प्रशस्ति में इन्होंने अपने को 'सत्यशासन-परीक्षा' आदि ग्रन्थों का प्रणेता बतलाया है। वह सत्यशासनपरीक्षा प्रस्तुत प्रवचनपरीक्षा ही मालूम होती है। राजसम्मानित

यह कवि नेमिचन्द्र स्थिरकदम्ब नामक नगर में रहते थे। पता नहीं है कि यह स्थिरकदम्ब किस स्थान का प्राचीन नाम है। कर्णाटक प्रांत में ही कहीं इसे होना चाहिये। साथ ही साथ इनके सम्बन्ध में यह कह देना भी आवश्यक है कि यह कवि नेमिचन्द्र जी गृहस्थ थे और लगभग १६वीं शताब्दी में मौजूद थे। इसमें कोई शक नहीं है कि यह एक प्रौढ़ कवि थे। इस प्रवचनपरीक्षा की श्लोक संख्या १००० मानी गयी है। इसकी भाषा विशुद्ध एवं प्रसादादिगुणों से सम्पन्न है। किन्तु भवन की यह प्रति यत्र-तत्र अशुद्ध है।

इस प्रवचनपरीक्षा में ग्रन्थकर्त्ता ने निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला है:—

(१) अहिंसाधर्म की प्रधानता एवं जैनधर्म में ही इसकी परिपूर्णता (२) वेद की समालोचना एवं मीमांसक, सांख्य आदि दर्शनों की वेद-बाह्यता तथा इनमें भी अहिंसा की मान्यता (३) "अर्हन्बिभर्षि" आदि वाक्यों में अर्हन्त का और "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" आदि वाक्यों में अहिंसा का वेद में उल्लेख (४) वेद-प्रतिपादित कई बातें अधार्मिक हैं, यदि ये धर्मबाह्य नहीं हैं तो मीमांसक आदि ने ईश्वर के अस्तित्व का जो खण्डन किया है, वह भी धर्मबाह्य नहीं होना चाहिये आदि (५) वेद-प्रतिपादित अर्हन् आदि शब्दों का अर्थ अर्हन्त न करके इन्द्रादिक करना युक्तियुक्त नहीं है (६) वेद-प्रतिपादित अहिंसादि धर्मों को माननेवाले जैनी वेदबाह्य नहीं कहला सकते हैं (७) वेद का समीचीन बोध नहीं होने से यदि जैनी वेदबाह्य हैं तब बहुसंख्यक वैदिक मतावलम्बी भी वेदबाह्य ठहरेंगे, अन्यथा आपस में वेदोक्त बातों पर इतना मतभेद क्यों उठ खड़ा हुआ? (८) जैनियों के वेद उनके प्रतिपादक; उनमें वेदनाम एवं संख्या की सार्थकता (९) अर्हन् की सर्वज्ञता तथा उनकी वेदप्रतिपादकता (१०) धर्म का भेद एवं गृहस्थ धर्म का वर्णन (११) एकेन्द्रिय जीवों के हिंसक गृहस्थ पञ्चेन्द्रिय जीवों के हिंसक नहीं कहला सकते (पञ्चाक्षरीफलं यद्वत्राहि पञ्चनकारतः। तद्वत्पञ्चाक्षघाताद्यं न पञ्चैकाक्षघाततः) (१२) मांस जीव का शरीर है अवश्य, पर जीव शरीर मांस हो भी सकता है और नहीं भी (मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्। यद्वा निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥) (१३) जैनियों के बारह अङ्ग पूर्वापर अविरुद्ध हैं और वे कथंचित् पौरुषेय-रूप हैं (१४) अपौरुषेयता ही प्रमाण की मूलभित्ति नहीं है एवं वचन में प्रमाणता गुणविशिष्ट वक्ता के ऊपर निर्भर है। (१५) प्रणव (ॐ) एवं यज्ञादिकर्म भी जैनवेदों में निर्दिष्ट है (१६) आप्त का यथार्थ स्वरूप (१७) बारह अङ्गों का विस्तृत वर्णन (१८) जैनियों में सन्ध्यावन्दन, सकलीकरण, गायत्री (अपराजितमन्त्र), तर्पण, श्राद्ध भी कथञ्चित् उपादेय है (१९) तिरेपन क्रियाओं का वर्णन (२०) द्विज का लक्षण एवं कर्त्तव्य।

इस ग्रन्थ को आमूलाग्र देखने से पता लगता है कि वेद, तर्पण, श्राद्ध, सन्ध्या एवं

गायत्री आदि को कथञ्चित् जैनागमानुकूल सिद्ध करना ही ग्रन्थकर्त्ता का लक्ष्य रहा है। हाँ, इसमें यह विशेषता है कि इन शब्दों का अर्थ और प्रतिपादित विषय जैन आगम के अविरुद्ध ही बतलाया गया है। मालूम होता है कि एक जमाने में इन चीजों का बड़ा बोलबाला था। इसी से जैनधर्म में भी यह सब कुछ है इस बात का परिदर्शन कराते हुए धर्म की रक्षा एवं सर्वमान्यता सिद्ध करने के लिये जैनग्रन्थकर्त्ताओं को भी इन चीजों की शरण लेनी पड़ी थी। धर्म पर कालदेशादि का प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता। धर्म की रक्षा ही इन ग्रन्थकर्त्ताओं का मूल लक्ष्य रहा होगा इसलिये इनका यह कार्य सामयिक एवं उपादेय कहा जा सकता है। इसके लिये एक वर्तमान दृष्टान्त को ही लीजिये—मेरे जानते राष्ट्रीय ध्वजाभिवन्दन एक कट्टर जैनी के लिये धर्मसंगत नहीं हो सकता; फिर भी आजकल प्रायः प्रत्येक कार्य में इसे अपनाया जाता है। अगर इस समय इसका कोई विरोध करेगा तो वह अलौकिक ही नहीं प्रत्युत देशद्रोही करार दिया जायगा। इसी दृष्टान्त को विचारशील एक कट्टर जैनी को अपने सामने रख कर उल्लिखित ग्रन्थगत बातों पर विचार करना चाहिये। अस्तु, इसमें अपनी बातों को पुष्ट करने के लिये ग्रन्थकर्ता ने आप्तपरीक्षा, गोम्मटसार, आदिपुराण, सागारधर्मामृत आदि ग्रन्थों के हवाले दिये हैं।

---

(३५) ग्रन्थ नं० २४७/ख

प्रतिष्ठाविधान

कर्त्ता—हस्तिमल्ल

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६। इञ्च | चौड़ाई ६ इञ्च | पत्रसंख्या १६

प्रारम्भिक भाग—

नमोऽर्हते सदा भूयादरिघातार्घजोऽर्हते।
रहस्यभावतो लोकत्रयपूजार्हभावतः॥

नम्रेन्द्रनन्दिमुकुटोरुसरःप्रतिष्ठाप्राग्भाविकृत्यमजितं जिनदिव्यमूर्तेः।
तोयैर्भुवं शुभतमैरभितो विशोध्य पात्राणि तत्र सलिलाद्यपि शोधयित्वा॥

× × × ×

मध्य भाग (पूर्वपृष्ठ १०, पंक्ति ८)

इन्द्रं वज्रधरं शुचिं शिखिकरं वैवस्वतं दण्डिनम्
रक्षोमुद्गरभृत्सुपाशमुशलिं वृत्तायुधं मारुतम्।
यक्षं शक्तिभृतं त्रिशूलकुशलं रुद्राधृतं स्वस्तिकम्
शेषं संधृतकुन्दमिन्दुमपि तान्न्यस्यापि दिक्पालकान्॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

स्वस्तिश्रीमुखमिष्टिरिष्टविभवः सख्यातयः पूज्यता
कीर्तिः क्षेममनामयप्रभुतामहिमा दीर्घायुरारोग्यवत्।
सौभाग्यं धनधान्यसम्पदभयं भद्रं शुभं मङ्गलम्
भूयाद्भव्यजनस्य भास्वति जिनार्चाग्रे प्रतिष्ठापिते॥

इति हस्तिमल्ल प्रतिष्ठाविधानं समाप्तम्।

यह 'हस्तिमल्ल-प्रतिष्ठा-विधान' मूडबिद्री से प्रतिलिपि करा कर आया है। इसमें कहीं भी ग्रन्थकर्त्ता का परिचय नहीं मिलता। परन्तु ग्रन्थ के आदि और अन्त में 'हस्तिमल्लकृत' लिखा मिलता है अवश्य। इसी से इस प्रतिष्ठाग्रन्थ का कर्त्ता हस्तिमल्ल माना गया है। अय्यपार्य-कृत 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' में निम्नलिखित यह श्लोक उपलब्ध होता है:—

"वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो-
यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्जितः।
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसन्धीरित-
स्तेभ्यस्स्वाहृतसारमार्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः॥"

इस श्लोक से यह बात सिद्ध हो जाती है कि हस्तिमल्ल ने भी एक प्रतिष्ठा-पाठ रचा है। अतः यह ग्रन्थ उन्हीं का प्रणीत कहने में कोई आपत्ति नहीं दिखती है। यदि यह प्रतिष्ठा-विधान विक्रान्तकौरव एवं मैथिलीकल्याण आदि नाटकों के प्रणेता प्रसिद्ध हस्तिमल्ल कवि का ही माना जाय तो इनका कुछ विशेष परिचय 'माणिक्यचन्द्र-ग्रन्थमाला' में प्रकाशित उक्त नाटकग्रन्थों की भूमिका में मिलता है। इस भूमिका के लेखक श्रीयुत पं०

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

करे तथा उसके ऊपर सोंठ, मिर्च, पीपल, अद्रक इनका रस पीवे। इसका सेवन करने से सन्निपात के द्वारा मरा हुआ भी प्राणी जी जाता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ योग सन्निपात रोग को अन्त करनेवाला है।

१४६—जीर्णज्वरे औदुम्बरादियोगः

औदुंबरांकुरं चैव मधुवृत्तं च सूतकम्।
नागरं लशुनं चैव गंधं पाषाणभेदकम् ॥१॥
जीरकं तगरं धान्यं चूर्णयेत् सर्वसाम्यकम्।
उष्णोदकं पिबेच्चैव पुराणज्वरनाशनम् ॥२॥
बालमध्यमवृद्धानां कटुकयाश्च रसेन च।
निष्कद्विनिष्कमात्रेण सितया सह संयुतः ॥३॥
पिबेच्च ज्वरनाशाय परं पाचनमुच्यते।
कोष्ठे बद्धरसेनैव चामयागुडसंयुतं ॥४॥
अग्निधूमस्य पानेन हिक्कायाश्च विनाशनम्।
दूर्वादाडिमपुष्पेण मधुकैः सह संयुतं ॥५॥
स्तनक्षीरेण संयुक्तं हिक्कावंशविनाशनम्।
औदुंबरादियोगोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥६॥

टीका—ऊमर के अङ्कुर, महुवा की छाल, शुद्ध पारा, सोंठ, लहसुन, शुद्ध गंधक, पाषाणभेद, सफेद जीरा, तगर और धनिया सब को बराबर-बराबर एकत्रित कर पहले पारे और गंधक की कजली बनावे, फिर बाकी औषधियों का चूर्ण कर उस कजली में मिलाकर घोंटे, जब बराबर मिल जावे तब इसको कुटकी के स्वरस अथवा हिम के साथ एवं मिश्री की चाशनी के साथ ज्वर को दूर करने के लिये देवे। इससे ज्वर का पाचन होता है। यदि दस्त न हुआ हो या कोष्ठबद्धता हो तो इसको योग्यमात्रा से बड़ी हर्र तथा गुड़ के साथ देवे। यदि इसको अग्नि में डालकर इसका धूम्र पान किया जाय तो इससे हिचकी शांत होती है तथा दूब, अनार का फूल, मुलहठी और स्त्री-दुग्ध के साथ देने से भी हिचकी नहीं आती।

१४७—आमवाते रसादियोगः

भास्यैकं रसं कुर्यात् द्विभागं गंधकं तथा।
त्रिभागं त्रिफलाचूर्णं चतुर्भागं विभीतकं ॥ १ ॥
गुग्गुलुं पंचभागं तु षड्भागं च चित्रकम्।
सप्तभागा च निर्गुण्डी चैरंडतैलसंयुतं ॥ २ ॥
भक्षयेद् गुडसंयुक्तश्चामवातं तु नाशयेत्।
पूज्यपादोक्तयोगोऽयं अनुपानविशेषतः ॥ ३ ॥

टीका—एक भाग शुद्ध पारा, दो भाग शुद्ध गंधक, तीन भाग त्रिफला का चूर्ण, चार भाग बहेड़े के बकले का चूर्ण, पांच भाग शुद्ध गुग्गुल, छः भाग चितावर, सात भाग नेगड़ के बीज इन सब को एकत्रित कर कूट कपड़छन कर के अन्डी का तेल तथा पुराने गुड़ के साथ योग्य अनुपान एवं योग्य मात्रा में सेवन करे तो उसके सेवन से आमवात नाश होता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

१४८—रसादिमर्दनः

रसगंधौ समौ शुद्धौ विष्णुक्रान्ताद्रवैर्दिनं।
आरक्तागस्त्यजैर्द्रावैः स्त्रीस्तन्येन हि मर्दयेत् ॥ १ ॥
मध्वाज्ययवसंयुक्तमेतदुद्वर्तनं हितम्।
कार्श्यं जयति षण्मासाद् वत्सरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ २ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक इन दोनों को सफेद कोयल के रस से फिर लाल अगस्ति (हथिया) के रस से तथा स्त्री दुग्ध से एक-एक दिन पृथक्-पृथक् खरल करे। तैयार होने पर शहद, घी तथा जौ का आटा इन तीनों को मिला कर उबटन लगावे तो इससे शरीर की कृशता दूर होती है। एक वर्ष लगातार उबटन करने से मृत्यु को जीतनेवाला होता है अर्थात् शरीर विशेष बलवान हो जाता है।

१४९—पूर्णचन्द्ररसायनः

मृतं सूताभ्रलौहं च शिलाजतु विडंगकं।
तार्प्यं सौद्रं घृतं तुल्यमेकीकृत्य विचूर्णयेत ॥ १ ॥

१४१—अर्शनाशकयोगः

देवदाल्याश्च बीजानि सैंधवं निंबबीजकम्।
तक्रेण पेषितं सर्व मर्शोरोगनिकृन्तनम्॥
देवदाल्याः कषायेण चार्शांसि शौचमाचरेत्।
गुडस्य स्वरसेनैव शांतिमाप्नोति निश्चितम्॥

टीका—देवदाली (यह बहुत कड़वी होती है, इसमें फल लगते हैं और बोज होते हैं) के बीज, सेंधा नमक तथा नीमके बीज इन सब को बराबर-बराबर लेकर मही के साथ पीस कर इनको सेवन करे तो अवश्य ही बादी बवासीर को लाभ हो तथा देवदार का काढ़ा बना कर उसमे एवं गुड़ के स्वरस में भी शौच (आबदस्तलेवे) करे तो लाभ हो।

१४२—ज्वरातीसारे आनंदभैरवरसः

हिंगुलं वत्सनाभं च त्र्योषं टंकणं कणां।
मर्दयेच्चार्द्रकेणैव रसोऽह्यानंदभैरवः॥१॥
गुंजैकं वा द्विगुंजं वा बलं ज्ञात्वा प्रयोजयेत्।
मधुना लेहयेच्चानु कुटजस्य त्वचं तथा॥२॥
तच्चूर्णं कर्षमात्रं तु त्रिदोषोत्थातिसारजित्।
पूज्यपादप्रयोगोऽयं रसश्चानंदभैरवः॥३॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध वत्सनाभ सोंठ, मिर्च, पीपल, सुहागा इन सब को बराबर बराबर लेकर अदरख के रस के साथ गोली बांध लेवे और फिर इसको एक रत्ती अथवा दो रत्ती प्रमाण मे रोगी का बलाबल देख कर देवे और उसके बाद कुरैया की छाल का चूर्ण १ तोला बलाबल के अनुसार कमी-बेशी मधु के साथ चटावे तो इससे त्रिदोष-जन्य अतीसार भी शांत होता है। यह आनंद भैरवरस पूज्यपाद का कहा हुआ है।

१४३—अर्शरोगे अर्शनाशक-लेपः

आरनालेन संपिष्य सबीजां कटुतुंबिकां।
सगुडां हंति लेपेन चार्शांसि मूलतो द्रुढं॥१॥

टीका—बीज सहित कड़वी तुमरियाको कांजी (मही-छांछ) के साथ पीस कर उसकी लुगदी में पुराना गुड़ मिलाकर बवासीर के मस्सों पर लेप करने से मस्से जड़ से कट जाते हैं।

१४४—ग्रहणी-रोगे अर्कादियोगः

अर्कवातार्कवह्नीनां प्रत्येकं षोडशं पलं।
चतुष्पलं सुधाकांडं त्रिपलं लवणत्रयं॥ १ ॥
वार्ताकोत्थद्रवैः पिष्ट्वा रुद्ध्वा सर्वं पुटे पचेत्।
वार्ताकोत्थद्रवैरेवं निष्कांशं गोलकं कृतम्॥ २ ॥
भोजनांते सदा खादेत् ग्रहणीश्वासकासजित्।
पद्मभुक्ते तज्ज्वरत्याशु नदीवेगप्रभाववत्॥ ३ ॥

टीका—सूखे अकौना (आक) के पके पत्ते १६ पल (६४ तोला), सूखे बैंगन १६ पल, चित्रक १६ पल, थूहर के सूखे डंडे ४ पल, ४ तोला सेंधा नमक, ४ तोला काला नमक, ४ तोला समुद्र नमक, इन सब को एकत्रित कूट कर बैंगन के रस से भावना देकर सब को मिट्टी के शरावे में बंद कर के पुटपाक करे। जब पुटपाक हो जाय तब बैंगन के रस से ही इसकी तीन तीन माशे की गोली बांधे और सदैव भोजन के बाद सेवन करे तो यह ग्रहणी, श्वांस, खाँसी को नदी के वेग की तरह शीघ्र नष्ट कर देती है।

१४५—सन्निपाते गंधकादियोगः

गंधकार्द्रकरसं तुत्थं शिलाविषं तु हिंगुलं।
मृतमाक्षिककांताभ्रताम्रलोहाः समं समं॥१॥
अम्लवेतसजंबीरचांगेर्या हि रसेन च।
निर्गुंड्याः हस्तिशुंड्याश्च रसेन सह मर्दितं॥२॥
पुटपक्वं कषायेण चित्रकस्य विभावितं।
जग्ध्वा-सहिंगुकर्पूरं व्योषार्द्रकरसानुपः॥३॥
मृतोऽपि सन्निपातेन जीवत्येव न संशयः।
पूज्यपादप्रयोगोऽयं सन्निपातरुजांतकः॥४॥

टीका—शुद्ध गंधक आंवलासार, शुद्ध पारा, आदा (सोंठ), शुद्ध तूतिया की भस्म, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध विषनाग, शुद्ध सिंगरफ, सोनामक्खी की भस्म, कांतलोह की भस्म, अभ्रक-भस्म, तामे की भस्म, लोहे की भस्म ये सब औषधियाँ बराबर-बराबर लेकर इकट्ठी करे और अमलबेंत जंबीरी नींबू, चांगेरी (चोपतिया) नेगड़ एवं हाथीशुंडी (शाक विशेष) के रस से अलग अलग भावना देकर सुखावे और पुटपाक करे एवं बाद में चित्रक के स्वरस से भावना देवे। जब सूख जावे तब योग्य मात्रा से हींग एवं कपूर के साथ सेवन

प्रत्येकं चूर्णयेत् कर्षं गव्याज्यं द्वादशं पलम् ।
घृताच्चतुर्गुणं तोयं पक्त्वा घृतावशेषितं ॥ २ ॥
तेनाभ्यंगैः मर्मघातं व्रणं नाडीव्रणं तथा ।
स्रवन्तं सूक्ष्मछिद्रं च पूरयेन्नात्र संशयः ॥ ३ ॥

टीका—जायपत्री, परवल के पत्ता, नीम के पत्ता, खस, पूतकरंज की पत्ती, मंजीठ, मुलहठी, दारु हल्दी, तेजपत्ता, सारिवा ये सब एक-एक तोला, गाय का घी ४८ तोला, तथा पानी घी से चौगुना लेकर सब को मिला पकावे। जब सब पानी जल जाय सिर्फ घी मात्र बाकी रह जाय तो घी निकाल कर छान लेवे। यह दवा हर प्रकार के फोड़ों पर लगावे तो इससे बहनेवाला बारीक छेदवाला भी नाड़ीव्रण ठीक हो जाता है।

१५४—व्रणादौ अपामार्गादियोगः

अपामार्गस्य पत्रोत्थद्रवेणापूरयेद् व्रणं ।
किंवा तद्बीजचूर्णेन व्रणं दुष्टं प्रलेपयेत ॥ १ ॥
पुरातनगुडैस्तुल्यं टंकणं सूक्ष्मपेषितं ।
तद् वर्त्या पूरयेच्छीघ्रं व्रणं नाडीव्रणं महत् ॥

टीका—अपामार्ग के पत्तों का स्वरस निकाल कर उस रस से फोड़ा भरे अथवा अपामार्ग के बीजों को पीस कर दुष्ट फोड़े के ऊपर लेप करे अथवा पुराना गुड़ तथा सुहागे का फूला इन दोनों को खूब मिला कर उसकी बत्ती बना कर फोड़े में भरने से फोड़ा भर कर अच्छा हो जाता है।

१५५—ज्वरादौ प्राणेश्वररसः

भस्म सूतं यदा कृत्वा माक्षिकं चाभ्रसत्वकं ।
शुल्वभस्मापि संयोज्य भागसंख्याक्रमेण च ॥ १ ॥
तालमूलीरसं दत्वा शुद्धगंधकमिश्रितं ।
मर्दयेत् खल्वमध्ये च नितरां यामयोर्द्वयम ॥ २ ॥
निक्षिप्य काचकूप्यां च मुद्रया कूपिकां तथा ।
खटिकामृदं समादाय लेपयेत् सप्तवारकं ॥ ३ ॥
यथारीत्या परिस्थाप्य पूरयेत् बालुकामयं ।
यंत्रं प्रज्वालयेद्यामं चतुरोच छिना पुनः ॥ ४ ॥

सिध्यते रसराजेन्द्रो बलिपूजाभिरर्चयेत् ।
अनुपानं तदा देयं मरिचं नागरं तथा ॥ ५ ॥
त्रिक्षारं पंचलवणं रामठं चित्रमूलकं ।
अजमोदं जीरकैकं मासं चूर्णचतुष्टयम् ॥ ६ ॥
चूर्णयित्वा तथा सर्वं भक्षयेच्चानुवासरं ।
भक्षयेत् पर्णखंडेन कदुष्णेनापि वारिणा ॥ ७ ॥
प्राणनिर्गमकालेऽपि रक्षकः प्राणिनां तथा ।
ज्वरे त्रिदोषजे घोरे सन्निपाते च दारुणे ॥ ८ ॥
प्लीहायां गुल्मवाते च शूले च परिणामजे ।
मंदाग्नौ ग्रहणीरोगे ज्वरे चैवातिसारके ॥ ९ ॥
अयं प्राणेश्वरो नाम भवेन्मृत्युविवर्जितः ।
सर्वरोगविघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥ १० ॥

टीका—पारे की भस्म तथा माक्षिक भस्म, अभ्रक का सत्व (भस्म होने के बाद सत्व निकाला जाता है) तामे की भस्म क्रमसे कम १—२—३—४ भाग लेवे, तथा सफेद मुसली के स्वरस में एक भाग शुद्ध गन्धक मिला कर खरल में डाल कर दोपहर तक घोंटे तथा घोंट कर सुखा कर कांच की शीशी में बन्द कर शीशी का मुंह बन्द कर देवे और और शीशी को चारों तरफ से खड़िया मिट्टी से सात बार लेपन कर शीशी को बालुका यंत्र में रख देवे तथा उसको बालू से पूरी भर देवे और उस को भट्ठी में रख कर चार पहर तक पकावे। जब पाक हो जावे तब सिद्ध होना जाने और अपने इष्ट देवता का पूजन करके उसका सेवन करे। इस के खाने के बाद नीचे लिखे चूर्ण को बना कर ४ मासा की मात्रा से अनुपान रूपसे देवेः -

काली मिर्च, सोंठ; तीनों क्षार (सज्जीक्षार जवाखार टंकणक्षार), पांचों नमक (काला नमक, संधा नमक, विड नमक, समुद्र नमक, साम्हर नमक), हींग, चित्रक, अजमोदा, सफेद जीरा, ये सब बराबर-बराबर भाग लेकर चूर्ण बनावे। इसकी मात्रा ४ माशे की है। यह चूर्ण भी पान के रस के साथ तथा थोड़े गर्म जल के साथ देवे। यह प्राणेश्वर रस प्राणान्त काल में भी प्राणों की रक्षा करनेवाला है।

त्रिदोषज ज्वर के भयंकर सन्निपात, प्लीहा, गुल्म रोग, बाल-रोग, परिणामज शूल, मन्दाग्नि, ग्रहणी रोग, ज्वर और अतिसार में यह प्राणेश्वर रस मृत्यु से छुड़ानेवाला संपूर्ण रोगों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

पूर्णचन्द्ररसो नाम मासैकं भक्षयेत् सदा ।
अश्वगंधापलार्धं च गवां क्षीरं पिबेदनु ॥ २ ॥
शाल्मलीपुष्पचूर्णं वा क्षौद्रैः कर्षैः लिहेदनु ।
दुर्बलो बलमाप्नोति मासैकेन यथा शशी ॥

टीका—पारे की भस्म, अभ्रक-भस्म, लोह भस्म, शुद्ध शिलाजीत वायबिडंग, माक्षिक भस्म, शहद तथा घी इन सब को बराबर लेकर एकत्रित कर के तैयार करले। यह पूर्णचन्द्ररस एक माह तक सेवन करने से तथा इसके ऊपर २ तोला असगंध गाय के दूध में डाल कर पीने से अथवा सेमल के फूल का चूर्ण १ तोला शहद के साथ खाने से दुर्बल मनुष्य बल को प्राप्त होता है।

१५०—उन्मत्ताख्यनस्यम्

रसगंधं समांशं तु धत्तूरफलजैर्द्रवैः ।
मर्दयेद्दिनमेकं तु तत्समं त्रिकटु क्षिपेत् ॥ १ ॥
उन्मत्ताख्यो रसो नाम्ना नस्यं स्यात् सन्निपातजित् ।

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक दोनों बराबर-बराबर लेकर धतूरे के फलों के रस से एक दिन भर खूब घोंटे, फिर पारा और गंधक के बराबर ही उसमें सोंठ, काली मिर्च तथा पीपल डालकर घोंटे, जब आंख में आँजने के योग्य अञ्जन के सदृश हो जाय तब यह उन्मत्तरस नाम का नस्य तैयार समझे। इस नस्य को सन्निपात की दशा में सुंघाने से मूर्छा दूर हो जाती है।

१५१—कृष्णाद्यो महारसायनः

कांतमभ्रकचूर्णानि शिलामाक्षिकगंधकं ।
तालकं शुल्वचूर्णानि टंकणं कुनटीयुतं ॥ १ ॥
पारदं नागभस्मानि त्रिफला तीक्ष्णलौहकं ।
बाकुचीबीजकं भृंगं गर्वं चूर्णसमं युतं ॥ २ ॥
भक्षयेन्मधुसर्पिर्भ्याम् त्रिभिर्मंडलसंयुतं ।
अष्टादशानि कुष्ठानि सप्त चैव महाक्षयाः ॥ ३ ॥
स्नेहवातार्दिताः गुल्माः ते च सर्वभगंदराः ।
दशाष्ट योनिदोषाश्च त्रिदोषा यान्ति चान्तगं ॥ ४ ॥

कुंचितफेन (?) केशश्च गृद्धात्तक्ष्न प्रजायते ।
वारणश्रुतसंपन्नो वराटश्रावणः भवेत् ॥ ५ ॥
षरामासप्रयोगेण दिव्यदेहो भवेन्नरः ।
संवत्सरप्रयोगेण कायपरिवर्तनं भवेत् ॥ ६ ॥

टीका—कांत लोहभस्म, अभ्रक भस्म, शुद्ध शिला, माक्षिक भस्म, शुद्ध गंधक, तर्वाकया हरताल की भस्म, तामे की भस्म, सुहागे का फूला, शुद्ध शिला, शुद्ध पारा, शीसे की भस्म, हर्र, बहेरा, आंवला कांत लौहभस्म, बकची के बीज, तज ये सब बराबर लेकर एकत्रित करके खूब घोंट कर तैयार करले और फिर विषम मात्रा शहद एवं घी लेकर तथा समयानुसार विशेष अनुपान से प्रयोग करे तो अट्ठारह प्रकार के कोढ़ रोग, सात प्रकार का क्षय रोग, स्नेहवात, गुल्मरोग, भगंदर रोग, १८ प्रकार के योनिदोष और त्रिदोष नाश को प्राप्त होते हैं। * इस रसायन के सेवन करने से शिर के केश कुंचित तथा मुलायम होते हैं एवं गीध के समान तेज आँखें हो जाती हैं। हाथी और वराह के समान तेज सुननेवाला हो जाता है। और तो क्या छः महीना इसके सेवन करने से मनुष्य दिव्य (सुंदर) शरीरवाला हो जाता है और एक वर्ष प्रयोग करने पर शरीर का एक विशेष परिवर्तन हो जाता है।

१५२—अमृतार्णवरस:

रसभस्मत्रयो भागाः भागैकं हेमभस्मकं ।
भागार्धममृतं सत्वं सितमध्वाज्यमिश्रितं ॥ १ ॥
दिनैकं मर्दितं खल्वे मासैकं भक्षयेन्सदा ।
कृशानां कुरुते पुष्टिं रसोऽयममृतार्णवः ॥ २ ॥

टीका—पारे की भस्म तीन भाग, सोने की भस्म १ भाग तथा आधा भाग सिंगनाग का सत्व इन सब को मिश्री शहद एवं घी के साथ एक दिन भर खूब मर्दन करे। इसे एक माह तक सेवन करे तो दुर्बल मनुष्य भी बलवान होता है। यह अमृतार्णवरस सर्वश्रेष्ठ है।

१५३—व्रणादौ जात्यादिघृतम्

जातीपत्रं पटोलं च निंबोशीरकरंजकं ।
मंजिष्ठं मधुयष्टी च दार्वी पद्मकसारिवा ॥ १ ॥

१४१—अर्शोनाशकयोगः

देवदाल्याश्च बीजानि सैंधवं निंबबीजकम्।
तक्रेण पेषितं सर्व मर्शरोगनिकृन्तनम् ॥
देवदाल्याः कषायेण चार्शोघ्नं शौचमाचरेत्।
गुडस्य स्वरसेनैव शांतिमाप्नोति निश्चितम् ॥

टीका—देवदाली (यह बहुत कड़वी होती है, इसमें फल लगते हैं और बीज होते हैं) के बीज, सेंधा नमक तथा नीमके बीज इन सब को बराबर-बराबर लेकर मही के साथ पीस कर इनको सेवन करे तो अवश्य ही बादी बवासीर को लाभ हो तथा देवदार का काढ़ा बना कर उसमे एवं गुड़ के स्वरस से भी शौच (आबदस्तलेवे) करे तो लाभ हो।

१४२—ज्वरातीसारे आनंदभैरवरसः

हिंगुलं वत्सनाभं च व्योषं टंकणं कणां।
मर्दयेदार्द्रकेणैव रसोऽह्यानंदभैरवः ॥१॥
गुंजैकं वा द्विगुंजं वा बलं ज्ञात्वा प्रयोजयेत्।
मधुना लेहयेच्चानु कुटजस्य त्वचं तथा ॥२॥
तच्चूर्णं कर्षमात्रं नु त्रिदोषोत्थातिसारजित्।
पूज्यपादप्रयोगोऽयं रसश्चानंदभैरवः ॥३॥

टीका—शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध वत्सनाभ सोंठ, मिर्च, पीपल, सुहागा इन सब को बराबर बराबर लेकर अदरख के रस के साथ गोली बांध लेवे और फिर इसको एक रत्ती अथवा दो रत्ती प्रमाण मे रोगी का बलाबल देख कर देवे और उसके बाद कुरैया की छाल का चूर्ण १ तोला बलाबल के अनुसार कमी-बेशी मधु के साथ चटावे तो इससे त्रिदोष-जन्य अतीसार भी शांत होता है। यह आनंद भैरवरस पूज्यपाद का कहा हुआ है।

१४३—अर्शरोगे अर्शोनाशक-लेपः

आरनालेन संपिष्य सबीजां कटुतुंबिकां।
सगुडां हंति लेपेन चार्शांसि मूलतो द्रुढं ॥१॥

टीका—बीज सहित कड़वी तुमरियाको कांजी (मही-छांछ) के साथ पीस कर उसकी लुगदी में पुराना गुड़ मिलाकर बवासीर के मस्सों पर लेप करने से मस्से जड़ से कट जाते हैं।

१४४—ग्रहणी-रोगे अर्कादियोगः

अर्कवातार्कवह्नीनां प्रत्येकं षोडशं पलं।
चतुष्पलं सुधाकांडं त्रिपलं लवणत्रयं॥ १॥
वार्ताकोत्थद्रवैः पिष्ट्वा रुद्ध्वा सर्वं पुटे पचेत्।
वार्ताकोत्थद्रवैरेवं निष्कांशं गोलकं कृतम्॥ २॥
भोजनांते सदा खादेत् ग्रहणीश्वासकासजित्।
पक्वभुक्ते तज्ज्वरत्याशु नदीवेगप्रभाववत्॥ ३॥

टीका—सूखे अकौना (आक) के पके पत्ते १६ पल (६४ तोला), सूखे बैंगन १६ पल, चित्रक १६ पल, थूहर के सूखे डंडे ४ पल, ४ तोला सेंधा नमक, ४ तोला काला नमक, ४ तोला समुद्र नमक, इन सब को एकत्रित कूट कर बैंगन के रस से भावना देकर सब को मिट्टी के शरावे में बंद कर के पुटपाक करे। जब पुटपाक हो जाय तब बैंगन के रस से ही इसकी तीन तीन माशे की गोली बांधे और सदैव भोजन के बाद सेवन करे तो यह ग्रहणी, श्वास, खाँसी को नदी के वेग की तरह शीघ्र नष्ट कर देती है।

१४५—सन्निपाते गंधकादियोगः

गंधकार्द्रकरसं तुत्थं शिलाविषं तु हिंगुलं।
मृतमाक्षिककांताभ्रताम्रलोहाः समं समं॥१॥
अम्लवेतसजंबीरचांगेर्या हि रसेन च।
निर्गुण्ड्याः हस्तिशुंड्याश्च रसेन सह मर्दितं॥२॥
पुटपक्वं कषायेण चित्रकस्य विभावितं।
जग्ध्वा-सहिंगुकर्पूरं व्योषार्द्रकरसानुपः॥३॥
मृतोऽपि सन्निपातेन जीवत्येव न संशयः।
पूज्यपादप्रयोगोऽयं सन्निपातरुजांतकः॥४॥

टीका—शुद्ध गंधक आंवलासार, शुद्ध पारा, आदा (सोंठ), शुद्ध तूतिया की भस्म, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध विषनाग, शुद्ध सिंगरफ, सोनामक्खी की भस्म, कांतलौह की भस्म, अभ्रक-भस्म, तांबे की भस्म, लोहे की भस्म ये सब औषधियाँ बराबर-बराबर लेकर इकट्ठी करे और अमलबेंत जंबीरी नींबू, चांगेरी (चोपतिया) नेगड़ एवं हाथीशुंडी (शाक विशेष) के रस से अलग अलग भावना देकर सुखावे और पुटपाक करे एवं बाद में चित्रक के स्वरस से भावना देवे। जब सूख जावे तब योग्य मात्रा से हींग एवं कपूर के साथ सेवन

करे तथा उसके ऊपर सांठ, मिर्च, पीपल, अद्रक इनका रस पीवे। इसका सेवन करने से सन्निपात के द्वारा मरा हुआ भी प्राणी जी जाता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ योग सन्निपात रोग को अन्त करनेवाला है।

१४६—जीर्णज्वरे औदुम्बरादियोगः

औदुंबरांकुरं चैव मधुवृत्तं च सूतकम्।
नागरं लशुनं चैव गंधं पाषाणभेदकम् ॥१॥
जीरकं तगरं धान्यं चूर्णयेत् सर्वसाम्यकम्।
उष्णोदकं पिबेत्तच्च पुराणज्वरनाशनम् ॥२॥
बालमध्यमवृद्धानां कटुकयाश्च रसेन च।
निष्कार्धनिष्कमात्रेण सितया सह संयुतः ॥३॥
पिबेच्च ज्वरनाशाय परं पाचनमुच्यते।
कोष्ठे बद्धरसेनैव चामयागुडसंयुतं ॥४॥
अग्निधूमस्य पानेन हिक्कायाश्च विनाशनम्।
दूर्वादाडिमपुष्पेण मधुकैः सह संयुतं ॥५॥
स्तनक्षीरेण संयुक्तं हिक्कावंशविनाशनम्।
औदुंबरादियोगोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥६॥

टीका—ऊमर के अङ्कुर, महुवा की छाल, शुद्ध पारा, सोंठ, लहसुन, शुद्ध गंधक, पाषाणभेद, सफेद जीरा, तगर और धनिया सब को बराबर-बराबर एकत्रित कर पहले पारे और गंधक की कजली बनावे, फिर बाकी औषधियों का चूर्ण कर उस कजली में मिलाकर घोंटे, जब बराबर मिल जावे तब इसको कुटकी के स्वरस अथवा हिम के साथ एवं मिश्री की चासनी के साथ ज्वर को दूर करने के लिये देवे। इससे ज्वर का पाचन होता है। यदि दस्त न हुआ हो या कोष्ठबद्धता हो तो इसको योग्यमात्रा से बड़ी हर्र तथा गुड़ के साथ देवे। यदि इसको अग्नि में डालकर इसका धूम्र पान किया जाय तो इससे हिचकी शांत होती है तथा दूब, अनार का फूल, मुलहठी और स्त्री-दुग्ध के साथ देने से भी हिचकी नहीं आती।

१४७—आमवाते रसादियोगः

भास्यैकं रसं कुर्यात् द्विभागं गंधकं तथा।
त्रिभागं त्रिफलाचूर्णं चतुर्भागं विभीतकं ॥ १ ॥
गुग्गुलुं पंचभागं तु षड्भागं च चित्रकम्।
सप्तभागा च निर्गुण्डी चैरंडतैलसंयुतं ॥ २ ॥
भक्षयेद् गुडसंयुक्तश्चामवातं तु नाशयेत्।
पूज्यपादोक्तयोगोऽयं अनुपानविशेषतः ॥ ३ ॥

टीका—एक भाग शुद्ध पारा, दो भाग शुद्ध गंधक, तीन भाग त्रिफला का चूर्ण, चार भाग बहेड़े के बकले का चूर्ण, पांच भाग शुद्ध गुग्गुल, छः भाग चितावर, सात भाग नेगड़ के बीज इन सब को एकत्रित कर कूट कपड़छन कर के अन्डी का तेल तथा पुराने गुड़ के साथ योग्य अनुपान एवं योग्य मात्रा में सेवन करे तो उसके सेवन से आमवात नाश होता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम योग है।

१४८—रसादिमर्दनः

रसगंधौ समौ शुद्धौ विष्णुक्रान्ताद्रवैर्दिनं।
आरक्तागस्त्यजैर्द्रावैः स्त्रीस्तन्येन हि मर्दयेत् ॥ १ ॥
मध्वाज्ययवसंयुक्तमेतदुद्वर्तनं हितम्।
कार्श्यं जयति एकमासाद् वत्सरान्मृत्युजिद्भवेत् ॥ २ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक इन दोनों को सफेद कोयल के रस में फिर लाल अगस्ति (हथिया) के रस में तथा स्त्री दुग्ध में एक-एक दिन पृथक्-पृथक् खरल करे। तैयार होने पर शहद, घी तथा जौ का आटा इन तीनों को मिला कर उबटन करावे तो इसमे शरीर की कृशता दूर होती है। एक वर्ष लगातार उबटन करने से मृत्यु को जीतनेवाला होता है अर्थात् शरीर विशेष बलवान हो जाता है।

१४९—पूर्णचन्द्ररसायनः

मृतं सूताभ्रलोहं च शिलाजतु विडंगकं।
ताप्यं क्षौद्रं घृतं तुल्यमेकीकृत्य विचूर्णयेत ॥ १ ॥

पूर्णचन्द्ररसो नाम मासैकं भक्षयेत् सदा।
अश्वगंधापलार्धं च गवां क्षीरं पिबेदनु ॥ २ ॥
शाल्मलीपुष्पचूर्णं वा क्षौद्रैः कर्षैः लिहेदनु।
दुर्बलो बलमाद्त्ते मासैकेन यथा शशी ॥

टीका—पारे की भस्म, अभ्रक-भस्म, लौह भस्म, शुद्ध शिलाजीत वायविडंग, माक्षिक भस्म, शहद तथा घी इन सब को बराबर लेकर एकत्रित कर के तैयार करले। यह पूर्णचन्द्ररस एक माह तक सेवन करने से तथा इसके ऊपर २ तोला असगंध गाय के दूध में डाल कर पीने से अथवा सेमल के फूल का चूर्ण १ तोला शहद के साथ खाने से दुर्बल मनुष्य बल को प्राप्त होता है।

१५०—उन्मत्ताख्यनस्यम्

रसगंधं समांशं तु धत्तूरफलजैर्द्रवैः।
मर्दयेद्दिनमेकं तु तत्समं त्रिकटु क्षिपेत् ॥ १ ॥
उन्मत्ताख्यो रसो नाम्ना नस्यं स्यात् सन्निपातजित्।

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक दोनों बराबर-बराबर लेकर धतूरे के फलों के रस से एक दिन भर खूब घोंटे, फिर पारा और गंधक के बराबर ही उसमें सोंठ, काली मिर्च तथा पीपल डालकर घोंटे, जब आंख में आँजने के योग्य अञ्जन के सदृश हो जाय तब यह उन्मत्तरस नाम का नस्य तैयार समझे। इस नस्य को सन्निपात की दशा में सुंघाने से मूर्छा दूर हो जाती है।

१५१—कृष्णाद्यो महारसायनः

कांतमभ्रकचूर्णानि शिलामाक्षिकगंधकं।
तालकं शुल्वचूर्णानि टंकणं कुनटीयुतं ॥ १ ॥
पारदं नागभस्मानि त्रिफला तीक्ष्णलौहकं।
बाकुचीबीजकं भृगं सर्वं चूर्णसमं युतं ॥ २ ॥
भक्षयेन्मधुसर्पिर्भ्याम् त्रिभिर्मंडलसंयुतं।
अष्टादशानि कुष्ठानि सप्त चैव महाक्षयाः ॥ ३ ॥
स्नेहवातार्दिताः गुल्माः ते च सर्वभगंदराः।
दशाष्ट योनिदोषाश्च त्रिदोषा यान्ति चान्तगं ॥ ४ ॥

कुंचितफेन (?) केशश्च गृध्रातश्च प्रजायते ।
वारणश्रुतसंपन्नो वराहश्रावणः भवेत् ॥ ५ ॥
षण्मासप्रयोगेण दिव्यदेहो भवेन्नरः ।
संवत्सरप्रयोगेण कायपरिवर्तनं भवेत् ॥ ६ ॥

टीका—कांत लोहभस्म, अभ्रक भस्म, शुद्ध शिला, माक्षिक भस्म, शुद्ध गंधक, तबकिया हरताल की भस्म, तांबे की भस्म, सुहागे का फूला, शुद्ध शिला, शुद्ध पारा, शीसे की भस्म, हर्र, बहेरा, आंवला कांत लोहभस्म, बकची के बीज, तज ये सब बराबर लेकर एकत्रित करके खूब घोंट कर तैयार करले और फिर विषम मात्रा शहद एवं घी लेकर तथा समयानुसार विशेष अनुपान से प्रयोग करे तो अट्ठारह प्रकार के कोढ़ रोग, सात प्रकार का क्षय रोग, स्नेहवात, गुल्मरोग, भगंदर रोग, १८ प्रकार के योनिदोष और त्रिदोष नाश को प्राप्त होते हैं। इस रसायन के सेवन करने से शिर के केश कुंचित तथा मुलायम होते हैं एवं गीध के समान तेज आँखें हो जाती हैं। हाथी और बराह के समान तेज सुननेवाला हो जाता है। और तो क्या छः महीना इसके सेवन करने से मनुष्य दिव्य (सुंदर) शरीरवाला हो जाता है और एक वर्ष प्रयोग करने पर शरीर का एक विशेष परिवर्तन हो जाता है।

१५२—अमृतार्णवरसः

रसभस्मत्रयो भागाः भागैकं हेमभस्मकं ।
भागार्धममृतं सत्त्वं सितमध्वाज्यमिश्रितं ॥ १ ॥
दिनैकं मर्दितं खल्वे मासैकं भक्षयेन् सदा ।
कृशानां कुरुते पुष्टिं रसोऽयममृतार्णवः ॥ २ ॥

टीका—पारे की भस्म तीन भाग, सोने की भस्म १ भाग तथा आधा भाग विषनाग का सत्व इन सब को मिश्री शहद एवं घी के साथ एक दिन भर खूब मर्दन करे। इसे एक माह तक सेवन करे तो दुर्बल मनुष्य भी बलवान होता है। यह अमृतार्णवरस सर्वश्रेष्ठ है।

१५३—व्रणादौ जात्यादिघृतम्

जातीपत्रं पटोलं च निंबोशीरकरंजकं ।
मंजिष्ठं मधुयष्टी च दार्वी पत्रकसारिवा ॥ १ ॥

प्रत्येकं चूर्णयेत् कर्षं गव्याज्यं द्वादशं पलम् ।
घृताच्चतुर्गुणं तोयं पक्त्वा घृतावशेषितं ॥ २ ॥
तेनाभ्यंगैः मर्मघातं व्रणं नाडीव्रणं तथा ।
स्रवन्तं सूक्ष्मछिद्रं च पूरयेन्नात्र संशयः ॥ ३ ॥

टीका—जायपत्री, परवल के पत्ता, नीम के पत्ता, खस, पूतकरंज की पत्ती, मंजीठ, मुलहठी, दारु हल्दी, तेजपत्ता, सारिवा ये सब एक-एक तोला, गाय का घी ४८ तोला, तथा पानी घी से चौगुना लेकर सब को मिला पकावे। जब सब पानी जल जाय सिर्फ घी मात्र बाकी रह जाय तो घी निकाल कर छान लेवें। यह दवा हर प्रकार के फोड़ों पर लगावे तो इससे बहनेवाला बारीक छेदवाला भी नाड़ीव्रण ठीक हो जाता है।

१५४—व्रणादौ अपामार्गादियोगः

अपामार्गस्य पत्रोत्थद्रवेणापूरयेद् व्रणं।
किंवा तद्बीजचूर्णेन व्रणं दुष्टं प्रलेपयेत ॥ १ ॥
पुरातनगुडैस्तुल्यं टंकणं सूक्ष्मपेषितं ।
तद् वर्त्या पूरयेच्छीघ्रं व्रणं नाडीव्रणं महत् ॥

टीका—अपामार्ग के पत्तों का स्वरस निकाल कर उस रस से फोड़ा भरे अथवा अपामार्ग के बीजों को पीस कर दुष्ट फोड़े के ऊपर लेप करे अथवा पुराना गुड़ तथा सुहागे का फूला इन दोनों को खूब मिला कर उसकी बत्ती बना कर फोड़े में भरने से फोड़ा भर कर अच्छा हो जाता है।

१५५—ज्वरादौ प्राणेश्वररसः

भस्म सूतं यदा कृत्वा माक्षिकं चाभ्रसत्वकं।
शुल्वभस्मापि संयोज्य भागसंख्याक्रमेण च ॥ १ ॥
तालमूलीरसं दत्वा शुद्धगंधकमिश्रितं।
मर्दयेत् खल्वमध्ये च नितरां यामयोर्द्वयम ॥ २ ॥
निक्षिप्य काचकूप्यां च मुद्रया कूपिकां तथा ।
खटिकामृदं समादाय लेपयेत् सप्तवारकं ॥ ३ ॥
यथारीत्या परिस्थाप्य पूरयेत् बालुकामयं ।
यंत्रं प्रज्वालयेद्यामं चतुरोव हिना पुनः ॥ ४ ॥

सिध्यते रसराजेन्द्रो बलिपूजाभिरर्चयेत् ।
अनुपानं तदा देयं मरिचं नागरं तथा ॥ ५ ॥
त्रिक्षारं पंचलवणं रामठं चित्रमूलकं ।
अजमोदं जीरकैकं मासं चूर्णचतुष्टयम् ॥ ६ ॥
चूर्णयित्वा तथा सर्वं भक्षयेच्चानुवासरं ।
भक्षयेत् पर्णखंडेन कदुष्णेनापि वारिणा ॥ ७ ॥
प्राणनिर्गमकालेऽपि रक्षकः प्राणिनां तथा ।
ज्वरे त्रिदोषजे घोरे सन्निपाते च दारुणे ॥ ८ ॥
प्लीहायां गुल्मवाते च शूले च परिणामजे ।
मंदाग्नौ ग्रहणीरोगे ज्वरे चैवातिसारके ॥ ९ ॥
अयं प्राणेश्वरो नाम भवेन्मृत्युविवर्जितः ।
सर्वरोगविघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥ १० ॥

टीका—पारे की भस्म तथा माक्षिक भस्म, अभ्रक का सत्व (भस्म होने के बाद सत्व निकाला जाता है) तामे की भस्म क्रमसे क्रम १—२—३—४ भाग लेवे, तथा सफेद मुस्ली के स्वरस में एक भाग शुद्ध गन्धक मिला कर खरल में डाल कर दोपहर तक घोंटे तथा घोंट कर सुखा कर कांच की शीशी में बन्द कर शीशी का मुंह बन्द कर देवे और और शीशी को चारों तरफ से खड़िया मिट्टी से सात बार लेपन कर शीशी को बालुका यंत्र में रख देवे तथा उसको बालू से पूर्ण भर देवे और उस को भट्ठी में रख कर चार पहर तक पकावे। जब पाक हो जावे तब सिद्ध होना जाने और अपने इष्ट देवता का पूजन करके उसका सेवन करे। इस के खाने के बाद नीचे लिखे चूर्ण को बना कर ४ मासा की मात्रा से अनुपान रूपसे देवे: -

काली मिर्च, सोंठ; तीनों क्षार (सज्जीक्षार जवाखार टंकणक्षार), पांचों नमक (काला नमक, सेंधा नमक, विड नमक, समुद्र नमक, साम्हर नमक), हींग, चित्रक, अजमोदा, सफेद जीरा, ये सब बराबर-बराबर भाग लेकर चूर्ण बनावें। इसकी मात्रा ४ माशे की है। यह चूर्ण भी पान के रस के साथ तथा थोड़े गर्म जल के साथ देवे। यह प्राणेश्वर रस प्राणान्त काल में भी प्राणों की रक्षा करनेवाला है।

त्रिदोषज ज्वर के भयंकर सन्निपात, प्लीहा, गुल्म रोग, बाल-रोग, परिणामज शूल, मन्दाग्नि, ग्रहणी रोग, ज्वर और अतिसार में यह प्राणेश्वर रस मृत्यु से छुड़ानेवाला संपूर्ण रोगों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. IV | *JUNE, 1938* | No. I.

Edited by

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.

Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.

Pandit K. BHUJABALI SHASTRI

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,

ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8. SINGLE COPY Rs. 1-4

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. IV. No. I	ARRAH (INDIA)	June 1938.

VADI VIDYĀNANDA-A RENOWNED JAINA GURU OF KARNĀṬAKA.

BY

Dr. B. A. Saletore, M. A., Ph. D. (London.)

The history of Jainism in Karnāṭaka and southern India, which I have outlined in my *Mediaeval Jainism,*[1] contains many celebrated names. Among them the most conspicuous in the Vijayanagara age was Vādi Vidyānanda. Quite a number of details concerning this renowned *guru* are given in a stone inscription found in the Padmavāti basadi at Humcca, Nagar tāluka, Mysore State, the importance of which I have discussed elsewhere.[2] This stone inscription narrates the following facts concerning his name, lineage, qualifications, achievements, and date.

(1) *Mediaeval Jainism with special reference to the Vijayanagara Empire.* The Karnatak Publishing House, Chira Bazar, Bombay, 2.

(2) See my article entitled *Delhi Sultans as Patrons of Jaina Gurus* in the *Karnāṭaka Historical Review,* IV, pp. 77—86

1. *Name* :—The inscription contains the following specimen of an *antarlapi* in regard to his name Vidyānanda :—

> " What is it that explains everything? Vinatā's son, what is he to Hari? Who may eat the pure *havis*? Where is the retreat of birds and animals? Where is that of the host of gods? Where is fame? From what do the good derive pleasure? (Answers) *vit* (intelligence): *yānam* (a vehicle); *damunā* (the gods); *vanam* (the forest); *gavi* (in Paradise); *jaini* (a conqueror); the sight of the victor over Ananga (the god of love) Vidyānandamuni.

2. *Lineage* :—He belonged to the famous Nandi *sangha* of the Koṇḍakundānvaya in which had shone Koṇḍkunda himself, Samanta-bhdara, Pūjyapāda, Vaidhamāna, Vādiraja and other illustrious teachers.

3. *His qualifications* :—His great powers of oratory are thus described :—

"Vidyānanda Svāmi's voice of deep reasoning in the world is ever like the roar of a fierce lion, splitting through the great elephants puffed up (opponent) speakers. In reality the speech which issues from the mouth of Vidyānandavṛatīpa is ever cherished in the mind of the learned like the *Bhāṣya* composed by the great *brati* free from woman. The impression of Vidyānanda Svāmi's irreproachable reasoning is ever pleasing to the minds of poets, appearing like Bāṇa's prose-expressed poem. .." Then, again, " His mind fixed upon the path of holiness (or on the deer), causes the increase of happiness to the people in the world (or to the water-lilies), of good character (or a perfect globe); praised among the most enlightened wise men (or among the deities), master of all sound arts (or digits), his bright feet placed on the heads of great kings (or his bright rays on the tops of great mountains)."

Further, " Is it Vāṇi, or Caturānana, or is it Vācaspati, or is it the glory of the learned, Sahasravadana, or is Ananta himself? Thus to the learned express their doubts in the assembly when Vidyānandamuni is making the *Budheśabhavanavyākyāna*."

Vidyānanda was "omniscient in the three *Āgamas*, adorned with the qualities of poetry, skilled in (making) many commentaries, a great gale to the cloud (opponent) speakers."

4. *His Achievements*:—These were many. In purely religious spheres, he performed great works of merit. Thus "in Kopaṇa and other *tīrthas*, with immense wealth, by the right of *dehājña*, in order to gain the reward of salvation" he held great festivals and distinguished himself. "At the feet of Gommaṭeśa of Belgoḷa, you with affection poured out like rain to the Jaina *sangha* a *mahākūla* of cloths, ornaments, gold and silver, Vidyānanda. The *gaṇa* of *munis* devoted to the discussion of the *yogāma* in Gerasoppe, you undertook with eagerness the business of supporting as if the chief *guru*, and distinguished yourself, Vidyānanda."

This was not all. His achievements in the field of learning were most remarkable. The inscription in question asserts that he won undisputed success as an orator in the courts of the following rulers:—

"In the assembly of the Nañjarājapaṭṭana king Nañjideva, he completely stopped the breath of that Nandana Malli Bhaṭṭa; and distinguished himself. Destroying the European faith of the Agent of Śrīranganagra, in a learned assembly you brought Śāradā into your power, and gained the reverence of the world, Vidyānanda. In the undisturbed court of the Śātavendra (or Sāntavendra), Rāja Kesari Vikrama, you uttered a poem which was noised throughout the world, Vādi Vidyānanda. In the assembly of enlightened men, resembling a garland of flowers, of Sālva Malli Rāja, you excused the language of those great in authority, Vādi Vidyānanda. In the court of Guru Nṛpāla, which resembled an ear of the ocean girdled earth, what remarkable Karnāṭa work did you compose and gain fame, Vādi Vidyānanda? In the court of Sālva Deva Rāya (his praise), you were victorious in proving the great doctrine of all speakers to be false, and pleased him, Vidyānanda. In the assemblies which were like……of the kings of the Nagiri kingdom, you made the company of the learned to sip the immeasurable sweetness of the nectar of your speech, Vādi Vidyānanda. In the court of king Narasimha of Bilige (praise) you elucidated the Jaina *Darśana*...In

the court of the ruler of Kārkaḷa-nagara, the great king Bhairava, you elucidated the most excellent Jaina *dharma* so as to attract the mind, and distinguished yourself, Vidyānanda. So as to gain the approval of the assemblies of the *Bhavya-jana* (or Jainas) of Bidire, whose hearts were adorned with wisdom and pure character, you with pleasure expounded the established faith, Vādi Vidyānanda. In the Court of Kṛṣṇa Rāya, the son of Narasimha, receiving the homage of the jewelled crowns of kings, you wiped out the company of speakers of other creeds by the power of your speech, Vādi Vidyānanda."

Three other rulers are mentioned after the narration of the acts of merit spoken of above. These are Deva Rāja, Sāngi Rāja, and Kṛṣna Deva.

In the same epigraph we have the following " Viśalakīrti obtained a son named Vidyānandasvāmi, who was honoured by Sālva Malli Rāja." Then, again, Saluva Krṣṇa Deva is mentioned.

Further in a later context we are told that "In the court of the ruler of Vidyānagari, the victorious Kṛṣṇa Rāya, defeating the company of the learned," Vidyānanda gained fame.

5. *His date*:—On the basis of the above statements pertaining to the many victories he won, we shall ascertain his date. In all ten rulers, one provincial viceroy, and two petty chieftains are mentioned. These rulers are the following – Nañja Raja, Kesari Vikrama, Sālva Malli Rāya, Guru Nṛpāla, Sālva Deva Rāya, Narasimha of Biḷige, king Bhairava, Kṛṣṇa Rāya, Sāluva Sangi Rāya and Sāluva Kṛṣṇa Rāya. The provincial viceroy is merely called the *Kāryakartta* of Śrīranganagara; while the rulers of the minor states were those of the Nagiri kingdom and of Bidire.

We have to identify the various rulers mentioned above in order to ascertain the date of Vādi Vidyānanda.

(*a*) Nañja Rāja. This ruler was evidently the Cangāḷva king of Nañjarāyapaṭṭaṇa. Originally Jainas, the Cangāḷvas later on embraced Vīra Śaivism. And Nañja Deva, the son of Piriyaṇṇa, was perhaps the most prominent ruler of the Cangāḷva dynasty. He reigned from A. D. 1502 till A. D. 1533. The Basava temple stone inscription found at Anevāḷu, Huṇsūr tāluka, and dated A. D.

1502, informs us that the king Nañja was learned in the Śaiva *Siddhānta*[1]. And the stone record found near the Basava temple at Alpanāyanahaḷḷi in the same tāluka, and dated A. D. 1521, gives him the following *birudas*-the *Mahāmaṇḍalika*, *Mahāmaṇḍaleśvara* Kulottunga Cangāḷva Vira Nañjaya Deva[2]. It was he who retrieved the glory of the Cangāḷvas, after a lapse of nearly two centuries (the thirteenth and fourteenth), and built their new capital Nañjarāyapaṭṭaṇa in Coorg, to the north of the Kāveri where it becomes the common boundary of Mysore and Coorg.[3]

But who was Nandana Malli Bhaṭṭa, referred to in the Padmāvati record, it cannot be made out, although it may be assumed that he was a champion of the Śaiva faith. The Cangāḷvas were patrons of learning, as is evident from the fact that in A.D. 1567 Nañja Rāja's great grandson Vira Deva made a grant of a village to Narasimha Bhaṭṭa, the son of the Aṣṭāvadhāni Somanātha Dikṣita.[4]

(1) *Epigraphia Carnatica* IV.Hs. 63, p. 90.

(2) *Ibid.* IV. Hs. 78, p. 91.

(3) Rice, *Mysore and Coorg from the Inscriptions*, p. 143. Since his days the kings were called kings of Nañjarāyapaṭṭaṇa. In a record dated A. D. 1589 Piriya Rājayya is said to have belonged to the Simavamsa, Ṛkśākhā, Hāriti-gotra and the linga of the Jangama offerings *E. C. IV*, Hs. 39, p. 88 Cf. Hs. dated A. D. 1590, p. 93.

(4) *E. C. IV* Hs. 24, p. 86. the name Nañja Rāja was borne by many rulers. Nañja Rāja Oḍeyar, the son of Immaḍi Rāja, Oḍeyar, of the Ummattūr family is mentioned in A. D. 1489 (*E. C. IV*. Gu. 9, p. 37). Cenna Nañja Rāja is spoken of in A. D. 1497. He was the father of the learned Narasimha Bhaṭṭa, who was well versed in grammer, *vārtika*, logic, and *mīmāṁsa*. (*E. C. IV*, Gu. 11, p. 37. See also Ch. 192, p. 23). In A. D. 1504 Nañja Rāja of Ummattur is called Promoter of all works of merit, and a great ruler. (*E.C. IV*, Gu. 5, p. 36). Another Nañja Rāja was the son of the *Mahāmandaleśvara* Depaṇṇa Oḍeyar in A. D. 1512 (*E. C. IV* Ch. 107, p. 14) The son of Cenna Oḍeyar of Hura was also called Nañja Rāja Oḍeyar in A. D. 1569. (*E. C. IV* Hg. 41 p. 72) This latter Nañja Rāja is again referred to in A. D. 1612. (E. C. IV. Ch. 135, p. 18). Finally, we may note that there was a Nañja Rāja Oḍeyor of Kelale who has been enlogized by Nṛsimhakavi *alias* Abhinnava Kālidāsa in his *Nañjarāyayaśobhūṣaṇa* (G. O. S. No. See also Rangachari and Kuppuswami, *Trien. Cat. of SKT MSS.* for 1910—1912, pp. 30--33. B, A S.

(*b*) The next patron in whose court Vidyānanda won laurels cannot be satisfactorily identified. The inscription relates thus—*Śrīrnagara-Kāryanā-Pēringiya-matamam-aḷidu-vidvat-sabheyoḷ-Sāra deyam-vas(ś) amādiye dhariṇig-abhivandyan-āde Vidyānanda.* There are two details in the above statement which enable us to fix the age of Vidyānanda. The first refers to the designation of the official placed over Śrīranganagara. He is called merely *Kārya, i.e., Kāryakartta,* or Agent for the Affairs (of the Emperor) which was the official designation of the Executive official placed over certain provinces by the Vijayanagara monarachs. The other fact concerns the religion which Vidyānanda wiped out. It is called *Pēringiya mata* which evidently stands for the Christian faith. It had been probably introduced into Śrīranganagara by the Portuguese, who, as is well known, were called Phirangis, Frangis, or Parunkis.[1] Hence the reference is undoubtedly to the defeat which an unknown Christian missionary suffered at the hands of Vidyānanda.

The identification of the town and of the official, however, is not an easy matter. Probably Śrīranganagara refers to Śrīranga-paṭṭaṇa which figures so early as A. D. 1253 when it was the capital of Soma Deva and Boppa Deva[2]. It was already known as a kingdom in A. D. 1394 when in the reign of king Harihara Rāya II, a grant of a village was made to a number of specified .Brahmana[3] Under what circumstances it provoked the anger of the Vijayanagara monarchs is not known. But its conquest was the work of Kṛṣṇa Deva Raya's father Narasa Nāyaka. Two records dated A. D. 1513.

(1) *Cf.* Hosten, *Indian Antiquary*, XLV. p. 184; Temple, *ibid LII*, p 185. See also Yule-Burnell, *Hobson-Jobson*, *q. v.*

(2) *E. C. V.* Ak. 53, p. 253. Śrīrangapura figures in records dated A. D. 1270 and A. D. 1432. (Cf Saletore, *Social and Political Life in the Vijaynagara Empire*, I p. 243 ; II, p. 331.) There was another Śrīrangapaṭṭana called Koḍagu Śrīrangapaṭṭaṇa in Coorg. This was one of the Cangālva seats. (*E. C. IX.* Intr. p. 20). Srīrangam was of course the name of the famous city of that name in the south which under Emperor Tirumala Rāya I became a seat of learning. (*497 of 1905* ; *Ep. Rept of the S. Circle* for 1898-9, para. 13.)

(3) *E. C. VIII*, Tl. 201, p. 208.

and 1520 prove this[1]. Before we proceed with the identification of the *Kāryakartta* of Śrīranganagara, it may be observed that the fact that Vidyānanda went to Śrīrangapaṭṭaṇa suggests that it was a Jaina centre in those days. Indeed, so late as A. D. 1606 we have evidence of Śrīrangapaṭṭaṇa having been a Jaina centre. For in that year Pāyaṇamuni composed his work *Sanatkumāracarite* in the Ādi Jineśa basadi of that city[2].

Now to the identity of the Agent for the Affairs of the Emperor at Śrīrangapaṭṭaṇa. From the trend of events mentioned in the inscription it is evident that the success of Vidyānanda over the Christian theologian at Śrīrangapaṭṭaṇa must be assigned to the reign of Kṛṣṇā Deva Rāya the Great. But it is difficult to determine who was placed over that city in the reign of that monarch. The names of Sāluva Govinda Rāja and Timmaṇṇa Nāyaka appear as Agents for the Affairs of the Emperor in records dated from A. D. 1517 till A. D. 1523[3]. But in about A. D. 1520 Sāluva Timma and Kṛṣṇa Nāyaka are also mentioned as the Agents[4]. We are uncertain as to which of these Agents is referred to in the epigraph under question.

What seems evident is that the Agent referred to as the contemporary of Vidyānanda was not a prominent person. Hence only the

(1) Rice, *Mysore Inscriptions*, p. 243 ; *E. C. VI* Sg. 1, p. 1. It has been wrongly assumed that Śrīrangapaṭṭaṇa was built somewhere in the middle of the fifteenth century. Wilks informs us that Timmaṇṇa Hebbāruva, a descendant of one of the Vaiṣṇava Brahmans who had accompanied the great Rāmānujācārya in the latter's flight from the Cola country, built Śrīrangapaṭṭaṇa. (Wilks, *Historical Sketches of the South of India, etc.*, I. p. 41. (*n*). Mr. J. Ramayya Pantula asserts that Sāluva Mangu built Srīrangapaṭṭana. (*Epigraphia Indica, VII*. pp. 75—77). Neither view is acceptable B.A S.

(2) *Kavicarite*, II p. 353.

(3) *E. C. IV* Ch. 37, p. 5 ; Gu. 1, p. 35 ; Ch. 111, p. 15 ; Ch. 99, p. 13.

(4) *Ibid*, Hs. 48, p. 89, IX. Ma. 11, p. 52. In record dated A. D. 1501-2, it is related that the agent of Tammayya Deva Mahārāya (*i.e.*, Immaḍi Narasimha) was Narasa Nāyaka whose agent was Tipparasa Oḍeyar (*155 of 1905* ; Rangacharya, *A Topographical List of Inscriptions in the Madras Presidency*, II, p. 1226.) I do not know whether Tipparasa Oḍeyar is the Agent referred to in the Padmāvati record, B. A. S.

name of the provincial capital is given. Had he been of some renown his name would have been mentioned by the scribe, who has not failed to mention the names of petty rulers in whose courts Vidyānanda won fame. If this assumption is granted, then, it may be that the official placed over Śrīranganagara was perhaps the *Mahāmaṇḍleśvara Hanneya Gajapati Dharaṇi-varāha Manney-śārdula* Camaṭi Bhoga Rāja (or Bhogayya Deva), who was the Nāyaka placed over Śrīrangapaṭṭaṇa by Kṛṣṇa Deva Rāya the Great in A. D. 1529[1]. This identification, however, is only provisional.

(c) The next ruler is described thus :—

> "In the undisturbed court of the Sātavendra (or Sāntavendra) Rāja Kesari Vikrama, you (Vidyānanda) uttered a poem which was noised throughout the world, Vādi Vidyānanda."

Sātavendra is an altogether new name which I have not come across anywhere. Whether it stands for Sālavendra (*i.e.*, Sālvendra), or Śāntavendra, cannot be made out. The name Kesari Vikrama likewise is not found in any record[2]. All that we may venture to say is that he was a king of a minor state, who carefully fostered the cause of Jainism. Hence his court is called *abhangurāsthāna*. Vidyānanda's achievement in the court of king Kesari Vikrama was not a victory over any rival disputant, but merely the reading of a poem, probably concerning the elucidation of the Jina *dharma*.

(1) Saletore, *S. P. Life.*, II p. 263. We may note here by the way that, according to the Portuguese traveller Paes, one of the queens of Kṛṣṇa Deva Rāya the Great was the daughter of the "vassal" placed over Śrīrangapaṭṭaṇa. Paes calls him Kumāravīrayya. (Saletore, *ibid*, pp. 175, 380; Sewell, *A Forgotten Empire*, p. 269, *n* (ii.) It can hardly be possible that this "vassal" Kumāravirayya, if the evidence of Paes is accepted, could have been the Agent referred to in the Padmāvati record. Kṛṣṇa Rāya Nāyaka figures an Agent from *circa* A. D. 1520 till A. D. 1529. (*E. C. IV* Hs. 48, op. cit., X Sd. 10, p. 181 ; Sd. 79, p. 190 ; *IV* Hg. 40. p. 72). In A. D. 1516 and in A. D. 1517 Māde Nāyaka and Malarasa respectively are mentioned as Agents (E. C. IX Ma. 68, p. 59 ; *XI* Hk. 70, p 124.)

(2) There is a Mahāmaṇḍaleśvara Coḍamārtāṇḍādeva Coḍa Vīra Rāja Kesari Varma mentioned in the Maṇikeśvaram temple stone inscription, Ongole taluka, Nellone district. (Butterworth-Chetty, *Nellore Inscriptions*, III p. 1030.) In what way this name can be connected with that found in the Padmāvati record, cannot be made out B. A. S.

(*d*) We may dispense with here another ruler who cannot be identified for the present In the court of this ruler called Guru Nṛpāla, Vidyānanda composed an able Karnāṭaka work which brought him fame (*arṇṇava veṣṭita vasudhā-kaṇṇopama Gurunṛpā lannā sthānadolēm Karnāṭaka kṛti-yam vaṇṇisi jasa vaḍade Vādi-Vidyā-ananda*). It cannot be made out what was the poem which Vidyānanda composed in the court of this otherwise unknown ruler.[1].

(*e*) We may next determine the identity of four rulers who were the contemporaries of Vidyānanda.

" In the assembly of enligtened men, resembling a garland of flowers, of Sālva Malli Rāja, you excused the language of those in great authority, Vādi Vadyānanda " (*Śrī-Sālva Malli Rāyana pū-sarag eney enisi tōrppa jāṇana sabheyoḷ śāsanadoḷ adhikar-ādara bhāseyanu maniside Vādi Vidyānanda*).

Then, again, in the court of Sāluva Deva Rāya, equal in good fortune to Vasava (Indra), " you were victorious in proving the great doctrines of all the speakers to be false, and pleased him, Vidyānanda."

This same ruler is mentioned along with two others in the following context. May Vardhamāna Jina—for whom Vīra-śrī-vara Deva Rāya made the *kalyāṇapūjā*, who was worshipped by the sole abode of learning, joy, and prosperity, Sangi Rāja ; who was reverenced by Padmā's son Kṛṣṇa Deva-protect the king Sāluva Kṛṣṇa Deva-with Sirīśa (Viṣṇu) and Ardhanārīśvara (Śiva) !

(1) The late Mr. Narasimhacharya identified this great Jaina guru with Abhinava Vādi Vidyānanda who, in the latter's work called *Kāvyasāra* written in Kannaḍa, in the Śaka year Vijaya, Bhādrapda, Bahuḷa 3, informs us that it was composed at the court of the lord of Bhallātakipura Bhairāgi. The city of Bhallātakipura, according to Mr. Narasimhacharya, was Gerasoppe, while Bhairāgi was an error for Bhairarasa. But Mr. Narasimhacharya is uncertain whether we have to identify the Kannaḍa work mentioned in the Padmāvatī basti record with *Kāvyasāra*. Probably it was a different poem. (*Kavicarite* II, pp. 227-228). The only objection against this identification is that in the record under review, Vidyānanda is never called Abhinava Vādi Vidyānanda but merely Vādi Vidyānanda, thereby suggesting that the briuda of Abhinava may have been borne by a later Jaina guru in imitation of the illustrious Vādi Vidyānanda.

In a later context we have the following—"Worshipped with dovotion by the king Sāluva Kṛṣṇa Deva—who was the sisters's son of the king Vīra-śrī-vara Deva Rāja, and the moon to the ocean the womb of Padmāmbā, his feet reverenced by Rājendra (or great king), Vidyānanda *munīśvara* is victorious-the fruit of the *syād vāda* wisdom."

Here we are on firmer ground. All the four rulers mentioned here-Sāluva Malli Rāja, Sāluva Deva Rāja, Sāluva Kṛṣṇa Rāja, and Sāluva Sangi Rāja-belonged to the well known Sāluva family of Sangītapura in the Tauḷavadeśa. But the centres from where they ruled were different. These were Sangītapura (or Hāḍuhaḷḷi), Veṇupura, and Gerasoppe. Of these Sāḷuva Deva Rāja and Sāluva Kṛṣṇa Rāja are directly associated with Vidyānanda, although Sāluva Kṛṣṇa Rāja seems to have been also the contemporary of Vidyānanda's disciple Viśalakīrti II.

A few stone inscriptions enable us to fix the dates of these Sāluva rulers. The Pārśvanātha basti stone inscription found at Hogekere, Sagar tāluka, is of some importance in this connection. The first part of this record is dated A. D. 1488 and it speaks of the ruler the *Mahāmaṇḍaleśvara* Mahārāja Sāluvendra. In the second part of the same inscription dated A. D. 1498 king Sālvendra is mentioned. And in the third part of the same record Sangi Rāja's son Indagarasa is said to be in the *rājadhāni* of Sangītapura.[1] The Janārdhana temple copper-plate grant found at Bidirūr, Sangītapura, gives the following genealogical descent of the Sāluvas of Sangītapura and Veṇupura :—

The great king Indra of the Kaśyapa *gotra* and Somavaṁśa
= Sankarāmba
|
Sangi Rāja
|
Sāluvendra (ruling from Veṇupura) | Indagarasa or Immaḍi Sāluvendra (ruling from Sangītpura)

(1) *E. C.* VIII Sa. 163, pp. 123—124.

This record is dated A. D. 1491[1].

The Pārśvanātha basti and the Janārdhana temple records enable us to give the following dates to the above rulers—

King Indra
= Sankarāmbā
|
Sangi Rāja
|
Sāluvendra — A. D. 1488, 1491
Indagarasa (or Immadi Sāluvendra) — A. D. 1489, 1491

Therefore, it is clear that both the sons of Sangi Rāja-Sāluvendra and Indagarasa-were ruling at the same time (*circa* A. D. 1488-1491)-the former from Veṇupura, and the latter from Sangitapura. We may note here one little detail. The chief minister and the favourite of king Sāluvendra was the devout Jaina Padmaṇa whose character and endowments are praised in the second part of the Parśvanātha basti record.

The Venkaṭaramaṇa temple bronze inscription found at Govardhanagiri, Sagar tāluka, gives the following account of the Sāluva kings who ruled from Gerasoppe:—

Kaśyapa *gotra* and Soma *kula*
|
Bhairava — Ambakṣittsa — Sālva Malla (I) — Sister
|
Deva Rāya — A. D. 1530
Sister (Cenna Bhairādevi) — A. D. 1562-98
|
Sālva Malla (II) (Yuvarāja under Deva Rāya)
Bhairavendra (Yuvarāja under Deva Rāya).

(1) *E. C. VIII*, Sa. 164, p. 125.

This record is not dated but may be assigned to *circa* A. D. 1530, although Rice assigned it to A. D. 1560[1].

Perhaps the Āñjaneya temple stone inscription found in the same place led Rice to assign the above record to *circa* A. D. 1560. The Āñjaneya record is dated A. D. 1562. It speaks of the queen Bhairādevīyamma, who assumed the *biruda* of *Mahāmaṇḍaleśvara*, and who is said to be protecting the Nagira kingdom with Haive, Tuḷu, Konkaṇa, and other kingdoms[2]. She is the same Cenna Bhairādevī who is mentioned in the stone inscription found in the Tirumaladevi temple near Nagarageri in Gerasoppe and dated A. D 1598. January the 31st[3].

Since we know from the above records that the law of inheritance which prevailed in Gerasoppe and Sangītapura was the well known *aḷiya santāna kaṭṭu* (or law of inheritance through the nephew), we have to assume that Cenna Bhairādevī was the sister of Deva Rāya. And since her reign lasted from A. D. 1562 till A. D. 1598, [4] we may legitimately assign her brother to about A. D. 1530, and not to A. D. 1560, as done by Rice.

But a difficulty presents itself here: in the Padmāvatī basti record of Humcca, it is twice related that Sāluva Kṛṣṇa Deva's mother was Padmāmbā, and once asserted that she was the sister of Vīra-śrī-vara Deva Rāja. Rice has identified Kṛṣṇa Rāja mentioned here with Sāluva Kṛṣṇa Rāya Nāyaka, who was the chief minister of the Emperor Kṛṣṇa Deva Rāya the Great from A. D. 1520 to A. D. 1527, and Rice makes the same Kṛṣṇa Deva the sister's son of Deva Rāya[5].

But we have just said that Deva Rāya's sister was probably Cenna Bhairādevī whose sons were Sāluva Malla (II) and Bhairavendra. The fact that in the Venkaṭaramaṇa temple bronze pillar inscription they are both called *yuvarājas*, who, along with others,

(1) E. C. VIII Sa. 55, pp. 100--102. (2) *Ibid*, Sa. 57, pp. 102--103.

(2) *Mysore Archl. Report for 1928*, p 102.

(3) See *ibid for 1928*, p. 71.

(4) Rice, *Mysore & Coorg from the Inscriptions*, p. 153.

formed the assembly of Deva Rāya, seems to strengthen our identification of Cenna Bhairādevi with the sister of that ruler. In this case it may be presumed that Deva Rāya had another sister called Padmāmbā, that Kṛṣṇa Deva was her son, and that he succeeded to the Sāluva kingdom of Gerasoppe or Kṣemapura after Deva Rāya, instead of either of the two *yuvarājas*, Salva Mālla (II) and Bhairavendra. On the basis of the statements relating to the kinship of Kṛṣṇa Deva with Deva Rāya, we may assign the former also to *circa* A. D. 1530.

(*f*) We now come to the assemblies of another kingdom where Vādi Vidyānanda won similar laurels. " In the assemblies which were like ..of the kings of the Nagira kingdom, you made the company of the learned to sip the immeasurable sweetness of the nectar of your speech, Vādi Vidyānanda."

No rulers are mentioned here by name, but only their kingdom which is called the Nagira (or Nagiri) *rājya*. This too was a Jaina principality which was connected with the famous kingdom of Gerasoppe by dynastic alliance, as the following evidence amply proves. The earliest reference to the Nagira kingdom is in the stone inscription found in front of the Jvālāmukhi temple near the Nagaragēri basti in Gerasoppe. This damaged record mentions the death of Mangarasa, the chief of Nagirapura (*Nagiriya kula cakravarti*), and the son-in-law of king Honna Haiveyarāya, on January the 15th A. D. 1401[1].

A stone inscription on the site of a Jaina basti close by Nagaragēri (which, I believe, stands either for the Nagiri principality, or the road that led to it) in Gerasoppe, contains many interesting details. One of the statements evidently relates to the same Mangarasa mentioned above. For it relates thus-*Nāgirada--rāja Honnarasan ānvaya-vārdhige candram sale tām sogayipa Haive-bhūpanaḷiyam kaḷikālada Karṇam embar-ī-jagadalu Mangabhūvarana bāndhave Tangaḷadevī*. This lady was the mother of the donor Padmaṇṇarasa. The record is dated A. D. 1421, January the 8th Wednesday [2].

(1) *M. A. R. for 1928*. p. 100. (2) *Ibid*. pp. 94-95.

The Pārśvanātha basti record mentioned above and dated A. D. 1472, calls the kingdom merely Nagiraṭhāvu. Haivaṇṇa Nayaka, the foremost man in Ānevālanāḍ, is said to have been in Nagiraṭhāvu in that year [1].

A copper plate grant in the Jaina maṭha at Sode, Śirśi tāluka, and dated A. D. 1523, contains the following genealogy of the Tauḷava rulers of the Nagari-Haiva-Tuḷu-Konkaṇa kingdoms[2].

Lunar race
|
Bhairavāmbā = Pāṇḍya king — Sālva Malla
|
Immaḍi Deva Rāya Oḍeyar
(king over the Nagari-Haiva-
Tuḷu-and Konkaṇa kingdoms)

In the Venkaṭaramaṇa temple bronze pillar inscription referred to above, and dated about A. D. 1530, the Nagira kingdom is also called Nagari kingdom as well as Nagari-sīme. From the same record it appears that its most prominent cities were Kudurapura and Māgōḍu, the latter of which is called "the mother home of fortune in the Nagari-sīme"[3]. The Āñjaneya temple record of A. D. 1562, as related above, informs us that the queen Cenna Bhairādevi ruled over the Nagari kingdom with Haive, Tuḷu, Konkaṇa and other kingdoms[4].

Now, the statement that Vādi Vidyānanda won celebrity in the courts of the rulers of the Nagari (or Nagira) kingdom suggests that more than one Nagari ruler honoured him. In this connection a doubt arises whether or not we have to identify the Vīra-śrī-vara Deva Rāya mentioned in the Pamāvatī temple record with the Immaḍi Deva Rāya Oḍeyar, who is mentioned in the Sode maṭha

(1) E. C. VIII, Sa. 60, Op. cit.
(2) *M.A.R. for 1916*, p. 69.
(3) E. C. VIII, Sa. 55, p. 101.
(4) *Ibid*, Sa. 57, p. 102. Cf. *M.A.R. for 1928*, pp. 70—71.

copper-plate grant. Since we cannot conceive of two kings of the same name and of the same stock, ruling at one and the same time over the same principality, it may not be wrong to assume that both are identical. This supposition is strengthened when we note the identity between the genealogical descent as given in the Venkaṭaramaṇa temple bronze pillar inscription and the Sode *maṭha* copper-plate grant. It may be noted here that the latter document does not begin the genealogical account of Immaḍi Deva Rāya in the traditional manner, but merely relates that " In the Tauḷava country was the prosperous city of Kṣemapura in which ruled many kings of the Lunar race, among whom was the popular Immaḍi Devabhupa."[1] From the Venkaṭaramaṇa temple record, it is evident that Sâlva Malla had a sister whose son was Deva Rāya. The Sode *maṭha* copper-plate grant, too, relates that " In the ocean of the lunar race was born Lakṣmī in the shape of Bhairavāmbā, with her brother the moon, in the shape of king Sāluva Malla ; and having married Viṣṇu in the shape of the Pāndya king, she gave birth to Cupid in the shape of king Deva Rāya " [2].

Hence both the Venkaṭaramaṇa temple bronze pillar inscription and the Sode *maṭha* copper-plate grant enable us to give the following consolidated genealogical account of the Gerasoppe rulers of the Lunar race :—

Kaśyapa *gotra* and Lunar race

Bhairava | Ambakṣitiśa | Sālva Malla (I) | Bhairavāmbā = Pāṇḍya king

(children of Bhairavāmbā = Pāṇḍya king:)

Sister (?) Padmāmba | Deva Rāya, Immaḍi Deva Rāya Oḍeyar A. D. 1523-1530 | Sister (Cenna Bhairādevi)

(son of Padmāmba:) Kṛṣṇa Deva

(sons of Deva Rāya:) Sālva Malla (II) (Yuvarāja) | Bhairava (Yuvarāja)

(1) & (2) *M.A.R. for 1916* p. 69.

We may confirm our identification by referring to the statement made in regard to Sāluva Deva Rāya in the Padmāvatī temple inscription given above. It is said in this record that Vādi Vidyānanda was "victorious in proving the great doctorines of all speakers to be false, and pleased him (Deva Rāya)." This last part of the statement suggests that Sāluva Deva Rāya was a staunch Jaina by persuasion. The Sode m th d copper-plate grant confirms this, since it affirms that the *Mahāmaṇḍalesvara* Sāluva Immaḍi Deva Rāya Oḍeyar granted lands (specified) in the village of Banḍuvāḷa, in order to provide for the worship and festivals of the god Candranātha in the Sankha Jina basti of Lakṣmaṇeśvara. This charity, it may be observed by the way, was to be carried on by the school of Candraprabha Deva of the Deśiya *gaṇa*[1].

It is no wonder that having mentioned Sāluva Deva Rāya once, the Padmāvatī temple record merely states that in the courts of the Nagari kings, Vādi Vidyānanda "made the company of the learned to sip the immeasurable sweetness of the nectar" of his speech. From the above it is clear that Vādi Vidyānanda must have visited the court of Sāluva Deva Rāya of Gerasoppe between the years A. D. 1523 and A. D. 1530 when that king reigned over the Nagira, Tuḷu, Haive, and other kingdoms[2].

As to who were the other rulers of the Nagira kingdom in whose courts Vādi Vidyānanda won victories, we do not know. Probably the referenee here is to the queen Cenna Bhairādevi herself whose records tell us that she assumed the *birudas* of *Śrīmatu* and *Mahāmaṇḍaleśvara.*[3]

(1) *M. A. R. for 1916*, p. 69.

(2) Buchanan mentions an inscription dated Śālivāhana Śaka 1445 (A. D. 1523) of the Devarasu Oḍeyar, king of Sangitapura, found in the Jaina basadi at Bainduru in Tuḷuva (Buchanan, *A Journey from Madras through Mysore, etc.*, III p. 109). This was no other than Sāluva Deva Rāya whose age we have discussed above B. A. S.

(3) For a fuller account of the Gerasoppe rulers, read *Quarterly Journal of the Mythic Society.* XII p. 51 Seq.

(*g*) Vādi Vidyānanda's next victory is thus described:—"In the court of king Narasimha of Biḷige, courageous as Kalasodbhava (Agastya) you elucidated the Jina darśana...... .

The minor principality of Biḷige, Biḷgi, also called Śvetapura,[1] has figured to some extent in the later history of the Keḷadi kingdom. Its rulers had the *birudas* of *Mahāprabhus* and *Ghanțevoḍeyars*. They later on embraced the Vīra Śaiva faith[2]. The principality of Biḷige lay to the north-west of Shimoga, and was an independent little State. The record in question carries its history to the middle of the sixteenth century A. D., and it appears that in this age, its rulers were followers of the Jina *dharma*. More details about king Narasimha of Biḷige are not available[3].

(*h*) Another Jaina patron of Vidyānanda is described thus:—"In the court of the ruler of Kārkaḷanagara, the great Bhairava, you elucidated the most excellent Jina *dharma* so as to attract the mind, and distinguished yourself, Vidyānanda." The city of Kārkaḷa mentioned here was the capital of the Kalaśa-Kārkaḷa kingdom which was an extension below the Ghats in South Kanara of the original Śāntara kingdom that had its capital at Paṭṭi Pombucca.[4] This extension took place somewhere in the thirteenth century A. D. The ruler referred to here was Immaḍi Bhairarasa Oḍeyar, a feudatory of the Emperor Kṛṣṇa Deva Rāya the Great[5]. He was the son of Bommala Devi and the son-in-law of Vīra Hiriya Bhairarasa Oḍeyar, who ruled from A. D. 1493 till A. D. 1501. Vīra Bhairarasa Oḍeyar

(1) *Archaelogical Survey of Western India*, II p. 6.

(2) Read *M. A. R.* for *1923*, pp. 99, 102-3; *ibid for 1928*, p. 20; *ibid for 1929*, p. 173; Buchanan *op. cit.* III. p 251.

(3) For a more complete account of the Bilige rulers, read *Q. J. M. S.*, XIII, p. 755 seqr. I am told that in the called periodical called *Śivānubhava* edited by Mr. Halagatti, there is an account of these rulers. This paper is inacessible to me. B.A.S.

(4) For its detailed history, read *E.C. VI*. Intr. p. 19; Rice, *Mys. & Coorg*, p. 140.

(5) *E. C. VI*. Mg. 39, p. 67.

was a feudatory of the Vijayanagara monarch Sāluva Immaḍi Narasiṅga Raya [1].

Immaḍi Bhairarasa Oḍeyar's reign lasted from about A. D. 1516 till about A. D. 1530. We may fix the year when Vidyānanda elucidated the Jina *dharma* in his court by noting when Immaḍi Bhairarasa was ruling over the Kārkaḷa kingdom. Of the five inscriptions dealing directly with him, two represent him as ruling over the Kalaśa-Kārkaḷa kingdom or the kingdom above and below the ghats; [2] and two, the Kalaśa kingdom [3]. But only in one inscription is he represented as being seated on the throne of Kārkaḷa, "protecting the kingdom in peace and wisdom." This was in A. D. 1530, when the inscription gives evidence of his broad outlook. For the epigraph which narrates the following, opens in the traditional Jaina manner but ends in the usual Hindu style! "Having the supreme profound *syād vāda* as a fruit bearing token, may it prevail, the doctrine of the Lord of the three worlds, the Jina doctrine! Obeisance to Ādi Varāha; may he grant prosperity, in whose tight embrace the Earth ever rejoices. Obeisance to Sambhu, his lofty head kissed by the *cāmara*-like crescent moon, the original fountain pillar of the city of the three worlds." This inscription, we may note by the way, registers the gift of rice and money to the family god of his younger sister Kālala Devi, who was ruling over the Bāguñjisime in her own right [4]. Unlike this inscription most of the other epigraphs do not invoke the Jina doctrine but merely Gaṇādhipati, Sarasvati and Sambhu in the usual orthodox Hindu manner, although in one [5] the Vitarāga is involked. These considerations lead us to the conclusion that it was only in A. D. 1530 that Immaḍi Bhairarasa gave the fullest expression to the Jina faith, and that it was in this year that Vādi Vidyānanda visited him in Kārkaḷa.

(*i*) The next centre where Vidyānanda won celebrity is given thus:—"So as to gain the approval of the assemblies of the Bhavya

(1) *E. C., VI.* Intr. p. 19.

(2) *Ibid*, Mg. 41, Mg. 62, pp. 68, 70.

(3) *Ibid*, Mg. 39, Mg. 48, pp. 67, text, p. 267.

(4) *Ibid*, Kp. 47, p. 84.

(5) *Ibid*, Mg. 41, op. cit.

Jani (or Jainas) of Bidire, whose hearts were adorned with wisdom and pure character, you with pleasure expounded the established faith, Vādi Vidyānanda." It cannot be made out with certainty to which Bidire reference is made in the above context. Bidire was the name gtven to more than one place above and below the Ghats[1]. It is not unlikely that Bidire refers here to Mūḍubidre which, as we have elsewhere shown,[2] has ever been a most holy spot for the Jainas.

(*j*) Vādi Vidyānanda's last victory (?) seems to have been won in the court of the following ruler:—" In the court of Kṛṣṇa Rāya, the son of Narasimha, receiving the homage from the jewelled crowns of kings, you wiped out the company of speakers of other creeds by the power of your speech, Vādi Vidyânanda."

Then, again, in a later context, the following is said:—In the court of the ruler of Vidyānagari, the victorious lord Kṛṣṇa Rāya, defeating the company of the learned, like a lion (overcoming) an elephant, with the talons of his just argument and his great lucid intelligence—to that Vidyānandamunīśvara obeisance, whose fame is world-wide."

The reference here is to no other than to the celebrated Vijayanagar Emperor Kṛṣṇa Deva Rāya the Great, who ruled from A. D. 1509 till A. D. 1529. We are unable to determine when Vādi Vidyānanda won his great victory over the champions of rival creeds at Vijayanagara. If at all we may venture to suggest, it is the following:—That the use of the epithet *victorious lord* suggests that Kṛṣṇa Deva Rāya had returned to the capital from some campaign in which he won a signal victory, From other sources we know that in about A. D. 1520 Kṛṣṇa Deva Rāya the Great inflicted a crushing defeat upon the Muhammadan Sultans of

(1) There was a Keggana Bidire in Nirgundanāḍ in A. D. 1165 *E.C.V.* Cn. 210, p. 216). Three years earlier a Bidire is mentioned. (*ibid, VI* Kd. 72, p. 14, See also *ibid.* Kd. 73, 75, 86, 111, pp. 14, 16, 20. for another Bidire above the Ghats, See further *Ibid* VIII. Nr. 2, p. 126 for one more example Bidirūr was also called Veṇupura in A D. 1461. (*Ibid,* VIII Sa 164, p. 125.)

(2) Saletore, *Ancient Karnāṭaka,* I. pp. 143-145, 283-284, 406-408, and *assim.* See also *my Mediaeval Jain ism,* Ch' XI.

the Deccan[1]. It was this great victory more than his other notable victories against the Ganga Rāja of Ummattūr (A. D. 1510) or his capture of Udayagiri in A. D. 1514 or the conquest of Koṇḍavīḍu in A. D. 1516[2], that secured for him unqualified respect and fear from all monarchs in southern India. If we are right in assuming this, then, Vādi Vidyānanda's success at Vijayanagara may have taken place between the years A D. 1520 and 1529. In any case Vādi Vidyānanda was a contemporary of that celebrated Emperor of Vijayanagara.

6. *Conclusion*:

Of all the contemporaries of Vādi Vidyānanda, Nañja Rāja Deva ruled for the longest period A. D. 1502 till A. D. 1533. This was, therefore, also the age of Vādi Vidyananda. During a greater part of this period his predecessor Viśalakīrti Bhaṭṭāraka, according to our calculations, lived: for the latter's dates were from A. D. 1478 till A. D. 1554. We may now verify the date given to Vādi Vidyānanda by ascertaining the date of his immediate desciple Devendrakīrti.

The Pandmāvati basti inscription referred to above, informs us that "To Svāmi Vidyānanda was born a son, a Bhārati and a Bhālalocana, named Devendrakirti, foremost of Bhāṭṭarakas...His lotus feet worshipped by the crown of Kṛṣṇa Raya's brother Acyuta Rāya, of beautiful form, Devendrakīrti-sukhirāṭ is victorious, a moon to the ocean the *syādvāda-śastra*." This proves that Devendrakīrti was respected by the Vijayanagara monarch Acyuta Rāya (A. D, 1530-A. D. 1542)[3].

Now, we may check the date given to Devendrakīrti by another way. This relates to his disciple Viślakirti Bhāṭṭaraka whom we may style II. of that name. A stone inscription found at Vaidyarakoppa, and dated A. D. 1610, of the reign of king Venkaṭapati Deva Rāya, tells us that a certain Jaina merchant named Bommaṇa

(1) Rice, *Mys. & Coorg*, p. 118.

(2) *Ibid*, pp. 118—119, Butterworth-Chetty, *A Collections of Inscriptions in the Nellore District*, III, pp. 1382, 1386, Sewell, A *Forgotten Empire*, pp. 130, 131.

(3) *E. C.* VIII Nr. 46, p. 149.

Heggaḍe (descent stated) was the worshipper at the lotus feet of the Jaina guru Viśalakīrti, who was the disciple of Devendrakīrti who, in his turn, was the disciple of Vidyānandamunīśvara, the head of the Balātkāra gaṇa and *rāyarājaguru.* Thus, Viśalakīrti II lived in A. D. 1610. If we allot 50 years to him, we come to A. D. 1550 which may have been the date of his predecessor Devendrakīrti.

To Conclude :

On epigraphic grounds the activities of the three Jaina *gurus* beginning with Vādi Vidyānanda may be assigned to the following periods :—[1]

Vādi Vidyānanda	...	A. D. 1502-A. D. 1530
Devendrakīrti ...	...	A. D. 1530-A. D. 1550
Viśalakīrti II ...	...	A. D. 1550-A. D. 1610

(1) That Vādi Vidyānanda was the immediate predecessor of Devendrakīrti is proved further by Doḍḍayya (A. D. 1550), who in his *Candraprabhacarit*: places Vādi Vidyānanda immediately before Devakīrti, *i.e.*, Devendrakīrti. (*Kavicarite*, II p. 253, n. 1.)

The Jaina Theory of Knowledge & Error.

BY

H. M. Bhattacharyya, M.A.. Professor Asutosh, College, Lecturer Calcutta University.

The Jaina system of Thought and Culture has not, it appears, received the due recognition it deserves in the hands of scholars both in India and abroad. Excepting the attempts of a few western scholars like Jacobi, Glassenapp and Schubbring who have confined themselves more or less to its historical side, and those of a few Indian scholars like Dr. Das Gupta, Sir Radhakrishnan and Prof. Hiriyanna who have been compelled from the nature and purpose of their works to be either laconic or critical in their approach to the subject, a keen student of Jaina thought sadly misses that appreciative and reconstructive exposition which it has a rightful claim to demand from the world of scholars. The dogmatics apart—and what system is there which has not its dogmas, and this is especially the case with every Indian system which regards it as sacrilege to the genius of Indian thought to separate philosophy from Religion, intellect from life—its realistic and evolutionary theory of existence resulting in an indefinable character of the real, its dualistic epistemology, its theory of relative certitude of judgments, its implicit reliance on common sense and observation are some of those outstanding features of Jainism that should at once put it on the rank of a philosophy that is hardly inferior to the present day realistic and humanistic reactions against the absolutism of the west. The present short paper cannot of course be expected to do justice to all those features of Jainism but is intended only to bring out some of the important points in the Jaina theory of knowledge and error.

1. *The Metaphysic of knowledge*:—The Jaina is a professed dualist and assumes the two fundamentally distinct and self-existent reals, the soul and the non-soul. We have stated that the Jaina takes an evolutionary view of reality. Now the Jaina explains evolution of a

real by the triplicate process of origination, annihilation and stability through which every given reality, conscious or unconscious, must pass in order to realize its nature as such, answering to the triad of dialectical movement, position, negation and reaffirmation with which Hegel explains his developmental reality. It follows then that the soul and the non-soul of the Jaina is subject to constant *pariṇāma* or evolution into its functions, its qualities and modifications occurring in accord with the threefold principle of appearance, disappearance and reappearance. Each object at a given moment is thus conceived as evolving into (*parinamate*) new qualities, modifications and functions involving dissolution of a previous set of qualities, modifications and functions, but as retaining constancy (*anvayasyāvasthānena*) in the midst of these divergences. It is not a pure unity excluding all diversity, nor again is it pure diversity, unconnected with unity. The world of our experience teeming with things and minds is to be understood neither in terms of unmitigated and rigid identity, nor in terms of disintegrated diversities. The conception of any object of this world cannot alternate between those of reality and process, it is that of *reality-in-process, or being-in-becoming*

The above account of a *padārtha* or reality at once clears up the Jaina's view of the relation between *pariṇāma* and *pariṇāmi* between qualities and modifications on the one hand and the modifying reality on the other. The *pariṇāma* being regarded as the self-evolution of the *pariṇāmi*, there is an identity of essence between the two. Knowledge as pariṇāma of the soul is the essence of the soul (*tatsvābhāvyāt*). It is the soul in its modification into knowing. We may and actually do have all possible varieties of knowledge but amidst these varieties what is persistent is the soul which differentiates, or modifies into these varieties of knowledge. It is the *ens unum, et semper-eognitum in omnibus notitiis.* The Jaina philosopher means just this when he affirms: "He who knows is knowledge."[1] The reality of the soul as knower is inseparable in essence from knowledge which is its self-evolved quality. It follows then that the soul being conceived as

1. *Pravancana Sāra 35.*

swaprakāśa or self-luminous, knowledge which is of the essence of the soul is, for the matter of that, self-luminous, and that knowledge is an essential and not an adventitious quality which one must add on to the soul *ab extra*, to make the soul into a knowing subject just as one puts a knife into the hand of a man to transform him into a cutter that he is at other times not.[1] This is, it should be noted, a supremely important contribution of Jaina thought to the metaphysic of knowledge and is a lie direct to the Nyāya, Bauddha, Sāṁkhya and even Advaita views on the subject. The Naiāyika labours under the illusion that the soul is an intrinsically unconscious entity and that knowledge, like feeling and conation, is imparted into it externally when the collocation of certain circumstances like the contact between the soul on the one side and the object, the senses and the mind on the other is externally effected. But it is obvious that the origin of knowledge as a conscious function is not possible out of elements—the soul, the object, the senses and the mind, in their contact, none of which elements is allowed to be conscious in itself, except by the supposition that knowledge is of the nature of a 'mechanical glow' flashing forth from an impact as between iron and flint. But here the Jaina caveat is that nothing can change its essence (*nakincit saktyantarom bhajate*), no mechanical impact or juxtaposition nor any quantitative accretion can bring about a qualitative difference in the essence of a reality,[2] the unconscious cannot grow into the conscious. The Buddhist is ruled out of court in as much as he takes knowledge to be a psychosis of the moment or even as a series of psychoses without the psyche. But the Jaina is emphatic and rightly so, in his assertion that knowledge is not mere knowing but the self as knowing. The Sāmkhist and the Advaitist accounts of the origin of knowledge and its relation to

1. *Ibid.*

2. One interested in the present day western explanation of the problem of the origin and nature of consciousness would do well to note how Prof. Lloyd Morgan, an emergentist and realist prefers among other things the essentially distinct though correlative character of the physical and the psychical; the psychical never developing out of the physical.

the self fail to strike the key-note of the problem because the self which enters into connection with knowledge is not the real self but is only its shadow.[1] The *vṛtti* or modification with which knowledge is equated by them is only conventional and not real to the self which in its essence is not subject to modification.

2. *Knowledge and self-consciousness*:—Knowledge to the Jaina, being the self-functioning of the self, it is always the self in the act of knowing, and we cannot miss the self whatever may be the nature and intensity of knowledge. In fact, the idea of the persistence of self-consciousness has been emphasised by all the Jaina epistemologists as an essential element in all cases of valid knowledge perceptual or otherwise. They define valid knowledge as that cognition which while illumining itself illumines the object. According to a different interpretation the definition of valid knowledge may be understood to mean that cognition which while illumining the Self also illumines its other *i.e.*, the object. Any way self-conciousness stands out in all knowledge as the invariable element so that other-consiousness may be said to be grounded in or accompanying self-consciousness.[2] This reminds one of J. F. Ferrier's view of the matter when he says: There is a calm unobtrusive current of self-consciousness flowing on in company with all our knowledge, and during any moment of our waking existence; and this self-consciousness is the ground or condition of all our other consciousness." Ferrier however concludes that the accompanying self-consciousness is possibly *latent* when the objeet of consciousness is other than the self, but may rise into being an actual feature of the conscious state when the appropriate conditions are present.[3] But the Jaina repudiates this latency or implicitness of self-consciousness in any form of knowledge, even when the object, or the other, seems, by

1. The Puruṣa of the Sāmkhist and the Sākṣi of the Advaitist are but idle spectators, so to say.

2. Institutes of Metaphysic 2nd edn. P. 81.

3. Kant also says that the 'I think' must accompany all our representations, though not always forming an actual part of them. Meiklejon's translation of the *Critique of Pure Reason* (1924) pp. 81—82.

its engaging interest, to occupy the entire field of consciousness. There is no ebb and flow in the current of self-consciousness which accompanies all knowledge, there being no consciousness of the other without the consciousness of the self (*Svaprakāsābhāve paraprakāsābhāvāt*). The modern psychologist may chafe at the idea of a persistently explicit self-consciousness even in the case of our attention to an obtruding external object, yet it remains an open question whether and how far it is even psychologically possible to conceive of any knowledge, which at any rate owes its origin in the functioning of the self, and at any time throws to the back-ground the very self which is its immanent principle.

3. *The conditions of knowledge.*—The position of the Jaina that self-consciousness is the invariable element in all knowledge perceptual and otherwise acquires an additional support from his unique conception of what he calls *Upayoga*. And it is worthwhile to clearly understand the concept of *Upayoga*, the parallel of which is never to be met with in any other theory of knowledge either eastern or western. Apart from the operation of the retarding principle of Karma with its different degrees of influence on the entire life of the individual soul, *Upayoga* is the most fundamental of all the conditions that determine its psychical existence. In the creation of a knowledge-situation the Jaina indeed takes cognizance of the ordinary conditions of the object the senses and the mind. But these are all to him secondary and conventional. The primary condition of knowledge is the *Upayoga*. Now the concept of Upayoga has received different interpretations in the hands of different Jaina writers, but the most appropriate of them seems to be the one which *Kundacaryya* in his *Gommata* and *Prevacana Saras* has put upon it, *viz.*, that it is the *psychical attentiveness*[1] which is the differential characteristic of the soul, occurring as its self-evolution. Now if *upayoga* or psychical attention is the distinguishing feature of the life of the soul, it follows that for the purposes of knowledge attentiveness or self-consciousness

1. I accept here Prof Faddegon's rendering of *upagoga* in his eddition of Pravacana Sara. *Jain Literature Society Series* Vol. I.

is the primordial internal condition before the fulfilment of which all other conditions *viz.*, the senses, the mind and the object, can hardly have any meaning and value of their own.

4. *The position of the not-self or object in the knowledge situation.*—The Jaina as an evolutionary realist posits the object as an evolving and dynamic real characterised by absence of consciousness (*jaḍa*). The self is thus diametrically opposed to the object or the not-self. Here, as in all forms of dualism, there arises the fundamental difficulty *viz.*, how can two fundamentally distinct reals, self and not-self, have anything to do with each other, so that knowledge of the one by the other may at all be possible. An unwarranted assumption of something like interaction between the two opposite reals, or the copy theory, or the theory of pre-established harmony is the only plausible explanation proferred by the western realist. The Jaina in general, has spoken of the plausible device of *Yoga* which, being accepted as an eternal but unaccountable conjunction between the self and the notself answers to, and equally fails as the theory of pre-established harmony. But *Kundācaryya* however suggests that in spite of the opposite characters of the self and the not-self *samvandha* or interaction is possible because each of the self and not-self is a real and as such is subject to constant changes and evolutions. Knowledge as a function of the self is an evolution and all evolution has its *ālamvana* or basis in a real and the not-self as a real has its evolution into the knowable forms only on the basis of knowledge.[1] In this explanation *Kundācaryya* and his commentator seems not unaware of the apparent vicious circle which their arguments involve. But the situation can be attenuated in view of the fact that we are here reduced to one of those ultimate problems indealing with which one is in constant danger of falling into what Plato called ' a bottomless pit of non-sense." Basing his system on the bed-rock of common observation and refusing to be led away by what the western realist calls ' pseudo-simplicity ' and ' speculative bias ' of idealistic monism, the Jaina has struck the key-note of realism in ancient Indian thought avoiding extremes of noetic impossibility of the Nyāya system on the

1. *Pravacana Sāra* I 136 and *Tattvadīpikā* thereon.

one hand and of absorption of the extramental reality into the mental by the Vedāntist and the Buddhist on the other. To the Jaina interaction between the mental and the extramental is an ultimate fact of experience. But the distinguishing feature of the Jaina theory of interaction seems to be that in it the mental and the extramental are conceived in dynamic terms and are not regarded as mere passive substances of Descartes and his followers. The self and the not-self are not mere being, but are conceived as doing, acting and functioning, and knowledge is explained as the result of *parasparapariṇāma Samvandhi* of mutual action and reaction between them. From the Jaina commonsense point of view, then interaction is no bar to but a genuine explanation of the phenomenon of knowledge.

5. *The limits of knowledge.*—Side by side with common-sense point of view which satisfies the demands of the real world we ordinarily live in, the Jaina distinguishes a transcendental standpoint in which the self attains complete detachment from the *yoga*,' contact with the world of objects and its paraphernalia and enjoys absolute omniscience in which the lumitations incidental to that contact disappear. The Jaina postulation of the self and knowledge as both self-luminous, and of the possibility of gradual elimination of yoga- and the consequent object-determination in knowledge, are responsible for making the range of knowledge widest possible including within its sweep even ignorance and rising up to absolute knowledge or omniscience. This view of the limits of knowledge thus stands in direct contrast with Locke's realistic account which confines knowledge to one of intermediate range. Knowledge to Locke is "neither nescience nor omniscience but *fidu-science* or science that is at least a reasonable faith in lack of omniscience."[1] In our normal and ordinary psychological life knowledge coincides with that realm of cognition where the self in its cognitive modification is in interaction with the not-self in its perpetual modificatory condition and where the grounds of practical certitude *viz.*, the ascertainment of the self as an immanent self-conscious principle and the ascertainment

1. Fraser's Introduction to Locke's *Essays Concerning Human Under standing.* standing.

(*Vyavasāya*) of the not-self as a hitherto unknown real are comparatively satisfied.[1] This is the sphere of scientific knowledge or 'fidu-science' as Fraser would have it. But the Jaina believes in the possibility of absolute knowledge and *faith samyak gñānam* and *samyak darśanam*) when the soul in its regenerate state has been able to completely dissociate itself from the obscuring influence of Karmic matter. The spirit in its original state of purity is infinite effulgence which becomes limited and clouded in different degrees only by the different proportions of despirituslisation by matter with which the spirit is ordinarily associated. But when it has risen to be *Kevalin*, has been able to achieve complete dissociation from the world of matter by moral discipline, it is restored to that absolute luminosity which is its own.

6. *The Jaina test of Truth.*—Relying upon observation and realistic conception of the object the Jaina makes truth to consist in the *direct determination* of the object (*Savikalpakam, Vyavasāyātmakam*). The object appears in cognition as a concepttual complex. It is never of the nature of "that it is" but always of the nature of 'what it is.' The concepts of universality and individuality, amongst others, are ever blended in the constitution of an *object* excluding *nirvikalpa jnāna* from the category of cognition. No cognition is indeterminate but is always determinate. Again all cognition is direct and immediate. Thus in his conception of the criterion of Truth the Jaina includes an apprehension of *niścaya* or determination (*niscayārtha-gñānam*) with a view to distinguishing it from the three kinds of invalid cognition *viz.*, doubt (Samsaya) error (Viparyās) and non-discrimination (anadhyavasaya). But this is so far a subjective or internal criterion. Jaina, however, goes beyond this and adds an objective and pragmatic aspect to it[2]. All valid cognition, he adds, must issue forth into activity leading to the attainment of what is conducive to the well-being and to the rejection of what is conducive to the ill-being of the cognising subject.

1. *Svāpurarthevky avasayalmajam inām. Parikṣāmukham.* I. 2:

2. *Prameya kamala mārtanda pp. 8—11.*

Svāparavyavasāyatmakam, Hitārtha prāpti parihāra Samartham jnanam pramānam.

7. *The Jaina theory of Error.*—If cognition is immediate perception, if what we cognise is immediately known to be a reality, then what constitutes unreality, as in the case of *Viparyāsa* or error? The Jaina here distinguishes his own account of error from the other accredited accounts of it. As a realist the Jaina at once repudiates the doctrine of *Atmakhyāti* of the *Vijnānvādi* Bauddha who tries to explain the illusory perception of silver as a case of self projection of an unsubstantial psychosis which bolsters up a substantive piece of silver of which there is really nothing in the objective world. For the Jaina is not prepared to reduce the reality of anything of the subjective and objective world to a mere unsubstantial psychosis. The *asatkhyāti* of the *Sunyavādin* he summarily rejects on the ground that nothing can be asat. The Jaina dismisses the doctrine of *Vivekākhyāti* of the Prābhakara school on one simple ground amongst others that Vivekākhyāti presupposes *abhāva* or negation. And in the akhyāti *vāda* of the Sāmkhya the difficulty is that the Samkhyist makes out a case of error when we take anything to be true before it has fully emerged with all its elements as an effect from its evolving cause. But the Jaina, as we have already seen, does not accept the doctrine of unreality attached either to the evolving reality or to any of its evolved qualities and modifications. The *Pariṇāma* and the *Pariṇāmi* are equally and simultaneously real to the Jaina. As for Anyathākhyātivāda of the Naiāyika it may be said that there is hardly any tangible difference between him and the Jaina both of whom agree in their view that error arises whenever we confuse one thing with another. Both the things are real but we take one of them to be the other owing to certain defects both in our senses and in the objective conditions of perception such as want of sufficient light etc. *Vyavasāya* or discriminative knowledge fails under such circumstances and the result is that we are baffled in our conative fulfilment which forms an additional pragmatic test. And as against the last though not the least in importance in the doctrine of error, the Anirvacanyiakhyāti of the Advaitist, the Jaina *polemic* is that the production of an anirvacanyia or unaccountable silver over against the reality of the *nacre* we perceive is the gratuitous assumption of a "character complex" or 'essence' to use an expression of the

modern critical realist, for the supervention of which between the subject and the object there is no justification. For all perception is immediate cognition of the object by the subject, and error may be possible owing to failure of proper discrimination due to *doṣas* or defects in the objective environment, as well as in the sense organs.

THE JAINA SIDDHĀNTA BHĀSKARA.

(*Gist of our Hindī Portion : Vol IV, Pt. IV*)

pp. 194—199. Kamta Prasad Jain have established the authenticity of the Jaina Siddhānta on the evidence of ancient Buddhist and other literature.

pp. 200—206. Pt. K. Bhujbali Shastri have cursorily reviewed and showed the importance of the Hindi Jain literature, pointing that the root of the Hindi language lies in the Apabhraṃsa literature of the Jainas.

pp. 207—215. The Sultans of Delhi and the Jaina Gurus of Karanāṭaka. (Translated from English).

pp. 216—224. Pt. Hirālāl Śāstri have compared the Sutras of the *Dhavala-Siddhānta* of Puṣpadanta with those found in Pūjyapāda's '*Sarvārtha Siddhi*' and have conferred from that, that the *Siddhānta grantha* referred to above was in circulation amongst the scholars up to the time of Pūjyapāda.

pp. 225—228. B. Agarchand Nāhta's rejoinder in regard to Tapāgaccha and Khartargaccha amongst the Digambaras, with a note of the Editor.

pp. 229—232. Mr. Triveni Prasad notices the work entitled 'Hasta-Sanjīvanam' in Sanskrit by Mahopādhyāya Megha-vijaigaṇi (Saṃvat 1708), which deals with Sāmudrika-Śāstra.

pp. 233—239. Pt. K. Bhujabali Shastri describes the Jain remains at Bārakuru (Mangalore).

K. P. Jain.

RULES.

1. The Jaina Antiquary and Jaina Siddhanta Bhaskara is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*,. in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K BHUJABALI SHASTRI.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित	...	२।)
			(मू० कम कर दिया गया है)
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	प्रतिमा-लेख-संग्रह	...	॥)
(४)	जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण	...	१)
(५)	,, २य तथा ३य सम्मिलित किरणें	...	१।)
(६)	,, २य भाग की चारों किरणें	...	४)
(७)	,, ३य ,, ,,	...	४)
(८)	,, ४र्थ ,, ,,	...	४)
(८)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची	...	॥)
			(यह अर्ध मूल्य है)
(९)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	॥।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ५ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IV. NO. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.

(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH, BIHAR, INDIA.

SEPTEMBER 1938.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर और जैनएन्टीक्वेरी, अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुबिधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर; जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ५ | भाद्रपद | किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) | विदेश में ४॥) | एक प्रति का १।)

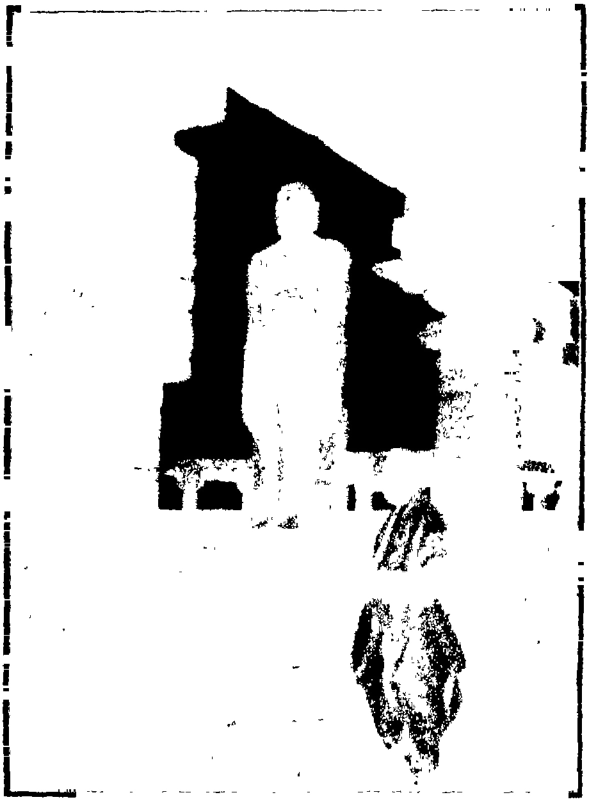
विक्रम-सम्वत् १९९५

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग —

ग्रन्थमाला-विभाग —

अंग्रेजी-विभाग —



कारकल की गोम्मटेश्वर-प्रतिमा

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ५ | सितम्बर १९३८ । भाद्रपद, वीर नि० सं० २४६४ | किरण २

भ्रामक सूचनाएं

(लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार)

'जैनसिद्धांत-भास्कर'की गत चतुर्थ भागान्तर्गत ४ थी किरणमें 'भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी' नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसके लेखक हैं पं० हीरालालजी शास्त्री उज्जैन, जो कि एक अर्सेसे—तीनवर्षसे भी अधिक समयसे—प्रो० हीरालालजीकी देख-रेखमें धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंपर उनके प्रकाशनार्थ कार्य कर रहे हैं। इस लेखमें 'धवल-सिद्धान्त'के अङ्गभूत 'जीवट्ठाण' खण्डके सत्प्ररूपणा-सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रकी अष्टमसूत्रस्थित 'सर्वार्थसिद्धि' टीकाके वाक्योंकी तुलनाका जो परिश्रम किया गया है वह प्रशंसनीय है। इस तुलनाके सम्बन्धमें विशेष रूपसे मैं इस समय कुछ भी कहना नहीं चाहता। हाँ, इतना ज़रूर कह देना होगा कि सत्प्ररूपणा-सूत्रोंके देनेमें कहीं कहीं कुछ

ग़लतियाँ ज़रूर हुई हैं—जैसे कि ७वां सूत्र 'अत्थि मिच्छाइट्ठी' दिया है जब कि वह 'ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी' है और टीकामें 'ओघ'शब्दके जोड़ने पर बहस तक की गई है; १४५ और १४६ नम्बरसे जो सूत्र दिये हैं वे क्रमभंगको लिये हुए हैं—'सासन सम्माइट्ठी०, नामका सूत्र पहले नं० १४५ पर और सम्मामिच्छाइट्ठी०' नामका सूत्र बादको नं० १४६ पर दिया जाना चाहिये था। इसी प्रकारकी और भी कुछ भूलें हैं। परन्तु इस लेखमें सिद्धान्त-शास्त्रादि-विषयक दूसरी कुछ ग़लत सूचनाएँ भी की गई हैं, जिनसे भ्रमका फैलना सम्भव है। और इसलिये आज इस लेख द्वारा उन्हींकी ओर मैं अपने पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

लेखके प्रथम पैरेग्राफ़में छह वाक्य हैं और छहों ही थोड़ी बहुत भ्रामक सूचनाओंको लिये हुए हैं। पहला वाक्य इस प्रकार है :—

"वर्तमानमें उपलब्ध होने वाले श्रुतज्ञानके सर्वप्रथम लिपिबद्धकर्ता या उद्धारक भगवान पुष्पदन्त और भगवान भूतबलि हुए हैं।"

वर्तमानमें उपलब्ध होने वाले श्रुतज्ञानका विषय बहुत विस्तृत है—वह अनेक शाखा-प्रशाखाओंसे गहन है, और उस सबका समानवंश पुष्पदन्त-भूतबलिके सिद्धान्त-ग्रन्थ (षट्खंडागम) में नहीं हो सकता—वह सारा उसका विषय ही नहीं; और इसलिये वर्तमानमें जितना भी श्रुतज्ञान संसारमें उपलब्ध है उस सब के सर्व-प्रथम लिपिबद्धकर्ता या उद्धारक भ० पुष्पदन्त तथा भूतबलि नहीं हो सकते। यदि श्रुतज्ञानका अभिप्राय जैनागम अथवा जैनवाङ्मय ही लिया जावे तब भी वह बात नहीं बनती; क्योंकि उपलब्ध दिगम्बर-श्वेताम्बर जैनशास्त्रोंमें जिन जिन विषयोंका वर्णन है वे सब पुष्पदन्त-भूतबलिके प्रस्तुत सिद्धान्त-ग्रन्थके विषय नहीं हैं—प्रस्तुत सिद्धान्त-ग्रन्थका विषय बहुत कुछ परिमित है और वह जैनागमकी एक प्रशाखारूप ही है।

इसके सिवाय भूतबलि-पुष्पदन्तसे पहले श्रीगुणधराचार्यके 'कसायपाहुड'की रचना हो चुकी थी। भूतबलिने अपने 'वेदना' खण्डमें कसायपाहुड'का उल्लेख किया है, इतना ही नहीं बल्कि कसायपाहुडकी गाथाओंके सवार्थको अवधारण करनेवाले 'आर्यमंक्षु' और 'नागहस्ति' नामके उत्तरवर्ती महान् आचार्यों तकका उल्लेख किया है; जैसा कि वेदना-खण्डके क्रमशः २२ वें और २४ वें अनुयोग-द्वारोंके निम्नसूत्र वाक्योंसे प्रकट है :—

"कम्मट्ठिदि-अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थिखमासमणा भणंति ; अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिदसंतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति।"

"अप्पाबहुग-अणियोगद्दारे णागहत्थिभडारओ संतकम्ममग्गणं करेदि एसो च उवदेसो पवाइज्जदि।"*

इससे स्पष्ट है कि वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाले समस्त श्रुतज्ञानके, जिसमें कसायपाहुड भी शामिल है, सर्वप्रथम उद्धारक अथवा लिपिबद्धकर्ता भ० भूतबलि तथा पुष्पदन्त नहीं हुए हैं—पुष्पदन्त तो प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण'के भी मात्र प्रथम अनुयोगद्वारके रचयिता हैं। और इसलिये शास्त्रीजीका उक्त वाक्य भ्रममूलक तथा भ्रम-प्रसारक है। आपका दूसरा वाक्य इस प्रकार है :—

"इनका समय भ० महावीरके निर्वाणके लगभग ६०० वर्ष बाद का है।"

इसमें ६०० के स्थान पर ७१० होना चाहिये था; क्योंकि जिस धवल सिद्धान्तके आधार-पर आप लिख रहे हैं उसमें वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षके बाद धरसेनाचार्यका होना लिखा है और उनकी अन्तिम अवस्थामें भूतबलि-पुष्पदन्तको उनका शिष्य बतलाया है। अन्यथा, किसी दूसरे प्रमाणका साथमें स्पष्ट उल्लेख करना चाहिये था। आपका तीसरा वाक्य निम्न प्रकार है—

"भ० पुष्पदन्तने सर्वप्रथम जिस रचनाको लिपिबद्ध किया, वह सूत्रात्मक 'जीवट्ठाण' है।"

पुष्पदन्तने पूरे 'जीवट्ठाण' खण्ड की रचना नहीं की और न उसे सर्वप्रथम लिपिबद्ध ही किया है। उन्होंने 'वीसदिसुत्त' रूपमें 'संतपरूवणा' नामके एक ही अनुयोगद्वारकी रचना की थी जोकि 'जीवट्ठाण' के आठ अनुयोग-द्वारोंमें पहला अनुयोगद्वार है और उसे ही लिपिबद्ध करके जिनपालितके हाथ भूतबलि आचार्यके पास भेजा था। भूतबलिने उसे साथमें लेकर पूरे 'जीवट्ठाण' खंडकी रचना की जिसका दूसरा अनुयोगद्वार है 'दव्वपमाणाणुगम'। साथही, खुद्दकबंध, बंधसामित्त, वेदणा, वग्गणा और महाबंध नामके पाँच खण्ड और बनाए थे, और इस तरह षट्खण्डागमकी रचना करके उसे सर्वप्रथम खुद ही लिपिबद्ध कराया था। ये सब बातें धवलसिद्धान्तसे बिल्कुल स्पष्ट हैं। उसके ग्रन्थकर्तृ-निरूपणावसर और द्वितीय अनुयोगद्वारका प्रारंभ करते समयके निम्न दो वाक्य ही इसके लिये पर्याप्त हैं।

"भूदबलिभयवदा जिणपालिदपासे दिट्ठवीसदिसुत्तेण अप्पाउओ त्ति समुप्पणबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगमादि काऊण गंथरचणा कदा।"

"संपदि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाण-पडिवोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।"

इससे पुष्पदन्तको 'जीवट्ठाण' का सर्वप्रथम लिपिबद्धकर्ता बतलाना भ्रमपूर्ण है। शास्त्री जीका चौथा वाक्य इस प्रकार है :—

* देखो, 'धवल-सिद्धान्त', आरा प्रति, पत्र ११०६, १११०।

"इसके ऊपर आचार्य वीरसेनने 'धवला' नामकी टीका साठ हज़ार श्लोकों प्रमाण बनायी।"

समग्र 'धवला' टीका 'जीवट्ठाण' की टीका नहीं है, और न 'जीवट्ठाण' की टीकाका परिमाण साठ हजार श्लोकों जितना है और न सम्पूर्ण 'धवला' का परिमाण ही साठ हज़ार श्लोकोंका है*। 'धवला' का परिमाण प्राय. ७० हज़ार श्लोकोंसे कम नहीं है, वह षट्खण्डागमके प्रथम चार खण्डोंकी टीका है और उसके 'जीवट्ठाण'-विषयक अंशका परिमाण २४ हज़ार श्लोकोंके लगभग जान पड़ता है। इससे शास्त्रीजीका उक्त वाक्य तीनों दृष्टियोंसे सदोष है—अर्थात् त्रिदोषसे दूषित है। आपके प्रथम पैरेग्राफके शेष दो वाक्य निम्न प्रकार हैं :—

"आज इस सिद्धान्त-शास्त्रकी 'धवल' इस नामसे प्रसिद्धि है।"

"लोक-प्रसिद्धिवश मैं इस लेखमें 'जीवट्ठाण-सिद्धान्त' को 'धवल-सिद्धान्त' नामसे उल्लेख करूँगा।"

जीवट्ठाण-सिद्धान्तकी 'धवल' नामसे कोई प्रसिद्धि नहीं—अधिकांश जनता तो ग्रन्थके "जीवट्ठाण" नामसे ही अपरिचित है। हां 'षट्खण्डागम' सिद्धान्तकी 'धवल' नामसे प्रसिद्धि ज़रूर है और वह भी कुछ ग़लत प्रचारपर अवलम्बित है; क्योंकि 'धवला' टीका वास्तवमें समूचे षट्खण्डागमकी टीका नहीं है बल्कि उसके प्रथम चार खण्डोंकी टीका है—अन्तके दो खण्डोंका मूल परिमाण तो, इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार, प्रथम चार खण्डोंके परिमाणसे पंचगुनेसे भी अधिक है। जब लोक-प्रसिद्धि वैसी नहीं है तब लोक-प्रसिद्धिके आधारपर 'जीवट्ठाण' को 'धवल' नामसे उल्लेखित करना भी ठीक नहीं है।

इन वाक्योंको देखकर मुझे बड़ा खेद हुआ और वह महज़ इसलिये नहीं कि ये वाक्य एक अच्छे शास्त्रीके द्वारा लिखे होने पर भी ग़लत सूचनाओंको लिये हुए हैं; बल्कि अधिकतर इसलिये कि वे एक ऐसे विद्वान्की क़लमसे लिखे गये हैं जो तीन वर्षसे भी अधिक समयसे उस धवल-सिद्धान्त पर काम कर रहे हैं जिससे इन सूचनाओंका सम्बन्ध है। ऐसे ज़िम्मेदार शख़्सोंकी लेखनी इतनी असावधान न होनी चाहिये। यदि ऐसी ही असावधान लेखनीसे धवल-ग्रन्थका सम्पादन हुआ तो वह निःसन्देह बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण एवं आपत्तिके योग्य होगा। मैं नहीं चाहता कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके विषयमें, जो अभी तक विशेष रूपसे लोक-परिचय में नहीं आ रहे हैं, नई-नई ग़लत सूचनाएँ प्रचार पाकर रूढ़ होवें, और इसीसे मुझे इतना लिखनेकी ज़रूरत पड़ी है। आशा है शास्त्रीजी भविष्यमें विशेष सावधानीसे काम लेंगे और इन धवलादि सिद्धान्त-ग्रन्थोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी भ्रामक सूचनाएँ नहीं निकालेंगे।

* यह परिमाण 'जयधवला' का है जो कि 'कसायपाहुड' की टीका है।

लेखके दूसरे पैरेग्राफोंमें भी कुछ वाक्य आपत्तिके योग्य हैं; परन्तु वे प्रायः दूसरे ही प्रकारकी आपत्तियों अथवा ग़लत सूचनाओंको लिये हुए हैं। नमूनेके तौर पर उनमेंसे दो तीन वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

(१) "यह तो निश्चित ही है कि तत्त्वार्थसूत्रपर जितनी भी दि० या श्वे० टीकायें उपलब्ध हैं, उन सबमें 'सर्वार्थसिद्धि' ही सबसे प्राचीन मौलिक एवं प्रामाणिक माना जाती है।"

(२) "पूज्यपादका समय विक्रमकी पाँचवी-छठी शताब्दी माना जाता है और इस प्रकारसे भ० पुष्पदन्तके लगभग पाँच सौ वर्ष बाद उनका समय ठहरता है।"

(३) पूज्यपाद स्वामीके समयमें संस्कृत भाषाका सर्वत्र प्राबल्य था। उसमें ही सर्व मतमतान्तरोंके विद्वान अपने अपने धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक ग्रन्थोंकी रचना कर रहे थे और उस समय ब्राह्मणोंका संस्कृतभाषा-पाण्डित्य सर्वत्र विचर रहा था, इसलिये जैनाचार्योंको भी यह उचित प्रतीत हुआ कि जैनवाङ्मय-सम्बन्धी साहित्यकी रचना भी संस्कृत भाषामें ही की जाय जिससे हमारा साहित्य जैनेतर साहित्यके मुकाबिलेमें किसी प्रकार हीन न समझा जाय। इसके पूर्व तक सारा जैन साहित्य प्राकृत भाषामय था।"

पहले वाक्यमें 'मानी जाती है' यह पद खास तौरसे आपत्तिके योग्य है: क्योंकि माने जानेकी दृष्टिसे देखा जाय तो श्वेताम्बरोंकी वैसी मान्यता नहीं है—वे 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य'को उमास्वातिका स्वोपज्ञभाष्य बतलाते हैं और इसलिये 'सर्वार्थसिद्धि'को सबसे प्राचीन मौलिक आदि नहीं मानते। ऐसी हालतमें शुरूका 'यह तो निश्चित ही है' पद और भी खटकता हुआ है। शास्त्रीजीको मानेजानेकी बातको छोड़ कर या तो अपनी विचार-दृष्टिसे ही कथन करना चाहिये था और या उसे स्पष्ट रूपमें दिगम्बर-समाजकी मान्यता बतलाना चाहिये था—यह नहीं हो सकता कि उल्लेख तो करें आप दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों प्रकारकी टीकाओंका और वह मान्यता समझी जाय एक सम्प्रदाय की। यह लिखनेका दोष है और इससे अनभिज्ञोंको ग़लत सूचना मिलती है।

दूसरे वाक्यमें पूज्यपादके समयको पुष्पदन्तसे लगभग पाँच सौ वर्ष बादका बतलाना भी आपत्तिसे खाली नहीं है; क्योंकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि धवल-सिद्धान्तके अनुसार पुष्पदन्तका समय लगभग ७०० वर्ष बादका होता है; उसमें यदि ५०० वर्षको जोड़ा जाय तो पूज्यपादका समय वीर-निर्वाणसे लगभग १२०० वर्ष बादका अर्थात् विक्रम संवत् ७३०के क़रीबका ठहरता है और इससे पूज्यपादके निश्चित समय छठी शताब्दी तथा लेखकके पूर्वोक्त पाँचवी-छठी शताब्दीके उल्लेखमें भी बाधा पड़ती है। अतः यह वाक्य-विन्यास भी स्खलित है।

तीसरे वाक्य-समूहमें कही हुई यह बात इतिहासादि किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है कि पूज्यपादके समयमें जैनेतर सभी मतमतान्तरोंके विद्वान एकमात्र संस्कृत भाषामें ही ग्रंथरचना कर रहे थे—दूसरी प्रांतिक भाषाओं अथवा पाली-प्राकृत आदिमें ग्रंथोंकी रचना नहीं हो रही थी। इसी तरह यह भी सिद्ध नहीं है कि उसी समयसे जैनाचार्योंको यह उचित प्रतीत हुआ कि जैनवाङ्मय-सम्बन्धी साहित्यकी रचना संस्कृत भाषामें ही की जाय—उससे पूर्व तक सारा जैन साहित्य प्राकृत-भाषा में था। क्योंकि पूज्यपादसे पहले स्वामी समन्तभद्रादिके द्वारा संस्कृतभाषामें कितने ही महत्त्वपूर्ण जैन साहित्यका निर्माण हो चुका था - खुद पूज्यपादने जिस तत्त्वार्थसूत्र पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामकी टीका लिखी वह भी बहुत पहलेसे संस्कृतमें रचा जा चुका था। और पूज्यपादके समयमें भी जैनाचार्योंका ऐसा कोई निर्धार नहीं हुआ कि अबसे जैनसाहित्यकी रचना संस्कृत भाषामें ही की जाय—श्वेताम्बरोंमें तो बराबर प्राकृत भाषामें ही अधिकतर ग्रंथोंका निर्माण होता रहा है, दिगम्बरोंने भी उसे छोड़ा नहीं है। कितने ही प्राकृत ग्रंथ उसके बादके उपलब्ध हैं—सर्वनन्दी आचार्यने तो प्रायः पूज्यपादके समयमें ही 'लोयविभाग' ग्रंथकी प्राकृतमें रचना की थी, जिसके रचनाकालका उल्लेख संस्कृत 'लोकविभाग'में पाया जाता है और वह शक संवत् ३८० (वि० सं० ५१५) है। ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका उक्त लिखना बहुत ही अविचारित, अननुभूत एवं त्रुटिपूर्ण है।

आशा है सत्यके अनुरोध और भ्रामक सूचनाओंके प्रचारको रोकनेकी सद्भावनासे लिखे हुए इस लेखसे बहुतोंका समाधान होगा और वे सब इस बातका प्रयत्न करेंगे कि भविष्यमें इस प्रकारकी गलत सूचनाओंका अवरोध होवे, वे फैलने न पाएँ और हमारी लेखनी अधिकाधिक सावधान हो कर उन्नत, पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तय्यार करने में समर्थ हो सके।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १० जून सन १९३८

मंत्रिप्रवर भरत

[लेखक—प्रो० डा० परशुराम एल० वैद्य, एम०ए० डी०लिट्]

इस निबन्ध में मेरी इच्छा महा-कवि पुष्पदन्त के आश्रयदाता मंत्रिवर भरत का चरित्र संकलित करने की है। उनका चरित्र महाकवि पुष्पदन्त के ग्रन्थों जैसे 'महापुराण' और 'नागकुमार चरित' में ही जाना जा सकता है।

भरत को मंत्रीपद अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ था—ऐसा मालूम होता है कि भरत के पहले मंत्रीपद की परिपाटी इस वंश ने खो दी थी; भरत ने अपने गुणों द्वारा उसे पुन: प्राप्त किया था। पुष्पदन्त उनके पितामह का नाम अण्णय्या अथवा अन्नैया प्रकट करते हैं। उनके पिता का नाम कवि ने एयण अथवा एरण और माता का देवी या देवियव्वा लिखा है। उनकी धर्मपत्नी कुंदव्वा नामक थीं। उनके सात पुत्र थे; जिनके नाम इस प्रकार थे— देवल्ल, भोगल्ल, नण्ण, सोहण, गुणवम्म, दन्नैया और सन्तैया। ये सब सन ९६४-६५ ई० में जीवित थे। 'महापुराण' में उनका उल्लेख हुआ है। यह विदित नहीं कि इनमें से पहले दो पुत्रों का स्वर्गवास कब हुआ था अथवा यदि वे जीवित थे तो सन ९६७-६८ ई० के लगभग नण्ण को मन्त्री पद पर क्यों आसीन किया गया, यह स्पष्ट नहीं। उस समय राष्ट्रकूट (राठौर) राजा कृष्ण तृतीय का राज्य था। 'नागकुमार चरित' की प्रशस्ति में नण्ण को शुभतुङ्ग अपरनाम तुडिग का मन्त्री लिखा है। यह नाम कृष्ण तृतीय के ही थे। भरत भी उनके ही मन्त्री रहे थे।

महा कवि पुष्पदन्त की रचनाओं से स्पष्ट है कि भरत का सुन्दर शरीर, प्रिय आकृति और विनम्र शिष्टाचार था। उनके शरीर का वर्ण कृष्ण था (श्यामरुचि:; श्याम-प्रधान:)। वह स्वयं एक विद्वान थे और कवियों के महान संरक्षक थे। कवियों को वे अपने गृह में आश्रय देते थे। राजघराने में उनका पद दान-धर्म अमात्य (Minister of charities) था। वह स्वयं ही त्यागवृत्ति को लिये हुए थे। उनका वैयक्तिक चरित्र निर्मल और सन्देह रहित था। वह श्रद्धा और कर्मणा दोनों तरह से एक सच्चे जैनी थे; यद्यपि एक समय उनके अम्बिका और चण्डीशका भक्त होने का उल्लेख मिलता है। सम्भवत: वह अपने प्रारंभिक जीवन में अम्बिका-भक्त थे। पुष्पदन्त भी अपने पितृजन के साथ वैष्णवमतानुयायी थे; परन्तु उपरांत वे सब के सब जैनी हो गये थे।

पुष्पदन्त का भरत से समागम होने का वर्णन मनोरंजक है और उससे भरत की शिष्टता और उदारता का पता चलता है। पुष्पदन्त एक समय वीरराज के दरबार में थे; किन्तु वहां अपमानित होने पर वह अन्यत्र को चल दिये। घूमते घामते वह राठौरों की राजधानी

मान्यखेट (मालखेड) में आये और थके-मांदे-धूल-धूसरित वह बाहर एक बाग में पड़ गये। भाग्यवशात् वहां मान्यखेट निवासी अम्मैय और इन्द्राय नामक दो महानुभाव आ निकले, जो भरत के मित्र थे और जिन्होंने महा कवि पुष्पदन्त की कीर्ति पहले ही सुन रक्खी थी। परस्पर परिचय होने पर उन्होंने पुष्पदन्त से नगरमें प्रवेश करने की प्रार्थना की। पहले तो कविने राजदरबार के कटु अनुभव का स्मरण करके जाने से इनकार कर दिया, परन्तु जब उपरोक्त दोनों महानुभावों ने भरत की उदारता का अश्वासन दिया तो कवि महोदय ने नगर में जाना स्वीकार किया। वह नगर में गये और भरत के घर पर भी पहुंचे। भरतने उनका खूब ही स्वागत और आदर सत्कार किया। समय पाकर भरतने कवि से 'महापुराण' रचने और उनका संरक्षण स्वीकार करने की प्रार्थना की। पुष्पदन्तने भरत की यह प्रार्थना स्वीकार की और भरत के घरमें रह कर उन्होंने 'महापुराण' की रचना की। ऐसा मालूम होता है कि प्रति दिन जितना अंश वह 'महापुराण' का रच लेते थे उतना ही भरत को सुना दिया करते थे। भरतने इस महाकाव्य की प्रतिलिपियां करा कर सर्वत्र वितरण की थीं। इस ढङ्ग से 'महापुराण' की प्रारंभिक ३७ संधियां ' आदिपुराण रची गयी थीं।

किन्तु इस बीच में पुष्पदन्त के लिये कोई अरुचिकर प्रसंग उपस्थित हो गया और उन्होंने 'महापुराण' का रचना ही बन्द कर दिया। अन्त में एक दिन स्वप्न द्वारा सरस्वती देवीने उन्हें इस रचना को पूर्ण करने का आदेश दिया। उधर कविके संरक्षक भरत भी उनके पास आये और विनयपूर्वक ग्रन्थको पूर्ण करने की प्रार्थना करने लगे। कविने स्पष्ट कहा कि उनकी अरुचि में कारणभूत भरतका दोष जरा भी नहीं है। अब उन्होंने महापुराणकी रचना पुनः प्रारम्भ किया और उसे सन ९६५ ई० में रचकर सम्पूर्ण कर दिया। इस घटना के थोड़े समय पश्चात् भरत स्वर्गवासी हो गये और नणण को उनका मन्त्रीपद प्राप्त हुआ। नणण की प्रार्थना पर कविने अन्य दो ग्रन्थों की रचना की थी। सन ९७२ ई० में धारा के राजा हर्षदेव ने मान्यखेट को लूटा और नष्ट किया था, जिससे राठौरवंश का अन्त-सा हो गया था। परिणामतः पुष्पदन्त भी नणण के संरक्षण से वञ्चित हुये थे। उस समय कवि के पास जो प्रति 'महापुराण' की थी, उसमें उन्होंने निम्नलिखित पद्य लिखे थे:—

'दीनानाथधनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं
मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरी लीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथ नरेन्द्र कोप शिखिना दग्धं विदग्धप्रियं
क्वेदानीं वसति करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः॥'†

†'प्रोसीडिंग्स ऑव दी आलइण्डिया ओरियंटल कान्फ्रेन्स, मैसूर' से अनुवादित।

—का० प्र०

जैन-तत्वज्ञान और अरिष्टाटिल का सिद्धान्त

[लेखक—श्रीयुत ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद]

अरिष्टाटिल Aristotle ग्रीक देश का तत्वज्ञ अलेक्जेंडर दी ग्रेट ग्रीक बादशाह का गुरु था। इसका जन्म ई० सन् से ३८४ वर्ष पूर्व हुआ—इसका देहांत ६२ वर्ष की आयु में हुआ। Aristotle-the metaphysics, translated by Hugh Tredemick M. A. नाम की पुस्तक पढ़ने से ऐसा ज्ञात हुआ कि उसका मत जैनमत से बहुत मिलता है। या तो यह उसका स्वतंत्र सत्य विचार हो या उसको जैनमत का उपदेश किसी तरह प्राप्त हुआ हो, क्योंकि उस काल में भारत और ग्रीक देश का सम्बन्ध था—इसी बात का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) जैनमतका मुख्य सिद्धांत है कि यह जगत् छः द्रव्यों का समुदाय है—द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। देखो श्रीउमास्वामि-कृत पंचम अध्याय जिसका भाव यह है कि द्रव्य सदासे है व सदा बना रहेगा, तौभी उसमें पर्याय से पर्यायान्तर होता रहेगा—पर्याय या अवस्था का जब उदय होगा तब पूर्व पर्याय का व्यय होगा—अर्थात् मूल द्रव्य के बने रहने पर भी उसमें क्षण-क्षण में अवस्थाएं पलटती रहती हैं, जिसका मतलब यह है कि जगत् में जो कुछ बनता है वह किसी को बिगाड़ कर बनता है व जो बिगड़ता है वह किसी को बना कर बिगड़ता है। इसी सिद्धांत को अरिष्टाटिल ने प्रकट किया है—

Substance is the only one which has a separate existence it is evidently being in the sense of substance द्रव्य वह है जो भिन्न-भिन्न सत्ता रखता है। प्रकटरूप से सत्ता को ही द्रव्य कहते हैं।

Universe has no separate existence apart from its particulars—this is the point upon which Aristotle repeatedly insists विश्व अपने भीतर पानेवाले द्रव्यों से भिन्न कुछ नहीं है, इस बात पर पुनः पुनः अरिष्टाटिल ने जोर दिया है।

Matter passes through successive stages of differentiation, to each of which there is a corresponding form until it emerges as the proximate matter of the individual substance. The analysis of the individual substance into the single antethesis of form and matter are confirmed by the parallel analysis into potentiality and actuality. If a thing comes to be X, it was not X before. But change or generation cannot proceed from that which absolutely does not exist.

There must always have been something what was capable of being determined as X. This something, then, although it was not X, was potentially X.

पुद्गल या जड़ द्रव्य क्रम से भिन्न भिन्न अवस्थाओं में गुजरता है। हर एक अवस्था का कुछ आकार होता है; तब यह किसी खास वस्तुरूप से प्रकट होता है। यदि किसी वस्तु की खोज की जावे तो विदित होगा कि उसमें शक्ति और व्यक्ति का भेद है शक्तिरूप में वह था केवल व्यक्ति हो गई है। यदि किसी बननेवाली चीज का नाम एक्स रक्खा, यह एक्स पहले प्रकट न था परंतु इसका जन्म उससे कभी नहीं हो सका जो शक्तिरूप से नहीं हो। जिसको हमने एक्स कहा है वह कुछ पहले ही सदा था, यद्यपि एक्स प्रकट न था किंतु शक्तिरूप से था।

जैनतत्वज्ञान कहता है कि द्रव्य गुण व पर्यायों का समुदाय है—गुण तो सदा द्रव्य के साथ रहते हैं, पर्याय क्रम से प्रकट होती है। यद्यपि सर्व ही संभवित पर्यायों के होने की शक्ति उसमें हैं—व्यक्ति क्रम-क्रम से होती है यही बात अरिष्टाटिल ने कही है।

Book II.—The first cause being eternal cannot be destroyed, matter has to be conceived under the form of something which changes वस्तु का प्रथम उपादान कारण नित्य है– कभी नहीं नाश हो सकता—परिणमनशील ही वस्तु को माना जा सकता है।

Book III.—If nothing is eternal, even generation is impossible, for there must be something which becomes something that is out of which something is generated. He does not represent somethings to be perishable and others imperishable, but makes everything perishable except the elements.

यदि कोई द्रव्य नित्य न हो तो किसी वस्तु की उत्पत्ति भी असंभव है, क्योंकि जिससे जो वस्तु बनती है वह कुछ होनी चाहिये। अरिष्टाटिल ऐसा नहीं मानता है कि कुछ वस्तु नाशवान है व दूसरी कुछ वस्तु अविनाशी है, किंतु वह समझता है कि हरएक वस्तु विनशनशील है,परंतु उसका मूलउपादान नाशवान् नहीं है।

Book VI.—All causes must be eternal सब उपादानकारण अविनाशी होते हैं।

Book VII.—Substance is thought to be present most obviously in bodies-the visible universe and its parts, the stars and moon and sun. Essence belongs to all things, the account of which is definition. Each individual thing is one and the same with its essence. Of things which are generated, some are generated naturally, others

artificially, others spontaneously, but every thing which is generated is generated by something and from something and becomes something. Natural generation is the generation of things where generation is nature. That from which they are generated is what we call matter. Generation would be impossible if nothing would already exist. It is matter which pre-exists in the product and becomes something. Process of generation will continue to infinity. In everything that is generated matter is present and one part is matter and other form seed contains the form potentially, and that from which the seed comes has in some sense the same name as the product.

भावार्थ—दृश्य विश्व के सब पदार्थों में व उस के भागों में, तारों में, चंद्र और सूर्य में द्रव्य प्रकटरूपसे मौजूद है। सर्व ही वस्तुओं में मूलतत्त्व है—इसी का वर्णन होता है। हरएक व्यक्तिरूप पदार्थ एक है व उसका तत्त्व उसमें वैसा ही है। जितने पदार्थ बनते हैं, कुछ स्वभाव से बनते हैं, कुछ बनाने से बनते हैं, कुछ परस्पर मिलने से बनते हैं, किंतु जो कुछ बनता है वह किसी वस्तु के द्वारा व किसी से बनता है और कुछ वस्तु हो जाता है। जहां स्वाभाविक उत्पत्ति संभव है वहाँ स्वाभाविक उत्पाद होता है। जिस से जो पैदा होता है उसे द्रव्य कहते हैं—यदि कोई द्रव्य अस्तित्व में न हो तो उत्पाद बिल्कुल असंभव है—यह द्रव्य ही है जो उत्पाद के पहले होता है और वही कोई पदार्थ बन जाता है। यह उत्पाद होने की विधि अनंतकाल तक चलती रहती है—जो कोई पदार्थ बनता है उसमें द्रव्य मौजूद है—एक तरफ द्रव्य है दूसरी तरफ उसकी अवस्था या शक्ति है—बीज में वृक्ष की पर्याय शक्ति-रूप से है, जिस वृक्ष का बीज होता है वही नाम बीज को दिया जाता है। जैसे बीज से वृक्ष का नाम होता है।

(२) जैनसिद्धांत बताता है जब द्रव्यों का समुदाय सब जगत् मूल में नित्य है तब इसका कोई कर्ता ईश्वर नहीं हो सकता है—जैन सिद्धांत में ईश्वर न कर्ता है न पुण्य या पाप का फल देता है, अरिष्टाटिल का भी यही मत है—

It is to be noted that Aristotle denies to God the joy of the artist in creation. यह बात समझ लेनी चाहिये कि अरिष्टाटिल का मत है कि ईश्वर एक कारीगर के समान जगत् को बनाता नहीं है।

Book II.—If we attribute these gifts to God, we shall make him either an incompetent judge or an unjust one and this is alien to his nature. यदि हम माने कि ईश्वर पाप-पुण्य का फल देता है तो हमें उसे अयोग्य जज या अन्यायी जज मानना पड़ेगा—यह उस ईश्वर का स्वभाव नहीं है।

नोट—यदि सर्वशक्तिमान् ईश्वर फल देवे तो वह किसी को पाप करने से पहले रोक भी सकता है। यदि रोके नहीं और फल दे तो वह अयोग्य शासक ठहरता है।

(३) परमात्मा का स्वरूप ज्ञाता, दाता व आनन्दमय अविनाशी है, ऐसा जैन सिद्धांत मानता है; अरिष्टाटिल का भी ऐसा ही मत है।

Book XI.—It is actuality rather than potentiality that is held to be the divine possession of rational thought, and its active contemplation is that which is most pleasant and best. If, then, the happiness which God always enjoys is as great as that which we enjoy some time, it is marvellous, and if it is greater, this is still more marvellous, Nevertheless, it is so, moreover Life belongs to God. For the actuality of thought is Life and God is that actuality, and the essential actuality of God is life most good and eternal. Absolute self thought is throughout all eternity. परमात्मा में व्यक्तिरूप से ईश्वरीय भाव प्रकट होता है। उसका ध्यान सर्वोत्तम व सर्वश्रेष्ठ सुखमय है। जिस आनन्द को परमात्मा सदा अनुभव करता है वह महान् है; उसे कभी हम भी अनुभव करते हैं। वह अद्भुत है, जितना वह महान् है उतना ही आश्चर्यजनक है—वह ऐसा ही है। ईश्वर जीवन है। भाव की प्रकटता जीवन है। ईश्वर में वह व्यक्तिपना है—ईश्वर का आवश्यक प्रकाश यही है कि उसका जीवन सर्वोत्तम व अविनाशी है—केवल आत्मिक भाव का प्रकाश सदा बना रहता है।

(४) जैनसिद्धांत का एक सिद्धांत स्याद्वाद या अनेकांत है या अपेक्षावाद है। हर एक कथन किसी अपेक्षा से हो वह उसी अपेक्षा से समझना चाहिये—अरिष्टाटिल का भी यही सिद्धांत था।

Book III.—Contradictory statement cannot be predicated at the same time. For being has two meanings, so that there is a sense in which some thing can be generated from not being, and a sense in which it cannot, and a sense in which the same thing can at once be and not be, but not in the same respect. To say that what is is not, or that what is not is is false; but to say that what is is, and what is not is not is true. It is obvious from this analysis that one sided and sweeping statement which some people make cannot be substantially true. It must be that which is that changes, for change is from something into something.

भावार्थ—विरोधी वर्णन एक समय में नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी वस्तु के होने के दो अर्थ हैं—एक अपेक्षा से कोई वस्तु ऐसी उत्पन्न हुई है जो पहले नहीं थी। दूसरी अपेक्षा से ऐसा नहीं हो सकता (वह किसी से हुई है)। एक अपेक्षा से वही वस्तु एक साथ वही है

व वही नहीं है परंतु एक ही अपेक्षा से नहीं। यह कहना कि जो है वह नहीं है या जो नहीं है वह है यह असत्य है। परन्तु यह कहना कि जो है वह है व जो वह नहीं है वह नही है यह सत्य है। इस विवेक से यह प्रकट है कि एकांत कथन जैसा कुछ लोग कहते हैं बिल्कुल सत्य नहीं हो सकता है—यह हो सकता है कि जो बदला है वह वही है क्योंकि परिवर्तन किसी वस्तु से किसी वस्तु में हुआ है। नोट—इसका भावार्थ यही है कि जब सुवर्ण के कड़े को तोड़ कर कुंडल बना तब सुवर्ण की अपेक्षा वही है परंतु कड़े की अपेक्षा वह नहीं हैं—कुंडल है।

(५) जैनसिद्धांत कहता है कि परमात्मा को सर्व ज्ञेय वस्तु का ज्ञान है। इन्द्रियों के द्वारा कुछ ज्ञान होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान ही सर्व जान सकता है। अरिष्टाटिल यही कहता है।

Book I.—All men naturally desire knowledge. Senses are indeed our chief sources of knowledge about particulars, but they donot tell us the reason for everything as for example, why fire is hot, but only that it is hot. The knowledge of everything must necessarily belong to him who in the highest degree possesses knowledge of the universal, because he knows in a sense all the particulars which it comprises. God is the sole possessor of this sort of knowledge.

सर्व मानव प्रकृतिरूप से ज्ञान को चाहते हैं—हमारे पास ज्ञान के द्वार इन्द्रियें हैं जो खास-खास बातें जान सकती हैं; वे हरएक वस्तु के कारण को नहीं बता सकतीं। जैसे अग्नि गर्म क्यों है ? वे यही बतायगीं कि आग गर्म है—जिसको श्रेष्ठतम विश्व का ज्ञान होगा वही हरएक बात को अवश्य जानेगा, क्योंकि उसको सर्वविशेषों का ज्ञान होगा—इस प्रकार के ज्ञान का धारी सर्वज्ञ परमात्मा है।

(६) हरएक आत्मा भिन्न द्रव्य है ऐसा जैनसिद्धांत है। अरिष्टाटिल का भी यही मत है Substance means simple bodies, substance is the cause of their being. Soul is the cause of being for animal. Things are called like which have the same attributes in all respects or whose quality is one. द्रव्य एक सादा अमिश्र पदार्थ है। वस्तुओं का उपादान कारण द्रव्य है। पशु के जीवन का उपादान कारण आत्मा है। जिनमें एक से गुण होते हैं उनको एक सदृश पदार्थ कहते हैं।

(७) आत्मा के गुण, ज्ञान, आनन्द, शांति आदि हैं। अरिष्टाटिल कहता है—Soul has been classified under three headings of wisdom, virtue and pleasure. Soul gives us life, wherefore it is through the excellence and virtue of the soul that we shall live well. Happiness is the end. Happiness is the activity of the complete excellence or virtue of the

soul. आत्मा में तीन विशेष गुण हैं ज्ञान, शांति और आनंद—आत्मा ही से जीवन है—आत्मा की सुंदरता व शांति से ही हम अच्छा जीवन बिता सकते हैं। आनन्द हमारा ध्येय है। जब आत्मा पूर्ण सुन्दर, शांत और निर्दोष हो जाता है तब आनन्दमय रहता है।

(८) कर्मों के फल को भाग्य व आत्मिक गुण के कार्य को पुरुषार्थ कहते हैं, ऐसा जैन-सिद्धांत है। अरिष्टाटिल का भी ऐसा ही मत है—

Riches, and authority and a'l things else that come under the heading of potentiallties are the gift of fortune. Among feelings we have anger, fear, hatred, longing, envy, pity and the like—these are all accompanied by pain or pleasure. Faculties are the potentiallities of anger, grief, pity and the like. To do well and to do ill are alike within our power. Every natural growth whether plant or animal has the power of producing its like. It is who has the power of originating actions, our changes of action are under control of our will. धन, अधिकार व वे सर्व वस्तु जो अदृष्ट हैं—भाग्य का फल है। क्रोध, भय, घृणा, इच्छा, ईर्ष्या, दया आदि भाव दुःख या सुख देते हैं। इन सब के होने का कारण अदृष्ट शक्तियां हैं; अच्छा या बुरा करना हमारा पुरुषार्थ है। वृक्ष या पशु अपनी प्रकृति के अनुसार बनने की शक्ति रखते हैं। मानव अपने पुरुषार्थ से अनेक विचित्र कामों को अदल-बदल के कर सकता है।

(९) संयम से आत्मा की श्रेष्ठता होती है, अरिष्टाटिल कहता है—Temparence is the best state of the soul संयम आत्मा की उत्तम दशा है। Temperate man is he who lacks desire and passions of any kind. Passion has overcome his reasoning power and reduced it to inaction, but when, like intoxication, the passion has passed away. he is himself once more संयमी आदमी वह है जिसमें इच्छा व कोई कषाय न हो—कषाय ज्ञान-शक्ति को दबा कर उसे बेकाम कर देता है। जब मदिरा के समान कषाय चली जाती है आदमी स्वयं आपे में हो जाता है।

(१०) ज्ञान को रोकनेवाला कोई आवरण कर्म है, यही बात अरिष्टाटिल कहते हैं—

When there is most of intelligence and rationality, there is least of fortune or luck and most of the latter when there is least intelligence जब ज्ञान व विचार बहुत अधिक हो तब भाग्य कम है, जब भाग्य का जोर अधिक हो तब ज्ञान कम प्रकट होता है।

नोट—विद्वानों को विशेष अध्ययन कर के जैनधर्म अरिष्टाटिल के मत में जान लेना चाहिये।

'धम्मपद' में जैन-आदर्श

[श्रीयुत बाबू त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०]

'धम्मपद' एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें गौतम की उक्तियों का संग्रह है। इसके सातवें 'वग्ग' का नाम 'अर्हन्तवग्ग' है, अर्थात् इस 'वग्ग' में अर्हतों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस 'वग्ग' के प्रत्येक श्लोक में जैन अर्हतों या तीर्थंकरों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूप से चर्चा की गई है।

यह याद रखना चाहिए कि जैनधर्म बुद्ध के पहले भी वर्त्तमान था। इसके जन्मदाता‡ श्रीपार्श्वनाथ का समय ई० पू० आठवीं शताब्दी मानी जाता है। महावीर—जो गौतम बुद्ध के समकालीन थे—के समय में जैनधर्म उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था। बुद्ध कितने उदार थे और 'सत्यं' तथा 'सुन्दरं' के प्रति उनका कितना आकर्षण था, इसका पता हमें जगह-जगह मिलता है। यद्यपि उन्होंने ब्राह्मणों के धर्म से संबंध-विच्छेद कर लिया था, तौभी एक आदर्श ब्राह्मण को और अत्यन्त श्लाघा की दृष्टि से देखते थे। ऐसे उदारचरित महात्मा ने सत्यसिद्धान्तों को ग्रहण करने में कभी आनाकानी न की होगी—चाहे वे किसी भी धर्म या समुदाय के क्यों न हों। जिस प्रकार आदर्श ब्राह्मण की ओर उनके हृदय में आदर-भाव था, उसी प्रकार 'धम्मपद' का सातवाँ 'वग्ग' इसका प्रमाण है कि जैन आदर्शों के प्रति भी उनके विचार अत्यन्त उदार तथा आदरपूर्ण थे।

मैं पहले 'अर्हन्' शब्द को ही लेता हूं। अर्हन् 'अर्घ' का विकृत रूप है। 'अर्घ' ऋगवेद* में भी आया है। वहाँ इसका अर्थ है—योग्य, उच्च, श्रद्धास्पद इत्यादि। इस प्रकार ऋगवेद के समय में भी इस शब्द से एक उच्चादर्श सूचित होता था। शायद जब जैनधर्म में पार्श्वनाथ और महावीर जैसे आदर्श पुरुषरत्न उत्पन्न हुए तो जैनधर्म ने इस वैदिक शब्द को अपना लिया और उन पुरुष-रत्नों के सम्बन्ध में इसे प्रयुक्त किया, क्योंकि इस शब्द से आदर्श में निहित पूरा-पूरा भाव प्रकट होता था। इस प्रकार अर्हत् जैन-तीर्थंकरों के लिए प्रयुक्त होने लगा,† और इसके द्वारा जैनधर्म के सर्वश्रेष्ठ, आदर्श पुरुष का

---

‡ जैनी श्रीपार्श्वनाथ को जैन धर्म के जन्मदाता नहीं मानते; किन्तु इसके अन्यतम प्रचारक।
—संपादक

* ऋगवेद—२. ३. १; २. ३. ३. इत्यादि। यह शब्द 'अवेस्ता' में भी आया है, वहाँ इसका रूप 'अरेजन्ह' है। इसी से बोध होता है यह शब्द कितना पुराना है।

† इसमें प्रमाण अपेक्षणीय है।—संपादक

बोध होने लगा। जैन कोषकार हेमचन्द्र ने (बारहवीं शताब्दी) जैनतीर्थङ्करों के पर्य्यायवाची शब्दों को इस प्रकार दिया है—

अर्हञ्जिनः पारगतस्त्रिकालवित्क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः।
शंभुः स्वयंभूर्भगवाञ्जगत्प्रभुस्तीर्थंकरस्तीर्थकरो जिनेश्वरः॥ †

हेमचन्द्र ने बुद्ध के भी पर्यायवाची शब्द दिये हैं। यह सूची तीर्थङ्कर के पर्य्यायवाली सूची से बहुत लम्बी है, पर इसमें 'अर्हत्' शब्द का पता नहीं है। बौद्धकोषकार अमरसिंह (छठीं शताब्दी) ने भी अपने अमरकोष में 'बुद्ध' के पर्य्यायवाची शब्द देते हुए 'अर्हत्' का कोई उल्लेख नहीं किया है। किन्तु हेमचन्द्र और अमरसिंह—दोनों ने ही बुद्ध के नामों में 'जिन' शब्द का उल्लेख किया है। 'जिन' और 'अर्हत्' से श्रेष्ठ तथा आदर्श पुरुष का बोध होता है, अतः ये जैनों तथा बौद्धों—दोनों के आदर्श पुरुषों के सम्बन्ध में लागू हो सकते हैं। पर यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि 'जैनाः' और 'आर्हताः' से जैनधर्मानुयायियों का बोध होता है, और इस प्रकार 'जिन' और 'अर्हत्' भी जैन आदर्श पुरुषों के लिए विशेषतः प्रयुक्त हुआ है। तब यह निस्संकोच कहा जा सकता है बौद्धों ने जैनों से ही इन दोनों शब्दों को ग्रहण किया होगा। इसमें संदेह नहीं कि 'अर्हन्' शब्द बौद्ध ग्रन्थों के आदि में लिखा मिलता है; यथा 'नमोतस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स'। पर यह उसी प्रकार है जैसे, ब्राह्मणों के ग्रन्थों में 'श्रीगणेशाय नमः' या जैनग्रन्थों में—'नमो अरिहंताणं', किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि यहाँ 'अरहत' षष्ठी विभक्ति में है और विशेषण के समान व्यवहृत किया गया है। यहाँ पर यह शब्द 'श्रद्धेय' या आदरणीय के अर्थ में आया है। अतः यहाँ 'अर्हत्' से वह अर्थ नहीं निकल सकता जो 'नमो अरिहंताणं' के 'अरिहंताणं' से निकलता है। 'अर्हत्' शब्द का ऐसा ही प्रयोग 'धम्मपद' के १६४ वें पद्य में किया गया है--

'यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं।'

'धम्मपद' के टीकाकार आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ 'अरहतं' को विशेषण और 'सासनं' को विशेष्य बताया है, और यही ठीक भी है। इस प्रकार यहाँ 'अरहतं' का अर्थ सम्मानास्पद समझना चाहिए, ऐसा ही प्रयोग 'पूजार्ह' 'महार्ह' आदि शब्दों में भी किया गया है।

अब यह विचार करना चाहिए कि बौद्धोंके अनुसार 'अर्हत्' का क्या अर्थ है? 'खुद्दकपाठ' में इसका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—'दसहंगेहि समन्नागतो अरहातिवुच्चति'—अर्थात्, जिसमें दस लक्षण वर्त्तमान हों, वह अर्हत् है। इससे बोध होता है कि बौद्धों की दृष्टि में

†—अभिधान-चिन्तामणि १.२४-२५।

'अर्हत्' का बहुत ऊँचा किन्तु एक निश्चित स्थान था, और ऐसा जान पड़ता है कि वह स्थान केवल 'बुद्धत्व' के नीचे था। ७९ वें श्लोक में आये हुए 'जुतीमन्तो' शब्द की व्याख्या करते हुए अश्वघोष ने लिखा है—"अरहतमग्गञ्जाण जुति', इसका भाव है—"अर्हत्त्व की अनुभूति से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान-प्रकाश"। आचार्य्य की इस व्याख्या से भी हम देखते हैं कि 'अर्हत्त्व' 'बुद्धत्व' के कितना समीप था। 'यसपब्बज्ज' के अनुसार बुद्ध स्वयं सात अर्हतों में से एक थे, किन्तु 'बुद्धत्व' केवल उन्होंने ही प्राप्त किया था। इससे सिद्ध है कि बौद्धों ने अर्हत् का पद बुद्धत्व से नीचे माना है। किन्तु साथ ही यह भी ख्याल रखना चाहिए कि कोई भी सम्प्रदाय किसी दूसरे सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आदर्श को भी अपने सर्वोच्च आदर्श के नीचे ही स्थान दे सकता है। अतः जान पड़ता है कि बौद्धधर्म में 'अर्हत्त्व' की भावना किसी दूसरे सम्प्रदाय से ग्रहण की गई है और वह सम्प्रदाय निस्सन्देह जैनसम्प्रदाय है। अब आइए 'अर्हंतवग्ग' के प्रत्येक श्लोक की परीक्षा करते चलें —

(१) श्लोक सं० ९०—गतद्धि—बुद्धघोष ने इसका अर्थ 'गतमग्ग' दिया है। इसका अर्थ है—'वह जिसने अपना मार्ग तै कर लिया हो'। अब इसकी तुलना 'पारगत' के साथ कीजिए। हेमचन्द्र ने 'पारगत' को जैनियों के 'अर्हन्' या 'जिन' का पर्यायवाची बतलाया है। 'पारगत' का अर्थ है—'वह जो दूसरे किनारे चला गया हो'। इस प्रकार 'गतद्धि' और 'पारगत' का भाव एक ही है।

सब्बगन्थप्पहीन—वह जो सभी बंधनों से मुक्त हो गया हो। इसकी तुलना 'निग्गन्थ' से कीजिए, बुद्ध के समय में या पहले भी जैन साधु 'निग्गन्थसमन' कहे जाते थे। अशोक के एक स्तम्भ में भी उनका ऐसा ही वर्णन है। हेमचन्द्र ने अपने कोष में इसका संस्कृत रूप 'निर्ग्रंथ' दिया है और इसे जैन साधु का पर्यायवाची बताया है।

(२) श्लोक ९१—न निकेते रमन्ति ते—वे गृहों में वास नहीं करते। यह जैन तीर्थङ्करों तथा जैन साधुओं के सम्बन्ध में सर्वथा लागू है। बुद्ध के सम्बन्ध में भी यह सत्य है। पूज्यपाद के 'इष्टोपदेश' के इस श्लोक से उसकी तुलना कीजिए।

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः॥

अर्थात् गृहत्याग कर एकान्तवास करना जैन साधुओं का अनिवार्य्य कर्त्तव्य है।

(३) श्लोक ९२-९३—परिञ्ञातभोजनं—जो अपने भोजन के विषय में सावधान रहे; आहारे अनिस्सितं—जो भोजन पर निर्भर न करे। ये उक्तियाँ सब से अधिक जैनों — विशेष कर जैन साधुओं के सम्बन्ध में लागू होती हैं।

विमोक्ख—बुद्धघोष के अनुसार यह निर्वाण का ही दूसरा नाम है। किन्तु वास्तव में 'मोक्ष' या 'विमोक्ष' का व्यवहार जैनों के सम्बन्ध में और 'निर्वाण' का व्यवहार बौद्धों के सम्बन्ध में होता है।

(४) श्लोक ९४-९५—तादिनो (तादि का षष्ठी एकवचनरूप)—उसके समान; तथा तादि। इनमें से प्रथम शब्द ९४ वें और द्वितीय ९५ वें श्लोक में आया है। आश्चर्य है, इन शब्दों की ओर 'धम्मपद' के अनुवादकों या टीकाकारों का ध्यान नहीं गया है। किसी ने उनका अर्थ नहीं दिया है। पर मेरा विश्वास है कि इन शब्दों का एक अलग महत्त्व है। ९४ वें श्लोक में जहाँ तस्स (जो यस्स से सम्बन्धित है) आ चुका है, 'तादिनो' की आवश्यकता नहीं थी, यदि वह एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त न किया गया होता। मैं समझता हूं कि उस पंक्ति का अर्थ यह होना चाहिये—"जो उसके समान है, देवता भी उससे ईर्ष्या करते हैं।" अंडरसन का मत है कि 'तादि' का व्यवहार बहुधा बुद्ध के शिष्यों या स्वयं बुद्ध के सम्बन्ध में भी किया जाता है। अतः मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उक्त श्लोकों में तादिनो से यह भाव निकलता है—'अर्हत्'—जिसके सम्बन्ध में इस वर्ग का प्रत्येक श्लोक कहा गया है—उसके समान है, अर्थात् बुद्ध के समान है पर वह बुद्ध नहीं हैं। इस से स्पष्ट बोध होता है कि अर्हत्-आदर्श को बौद्धों ने अपने अनुकूल बना कर अपना लिया है।

(५) श्लोक ९७—यह एक कठिन श्लोक है। इसके बाहरी और भीतरी अर्थ में आसमान-ज़मीन का फर्क है। इसका साधारण अर्थ यह है—"मनुष्यों में श्रेष्ठ वह है जो विश्वासहीन, कृतघ्न और डाकू है तथा जिसने सभी आशाओं का परित्याग कर दिया है"। पर इसका वास्तविक अर्थ यह है—मनुष्यों में श्रेष्ठ वह है, जो सोच समझ कर किसी बात पर विश्वास करता है, जो निर्वाण को समझता है, जिसने सभी बन्धनों को काट दिया है, जिसे पुनर्जन्म से छुटकारा मिल गया है और जिसने सभी इच्छाओं का त्याग कर दिया है"। कहा जाता है बुद्ध ने यह श्लोक ३० संन्यासियों के प्रति कहा था जिन्होंने सारिपुत्त पर श्लोक से साधारण अर्थ में व्यक्त होनेवाले दोष लगाये थे। सारिपुत्त ने अपने गुरुसे यह प्रार्थना की थी कि सत्य का उपदेश उसे नहीं, बल्कि उन लोगों को दिया जाय, जिन्हें उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। बुद्ध ने इस एक ही श्लोक के द्वारा सारिपुत्त के दृढ़ विश्वास के प्रति अपना और उन संन्यासियों का भी मत प्रकट किया। किन्तु मुझे जान पड़ता है कि संन्यासियों ने सारिपुत्त के प्रति नहीं बल्कि जैनों के प्रति यह अभियोग उपस्थित किया होगा। या यह भी संभव है कि स्वयं महावीर पर यह दोषारोपण किया गया हो, जो संभवतः उस समय जीवित थे और धर्मप्रचार कर रहे थे। श्री के० पी० जैन का कहना है कि इस प्रकार के विरोधाभास जैन तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में बहुधा पाये जाते हैं। उपर्युक्त श्लोक पर तीर्थंकरों

की विरोधाभास-पूर्ण उक्तियों की यह छाप विचार-विनिमय या अनुकरण का स्पष्ट प्रमाण तो नहीं है ? यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त श्लोक में आया हुआ 'सन्धिच्छेद' शब्द का अर्थ 'सब्बगन्थप्पहीन' के समान ही है।

(६) श्लोक ९९—वीतराग—यह भी जैनतीर्थङ्कर का एक प्रसिद्ध नाम है। हेमचन्द्र ने तीर्थङ्करों के पर्य्यायों में इसका भी उल्लेख किया है। पर बौद्ध के पर्य्यायों में न तो हेमचन्द्र ने और न अमरसिंह ने ही इसका उल्लेख किया है, यद्यपि बुद्ध के सम्बन्ध में भी यह लागू है। जैनियों में 'श्रीवीतरागाय नमः' का पत्रादि में लिखा जाना एक साधारण बात है पर बौद्धों के यहाँ इसका उदाहरण बहुत ही कम मिलता है। मैं समझता हूं कि यह जैनों के सर्वोच्चादर्श के प्रति प्रत्यक्ष निर्देश है और यह आदर तथा प्रशंसा की प्रेरणा का सूचक है। मेरा यह भी विश्वास है कि इस शब्द का प्रयोग इस बात का एक निश्चित प्रमाण है कि उस समय तक जैनों का यह आदर्श बौद्धधर्म में ग्रहण किया जा चुका था और उसमें मिल भी चुका था।

'धम्मपद' का एक दूसरा श्लोक भी, यद्यपि वह ७ वें 'वग्ग' का नहीं है, ध्यान देने योग्य है। वह यह है—

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं। अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

इस श्लोक में 'उसभ' और 'वीर' शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बुद्धघोष ने इनके साधारण अर्थ को ही लेकर श्लोक की व्याख्या की है। ये शब्द बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकशः व्यवहृत हुए हैं। फिर भी मेरी धारणा है यहाँ 'उसभ' (सं० ऋषभ) से जैनियों के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव तथा 'वीर' से अन्तिम तीथङ्कर महावीर की ओर संकेत किया गया है। वे महेसि (महर्षि), अनेज (वासना से रहित), तथा नहातक (वह जिसने अपने पापों को धो दिया है) कहे गये हैं। पवरं (सं० प्रवरं) का अर्थ है श्रेष्ठ, और महा का भी अर्थ है श्रेष्ठ। इस प्रकार 'पवरं वीरं' से 'महावीर' का संकेत मिलता है। इस प्रकार इस श्लोक में यह भाव निकलता है कि केवल वैदिक धर्म में ही आदर्श ब्राह्मण नहीं पाये जाते हैं; बल्कि ऋषभदेव, महावीर तथा स्वयं बुद्ध भी ब्राह्मण हैं। बुद्ध के अनुसार आदर्श ब्राह्मण होने के लिये जाति, कुल या बाह्य स्वरूप की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु 'सब्बवोसित वोसान' (सभी पूर्णताओं से पूर्ण) होने से ही कोई भी आदर्श ब्राह्मण कहा जा सकता था। जब हम यह ख्याल करते हैं कि बुद्ध ने ब्राह्मणों के धर्म से सम्बन्ध विच्छेद कर एक अलग सम्प्रदाय की स्थापना की थी तो यह बहुत ही स्वाभाविक जँचता है कि उन्होंने वैदिक धर्म से अलग होनेवाले तथा समान आदर्श वाले दूसरे महापुरुषों के प्रति सहानुभूति दिखाई हो। यह उस समय और भी युक्तिपूर्ण जँचता है, जब हम यह ख्याल करते हैं कि दोनों सम्प्रदाय एक ही सम्प्रदाय की शाखाएँ हैं।*

(इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग ३ संख्या ३ में प्रकाशित
श्री एम० गोविन्द पै के निबन्ध का भाव)

*—जैनी अपने धर्म को एक स्वतन्त्र एवं पुराचीन धर्म मानते हैं।—संपादक

मुस्लिम कालीन भारत (ई० सन् १२०६) से पहिले अर्थात् महाभारत से ई० सन् १२०० तक भारत की धार्मिक और राजनीतिक स्थिति जानने के लिये लेखक की "आर्य-कालीन भारत" नामक पुस्तक देखनी चाहिये। उस प्रथम खण्ड में जैनियों और हिन्दुओं के शासनकाल के भारत के उत्थान-पतन वर्णित हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मुस्लिम कालीन भारत के उत्थान-पतन का वर्णन होगा जो कि धारावाही-रूप से भास्कर में प्रकाशित होगा।

मुस्लिम कालीन भारत*

[लेखक—श्रीयुत बा० अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

प्रथम प्रकरण

भारत के प्रथम गुलाम-वंशीय शासक

[ई० स० १२०६ से ई० स० १२९० तक]

विधि का विधान विचित्र है। भारत गुलामी की जंजीरों में गुलामों द्वारा ही जकड़ा गया। योग्यता, वीरता, सभ्यता आदि गुण किसी विशेष जाति, देश अथवा वर्ण की मीरास नहीं हैं। इन पर मनुष्य जाति का समानाधिकार है। प्रत्येक प्राणी में मानवोचित उत्तम गुण-बीज में वृक्ष के अस्तित्व समान छुपे रहते हैं, और अनुकूल साधन मिलते ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। किसी मनुष्य अथवा वर्ग-विशेष की आत्मा का विकास न होने देना—उसे समाज अथवा धर्म-बन्धन से जकड़े रहना—अन्याय है। सभी जातियों और देशों में उत्तमोत्तम गुणवाले मनुष्य पाये जाते हैं। जिन्हें उभरने के साधन मिल जाते हैं, वह उभर जाते हैं, बाक़ी सीप में मोती के समान पड़े हुए समुद्र के उदर-गह्वर में जन्तुओं के भोज्य पदार्थ बने रहते हैं। भारत के प्रथम १० मुसलमान बादशाह अच्छे वातावरण में उत्पन्न न होकर गुलाम-वंश में उत्पन्न हुये थे। यह वह समय था, जब ईसाई और मुस्लिम-देशों में खरीदे हुए मनुष्य गुलाम कहलाते थे और उनके साथ पशु जैसा घृणित व्यवहार किया जाता था। उनके बीबी-बच्चे और दिलो-दिमाग पर भी मालिकों का अधिकार होता था। फिर भी यह गुलाम भारत के उस कण्टकाकीर्ण समय में शासक हुए, जब हारे हुए राजपूत गोली खाये हुए शेर की भांति अपने गये हुए राज्य को पुनः हस्तगत करने की ताक में घात लगाये हुए बैठे थे।

साधारण गुलाम से एक विदेशीय और विजातीय का शासक होना खेल नहीं, ये बातें इन बादशाहों की लगन अथक परिश्रम और शूरवीरता का परिचय देती हैं। इस्लाम का समानाधिकार वाला सिद्धान्त भी इनके उत्थान में बहुत कुछ सहायक हुआ। इस वंश में

* यद्यपि इस लेख का जैनधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक सार्वजनिक ऐतिहासिक लेख है। फिर भी इससे—मुस्लिम क्यों विजयी हुए, किस तरह उठे और किस तरह गिरे एवं उस समय भारत की स्थिति क्या थी आदि बातों को जानकारी अवश्य हो जाती है। इसी लिये इसको भास्कर में स्थान दिया जा रहा है। —सम्पादक

९ बादशाह और एक मलका हुई, इन सब ने ई० स० १२०६ से ई० स० १२९० तक कुल ८४ वर्ष राज्य किया। इस वंश का सबसे प्रथम कुतुबुद्दीन ही भारत में पहले पहल मुस्लिम साम्राज्य का संस्थापक हुआ।

कुतुबुद्दीन ऐबक*
(१२०६-१०)

मुहम्मद शहाबुद्दीन गौरी देहली और कन्नौज विजय करके लौट गया और यहाँ कुतुब को अपना प्रतिनिधि नियत कर गया। १५ वर्ष तक इसने प्रतिनिधि का कार्य करते हुए भारत के दूरस्थ देशों को जीता और १२०६ ई० में गौरी के मारे जाने पर स्वयं देहली का सम्राट् बन बैठा और इस प्रकार अनायास ही भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना गुलाम वंशी कुतुबुद्दीन द्वारा हुई। मुस्लिम साम्राज्य और धर्म फैलाने के लिये इसके हृदय में अदम्य उत्साह था, साथ ही असहिष्णुता का हलाहल भी बहुत कुछ मात्रा में इस के मस्तिष्क में प्रवेश कर चुका था। अतः इसने धार्मिक और राजनीतिक परिस्थिति के चक्र में पड़ कर लाखों हिन्दुओं को मृत्यु के सुपुर्द कर दिया और जज़िया कर भी हिन्दुओं पर लगाया। किन्तु यह अधिक दिन जीवित न रह सका और ४ वर्ष शासन करने के बाद एक रोज़ चौगान (पोलो) खेलते हुए घोड़े से गिर कर मर गया।

आरामशाह

कुतुब के बाद उसका पुत्र आरामशाह राज्यारूढ़ हुआ, किन्तु इसके अयोग्य और अशक्त होने के कारण जीते हुए प्रदेशों में विद्रोह हो गया। अतः उसे गद्दी से उतार कर बदाऊँ के सूबेदार अल्तमिश ने देहली के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली।

शमसुद्दीन‡
अल्तमिश
(१२११-३६)

यह कुतुब का ज़र-खरीद ग़ुलाम था। अपने पराक्रम और कर्तव्यनिष्ठा के कारण उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ सूबेदार और अन्त में बादशाह बन बैठा। यह बादशाह क्या हुआ मानो भिड़ों के छत्ते में हाथ डाल दिया। उसकी इस उन्नति से लोग ईर्ष्या करने लगे, और कहने लगे कि बादशाह के ज़र-खरीद ग़ुलाम को बादशाह बन जाने का क्या हक़ है? जबकि खलीफ़ा ने उसे बादशाह चुना ही नहीं है। इन सब विरोधों की परवा न करके पहिले उसने शक्ति सञ्चय की और जब वह शक्तिशाली हो गया तो खलीफ़ा ने भी खिलअत भेज कर उसे

*ऐबक—तुर्की भाषा में यह अमीरों की एक उपाधि है। फरिश्ता का यह अनुमान कि हाथ की उँगलियाँ टूटी होने के कारण ही यह ऐबक कहलाया, ग़लत है।

—इब्नबतूता की भारत-यात्रा पृ० ४६

‡ फरिश्ता लिखता है कि कुतुबुद्दीन ने इस दास का नाम खरीदने के पश्चात् अल्तमश (चन्द्र को लज्जित करनेवाला) नाम रखा। बहुत सम्भव है अत्यन्त रूपवान होने के कारण ही यह नाम रक्खा गया हो। —इब्नबतूता की भारत-यात्रा, पृ० ४६

बादशाह की पदवी प्रदान कर दी *। खलीफा की स्वीकृति पाकर अल्तमिश की शक्ति और भी बढ़ गयी। जो स्वार्थवश धर्म की आड़ लेकर उसे बादशाह स्वीकार नहीं करते थे, अब उनके मुंह बन्द हो गये। अब मुसलमानों के लिये अल्तमिश का विरोध करना मानों खलीफा का विरोध करना था। अल्तमिश जीवन भर अपनी सत्ता स्थापित करने में लगा रहा। उसने बंगाल और सिन्ध के विद्रोही सूबेदारों को दबा कर मालवा, गुजरात, ग्वालियर, उज्जैन विजय किये और मेवाड़ प्रान्त के रणथम्भोर और नागदगढ़ दुर्ग हस्तगत किये। इस प्रकार जब अल्तमिश मुस्लिम साम्राज्य का विस्तार कर रहा था, तब तातार का प्रसिद्ध चंगेज़खां अपने भयानक और कुरूप सिपाहियों को लेकर मंगोलिया से आँधी की भांति उठा और बहुत से मुसलमानी राज्यों को विध्वंस करता हुआ, भारत पर आक्रमण करने के लिये सिन्धु तक आ पहुंचा। किन्तु अल्तमिश की दूरन्देशी से वह आक्रमण न कर सका, चंगेज़खां लौट गया और इस प्रकार अनायास ही एक बहुत बड़े तूफान से भारत बच गया। किन्तु कई मंगोल अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में बस गये। जब एक बार उन्हें भारत के मार्ग का पता लग गया, तब वे समय-समय पर अवसर पाते ही आक्रमण करने लगे। इब्नबतूता लिखता है कि—"*यह सम्राट् स्वयं विद्वान् था। इसका चरित्र अच्छा और प्रवृत्ति सदा न्याय* की ओर रहती थी। न्याय करने के लिये विशेष उत्सुक होनेके कारण, इसने आदेश दे दिया था, कि जिस पुरुष के साथ अन्याय हो, उसे रंगीन वस्त्र पहन कर बाहर निकलना चाहिये, जिससे सम्राट् उस पुरुष को देखते ही पहचान लें, क्योंकि भारतवर्ष में लोग साधारणतया श्वेत वस्त्र ही धारण करते हैं। रात्रि के लिये एक दूसरा ही नियम था। द्वार-स्थित बुर्जों के स्फटिक के बने हुए सिंहों के गले में शृङ्खलायें डाल कर उनमें घड़ियाल (बड़े घण्टे) बंधवा दिये थे। अन्याय-पीड़ित के ज़ंजीर हिलाते ही सम्राट् को सूचना हो जाती थी और उसका न्याय तुरन्त किया जाता था। इतना करने पर भी इस सम्राट् को सन्तोष न था। वह कहा करता था कि लोगों पर रात्रि को अवश्य अन्याय होता होगा। प्रातःकाल तक तो बहुत विलम्ब हो जाता है। अतः दूसरा आदेश निकाला गया कि न्यायार्थियों का फैसला तुरन्त हो जाना चाहिये। ई० स० १२३५ में अल्तमिश की मृत्यु हुई। गुलाम सम्राटों में यही सबसे महान था।

---

* मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने।

—वादीभसिंह सूरि

"वनमें मृगेन्द्र को मृगेन्द्रता-स्वाधीनता किसने अर्पण की? किसी ने भी नहीं।" इस से मालूम होता है कि स्वाधीनता कभी किसी को उपहार में नहीं मिलती वह स्वयं अपने बलके आधार पर प्राप्त की जाती है और तभी टिकती है।

अल्तमिश का पुत्र रुकनुद्दीन सात माह राज्य करने पर, जब राज्य के अयोग्य समझा गया, तब अल्तमिश की पुत्री रज़िया सिंहासनारूढ़ हुई। यह अल्तमिश के शासन काल में राज्य कार्य्य में बहुत कुछ सहयोग देती थी। इसने साढ़े तीन वर्ष बड़ी सजगता और तत्परता से राज्य किया। रज़िया मर्दाने वस्त्र पहन कर दरबार में बैठती थी। यह अत्यन्त वीर साहसी और चतुर स्त्री थी। एक हब्शी गुलाम पर प्रेम करने के सन्देह में कुछ सरदारों ने इसे विद्रोह कर के मार डाला।

रज़िया बेगम
(१२३६-३६)

रज़िया बेगम की मृत्यु के उपरान्त उसका भाई गद्दी पर बैठा, इसने केवल दो वर्ष राज्य किया और यह विद्रोही दरबारियों द्वारा क़ैद कर लिया गया इसके बाद अल्तमिश का पौत्र राज्यारूढ़ हुआ और यह भी पांच बरस राज्य करने पर क़ैद कर लिया गया। इन दोनों के पीछे अल्तमिश का सब से छोटा पुत्र नासिरुद्दीन राज्याभिषिक्त हुआ। यह बादशाह अत्यन्त सच्चरित्र और ईश्वर-भक्त था। आजीवन इसने राजकोष से एक भी पैसा न लेकर अपने हाथों से पुस्तकें लिख कर जीवन निर्वाह किया। इसको एक ही पत्नी थी। सब घरेलू कार्य्यों के अलावा रसोई भी उसे स्वयं बनानी पड़ती थी। एक बार भोजन बनाते समय बेगम का हाथ जल गया, तो उसने बादशाह से कुछ दिन के लिये रसोई बनाने वाला नौकर रख लेने की प्रार्थना की, किन्तु बादशाह ने यह कह कर बेगम की प्रार्थना अस्वीकार कर दी, कि "राज्यकोष पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, वह तो प्रजा की ओरसे मेरे पास केवल धरोहर मात्र है और धरोहर को अपने कार्यमें व्यय करना पाप है। बादशाह तो क्या प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी होना चाहिये— अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण को खुद कमाना चाहिये। जो बादशाह स्वावलम्बी न होगा, उसकी प्रजा भी अकर्मण्य हो जायगी। अतः मैं राज-कोष से एक पैसा ले नहीं सकता और मेरी हाथ की कमाई सीमित है, उससे तुम ही बताओ नौकरानी कैसे रखी जा सकती है* ?"

नासिरुद्दीन महमूद
(१२४६-६६)

* एक ऐसी ही इसलाम के इतिहास में क़रीब १३०० वर्ष की घटना इस प्रकार है:—

हज़रत उमर (द्वितीय ख़लीफ़ा) बहुत सादगी पसन्द थे। इन्हों ने बाहुबल से अरब, फ़लस्तीन रूम, बैतुल मुक़द्दस (शामका एक स्थान) आदि में केवल दस वर्ष में ही ३६००० क़िले और शहर फतह किये और शान्ति स्थापित की। यह विजयी खलीफा सादगी के नमूने थे। केवल राजकोष से अपने परिवार के पालन के लिये २०) माहवार लेते थे। तंगदस्ती इतनी रहती थी कि कपड़ों पर आप को चमड़े की थेकरी (पेबन्द) लगानी पड़ती थी। ताकि उस जगह से कपड़ा दोबारा न फट जाय। जूते भी खुद गांठ लेते थे, सिरहाने तकिये के स्थान पर ईंटें लगाते थे। उनके बच्चे भी फटेहाल रहते थे, उन्हें उनके साथी अपने नये कपड़े दिखा कर चिढ़ाते थे। एक दिन आप के पुत्र

राजर्षि नासिरुद्दीन की मृत्यु के पीछे गयासुद्दीन बलबन राज्यारूढ़ हुआ। क़रीब ४० वर्ष बलबन के हाथों में देहली-साम्राज्य की डोर रही। प्रारम्भ में २० वर्ष तक नाम मात्र के बादशाह साधु-स्वभाव नासिरुद्दीन का प्रधान मन्त्री और सम्राट् की मृत्यु के बाद २०वर्ष तक शासक रहा। इन ४० वर्षों में मुस्लिम-साम्राज्य की नींव जमाने में इसने काफी प्रयत्न किया। मंत्रित्वकाल में उसने विद्रोहियों को दबाने और आक्रमणकारी मंगोलों को हराकर भगाने में सफलता प्राप्त की। बादशाह होने पर उसने राज्य-सभा का वैभव बढ़ाया, राज-नीति में परिवर्तन किया और शासन को सुदृढ़ और चिरस्थायी बनाया। उसने एक जासूस विभाग खोला। ये जासूस बलबन के पुत्र तक की कार्यवाही का विवरण बलबन को गुप्त रीति से लिखकर भेजते थे। बलबन न्याय करने में बड़ा कट्टर था। वह अपने भाइयों, पुत्रों, मित्रों और सम्बन्धियों तकको दोषी होने पर दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ता था। बलबन ने हिन्दू मेवातियों को विद्रोही होने के कारण लाखों की संख्या में नष्ट कर दिया, उनके गांवों में आग लगवादी, जब यह हिन्दू मेवाती बिलकुल शान्त और मुसलमान हो गये, तभी उनका पीछा छोड़ा। इसने अन्य मुसलमान विद्रोहियों को भी बड़ी सजगता से दबाया। इसकी राज्य-सभा के नियम बड़े कठिन थे। न तो किसी को हँसने की आज्ञा थी और न बलबन स्वयं हँसता था। दिल्लगी और मजाक़ का तो कहना क्या? प्रारम्भिक जीवन में बलबन शराब पीता था, किन्तु राज्यासीन होते ही उसने अपनी इस कुटेव को छोड़ दिया।

गयासुद्दीन बलबन * (१२६६—८७)

अब्दुलरहमान ने अपने लिये नये कपड़े बनवाने के लिये रो-रोकर ख़लीफा से बहुत मिन्नतें कीं। ख़लीफ़ा का हृदय पसीजा और उन्होंने अपने अगले वेतन में काट लेने के लिए संकेत करके दो रुपये पेशगी देने को लिखा। किन्तु कोषाध्यक्ष तो ख़लीफा का पक्का अनुयायी था अतः उसने यह लिख कर रुपया देने से इनकार कर दिया कि "काश आप इन्तकाल फ़रमा गये तो यह रुपये किस हिसाब में डाले जावेंगे"? हज़रत उमर इस पर्चे को पढ़ कर रो पड़े और कोषाध्यक्ष की इस दूरन्देशी के लिये बारबार धन्यवाद दिया और बच्चे को प्यार करके कहा, बेटा! अगले माह में तनख़्वाह मिलने पर तुम्हारे कपड़े ज़रूर बनवा दूंगा।" इन्हीं ख़लीफा साहब ने अपने पुत्र अब्दुलरहमान को एक अनाथ लड़की से ज़िना (बलात्कार) करने पर बेंत लगवाने का हुक्म दिया था, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी थी।

इब्नबतूताकी भारत-यात्रा पृष्ठ ६५।

*—तबक़ाते नासिरी के लेखक के अनुसार बलबन और अल्तमश दोनों ही राजपुत्र थे। 'चंगेज़ खां' के आक्रमण के समय यह बन्दी बनाये गये और फिर बादशाहों के हाथ बेचे गये। अल्तमश जितना सुन्दर था उतना ही बलबन कुरूप था।

संसार के नियम भी कैसे विचित्र हैं, जिस गुलाम-वंशी बलबन ने साम्राज्य की नींव रसातल तक पहुंचाने में कोई कसर न छोड़ी, उसी बलबन के मरते ही गुलाम-वंश का अन्त हो गया—मुस्लिम साम्राज्य की बागडोर इनके हाथ से छूट कर खिलजी वंश के हाथ में आ गयी। बलबन ने शम्सी गुलामों का अन्त क्या किया—गुलाम-वंश की बादशाहत का ही अन्त कर डाला। ८० वर्ष की अवस्था में जवान पुत्र की मृत्यु के समाचार सुनकर उसे बहुत दुःख हुआ और अन्त में वह मर गया।

मुअज़्ज़ुद्दीन कैकुबाद (१२८७—९०)

बङ्गाल का हाकिम तोग़रलखां विद्रोही हो गया था, बलबन ने उसे पराजित कर के मार डाला और अपने बेटे बुग़राखाँ को उसके स्थान पर बंगाल का हाकिम नियुक्त किया। बुग़राखाँ बंगाल की सूबेदारी पाकर ही सन्तुष्ट हो गया। बलबन की मृत्यु होने पर उसे अपने बाप के राजासन पर बैठने की इच्छा ही न हुई अतः इसका पुत्र कैकुबाद एक अमीर की साजिश* से राज्यासीन हुआ। वह राज्य-प्राप्त करते ही विलासिता में डूब गया। मुग़ल इस ताक में लगे ही हुये थे, उन्हें इससे अच्छा अवसर और कौन सा मिलता? आक्रमण कर दिया, किन्तु कैकुबाद विजयी हुआ। उसे मुग़लों की इस करतूत से बड़ा गुस्सा आया और क्रोधित होकर अपनी फौज में जितने मुग़ल थे, सब को मरवा दिया और उस वक्त अधिकतर फौज़ में मुग़ल ही मुग़ल थे। कैकुबाद के इस आचरण से बुग़राखाँ (जो बंगाल का हाकिम और इसका बाप था) को भी अत्यन्त दुःख हुआ और वह इसे समझाने को दिल्ली भी आया। बाप के कहने से कुछ रोज़ तो वह ठीक रहा किन्तु फिर वही बल्कि उससे भी अधिक रंग रलियाँ होने लगीं। जिसका परिणाम यह हुआ कि समाने का गवर्नर और वज़ीर शाइस्ताखाँ, जो तुर्की सरदार खिलज का रहने वाला था, दिल्ली पर चढ़ आया और किलोखरी में स्थित कैकुबाद को क़त्ल कर के उसकी लाश को खिड़की से नीचे रेती में फेंक दिया और सन १२९० में स्वयं राज्यारूढ़ हुआ।

(क्रमशः)

* क्योंकि बलबन ने कैसखुसरो को जो बलबन के पुत्र सुलतान मुहम्मदख़ाँ का बेटा था, अपने रिक्त स्थान के लिये चुना था।

काम्पिल्य

[ले०—श्रीयुत बाबू कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०, साहित्य-मनीषी]

काम्पिल्य प्राचीन भारत का एक प्रधान नगर था। जनसमूह में उसकी प्रसिद्धि राजा द्रुपद की राजकुमारी द्रौपदी के कारण-विशेष है। प्रस्तुत लेख में प्राचीन काम्पिल्य का परिचय कराना इष्ट है। किन्तु परिचय कराने के पहले यह देख लेना उचित है कि वर्तमान में इस नगर का पता कहाँ है? किस स्थान पर उसके ध्वंसावशेष खोज करने से मिल सकते हैं? जेनरल कनिंघम सा० और डा० फुहरर सा० ने अपने-अपने पुरातत्त्वान्वेषण-सम्बन्धी स्तुत्य कार्य द्वारा हमारी इस जिज्ञासा को हल कर दिया है। उन्होंने प्राचीन काम्पिल्य वह स्थान बताया है जो आजकल संयुक्त प्रान्त के फतहगढ़ ज़िले में कायमगंज तहसील से पश्चिम दिशा की ओर अवस्थित और कम्पिल नाम से प्रसिद्ध है[1]। फतहगढ़ से वह लगभग २८ मील की दूरी पर है। अपने खण्डहरों और खेड़ों के कारण साम्प्रत कम्पिल निस्सन्देह प्राचीन काम्पिल्य की प्रतिच्छाया प्रतीत होता है।

काम्पिल्य=कम्पिल

प्राचीन भारत में काम्पिल्य नाम का नगर पांचाल देश की एक राजधानी था। पाञ्चाल देश दो भागों में विभक्त था। गंगा से उस पार वाला देश 'उत्तर पाञ्चाल' कहलाता था। और इस ओर का देश 'दक्षिण पाञ्चाल' के नाम से प्रसिद्ध था। उत्तर पाञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्र थी और दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी होने का गौरव काम्पिल्य को प्राप्त था[2]। 'महापुराण' से स्पष्ट है कि इस देश की रचना प्रथम तीर्थङ्कर के समय में इन्द्र-द्वारा हुई थी और यहाँ तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने आकर धर्मोपदेश दिया था[3]। 'हरिवंशपुराण' में इसकी गणना मध्यप्रदेश के जनपदों में की गई है और इसे भ० ऋषभ एवं महावीर के धर्मोपदेश से पवित्र हुआ बताया है। उसमें यह भी लिखा है कि ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली जब राज्य त्याग कर मुनि हुए तो पाञ्चाल के राजकुमार भी मुनि हो गये थे। एक समय पाञ्चाल देश की स्वादिष्ट मसालेदार मूंग की दाल प्रख्यात थी[4]।

पाञ्चाल देश की राजधानी

काम्पिल्य केवल एक जनपद-विशेष की राजधानी ही हो, यह बात नहीं है, बल्कि उसे

---

1. Arch.S. Rep., I, p 255 & Geog: Dic: of Ancient & Med: India, p. 88.
2. Cunningham, Anc: Geog: of India, Notes pp. 704 705.
३ महापुराण (इन्दौर) पृष्ठ २६८ व ३८१.
४ हरिवंशपुराण ३।१०७; ११।६४ व १८।१६०।

हिन्दुओं और जैनियों का तीर्थस्थान होने का महत्त्व प्राप्त है। हिन्दुओं के निकट वह कपिल ऋषि की तपोभूमि, राजा द्रुपद का राजनगर और गङ्गा नदी में पर्व-स्नान करने के लिये पवित्र स्थान रहा है। आज भी हजारों हिन्दू पुरुष-स्त्री गङ्गा स्नान करने के लिये सोमवती अमावस आदि पर्व के अवसरों पर कम्पिल जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। जैनियों के निकट काम्पिल्य उनके तेरहवें तीर्थङ्कर भ० विमलनाथ का गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान-कल्याणक स्थान होनेके कारण अत्यधिक पूज्य-पुण्य स्थान है। भारत के कोने-कोने से जैनी-यात्री आकर इस तीर्थस्थान की यात्रा वन्दना करते हैं।

एक तीर्थ

जैन साहित्य में काम्पिल्य का जो वर्णन मिलता है उससे वह एक अत्यन्त प्राचीन नगर प्रतीत होता है। राजा द्रुपद से बहुत पहले वहां इक्ष्वाकु वंशी राजा कृतवर्मा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम जयश्यामा था। रानी जयश्यामा की कोख से तीर्थङ्कर विमलनाथ का जन्म हुआ था[1]। युवावस्था को प्राप्त होने पर उनका राज्याभिषेक हुआ था और उन्होंने दीर्घ काल तक न्यायपूर्वक राज्य किया था। अपने अद्वितीय प्रताप से विमलनाथ ने समस्त जगत् को वश कर लिया था। उनकी पट्टरानी पद्मा नामक एक महागुणवती राजकुमारी थीं, जो साक्षात् सरस्वती देवी सरीखी जान पड़ती थीं। भ० विमलनाथ ने उनके साथ आनन्दपूर्वक दाम्पत्य-जीवन व्यतीत किया था। एक समय शरद् ऋतु के अवसर पर राजा विमलनाथ अपनी सेना को सजा कर क्रीड़ा-यात्रा के लिये गये। वह एक विशाल वन में पहुंच कर एक तालाब के किनारे जा पहुंचे। वहाँ उन्होंने उस तालाब में बरफ का संचित हुआ एक ढेर देखा। देखने में वह बड़ा सुन्दर और सुहावना प्रतीत होता था; परन्तु देखते ही देखते वह पिघल गया। विमल राजेन्द्र को यह दृश्य देख कर आश्चर्य नहीं बल्कि ज्ञान प्राप्त हुआ—वह विलक्षण बुद्धि के धारक थे। उन्होंने विवेक-नेत्र से पिघलती हुई बरफ में जगत् की वस्तुओं की क्षणभंगुरता के दर्शन किये। वैराग्य उनके दिल पर जम गया: वह मुनि हो गये। विशाल राज्य को उन्हों ने तृणवत् त्याग दिया। मुनि होते ही उन्होंने वेला-उपवास और मौनव्रत धारण किया। तपोवन से चल कर वह नन्दन-नामक ग्राम में पहुंचे और वहाँ विजय-नामक राजा के घर पर उन्होंने आहार लिया। उपरान्त वह तपस्या में लीन हो गये। तीन वर्ष लगातार तपश्चरण करने के पश्चात् उन्होंने घातिया कर्मों का नाश करके कैवल्यपद प्राप्त किया। वह लोक-पूज्य हुये और लोक-कल्याण के लिये उन्होंने समस्त आर्यखण्ड में विहार करके धर्मोपदेश दिया। अन्ततः सम्मेद शिखिर से वह मुक्त हुए[2]।

जैन साहित्य में कम्पिल

१ तिलोय-पण्णत्ति, अ० ४

२ उत्तरपुराण, पर्व ५६ श्लोक १४-१५; हरिवंशपुराण, सर्ग ६०; विमलनाथपुराण, पृ० १२७—२८१।
"तत्रैव कंपिला भाव्या विद्यते परमा पुरी। दोषैर्मुक्ता गुणैर्युक्ता धनाढ्या स्वर्गसन्निभा ॥ १ ॥

जैन शास्त्रों में इसके अतिरिक्त राजा द्रुपद के सम्बन्ध में भी काम्पिल्य का वर्णन मिलता है। 'उत्तरपुराण' में लिखा है कि कंपिला नगरी में राजा द्रुपद राज्य करता था। उसको

द्रुपद व द्रौपदी

दृढ़रथा देवो से द्रौपदी नामकी पुत्री हुई थी, जो सौन्दर्य और गुणों में अपूर्व थी। यौवना होने पर द्रौपदी का स्वयम्वर रचा गया। स्वयम्वर में अन्य राजाओं के साथ पांचों पांडव भी आये। द्रौपदी ने वरमाला अर्जुन के गले में डाली और अर्जुन ही उनके पति हुए। कालान्तर में द्रौपदी के अनुक्रम से पंचाल आदि पांच पुत्र हुए[1]। 'हरिवंशपुराण' में द्रौपदी का वर्णन कुछ अधिक मिलता है। वहां राजा द्रुपद को माकंदी नगर का राजा लिखा है और बताया है कि वह स्थान स्वर्ग-तुल्य प्रतीत होता था। इस उल्लेख से अनुमान होता है कि काम्पिल्य का अपर नाम माकंदी नगरी भी था। 'हरिवंश' में राजा द्रुपद की रानी का नाम भोगवती लिखा है। सुरेन्द्रवर्द्धन-नामक विद्याधर ने स्वयंवर में यह शर्त रक्खी थी कि जो महापुरुष गांडीव धनुष चढ़ावेगा और राधावेध को बेधेगा वही द्रौपदी का पति होगा। वीरवर अर्जुन ने इस शर्त को पूरी करके द्रौपदी को वरा था। कदाचित् जिस समय द्रौपदी अर्जुन के गले में वरमाला डाल रही थी, उस समय हवा के झोंके से वरमाला टूट गयी और उसके फूल उड़ कर पांचों पाँडवों पर जा गिरे। बस मूढ़ पुरुषों ने यह घोषित कर दिया कि द्रौपदी ने पांचों भाइयों को वरा है। किन्तु वास्तव में द्रौपदी के पति अर्जुन थे। वनवास में वह निरन्तर अर्जुन के साथ रही थीं। विराटपुर में जब कीचक ने उनका अपमान किया था, तो भीम ने कीचक को उसकी करनी का मजा चखाया था। जिस समय युधिष्ठिरादि पांचों पांडव दक्षिण मथुरा में थे, उस समय उन्होंने कृष्णादि यादवों के वियोग-समाचार सुने थे। वह दुःखी हो कर भ० नेमिनाथ के निकट जाकर मुनि हो गये थे। रानी द्रौपदी अन्य महिलाओं के साथ आर्यिका राजमती के निकट साध्वी हो गयो थीं।[2]

पुरुदेवान्वये राजा जातो राजमुखो बली। कृतवर्माभिधस्तस्य प्रतापाक्रान्त भूतलः ॥ २ ॥
राजतेस्म महादेवी जयश्यामाऽभिधारतिः। पद्मा पद्मावती रम्भा रोहिणी वा रविप्रिया ॥
यथा सहचरी जाता सहोत्पन्ना सरस्वती। प्रतापधीरवीरत्वं तस्याभूतपुण्यतोऽखिलं ॥ इत्यादि

१ 'कंपिल्यायां धराधीशो नगरे द्रुपदाह्वयः। देवी दृढरथा तस्य द्रौपदी तनया तयोः ॥
रूपोगुणैः ...कलैः शस्या बभूव भुवनप्रिया। तत्पूर्णयौवनं वीक्ष्य पित्रा कस्मै समर्प्यतां ॥
× × ×
वसंतेऽचीकरद्राजा स स्वयंवरमंडपं। तेऽत्र सर्वे महीपालाः संप्रापन् पांडवेषु च ॥ इत्यादि'—
उत्तरपुराण, पर्व ७२ श्लोक १९८-२१४

२ 'हरिवंशपुराण' पृष्ठ ४२१–४३१; ४४३–४२४ व ४८१-६०१ श्वेताम्बरीय जैन शास्त्रों में भी द्रौपदी को पंच भरतारी लिखा है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन जैनग्रन्थ 'भगवती-आराधना' में भी दो स्थलों पर काम्पिल्य का उल्लेख हुआ मिलता है। एक स्थल पर परिग्रह की अधिकता का दुष्परिणाम दिखाते हुए आचार्य ने निम्नलिखित गाथा लिखा है:—

'गंथणिमित्तं घोरं, परितावं पाविदूण कंपिल्ले।
लल्लकं संपत्तो, णिरयं पिण्णागगंधो दु ॥ ११४० ॥'

भाव यह है कि कंपिला में घोर परिग्रह रखने के परिताप से मरकर एक पिण्याकगन्ध नामक व्यक्ति लल्लक-नरक को प्राप्त हुआ। दूसरे स्थल पर मांस भक्षण निषेध के प्रकरण में लिखा है कि:—

'माणुसमंसरसत्तो, कंपिल्लवदीतधेव भीमो वि।
रज्जमनट्ठो णट्ठो, मदो य पच्छागदो णिरयं ॥ १३५८ ॥'

काम्पिल्य में भीम नाम का राजा राज्य करता था। कदाचित् उसे मनुष्य का मांस खाने की चाट पड़ गयी; जिसके कारण उसे राजभ्रष्ट हो नरक में जाना पड़ा। 'आराधना-कथाकोष' में यह कथा विस्तार से दी हुई है। इसके अतिरिक्त जैनसाहित्य में काम्पिल्य का वर्णन खोजने से और भी मिल सकता है। 'अष्टाह्निकापूजा' में इस नगरी का विधान विशेष रीत्या मिलता है।

श्वेताम्बरीय 'उत्तराध्ययन' टीका में भी काम्पिल्य का उल्लेख ब्रह्मदत्त के आख्यान में हुआ है। ब्रह्मदत्त के पिता नृप ब्रह्म कम्पिल के राजा थे और उनकी रानी का नाम चुलनी था। (कम्पिल्लपुरे बम्भो नाम राया, तस्स चुलनी नाम देवी—तीए उदरे चोद्दस-महा-सुमिण-सूइओ उप्पन्नो जाओ य कमेणं। कयं च से नामं बम्भदत्तो त्ति)

यह हम पहले लिख चुके हैं कि कम्पिल हिन्दुओं का भी एक पवित्र स्थान है अत एव हिन्दू-शास्त्रों में भी उसका उल्लेख हुआ है। 'यजुर्वेद' में कम्पिल का नाम मिलता है।[1] वैदिक टीकाकार उवट और महीधर ने यजुर्वेदीय 'कम्पिल' को कम्पिला नगर ही बताया है।[2] पुराणों से प्रकट है कि शंकरजी के शाप से पार्वतीजी कम्पिल में 'कम्पिल वासिनी-देवी' के नाम से आकर रही थीं। उनसे यह भी स्पष्ट है कि कम्पिल राजा द्रुपद से प्राचीन है। राजा भर्म्यश्विके पुत्र काम्पिल्य थे—उन्हीं के नाम पर

हिन्दू-शास्त्रों में कम्पिल

१ अम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन। स सस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥(?)

२ 'काम्पीलवासिनीम् काम्पीलनगरे हि सुभगाः सुरूपा विदग्धाः स्त्रियो भवन्ति।' उवटः
—यजुर्वेदे अ० २३। म० १८।

"……किंभूतां सुभद्रिकां काम्पिलवासिनीम, काम्पील नगरे वसतीति काम्पीलवासिनी, ताम्। तत्र हि सुरूपा विदग्धा कामिन्यो भवन्तीति।"—महीधरः

इस नगर का नाम 'काम्पिल्य' पड़ा था। इस राजा के पाँच पुत्रों ने कम्पिल के आस-पास जिस प्रदेश को जीता था उसका नाम उनकी अपेक्षा 'पञ्चाल' रखा गया[1]। परन्तु आधुनिक इतिहास प्रकट करता है कि क्रिवि, तुरुवसस्, केसिन्, स्रिंजयस आदि पाँच कुलों के राजसंघ की अपेक्षा वह देश पञ्चाल नाम से प्रसिद्ध था[2]। 'रामायण' (अ० २३) और 'महाभारत' (आदि पर्व अ० १३८) में भी काम्पिल्य का उल्लेख मिलता है। पुराणानुसार कम्पिल में रामचन्द्रजी ने लंका से लाकर शिवलिंग स्थापित किया था, जो रामेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

संस्कृत साहित्य में काम्पिल्य

संस्कृत साहित्य में भी काम्पिल्य का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ चरक-संहिता में कम्पिल का प्रसंग आया है। एकदा ज्येष्ठ मास में आत्रेय पुनर्वसु अपनी शिष्य-मण्डली-सहित पञ्चाल देश में विचर रहे थे कि प्रकृति को विक्रिय होती देख कर उन्हों ने वहाँ प्रबल महामारी होने का संकेत किया था[3]। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने भी कम्पिल का उल्लेख किया है। 'काशिकावृत्ति' से स्पष्ट है कि काम्पिल्य और संकाश्य (संकिसा) एक ही नगर के दो नाम थे[4]। 'बृहज्जातक' की महीधर-टीका में काम्पिल्य का सन्निवेश कपित्थिक बताया है[5]। चीनी यात्री फाहियान ने जिस स्थान को 'संकास्य' लिखा था[6], उसी को उपरान्त हुएनसाँग ने 'कपित्थिक' लिखा था[7]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि यह तीनों नाम काम्पिल्य से सम्बद्ध थे और उसके सन्निवेश ही थे। इससे प्राचीन काम्पिल्य का विस्तार भी स्पष्ट होता है। आज वर्तमान कम्पिल से संकास्य (संकिसा) और कापित्थिक (कैथिया) लगभग बीस बाइस मील की दूरी पर अवस्थित हैं। कहते हैं, प्रसिद्ध ज्योतिषी वाराहमिहर का जन्म भी कम्पिल में हुआ था[8]।

फाह्यान ने यह भी लिखा था कि जिस समय वह संकास्य (संकिसा) पहुंचा, उस समय

---

१ भागवत। विशेष के लिये 'सरस्वती' (जनवरी १९३८) में 'पञ्चाल के संस्मरण' नामक लेख देखो, जिसके आधार से यह उल्लेख सधन्यवाद किया है।

२ कनिंघम ऐंशेंट ज्याग्रफी आव इण्डिया (Notes) पृ० ७०५।

३ 'जनपदमण्डले पांचालक्षेत्रे......काम्पिल्यराजधान्यां .....' चरक वि० । अ० ३ । सू०१

४ पाणिनि काशिका-वृत्ति (४।२।१२१)

५ 'कापित्थिके काम्पिल्याख्ये ग्रामे।' - महीधरः

६ फाह्यान (इण्डियन प्रेस) पृ० २८-३०

७ कनिंघम, ऐंशेंट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ४२३

८ Geog: Dictionary of Ancient and Med: India, p. 239.

वहाँ पर उस स्थान के सम्बन्ध में बौद्धों और निर्ग्रन्थों (जैनियों) में परस्पर झगड़ा हो रहा था। जैनी कहते थे कि यह हमारा तीर्थ है और बौद्धों का कहना था कि म० गौतम बुद्ध स्वर्ग से लौटने पर यहीं अवतीर्ण हुए थे, इसलिये यह हमारा पूज्य स्थान है! इस उल्लेख से प्राचीन काल में यह स्थान जैनियों का तीर्थ रहा प्रमाणित होता है। आज वहाँ जैनों का तो कुछ नामो निशान बाकी भी है, परंतु बौद्ध वहाँ नाम को भी नहीं हैं। उनके ध्वंसावशेष ज़रूर मिलते हैं। अन्यत्र इस उल्लेख के आधार से हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि चूंकि संकास्य काम्पिल्य का ही एक भाग था, इसलिये तीर्थङ्कर विमलनाथ की तपोभूमि और केवल ज्ञान-स्थान यही था[1]। इस ग्राम के निकट सराय में जैनियों का आज भी एक मन्दिर और उनके कतिपय घर मौजूद हैं। तथा वहीं 'अघतिया' नामक स्थान के टीले में से कई वर्ष हुए गुप्तकालीन एक चतुर्मुख जिन प्रतिमा उपलब्ध हुई थी, जो खड्गासन दिगम्बर थी और लखनऊ के अजायबघर में भेज दी गई थी। 'अघतिया' संभवतः 'अघ हत' स्थान का अपभ्रंश है।

केवल ज्ञान स्थान

वर्तमान कम्पिल ग्राम में बहुत से प्राचीन स्थान देखने को मिलते हैं। गंगा तट पर 'रामेश्वर मन्दिर' 'कम्पिलकुटी'—'द्रौपदीकुण्ड'—'कालेश्वर-मन्दिर'—'राजा द्रुपद का कोट' आदि हिन्दुओं के पुराने स्मारक हैं। जब हमने इनको जाकर देखा था, तब इनमें से बहुतेरों की दीवालों में चुनी हुई एवं परकोटे में रक्खी हुई जिन-मूर्तियां थीं। एक खड्गासन दिग० जैन मूर्ति, जो एक पीपलके पेड़ के सहारे रक्खी हुई थी, उसको लोग सिंदूर लगाकर पूजते थे। यह सब मूर्तियां प्रायः खण्डित थीं। मालूम ऐसा होता है कि किसी मुसलमान आततायी की कोपदृष्टि उन पर हुई थी। इनके अतिरिक्त जैनियों के दो मन्दिर दर्शनीय हैं। इनमें से एक मन्दिर श्वेताम्बर जैनियों का है, जो नया बना है और उसमें संगमरमर बहुत काम में लाया गया है। उस मन्दिर से सटा हुआ श्वेताम्बरी धर्मशाला भी है। इस धर्मशालाके पास ही फर्रुखाबादवालोंकी पुरानी दिगम्बर जैन धर्मशाला है। चैत्र के मेले में इसी धर्मशाला में फर्रुखाबाद और कायमगञ्ज से रथ आकर ठहरते और जिनेन्द्र देव की मूर्तियाँ विराजमान की जाती हैं। खेद है कि इस साल पिछले चैती मेले में यहाँ एक जिन-मूर्ति चोरी गई, किन्तु सौभाग्यवश हाल में ही वह मूर्ति एक खेत में दबी हुई पायी गयी है। इस धर्मशाला से पश्चिम की ओर बस्ती के बीच में दिगम्बर जैनियों का मंदिर है। यही यहाँ का प्राचीन मन्दिर है। 'सरस्वती' में प्रकाशित हुये एक लेख में इस मन्दिर की निर्माण-तिथि ५४९ विक्रमी लिखी है और इस मन्दिर को १४५० वर्ष पुराना बताया है[2]।

वर्तमान कम्पिल

1 इण्डियन हिस्टारीकल क्वाटरली, भा० ४ पृ० १४२-१४३।

२ सरस्वती जनवरी १९३८, पृष्ठ २०

संभव है मूल में यह मन्दिर इससे भी प्राचीन हो, क्योंकि इस मन्दिर में सबसे पुराना स्थान ज़मीन के अन्दर था, जहाँ पर पहले मूलनायक विमलनाथ स्वामी की मूर्ति और चरण-चिह्न विराजमान थे। वह मौंहरा (चावच्चे, की शक्ल का न होकर इमारत की सूरत का था। खेद है कि अब वह प्राचीन स्थान मिट्टी भरवा कर बन्द करा दिया गया है। मालूम होता है कि पुराना मन्दिर वही था। उपरान्त मध्यकाल में उसीको बढ़ा कर वर्तमान मंदिर बनाया गया था। तब से बराबर इसकी इमारत बढ़ती चली आती है। अलीगंज और मैनपुरी के दिगम्बर जैनियों के हाथ में इस तीर्थ का प्रबन्ध है, जिन्होंने प्रयत्न करके एक नयी धर्मशाला बस्ती से बाहर बनवाई है। इस धर्मशाला से जनता को बहुत आराम हो गया है। इस मन्दिर में भीतर दो वेदिकाओं पर अनेक जिन-प्रतिमायें विराजमान हैं, जिनमें से मुख्य का परिचय निम्न प्रकार है:—

१ श्री विमलनाथ—खाकीभार पाषाण की बिना लेख की प्राचीन प्रतिमा है। यही मूलनायक हैं।

२ श्रीविमलनाथ—बिना चिह्न की प्रतिमा संवत् ११२२ की है।

३ श्रीमहावीर—पाषाण—'सं० १२११ जेठ सुदी दसमी साहु······तस्य पुत्र सालिदत्त भार्या दोसा प्रणमंति।'

४ श्रीचन्द्रप्रभू—पाषाण—'सं० १४४० वर्षे वैसाख सुदि ३ श्रीमूलसंघ भट्टारकजी।'

५ श्रीपार्श्वनाथ—'सं० १४५९ वर्षे वैसाख सुदि १० चंद्रवासरे श्रीमूलसंघ।'

६ श्रीपार्श्वनाथ—'सम्वत् १५२२ वैसाख सुदी ३।'

६ श्रीआदिनाथ—'सं० १५४५ वर्षे वैसाख सुदि १० चन्द्रदिने श्रीमूलसंघ सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्रीजिनचन्द्र देवा बरहियाकुलोद्भवो सा० लखे भार्या कुसुमा तयो पुत्र साहु मुन् ....तेषाम् मध्ये सुहु अरजुन तसभार्या मडनन। अरजुननेदं आदिपुरुषबिंब सतपूज्य तीर्थंकरापिता।'

८ श्रीअरहंत—बिना चिह्न—'सं० १५४५ वर्षे वैसाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक जिनचंद्र अच्छपुर पलीवाल बिंदा प्रणमता।'

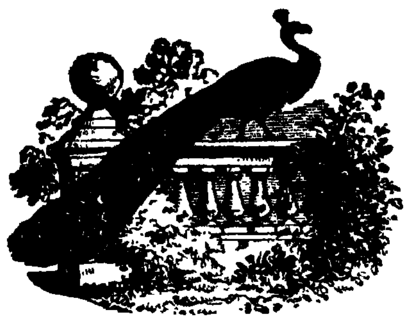
९ श्रीपार्श्वनाथ—"सं० १९५७ वैशाख कृष्ण २ चन्द्रवासरे दिगम्बरमुनि कुंद-कुंद चरणोपदेशात् भोगामनगरे दरबारी लाल बनारसीदास प्रतिष्ठापितं।"

१० श्रीविमलनाथ—"सं० १९६० वैशाख कृष्ण २ सुवर्णप्रस्तनगरे श्रीमुनिकुन्दकुंद गुरूपदेशात् पालीवाल इदं बिंब विमलनाथ।'

कहते हैं कि पहले कम्पिल में जैनियों के साढ़े उन्नीस-सौ घर थे; जिनमें अधिक संख्या लमेचू (लम्बकंचुक) दिगम्बर जैनियों की थी; परंतु आज वहाँ एक भी जैनी का घर नहीं है। लमेचू जैनियों की एक श्रेणी 'कंपिलावालों' के नाम से अब भी प्रसिद्ध है। अब वहाँ मन्दिर का एक पुजारी अवश्य जैनी है।

जैन मेले

कम्पिल में वर्ष में दो मरतबा दिगम्बर जैनियों का मेला भरता है—एक चैत्री अमावस्या से प्रारंभ होकर ३-४ दिन रहता है और दूसरा कुआर वदी दोज पर होता है। इस मेले पर बाहर से रथ नहीं आते। केवल चैत्री मेले के अवसर पर मैनपुरी, कायमगञ्ज और फर्रुखाबाद से रथ आते हैं और खासा धर्मोत्सव होता है। पहले कन्नौज, कुरावली से भी रथ आया करते थे। इस तीर्थ की उन्नति के लिये उसके प्रबन्ध की त्रुटियों को दूर किये जाने की आवश्यकता है। तीर्थ के प्रबन्धक साहु लालादीनजी अलीगंज को वहाँ के धर्मायतनों की रिपोर्ट तथा हिसाब प्रकाशित करना उचित है।



कार्कलद गोम्मटेश्वरचरिते

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री]

यह ग्रन्थ सांगत्य-छन्द में कन्नड भाषा में है। इसमें १७ सन्धियाँ (प्रकरण) एवं २२२५ पद्य हैं*। प्रस्तुत रचना में गोम्मटेश्वर† या बाहुबली की जीवनी और शक १३५३ सन् १४३२ में कार्कल में राजा वीरपाण्ड्य के द्वारा स्थापित उनकी प्रतिमा का इतिवृत्त अंकित है। ग्रन्थ में ग्रन्थकर्त्ता ने अपने पोषक के बारे में यों लिखा है—'पाण्ड्यवंश में वीरनरसिंह बंगराजेन्द्र हुए। इनकी पट्टरानी गुम्मटांबा थीं। इनका पुत्र इम्मडि भैरव राय हुए। इनकी महिषी का नाम मल्लिदेवी था। भुवनैकवीर पाण्ड्येन्द्र, चन्द्रशेखर और इम्मडि भैरव राय ये तीनों उनके सुपुत्र थे। इम्मडि भैरव राय ने अपने शासन-काल में—सन १६४६ में—उक्त गोम्मटेश्वर-मूर्त्ति की प्रतिष्ठा, पूजा, अभिषेक आदि कराये थे।

ग्रन्थावतार में नेमिजिनस्तुति के बाद कवि बाहुबली, चन्द्रनाथ, सिद्ध, यक्ष-यक्षी, पद्मावती, सरस्वती-प्रभृति की प्रशंसापरक स्तुति की गयी है। साथ ही साथ अन्त में महेन्द्रकीर्त्ति से लेकर श्रुतसागर तक की गुरुपरम्परा भी दी गयी है। जैसे—महेन्द्रकीर्त्ति, पनसोगे सिंहासनाधीश देवकीर्त्ति, शिष्य मलधारी ललितकीर्त्ति, तद्वंशज अभिनव ललितकीर्त्ति, विद्यानन्द, श्रुतसागर, काणूरगण के भानुकीर्त्ति, बल्लालराय-जीव-रक्षक चारुकीर्त्ति, वीरसेन एवं ललितवर्णी। अब ग्रंथ-रचयिता को लीजिये। इनका नाम चन्द्रम है। इन्होंने श्रुतसागर को अपना विद्यागुरु तथा महेन्द्रकीर्त्ति को व्रतगुरु बतलाया है। यह तौलव देश अर्थात् वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला के निवासी थे। दाक्षिण इम्मडि भैरवराय ही इन के आश्रयदाता थे। कवि का कहना है कि ललितकीर्त्ति जी की आज्ञानुसार ही यह ग्रन्थ रचा गया है। ललितकीर्त्ति जी को कार्कलमठ के तत्कालीन स्थानापन्न मठाधीश होना चाहिये। कवि चन्द्रम ने अपने को 'जिनमतवार्धिवर्द्धनचन्द्रम', 'भव्यहृत्कुवलयचन्द्रम' एवं 'अनुपमविबुधचकोरचन्द्रम' इन विशेषणों द्वारा अभिव्यक्त किया है।

मैं ऊपर लिख चुका हूं कि इस 'चरिते' में १७ सन्धियां हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें प्रारंभ की चार एवं अन्त की २ कुल ६ सन्धियाँ ही उल्लेखनीय तथा विचारणीय हैं।

---

* परन्तु उपलब्ध सभी प्रतियों में पद्य-संख्या एक सी नहीं मिलती।

† बाहुबली का गोम्मटेश्वर नाम कैसे पड़ा इस बात को जानने के लिये भास्कर भाग ४, पृष्ठ १०२ देखें।

शेष सन्धियों में आदीश्वर स्वामी का उदय (जन्म), विवाह, दीक्षा, भिक्षा, मुक्ति, चक्ररत्न की उत्पत्ति, भरत का दिग्विजय, भरत बाहुबली का युद्ध आदि पौराणिक बातों का ही विवरण है। प्रस्तुत इस लेख में कार्कल में भैरवराय वीरपाण्ड्य के द्वारा स्थापित बाहुबली स्वामी की उल्लिखित प्रतिमा-सम्बन्धी ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश डालने की ही चेष्टा की जाती है। क्योंकि इस लेख का एकमात्र उद्देश्य यही है।

ग्रंथावतार में गुरुपरम्परा तक का उल्लेख ऊपर मैं कर चुका हूं। इसके बाद कवि चन्द्रमजी ने कवि-समयानुसार मध्यलोक, तद्-तर्गत जम्बूद्वीप एवं इस द्वीपांतर्गत भारतवर्ष आदि का उल्लेख करते हुए तौलवदेश (वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला) का वर्णन किया है। यह वर्णन प्रायः काव्यपरिपाटी के अनुसार ही अत्युक्तिपूर्ण है। अतः इसमें ऐतिहासिक बातों के लिये गुंजायश नहीं दृष्टिगत होती है। हाँ, नारियल, केला आदि वृक्षों का जो सजीव तथा स्वाभाविक वर्णन किया गया है, वह आज भी वहाँ यथावत् उपलब्ध होता है। बल्कि चन्द्रमजी के द्वारा किये गये तौलवदेशीय स्त्रियों के रूप-लावण्य का वर्णन पढ़ कर मुझे सहसा "विप्र गौडे शिवश्रौले मन्त्रवादम्नु केरले। कर्णाटेष्वंगनाभाग्यं सर्वं काश्मीरमण्डले।" यह पद्य याद आ जाता है। वास्तव में यह कवि की कल्पना नहीं; प्रत्युत एक भारतीय विद्वान कवि के अनुभव का जीता-जागता नमूना है। अब आगे इस लेख में ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश डालना ही मेरा निश्चित लक्ष्य होगा; जिसे मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं। अतः पाठकों से भी अनुरोध है कि इसी उद्देश्य को सामने रख कर इस लेख को पढ़ने की कृपा करेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ के ऐतिहासिक वर्णन का अंश यह है:—

"इसी तौलव देश में कार्कल नाम का नगर है। यह नगर धन, सम्पत्ति, समृद्धि आदि से सम्पन्न है। उक्त कार्कल हिरियंगडि, बेट्टदंगडि और केरेयतोडि इन नामों से तीन भागों में विभक्त है। इनमें हिरियंगडि और बेट्टदंगडि में अधिकतर जैनियों का ही निवास है। केरेयतोडि में सभी सम्प्रदाय की प्रजायें हैं। बेट्टदंगडि पांड्यनगरी के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी में मन्त्री, पुरोहित आदि उच्च राजकर्मचारियों के गगनचुम्बी महल बने हुए हैं। इसमें कंचुगारकेरि, मणिगारकेरि आदि भिन्न-भिन्न बहुत सी केरियाँ (सड़कें) मौजूद हैं"। आगे कवि ने क्रमशः रायसमुद्र, (रामसमुद्र) नेमिजिन-चैत्यालय, उसके सामने के मानस्तंभ, केरेबस्ति (तालाब के मध्यवर्त्ती मन्दिर, चतुर्मुख या त्रिभुवनतिलकचैत्यालय की पर्याप्त प्रशंसा की है। "इस नगरी के बीचोबीच रत्नजटित सुन्दर राजमहल विद्यमान है; जिसमें भोजनशाला, आयुधशाला, नाट्यशाला, स्नानागार, जिनागारादि राजोचित प्रासाद विनिर्मित हैं। सिंहासन-मण्डप बड़ा ही सुन्दर एवं चित्ताकर्षक बना हुआ है। इसी राजमहल के चारो-ओर रानियों

एवं राजकुमारों के लिये भव्य भवन निर्मित हैं। इसमें प्राचीन काल में सोम-सूर्य-वंशज उत्तर मथुरा के राजवंशीय कुलदीपक श्रीवीरपाण्ड्य न्यायपूर्वक राज्यशासन करते रहे। वह शौर्य, औदार्य एवं गाम्भीर्यादि आवश्यक सभी राजसद्गुणों से अलंकृत थे। साथ ही साथ इन्हें 'अरिराय गजगण्डबेरुण्ड' एवं 'गर्वितपरगिरिवज्रदण्ड' ये उपाधियाँ भी प्राप्त थीं। एक दिन इस राजा वीरपाण्ड्य ने दर्बार में बैठे बैठे अपने पुरोहित आदि हितचिन्तकों से यह प्रश्न किया कि धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में कौन सा उत्तम अथ च ग्राह्य है। इसका उत्तर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न रूप में दिया। अर्थात् किसी ने काम को श्रेष्ठ बतलाया तो किसी ने अर्थ को। पर इससे राजा सहमत नहीं हुए। बाद जब एक अन्यतम मन्त्री ने उल्लिखित दोनों मतों को खण्डन करते हुए धर्म की प्रधानता एवं उपयोगिता स्पष्ट सिद्ध कर दिखाई तो पाण्ड्यराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। इसी के फलस्वरूप बहुमूल्य पारितोषिक उस मंत्री को प्रदान कर इन्होंने उसे सम्मानित किया। साथ ही साथ दर्बार से महल को लौटने के बाद उनके हृदय में यह विचार उठ खड़ा हो गया कि धर्म तो दान, पूजा, शील, उपवासादि भेदों से विविध प्रकार का है। इन में से मेरे लिये कौन सा उपयुक्त होगा। अब वे इसी उधेड़बुन में पड़े। उत्तर क्षण में ही उन्हें उसका यह समुचित उत्तर सूझ पड़ा कि मैं एक सुन्दर और विशाल देवमूर्त्ति तैयार करवा लूं।* पर इस कलिकाल में रत्न, सुवर्ण, रजत, ताम्र एवं पित्तल आदि की देव-प्रतिमा निर्माण कराना सुरक्षित एवं कुशल नहीं है। अतः विशालकाय शिलामयी मूर्त्ति बनवा एवं स्थापित कर अपनी कीर्त्ति को अमर तथा स्थायी रखने का अच्छा उपाय है। यहीं उनका अन्तिम विचार स्थिर हुआ। अपने महल के दक्षिण भाग में अवस्थित उन्नत पर्वत ही इस नूतन निर्माप्य विशालकाय जिनबिम्ब की स्थापना के लिये योग्यस्थान है, यों सोचकर राजा वीरपाण्ड्य ने गुरु ललितकीर्त्ति के पास जाकर अपने हृद्गत इस शुभ विचार को निवेदन किया। भट्टारक ललितकीर्त्ति जी और वीरपाण्ड्य अपने कर्मचारियों के साथ तत्क्षण ही उक्त पर्वत को गये। भाग्यवशात् उसी समय गुरु ललितकीर्त्ति जी की नज़र एक विशाल शिला पर पड़ी और अभीष्ट जिनबिंब-निर्माण करने के लिये भट्टारक जी ने इस शिला को ही उपयुक्त बतलाया। इस गुरुसंदेश को राजा वीरपाण्ड्य ने सहर्ष स्वीकार कर तुरत जलगन्धादि अष्टद्रव्यों को मंगा कर उस शिला की प्रारंभिक पूजा की। बाद भट्टारक जी को मठ पर पहुंचा एवं मंत्री, पुरोहितादि को विदा कर राजा वीरपाण्ड्य अपने महल को चले आये। नित्यहोम, सिद्धचक्राराधना आदि दैनिक कृत्यों से निवृत्त हो वीरपाण्ड्य अतिथि-सत्कार के लिये सन्नद्ध हुए। यथा-समय तथा

* किसी किसीका मत है कि यह शुभ विचार राजा वीरपाण्ड्य के मन में पहले से ही संचित था जो कि श्रवणबेल्गोल की लोकविख्यात बाहुबली की मूर्त्ति के दर्शन से आविर्भूत हो गया था।

यथाविधि नवधाभक्ति-पूर्वक आहारदान देकर सपरिवार स्वयं भी भोजन से निवृत्त हुए। बाद एक रोज राजा वीरपाण्ड्य ने शिल्पशास्त्र के मर्मज्ञ सुचतुर कई शिल्पियों को बुलवा एवं उन्हें वस्त्राभूषणादि से यथायोग्य सम्मान कर बाहुबली स्वामी की एक विशालकाय भव्य प्रतिमा तैयार कर देने के लिये आज्ञा दी।"

मालूम होता है कि दाक्षिणात्य जैन क्षत्रिय वीरों ने महाबाहु, संसार-विजयी श्रीबाहुबली को ही अपना आदर्श मान रक्खा था। यही कारण है कि दक्षिण के भिन्न-भिन्न तीन स्थानों में वीर जैनक्षत्रियों से स्थापित इन्हीं बाहुबली स्वामी की विशाल मूर्त्तियाँ उपलब्ध होती हैं। वास्तव में इस युग में जैनक्षत्रिय वीरों के लिये इनसे बढ़कर कोई दूसरा आदर्श मिल भी नहीं सकता है। जिस समय ये तीनों प्रतिमायें विराजमान हुई हैं वह काल ऐतिहासिक दृष्टि से भी क्षात्रयुग था।

"वीर पाण्ड्य एवं शिल्पियों के मूर्त्ति-निर्माण-सम्बन्धी सूक्ष्म परामर्श तथा विचार-विनिमय के बाद इस मूर्त्ति-निर्माण-कार्य को देख-रेख राजा वीरपाण्ड्य ने अपने सुयोग्य पुत्र युवराज कुमार के हाथ सौंपा। साथ ही साथ इन्होंने ज्योतिष शास्त्र के एकान्त मर्मज्ञ अपने दरबारी पण्डितों को बुलवा इस सदनुष्ठान के प्रारम्भ के लिये शुभमुहूर्त गिनवाया और कार्य सम्पन्न होने पर उन्हें उचित सत्कार कर विदा किया। बाद वीरपाण्ड्य गुरु ललितकीर्त्ति जी के पास जा उन के साथ जिनमन्दिर गये और पूजा, अभिषेकादि के अनन्तर प्रारब्ध मूर्त्ति-निर्माण-कार्यको निर्विघ्न सम्पन्न होने के लिये अनेक व्रत नियमादि स्वीकार किये। बल्कि आपने गुरु भट्टारक ललितकीर्त्ति जी को अग्रसर बना वह मन्त्री, पुरोहितादि राज-परिवार के साथ पर्वत पर गये और निर्दिष्ट शुभ मुहूर्त में अभिषेक, पूजादि-पूर्वक मूर्त्ति निर्माण का कार्यारम्भ करवाया। दीर्घकाल तक लगातार मूर्त्ति-निर्माण का कार्य राजकुमार की देखरेख में निर्विघ्न सुविधापूर्वक चलता रहा। बीच-बीच में राजा वीर-पाण्ड्य जा-जा कर योग्य परामर्श दिया करते थे। दीर्घकालीन परिश्रम एवं प्रचुर अर्थव्यय से जब मूर्त्ति तैयार हुई तब राजा को उसे पर्वत ले जाने की तीव्र चिन्ता जागरित हुई। फलस्वरूप इसके लिये इन्होंने बीस पहियों की एक बढ़िया, मजबूत एवं विशाल गाड़ी तैयार करवायी। गाड़ी तैयार होते ही दस हजार मनुष्यों ने इकट्ठे होकर उस प्रतिमा को गाड़ी पर चढ़ाया। बड़ी-बड़ी मजबूत रस्सियों को बाँध कर राजा, मंत्री, पुरोहित, सेनानायक तथा समवेत जन-समुदाय मिलकर वाद्य एवं तुमुल जयघोषपूर्वक ऊपर की ओर गाड़ी खींचने लगे। पर दिनभर खींचते रहने पर भी गाड़ी उस रोज थोड़ी ही दूर ऊपर बढ़ सकी।"

कविने अपनी इस कृति में उस समय के समारोह का चित्र सजीव अङ्कित किया है

इसमें कोई शक नहीं। जैसे—गाड़ी खींचनेवालों का अविरत जयघोष, पहियों का भयानक चीत्कार, धूलि उड़ कर गगन-व्याप्त हो जाना आदि।

"सायंकाल होते ही हजारों आधार स्तंभों को गाड़ कर गाड़ी वहीं बाँध दी गयी। पुनः दूसरे रोज प्रातःकाल होते ही फिर कार्य शुरू हुआ। हाँ, उस रोज गाड़ी कुछ अधिक दूरतक खींची गयी। इसी प्रकार लगातार क्रमशः अधिकाधिक खींच-खींच कर एक महीने में मूर्ति पर्वत के शिखर पर पहुंचायी गयी। राजा वीरपाण्ड्य आदि से अन्त तक उपस्थित जनता का यथायोग्य फल, अन्न, मोदक, पान, सुपारी तथा इलायची आदि द्रव्यों से यथेष्ट सत्कार करते रहे। बल्कि इनकी इस धार्मिक उदारता को देख कर जनता मुक्त कण्ठ से आपकी प्रशंसा करती रही। पहाड़ के ऊपर मूर्ति बाईस खंभों से बने हुए एक विशाल एवं सुन्दर अस्थायी मण्डप में पधारायी गयी और पूर्ववत् राजकुमार के निरीक्षण में लगातार एक साल तक मूर्तिनिर्माण का अवशिष्ट कार्य सम्पन्न होता रहा। मूर्ति पर लता, नासाग्रदृष्टि आदि रचना की पूर्ति पहाड़ पर ही हुई।" यहाँ पर कवि चन्द्रमजी ने मूर्ति के अङ्गों एवं उपाङ्गों का वर्णन सुन्दर ढंग से सयुक्तिक किया है। "मूर्ति का कार्य समाप्त होते ही वीरपाण्ड्य ने उन सुदक्ष शिल्पियों को भरपूर भेंट दे तथा सन्तुष्ट कर घर भेजा। इसके बाद पहाड़ पर समुचित स्थान में सुयोग्य, सुदृढ़ और सुन्दर शिलामय मण्डप-निर्माण कर शालिवाहन शक १३५३ विरोधिकृत संवत्सर, फाल्गुन शुक्ल द्वादशी* बुधवार (सन १४३२, फरवरी, ता० १३) के स्थिर लग्न† में जिनभक्त राजा वीरपाण्ड्य ने इस नूतन निर्मापित श्रीबाहुबली स्वामी की मूर्ति की स्थापना बड़ी धूमधाम से करायी। इस बिम्बप्रतिष्ठोत्सव में विजयनगर के तत्कालीन शासक राजा देवराय (द्वितीय) भी वीरपाण्ड्य के द्वारा सादर आमन्त्रित होकर सम्मिलित हुए थे।" सचमुच वहाँ के तत्कालीन इस धार्मिक दृश्य ने उपस्थित भव्य जनता को पूर्व में देवों के द्वारा किये गये पञ्चकल्याणक का स्मरण

---

* "दक्षिण कन्नड जिलेय प्राचीन इतिहास" में एकादशी लिखा मिलता है। पता नहीं कि यह किस आधार पर लिखा है। क्योंकि निम्न शिलालेख में द्वादशी साफ लिखी हुई है।

"श्रीमद्देशीगणे ख्याते पनसोगेबलीश्वरः श्रीचारुकीर्तिर्देवार्यस्तच्छिष्यो मुनिपुङ्गवः ॥
स्वस्तिश्रीशकभूपतेस्त्रिशरवह्नि ... विरोधिकृद्वर्षे फाल्गुनमासि ... श्रीद्वादशीवासरे।
श्रीसोमान्वयभैरवेन्द्रतनुजः श्रीवीरपाण्ड्यो शिना निर्माप्य प्रतिमाप्रबाहुबलिनो नीथात्प्रतिष्ठापिता।"

मूर्ति की बगल का शिलालेखांश।

† मित्रवर श्रीयुत गोविन्द पै का मत है कि यह स्थिरलग्न उस दिन पूर्वाह्न 10 बज कर ५२ मिट के उपरान्त ... बज कर ... मिट के पहले मध्यवर्ती वृष लग्न होना चाहिये। यह समय है भी प्रतिष्ठा के लिये उत्तम मुहूर्त।

दिलायी होगा। क्या ऐसा सुवर्णावसर इस अभागे कार्कल को फिर कभी मिल सकता है ? सहृदय पाठक इस समय कार्कल में स्थित उन प्राचीन स्मारकों को देखते हुए यदि वहां के उस विलुप्तप्राय वैभव को स्मरण करेंगे तो अवश्य उनका हृदय दहल जायगा। धनाढ्य कहलानेवाला यह जैनसमाज कभी अपने उस गत वैभव को महसूस करता है! उसको इतना अवकाश ही कहाँ है कि वह इस धार्मिक पचड़े में पड़कर अपने द्रव्योपार्जनादि भौतिक उन्नति-साधन के मार्ग में काँटा बोये! इसी से यह जैनसमाज आज निर्जीव सा बना हुआ है। न इसकी कहीं पूछ है और न क़द्र ही!

अस्तु ग्रन्थकार का कहना है कि इस विशाल मूर्ति को २० हजार मनुष्यों ने उठा कर उक्त शुभ मुहूर्त में ठीक समय पर खड़ा कर दी थी। साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि राजा वीरपाण्ड्य ने मूर्ति के ऊपर छत्र आदि आच्छादक साधन की योजना इसलिये नहीं करायी कि सब कोई दूर से भी इस मूर्ति का दर्शन आसानी से कर सकें। कवि के वर्णन-क्रम से ज्ञात होता है कि नान्दिमङ्गल, वास्तुपूजा, अङ्कुरारोपण आदि प्रतिष्ठा-सम्बन्धी सब विधान मूर्ति स्थापित या खड़ी करने के बाद ही सम्पन्न किये गये थे।

हाँ, ग्रामशुद्धि एवं गर्भ और जन्मकल्याणक की विधियाँ नहीं की गयी थीं। इसका कारण यह है कि ग्रामशुद्धि के लिये तो ग्राम था ही नहीं। गर्भ और जन्मकल्याणक के विधान इसलिये नहीं हुए कि श्रीबाहुबली स्वामी को ये दोनों कल्याणक हुए ही नहीं थे। पर दर्भशयन आदि क्रियायें अवश्य हुई हैं। साथ ही साथ परिनिष्क्रमणादि तीनों कल्याणक यथावत् संपन्न हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि बाहुबली स्वामी की प्रतिमा का जो अभिषेक किया जाता है वह जन्माभिषेक के स्मारकरूप में नहीं, किन्तु धार्मिकानुष्ठान, प्रभावना मूर्तिरक्षा आदि के ख्याल से ही। वीरपाण्ड्य ने भी अन्त में एक हजार आठ कलशों की धारा धूमधाम से कराई थी। कवि चंद्रमजी लिखते हैं कि इस प्रतिष्ठोत्सव में मुनि, अर्जिका श्रावक एवं श्राविका आदि नौ लाख दर्शक उपस्थित हुए थे। प्रतिष्ठाकार्य समाप्त होनेपर धर्मवत्सल वीरपाण्ड्यने क्षुल्लक, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी, प्रतिष्ठाचार्य, कवि, वाग्मी, वादी आदि बड़े-बड़े विद्वानों एवं शासक प्रभृतियों को बहुमूल्य भेंट देकर विदा किया। बल्कि उसी समय उक्त मूर्ति के दैनिक एवं वार्षिक पूजोत्सवादि के लिये योग्य चल-अचल संपति का शासनलेख-पूर्वक वीरपाण्ड्य ने दान भी किया। बस, यहाँ पर कार्कलस्थ बाहुबली बिम्बस्थापना-सम्बन्धी उल्लेख की इतिश्री हो जाती है। आगे वीरपाण्ड्य के प्रार्थनानुसार गुरु ललितकीर्ति जी के मुख से कवि चन्द्रम ने उन्हें श्रद्धेय पिता आदीश्वर स्वामी एवं पुत्र भरत तथा बाहुबली की जीवनी सुनाई है, जो कि आदिपुराण आदि ग्रन्थों में विस्तार से अङ्कित है।

कवि चन्द्रमजी ने अन्त की दो सन्धियों में अर्थात् १६वीं और १७वीं में अपने आश्रयदाता इम्मडि भैरवराय का कुछ वंश-परिचय दिया है; पर यह वंश-परिचय केवल कविके आश्रयदाता इम्मडि भैरवराय के पितामह से ही प्रारंभ होता है। जैसे—वीरनरसिंह कामराय बंग,* इनकी पट्ट महिषी गुम्मटांबा, इन के पुत्र इम्मडि भैरवराय और रानी मल्लि देवी। इनके तीन पुत्र थे—(१) भुवनैकवीर पाण्ड्य (२) चन्द्रशेखर (३) इम्मडि भैरवराय (अन्यत्र इनका नाम सबसे पहले लिखा मिलता है)। यही इम्मडि भैरवराय कवि चन्द्रम के आश्रयदाता हैं। इन्हें अरिरायरगंड, दावणि ये उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने अपने शासनकालमें अपने पिता की स्मृति में शालिवाहन शक १५६८—सन १६४६ में कार्कल में अपने पूर्वज वीरपाण्ड्य द्वारा स्थापित उक्त बाहुबली स्वामी की प्रतिमा की पुनः प्रतिष्ठा, पूजा एवं अभिषेक आदि बड़े समारोह के साथ कराया था। बल्कि इन सब बातों का उल्लेख मैं ऊपर कर भी चुका हूं।

कवि चन्द्रम ने पूर्वोक्त अन्तिम दो सन्धियों में इसी धार्मिक समारोह का वर्णन विशेषरूप से किया है। आश्रयदाता राजवंश का परिचय तो नाममात्र का है। साथ ही साथ प्रतिष्ठा-महोत्सव का यह वर्णन भी काव्य के ढंग से ही किया गया है। इसमें विशेष उल्लेखनीय बात नज़र नहीं आती। हाँ, कवि का कहना है कि यह द्वितीय प्रतिष्ठा भी प्रथम प्रतिष्ठा के उसी मास, तिथि, वार एवं लग्न में ही हुई थी और इसमें तीन लाख जनसमुदाय इकट्ठे हुए थे। इस प्रतिष्ठा के प्रधानाचार्य नागचन्द्र थे, जो कि वहां के तत्कालीन इन्द्र अर्थात् जैन ब्राह्मण पुरोहितों में प्रमुख थे। अन्त में अभिषेक तथा रथ-यात्रा भी हुई थी। रथ हिरियंगडि तक गया था। कवि लिखते हैं कि इस प्रतिष्ठा में मूडबिद्री के मठ के शिष्यों ने भी यथेष्ट सहायता की थी। खास कर अजिलवंश के तत्कालीन शासक ने विशेष सहयोग दिया था। इन्हीं इम्मडि भैरवराय की जीवनी 'दक्षिण कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास' में कुछ अधिक दी गयी है। परन्तु मेरी दृष्टि से इस लेख में उन बातों का उल्लेख करना अनुपयुक्त है।

अस्तु, अब मैं इस लेख की अधिक कलेवरवृद्धि करना नहीं चाहता। हाँ, मैं यहां एक बात का खुलासा कर देना चाहता हूँ। वह यह है कि इस 'चरित' की उल्लिखित सन्धियों का यदि अक्षरशः अनुवाद किया जाय तो एक पोथी ही बन जायगी इसमें कोई शक नहीं। पर मैं ऊपर लिख ही चुका हूँ कि इसमें वर्णनांश अधिक मात्रा में है। और वह है भी काव्य-ढंग से। इसलिये मैं ने उनमें से चुन-चुन कर मुख्य मुख्य बातों को ही पाठकों के सामने रख दिया है। मेरी दृष्टि इस समय इतिवृत्तपरक है और यह पत्र है भी ऐतिहासिक। एक बात और है। वीरपाण्ड्य के द्वारा मूर्ति-स्थापित होने का काल सन १४३२

* यह वीरनरसिंह बंगराय कार्कल के भैररसवंशज नहीं हैं। किन्तु बंगवाडि के बंगरस-वंशज हैं। भैररस वंशज हिरिय भैरवदेव को कोई सन्तान नहीं थी। अतः अपनी छोटी बहन गुम्मटांबा एवं इन वीर नरसिंहबंग राय के पुत्र इम्मडि भैरवराय को कार्कल का गद्दी मिली।

है और कविचन्द्रम के द्वारा ग्रन्थरचना-काल सन् १६४६ है। इन दोनों कालों में २१४ साल का अन्तर पड़ता है। अतः वीरपाण्ड्य के द्वारा स्थापित बाहुबली की प्रथम बिम्ब-प्रतिष्ठा का वर्णन केवल कवि के द्वारा श्रुतिगोचर किया हुआ ज्ञात होता है। हाँ, अपने आश्रयदाता इम्मडि भैरवराय के द्वारा सन् १६४६ में की गयी द्वितीय प्रतिष्ठा का वर्णन कवि का अनुभूत विषय है। अब मैं अन्त में कार्कल की वर्तमान अवस्था का दिग्दर्शन कराना भी समुचित समझता हूं। वह इस प्रकार है:—

चतुर्मुखबस्ति—यह मन्दिर यहाँ के सभी मन्दिरों में दर्शनीय है और कला की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। इसे इम्मडि भैरवराय ने शालिवाहन शक १५०८—सन् १५८६ में बनवाया है। इसका प्रकृत नाम त्रिभुवनतिलक-चैत्यालय है। यह सारा मन्दिर शिलानिर्मित है। इसके चारो तरफ एक-एक द्वार है, इसीलिये यह चतुर्मुखबस्ति कहलाता है। प्रत्येक द्वार में अर, मल्लि एवं मुनिसुव्रत इन तीर्थङ्करों की तीन प्रतिमायें विराजमान हैं। पश्चिम तरफ चौबीस तीर्थङ्करों की २४ मूर्त्तियाँ भी स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त उभय मण्डपों के भीतर भी कई जिनबिम्ब विद्यमान हैं। दक्षिण और वाम भाग में वर्तमान ब्रह्म-यक्ष और पद्मावती यक्षी की मूर्त्तियाँ विशेष चित्ताकर्षक हैं। मन्दिर के खंभों एवं दीवालों में खुदे हुए पुष्प, लतायें और भिन्न-भिन्न चित्र इम्मडि भैरवराय कालसम्बन्धी शिल्पकला के कौशल व्यक्त कर रहे हैं। सुनने में आया है कि राजा को इसे बारह-मंजिला बनवाने की लालसा थी। पर वृद्धावस्था के कारण इस शुभ संकल्प का इन्हें संवरण करना पड़ा। बल्कि यह बात मन्दिर की बनावट से भी सत्य सिद्ध होती है। भैरव राय ने इस मन्दिर के लिये तोलार ग्राम दान में दे दिया था, यह बात इसकी पश्चिम दिशा के दरवाजे में स्थित शिला-लेख से प्रमाणित होती है। इस मन्दिर-निर्माण का इतिहास बड़ा ही रोचक है।

सन् १५८४ में एक रोज शृंगेरी शंकराचार्य मठ के तत्कालीन पीठाधीश श्रीनरसिंह भारती कार्कल के मार्ग से अन्यत्र जा रहे थे। यह बात भैरवाराय को विदित होनेपर राज-सम्मानपूर्वक उनकी भेंट की और नव-निर्मापित अप्रतिष्ठित सुन्दर जिनमन्दिर में राजा ने उन्हें ठहराया। साथ ही साथ स्वामीजी को अपनी राजधानी में कुछ काल तक ठहरने के लिये भैरवराय ने आग्रह किया। इस पर भारतीजी ने उत्तर दिया कि जहाँ पर अपने नित्य कर्मानुष्ठान के लिये देव-मन्दिर नहीं हैं वहाँ पर मैं नहीं ठहर सकता। इस उत्तर से राजा को मार्मिक चोट लगी। फलस्वरूप जिस नूतन निर्मित जिन-मन्दिर में भारतीजी ठहराये गये थे उसी में तत्क्षण शेषशायी अनन्तेश्वर विष्णु भगवान् की एक सुन्दर प्राचीन प्रतिमा स्थापित करादी। यह मन्दिर कार्कल में आज भी मौजूद है। इसको गवर्नमेण्ट से आठ सौ रुपये की वार्षिक सहायता आज भी मिल रही है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति बहुत सुन्दर है। खैर, उक्त समाचार जब गुरु ललितकीर्तिजी को ज्ञात हुआ, राजा भैरवराय पर बहुत

रंज हुए। दूसरे रोज भैरवराय प्रतिदिन के समान जब ललितकीर्तिजी के दर्शन को गये और उन्हें साष्टांग नमस्कार करने लगे तब असन्तुष्ट भट्टारकजी ने निर्भय हो खड़ाऊ-सहित-पैरों से ठुकरा दिया। साथ ही साथ कहने लगे कि तुम जैनधर्म-द्रोही हो। राजा ने हाथ जोड़ कर नम्रता से प्रार्थना की कि सभी धर्मों को एक दृष्टि से देखना राजा का धर्म है। इसीलिये जैन मन्दिर हिन्दूमन्दिर को दे दिया; मेरे अपराधों को क्षमा करें। एक ही साल के भीतर मैं दूसरा इससे भी प्रशस्त जिनमन्दिर तैयार करवा दूंगा, जिससे मुझे अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति हो। इसी प्रतिज्ञा से बद्ध होकर राज इम्मडि भैरवराय ने एक साल के अन्दर इस त्रिभुवन-तिलक जिनचैत्यालय का निर्माण कराया था। यह भैरवराय बड़े प्रतापी शासक रहे। चतुर्मुखबस्ति जैनमठ के ठीक आमने-सामने उत्तर दिशा में है। मठ की पूर्व दिशा में थोड़ी दूर पर एक पार्श्वनाथबस्ति है, जिसे बोम्मराज-बस्ति भी कहते हैं। इसकी दशा शोचनीय है। बाहुबली पर्वतपर चढ़ते हुए बीच में एक छोटा सा मन्दिर मिलता है। इसका भी नाम पार्श्वनाथ-बस्ति है। इसकी भी स्थिति अच्छी नहीं है। पर्वत पर बाहुबली स्वामी के सामने दाहिनी और बायीं तरफ शीतल एवं पार्श्वनाथ तीर्थंकर-सम्बन्धी और दो मन्दिर हैं। हिरियंगडि जाते समय मार्ग में क्रमशः श्रमण या चन्द्रनाथबस्ति, आनेकेरेबस्ति एवं अरमनेबस्ति ये तीन मन्दिर मिलते हैं। आनेकेरेबस्ति (तालाब के बीच का मन्दिर) में चन्द्रनाथ, शान्तिनाथ और वर्द्धमान तीर्थङ्करों की प्रतिमायें तथा अरमनेबस्ति (राजमहल का मन्दिर) में आदिनाथ तीर्थङ्कर की प्रतिमा विराजमान हैं। हिरियंगडि में वाम पार्श्व में दक्षिण दिशा में आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ-मंदिर और दक्षिण-पार्श्व में उत्तर दिशा में पार्श्वनाथ और आदिनाथ जिनालय वर्तमान हैं। इसी हिरियंगडि के हाते के भीतर बायीं ओर दक्षिण दिशा में आदिनाथ, अनन्तनाथ तथा धर्म-शान्ति-कुन्थुतीर्थङ्करों के तीन मंदिर हैं। इस अन्तिम मंदिर (गुरुबस्ति) की बगल में एक निषीदिका बनी हुई है, जिसमें क्रमशः निम्नलिखित आचार्यों की मूर्तियाँ और नाम अङ्कित हैं:—(१) कुमुदचन्द्र भ० (२) हेमचन्द्र भ० (३) श्रीचारुकीर्ति पण्डितदेव (४) श्रुतमुनि (५) धर्मभूषण भ० (६) पूज्यपाद स्वामी। नीचे की पंक्ति में क्रमशः (१) विमलसूरि भ० (२) श्रीकीर्ति भ० (३) सिद्धान्तदेव (४) चारुकीर्ति देव (५) महाकीर्ति (६) महेन्द्रकीर्ति। इस प्रकार उक्त इन मुनियों की मूर्तियाँ छः छः के हिसाब से तीन-तीन युगलरूप में बारह मूर्तियाँ खुदी हैं। संभव है कि अन्त में उत्कीर्ण महेन्द्रकीर्ति ही इस 'चरिते' के रचयिता कवि चन्द्रम के व्रतगुरु हों। खास कर हिरियंगडि का विशाल एवं उन्नत मानस्तंभ बहुत ही सुन्दर है। यह मानस्तंभ नेमिनाथ भगवान् के विशाल एवं भव्य मन्दिर के सामने वर्तमान है।

अन्त में मैं मित्रवर श्रीयुत गोविंद पै मंजेश्वर को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता हूं। क्योंकि इन्हीं के प्रोत्साहन, प्रेरणा एवं प्रदत्त 'गोम्मटेश्वरचरिते' की हस्तलिखित प्रति के आधार से ही इस लेख को 'भास्कर' के विज्ञ पाठकों के समक्ष मैं रख सका।

सित्तन्नवासल

[ले०—श्रीयुत सुरेशचन्द्र जैन, बी० ए० (का० वि० वि०) डिप० एड० (पटना)]

पर्वतमालाओं से सुसज्जित, सुन्दर, सुहावना और पवित्र सित्तन्नवासल दक्षिण भारत में स्थित पुदुकोट्टै राज्यके अन्तर्गत अन्नावसाल नगरी के समीप छोटा-सा एक प्राचीन ग्राम है।

स्थान-परिचय

यह पुदुकोट्टै से दस मील उत्तर-पश्चिम की ओर है। यह ग्राम बहुत दिनों तक अपने पहाड़ी साथियों में लुका-छिपा, दबा-दबाया चुपचाप पड़ा था; परन्तु इधर कुछ दिनों से कतिपय अन्वेषकों की कृपासे वह वर्तमान सभ्य-संसार के समक्ष आया है—भारत के अतीत गौरव की फटी चादर ओढ़कर, पुरातन चित्रकला की झलक लेकर, प्राचीन जैन कला एवं शिल्प का संदेश लेकर।

"दक्षिण भारत में जैनधर्म का इतिहास और वहां के जनसमाज के जीवन के ऊपर उसका प्रभाव, यह विषय इतिहास प्रेमियों के लिये जितना चित्ताकर्षक है उतनाही गहन और

दक्षिण भारत में जैनधर्म

रहस्यपूर्ण भी है। साहित्य और शिलालेखादि में इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक घटनायें विछिन्नरूप से इधर-उधर पायी जाती हैं, पर ज्योंही इतिहासकार उन्हें धारावद्ध करने का प्रयत्न करता है त्योंही उसे प्रमाणों का अभाव पद-पद पर खटकने लगता है, और उसे अपनी शृङ्खला पूरी करने के हेतु अनुमान और तर्क से काम लेना पड़ता है। अनुमान और तर्क यद्यपि इतिहास-क्षेत्र में आवश्यक हैं किन्तु जबतक उनकी नींव अचल प्रमाणों पर न जमाई जावे तबतक वे सच्चे पथप्रदर्शक नहीं कहे जा सकते। मद्रास प्रान्त में जैनधर्म के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली कई ऐसी बातों का पता लग चुका है जिनसे आगामी अन्वेषण में बहुत सहायता मिलने की आशा है।"

कुछ इतिहास-प्रेमियों और अन्वेषकों ने सित्तन्नवासल को खोज निकाला है। प्राचीन चित्रकला की दृष्टि से यह स्थान छोटा होते हुए भी किसी प्रकार नगण्य नहीं है। जैनियों

जैनियों की प्राचीन चित्रकला

की प्राचीन चित्रकला तथा मूर्तिनिर्माण कला का इतिहास अभी बहुत ही तिमिराच्छन्न है। यद्यपि अनेक विद्वानों ने अपूर्व परिश्रम के साथ इनके पुराने इतिहास का पता चलाया है तथापि कितनी ऐतिहासिक बातें, जिनका संबन्ध मुख्यत: कला और शिल्प से ही है, अभी अनिर्णीत ही पड़ी हैं और इनके मूल तत्त्व अभीतक पूर्ण रीति से सुस्थापित नहीं हो सके हैं। अभी तक जो कुछ खोज हुई है उससे

यह प्रत्यक्ष है कि संसार के इतिहास में जैन-कला का भी एक स्थान है और वह स्थान उच्च है। भाग्यवश जैन कला अब भी सजीव है और उसके इतिहास में सजीवता विद्यमान है। इतिहासों में इस कला का उज्वल वृत्तांत मिलता है। इस सजीवता में इतिहासज्ञों के मनोरंजनार्थ विपुल सामग्री उपस्थित है। ये सामग्रियाँ ग्रन्थों, स्मारकों, शिलालेखों आदि के रूप में भारत के भिन्न-भिन्न कोनों में वर्तमान हैं। जो स्थान पूर्व काल में चित्रकला और मूर्तिनिर्माण-कला की दृष्टि से केन्द्र रहे हैं, उनके इतिहास यदि ध्यानपूर्वक क्रमबद्ध लिखे जायें तो जैनकला के प्राचीन इतिहास को बड़ी यहायता मिले।

सित्तन्नवासल एक ऐसा स्थान है कि यदि हम एक कलाकार की दृष्टि से उसकी ऐतिहासिक महत्ता पर थोड़ा सा भी विचार करें तो हमें यह एक अत्यन्त ही कलापूर्ण स्थान ज्ञात होगा। किन्तु खेद है कि अभी तक इस सम्बन्ध में जैनियों की ओर से यथोचित रूपसे अन्वेपण-कार्य नहीं किया गया है, यद्यपि ई० बी० हैवेल और एच० लौंगहर्स्ट साहब ने यह सिद्ध कर दिया है कि सित्तन्नवासल एक प्राचीन स्थान है और यहाँ पर जैनकला के अत्यन्त ही प्रशंसनीय नमूने पाये जाते हैं। जनकला का यह रत्न सदियों तक अन्धकूप में पड़ा रहने के पश्चात् अब अन्वेपकों के तीक्ष्ण अन्वेषणों की प्रखर रश्मियों से किंचित प्रकाश में आकर झिलमिला रहा है—अपनी प्राचीनता स्थापित करने, अपने प्रभुत्व का परिचय देने एवं अपने जीवन-काल को निर्धारित कराने के लिए।

सित्तन्नवासल की महत्ता

हमारे इस लेख-द्वारा सित्तन्नवासल का पूरा ज्ञान होना असंभव है; इस लेख का अभिप्राय केवल इतना ही दिग्दर्शन करना है कि यह स्थान कलाकारों के लिए एक शिल्प-निधि है और इतिहास प्रेमियों तथा विद्वानों को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

इस लेख का आशय

सित्तन्नवासल के चरवाहों को इस शिल्पनिधि का पता तो अवश्य था किन्तु वे बेचारे क्या जानें कि पहाड़ी सित्तन्नवासल और गुफाओं की छतों, दीवारों और स्तम्भों पर जहाँ-तहाँ बने हुए हाथी-घोड़े, राजा-मंत्री, मोर-मुकुट, प्राचीन-जैन कला और साहस के जीते जागते निदर्शन हैं। इस रत्न को खोज निकालने का श्रेय मि० हैवेल और मि० लौंगहर्स्ट जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं को ही मिला। इस रत्न को जनता के समक्ष उपस्थित कर इन लोगों ने कार्य तो अवश्य ही बड़प्पन का किया परंतु जबतक जनता की निगाह इस पर नहीं पड़ी थी, जबतक चरवाहों का ही इस पर राज्य था तब तक सदियों से संचित यह धन बहुत सुरक्षित रहा, किसी ने इसके साथ छेड़-छाड़ न की; किन्तु जब से पुरातत्त्ववेत्ताओं की प्रखर अन्वेषक रश्मियां इस पर पड़ी हैं तब से बिचारा यह शिल्पनिधि बहुतेरे उद्दण्ड

सित्तन्नवासल और पुदुकोट्ट राज्य

दर्शकों, यात्रियों, अन्वेषकों और परिव्राजकों का शिकार बन बैठा—जिसके फलस्वरूप २य सदी ई० पू० के बने हुए मंडोदक चित्र (Fresco Paintings) केवल लकीरों के रूप में अपना रोना रो रहे हैं। अज्ञानियों ने इन चित्रों के अस्थिपंजर को भी धुंधला बना दिया है और यदि पुदुकोट्ट राज्य के अजायब घर के अधिकारियों का ध्यान इस ओर आकर्षित न होता तो सम्भवतः इस निधि का एक-एक रत्न दर्शकों की अंगुलियों की रगड़ से ही साफ हो जाता और जैन-कला का एक वैभवशाली स्मारक सदैव के लिये लुप्त हो जाता। राज्य के पुरातत्व-विभाग के अधिकारियों ने इन चित्रों के एक दम बिगड़ जाने के पूर्व ही इनकी नकल कर ली थी और कुछ चतुर चित्रकारों ने इनका फोटो (Photo) भी ले लिया था। इन नकली चित्रों से मौलिक मण्डोदक चित्रों के रङ्ग का भी बहुत कुछ ज्ञान होता है। मि० हैवेल-द्वारा लिखित 'Studies in Indian Painting' नामकी पुस्तक में इन चित्रों का नमूना मिलता है।

सित्तन्नवासल की पहाड़ी गुफाओं में इन मंडोदक चित्रों के अवशेष अभी भी पाए जाते हैं। वहां का सबसे बड़ा चित्र एक गुफा के चबूतरे की छत पर है। अन्यान्य चित्र स्तम्भो पर ही हैं। छत परका चित्र हाथों की पहुंच से बाहर होने के कारण बहुत कुछ सुरक्षित है। गुफा के चित्र नाना प्रकार के रंगों से रंगे गये हैं और इनकी शोभा देखने लायक है। इन चित्रों को दीर्घायु बनाने के लिए रंगों की कितनी ही तहें दी गयी हैं। इनकी तुलना इटली के 'Fresco Buons' से की जाती है।

सित्तन्नवासल की पहाड़ी गुफायें

छत के चित्र में एक तालाब का दृश्य है। तालाब बहुत बड़ा है; उसमें हाथियों, जल-विहंगमों, मछलियां, कुमुदिनी और कमल के फूलों की शोभा देखते ही बन पड़ती है। तालाब में स्नान करते हुए दो मनुष्य के चित्र हैं—एक गौरवर्ण और दूसरा श्यामल। संभवतः ये चित्र जैनियों के ही हैं।

उसी गुफा के एक स्तम्भ पर एक नर्तकी का जो मंडोदक चित्र है उसकी सराहना बड़े-बड़े कलाविदों और चित्रकारों ने की है। चित्र में चित्रित नर्तकी की भावभंगिमा देख कर लोगों को दंग रह जाना पड़ता है। जिस खूबी और बारीकी के साथ उस नर्तकी के अङ्गों को अङ्कित किया गया है उस को देख कर आलोचकों का ध्यान रंगों के चमत्कार से हट कर अङ्गों की कमनीयता पर ही केन्द्रित हो जाता है। एक दूसरे स्तम्भ पर एक राजा का चित्र है। यह चित्र भी सत्यता से भरा है। प्रत्येक चित्र में एक नवीन प्रकार की सजीवता है। अजंता के चित्रों के विषय में प्रोफेसर विलियम रोथेनस्टेइन ने लिखा है कि "मनोवैज्ञानिक चित्रण के विचार से इन चित्रों में इतनी सत्यता है, यहां के मनुष्यों और पशुओं का चित्रण

इतना अद्भुत है और भारतीय जीवन के आध्यात्मिक चित्रण में इतनी गम्भीरता है कि आज इस शीघ्र परिवर्तनशील युग में भी तत्कालीन चित्रकला की अनुपस्थिति में ये चित्र भारतीय जनता की सभ्यता और चरित्र के प्रतिनिधि हैं।" सित्तन्नवासल के चित्रों के विषय में भी यदि ये ही बातें लिखी जायें तो विशेष अत्युक्ति न होगी। कलाकारों ने यहां के चित्रों को अजंता के चित्रों के समान ही सुन्दर और अपूर्व बताया है। इनके अतिरिक्त मंडोदक चित्रों से विभूषित उस गुफा में और भी अनेक चित्ताकर्षक चित्र हैं। इसकी दीवारों पर जैन तीर्थङ्करों के पाँच मनुष्याकार चित्र खुदे हुए हैं। इनमें से तीन भीतरी उपासना-स्थली के अन्दर और दो चबूतरे के दोनों तरफ हैं। उपासनास्थली के दक्षिण की ओर जिन चार छोटे-छोटे उत्कीर्ण लेखों का पता लगा है वे प्राचीन ग्रन्थाक्षरों में लिखे गये हैं; पल्लवों के राज्यवंश के प्रथम महेन्द्र वर्म्मन् का संगीत-सम्बन्धी एक उत्कीर्ण लेख भी समीप के एक गांव में पाया गया है।

ऊपर जिस गुफा का परिचय दिया गया है वह मनुष्यों द्वारा ही पहाड़ काट कर बनाया गया है और वह पहाड़ के उत्तरी किनारे पर है। इसके अतिरिक्त वहां और दूसरी गुफायें भी हैं। पहाड़ के दक्षिण भाग में जो गुफा है वह प्राकृतिक है। उसे किसी मनुष्य ने नहीं बनाया है और जैन आचार्य उसे एक दूसरे ही कार्य में लाते थे। बहुतों का विश्वास है कि कुछ जैन मुनियों ने उस दुर्गम पर्वत की गुफा में जाकर शान्तिपूर्वक जीवन की अन्तिम घड़ियों को व्यतीत किया था। परन्तु कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि वे लोग निर्विघ्नरूप से धर्म-ध्यान करने को ही वहां जाया करते थे।

जैन मुनियों की समाधि-शिलायें

इस गुफा में सात समाधि-शिलायें हैं; प्रत्येक की लम्बाई ६ फीट और चौड़ाई प्रायः ४ फीट है। यह बताना बहुत कठिन है कि इन समाधिशिलाओं का क्या उपयोग किया जाता रहा होगा। जैन मुनियों ने या तो इन पर बैठ कर ध्यान लगाया होगा, आराधना की होगी या उन पर लेट कर अपनी थकान दूर की होगी। कुछ भी हो पर इतना अवश्य है कि इतने ऊँचे पर्वत पर जहां से तनिक भी पैर फिसलने पर हड्डियाँ चूर-चूर हो जायँगी, खेल तमाशा के लिये कोई भी जाने का साहस न करता रहा होगा। आज भी जब कि राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की ओर से वहां जाने की बहुत सुविधायें हैं, उस गुफा तक जाने के लिए हिम्मत की आवश्यकता है और गुफा का मार्ग खतरे से खाली नहीं है, फिर उस जमाने की तो बात ही क्या है जब वहां जाने के लिए कोई निर्धारित पथ तक नहीं था, सुगमता की तो बात ही अलग रही। प्राचीन जैन साहस का यह नमूना जैनियों का गौरव-स्तम्भ है। गुफा की ज़मीन पर तृतीय सदी ई० पू० का एक उत्कीर्ण लेख है जिससे अनुमान किया जाता है कि उस

प्राचीन समय में भी यह गुफा एक जैनविहार था। यह गुफा १०० फीट लम्बी और ५० फीट चौड़ी है। इसमें प्रवेश करने का केवल एक ही मार्ग है जिसके द्वारा कोई भी मनुष्य सुगमतापूर्वक अन्दर जा सकता है। प्रभात-सूर्य की किरणें इसके चौड़े मुख में अच्छी तरह प्रवेश कर जाती हैं और उस समय गुफा के भीतर बहुत दूर तक अन्धकार का नाम तक नहीं रहता। गुफा का दूसरा किनारा दो चट्टानों के प्राकृतिक मिलाप से बन्द हो गया है और इसका भीतरी भाग जितना सुरक्षित है बाहरी हिस्सा उतना नहीं है। सामने का भाग ढालुआ होने के कारण भयानक और विपत्तिजनक है।

गुफाका विस्तार

पुदुकोट्ट राज्य के अधिकारियों ने गुफा तक जाने का अच्छा प्रबन्ध कर दिया है। करीब-करीब गुफा के द्वार तक मोटर जाने के लिये सड़क बना दी गई है। गुफा का द्वार भी अब बराबर खुला नहीं रहता। राज्य की ओर से इसकी देख-रेख का प्रबन्ध है। हरएक मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक अब इसके भीतर नहीं जा सकता। ऐसा करने से चित्रों का बचा-बचाया अस्थि पञ्जर सुरक्षित है। राज्य के अधिकारियों ने प्राचीन जैनकला और साहस के इस नमूने को बचा कर जैनधर्म की जो सेवा की है उसके लिये वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं और हम उनकी सराहना करते हैं।

राज्य की ओर से प्रबन्ध

सहायक पुस्तकें:—

(१) 'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' ब्र० सीतलप्रसादजी।

(२) 'Indian State Railway Magazine'. VolVIII, No 9

विविध-विषय

उदयगिरि- खंडगिरि-गुफाओं के अन्य शिलालेख

[१]

उड़ीसा प्रान्त में जैनियों के लिये खास और पवित्र स्थान उदयगिरि-खंडगिरि की पहाड़ियां हैं। दिगम्बर जैनी इस स्थान की गणना अपने तीर्थों में करते हैं और हर-समय यहाँ की पूजा-बन्दना करने आते हैं। इस क्षेत्र का प्रबन्ध भी दिगम्बर जैनियों के अधीन है। परन्तु शिक्षित-समुदाय में उदयगिरि-खंडगिरि की गुफायें प्रसिद्ध कलिंग-सम्राट् खारवेल के हाथीगुफावाले शिलालेख के कारण प्रख्यात हैं। यह सम्राट् ईस्वी-पूर्व दूसरी शताब्दी में हुये थे और जैनधर्म के एक महान् स्तम्भ थे। इन्हीं सम्राट् के पुत्र एवं अन्य परिजनों ने उपर्युक्त पहाड़ियों पर कई गुफायें बनवायी थीं। उन इमारतों में इन लोगों ने अपने-अपने शिलालेख भी अङ्कित कराये थ। उन शिलालेखों को सन् १८३७ ई० में सब से पहले प्रो० जेम्स प्रिंसिप सा० ने पढ़ कर छपाया था। उसके पश्चात् कितने ही दूसरे विद्वानों ने भी उनको पढ़ा और प्रकाशित किया। किन्तु हाल में उन लेखों को डा० वेनीमाधव बाड़आ ने संशोधित-रूप में 'इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली' (भा० १४ अङ्क १) में प्रकाशित कराया है। पाठकों के परिचय के लिये हम उन्हें यहाँ अपने हिंदी-अनुवाद-सहित सधन्यवाद प्रकट करते हैं।

१. उदयगिरि-पर्वत पर एक गुफा 'वैकुण्ठपुर' नामक है, जिसमें एक शिलालेख सम्राट् खारवेल की अग्रमहषी-द्वारा अङ्कित विद्यमान है। कुछ समय पहले यही गुफा 'स्वर्गपुर' नाम से प्रसिद्ध थी। इस गुफा की सामनेवाली दीवाल पर निम्नलिखित शिलालेख अङ्कित है; जिस में केवल तीन पंक्तियां हैं। प्रारम्भ में एक शुभ चिह्न है। यह लेख भी हाथी गुफावाले लेख के साथ ही खुदवाया गया था—इसलिये उतना ही प्राचीन है:—

"अरहंत—पसादानं कलिंगानं समनानं लेणं कारितं [,—] राजिनो ललाकस हथिस (?) हसंपनात सधुतुना कलिंग-च (कवतिनो सिर-खार) वेलस अगमहसिना कारितं।"

अर्थात् आर्हतमतानुयायी कलिंग के श्रमणों के लिये यह गुफा कलिंग चक्रवर्ती श्रीखारवेल की अग्रमहषी ने बनवाई, जो महानुभाव नृपललाक हस्थिसिंह की कन्या थीं।

२ दूसरा शिलालेख पातालपुर नामक गुफामें है, जो मंचपुरी गुफा का निम्नतल है। इस शिलालेख को खारवेल के पुत्र और उत्तराधिकारी ने अङ्कित कराया था, जिनका नाम कूदेप था। शिलालेख निम्नप्रकार है:—

"येरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महामेघवाहनस कूदेपसीरीनो लेणं।"

अर्थात् इस गुफा को महामेघवाहनवंश के कलिंगाधिपति महाराज श्रीकूदेप ने निर्मापित कराया।

३ तीसरा शिलालेख यमपुर गुफा में है। जिसे राजकुमार वडुख ने उत्कीर्ण कराया था। यह राजकुमार संभवतः कूदेप के भाई थे। लेख यूं है:—

"कुमारो-वडुखस लेणं।"

अर्थात्—कुमार वडुख (द्वारा निर्मित) गुफा।

४. व्याघ्र गुफा में निम्नलिखित लेख किन्हीं भूतिनामक महानुभाव-द्वारा अङ्कित कराया गया था:—

"नगर-अखदंस स भूतिनो लेणं।"

अर्थात् इस गुफा को नगर-न्यायाधीश भूति ने (निर्माण कराया था।)

५. उक्त गुफा के निकट सर्पगुफा में कम, हलखिण और चूलकम्प नामक सज्जनों के लेख हैं:—

"कंमस हलखिणय च पसादो
चूलकमस कोठाजेया च"

अर्थात्—गुफा के बरांडे को कम और हलखण ने (बनवाया है) और गहन अन्तर्गृह को चूद्रकर्म ने (निर्माण कराया है)

६. पावन गुफा में भी उपर्युक्त चुद्रकर्म का एक लेख निम्न प्रकार है:—

'चूलकमस पसातो कोठाजेया च'

अथात्—गुफा का बरंडा और अन्तरगृह चुद्रकर्म ने बनवाया है:—

७. जम्बेश्वर गुफा में निम्नलिखित लेख अङ्कित है:—

"महामदसाबारियाय नाकियस लेणं।"

अर्थात्—महामद, बारिया और नाकिय की गुफा।

८. छोटा-हाथीगुफा में निम्नलिखित लेख है जो उपर्युक्त लेखों से किंचित् उपरान्त का है:—

"(अ) तसुख-अदिनकस लेनं।"

अथात्—आत्मसुख प्रदानो (द्वारा निर्मित) गुफा।

९. यह और आगे के शिलालेख खण्डगिरि-पर्वत की गुफाओं में अङ्कित हैं। वहाँ सर्व-प्राचीन शिलालेख तत्त्वगुफा में निम्न प्रकार है:—

"पादमुलिकस कुसुमस लेणानि।"

अर्थात् पादमूलिक (राजकर्मचारी) कुसुम (द्वारा निर्मापित) गुफायें।

१०, अनन्त गुफा में निम्न लिखित लेख है:—

,"दोहद समणानं लेणं।"

अर्थात्—श्रमणों की गुफायें।

११. तत्त्वगुफा नं० १ में निम्नाङ्कित लेख है, जिसके नीचे ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला लिखी है:—"……रीपुतस कथान।"

अन्य शीलालेख मध्यकालीन हैं। —का० प्र०

पूज्यपाद-चरित्र

[२]

कन्नड भाषा में चन्द्रय्य नामक कविका रचा हुआ एक 'पूज्यपाद-चरित्र' है। उसमें आचार्य-प्रवर देवनन्दि—पूज्यपाद का संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिखा हुआ है। 'जैनहितैषी' भा० १५ पृष्ठ १०५-१०६ पर उसका सार पं० नाथूरामजी प्रेमी ने निम्न प्रकार दिया है। "कर्णाटक देश के कोले नामक ग्राम के माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणी से पूज्यपाद का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने बालक को त्रिलोक-पूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रखा गया। माधवभट्ट ने अपनी स्त्री के कहने से जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टजी के साले का नाम पाणिनि था। उसे भी उन्होंने जैनी बनने को कहा, परन्तु प्रतिष्ठा के खयाल से वह जैनी न हो कर मुडीगुंड ग्राम में वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपाद का कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्ट को ब्याही गयी। गुणभट्ट को उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ। पूज्यपाद ने एक बगीचे में एक साँप के मुंह में फँसे हुए मेंढक को देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैनसाधु बन गये। पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न होने पाया था कि उन्हों ने अपना मरणकाल निकट आया जान लिया। इससे उन्होंने पूज्यपाद से जाकर कहा कि इसे आप पूरा कर दीजिये। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया। पाणिनि दुर्भाग्यवश मरकर सर्प हुए। एक बार उन्होंने पूज्यपाद को देख कर फूत्कार किया, इस पर पूज्यपाद ने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरण को पूरा कर दूंगा। इसके बाद उन्हों ने पाणिनि-व्याकरण को पूरा कर दिया। इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक, ज्योतिष आदि के कई ग्रन्थ रच चुके थे। गुणभट्ट के मर जाने से नागार्जुन अतिशय दरिद्र हो गया। पूज्यपाद ने उसे पद्मावती का एक मन्त्र दिया और सिद्ध करने की विधि बतला दी। पद्मावती ने नागार्जुन के निकट प्रकट हो कर उसे सिद्धरस की वनस्पति बतला दी। इस सिद्धरस से नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्व का परिहार करने के लिये पूज्यपाद ने एक मामूली वनस्पति

से कई बड़े सिद्धरस बना दिये। नागार्जुन जब पर्वतों को सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरणेन्द्र-पद्मावती ने उसे रोका और जिनालय बनाने को कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की। पूज्यपाद पैरों में गगनगामी लेप लगा कर विदेह क्षेत्र को जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दि ने अपने साथियों से झगड़ा करके द्राविड़संघ की स्थापना की। नागार्जुन अनेक मन्त्र, तंत्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियां आईं जो गाने नाचने में कुशल थीं। नागार्जुन उन पर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और एक दिन अवसर पाकर उसे मार कर और उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं। पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव के विमान में बैठ कर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गयी थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्यों की त्यों करली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राम में आकर समाधि-पूर्वक मरण किया।" प्रेमीजी ने इस कथा-सारांश को अपने निम्न वाक्यों सहित प्रकट किया था कि 'विद्वान् पाठक इससे यह समझ सकेंगे कि सत्यता की जरा भी परवा न करने वाले और साम्प्रदायिकता के मोह में बहनेवाले लेखक किस तरह तिल का ताड़ बनाते हैं।' परन्तु विद्वान् लेखक के इस मत से हम सहमत होने में असमर्थ हैं; क्योंकि उपर्युक्त कथा-भाग में ऐसी कोई बात नहीं दिखती जो सम्प्रदायिकता को लिये हुये हो। प्रत्युत जो कुछ उसमें लिखा है उसका समर्थन अन्य स्रोत से भी होता है। कथा से निम्न लिखित बात प्रकट होती हैं:—

(१) देवनन्दि—पूज्यपाद कर्णाटक देश के निवासी थे ;

(२) उन्होंने जैनमुनि होकर अनेक ग्रन्थ रचे थे, जिनमें एक पाणिनि-व्याकरण भी था।

(३) पूज्यपाद ऋद्धिधारी योगी थे; सामान्य वनस्पति से उन्होंने स्वर्णोत्पादक सिद्धरस बनाया था ;

(४) वह विदेह-क्षेत्र की यात्रा को गये थे ;

(५) उनका शिष्य वज्रनन्दि था जिसने द्राविड़संघ की स्थापना की।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि पूज्यपाद आचार्य का कार्यक्षेत्र दक्षिण-भारत—कर्णाटक देश ही था। निस्सन्देह उन्होंने मुनिपद धारण किया था, तब वे ग्रन्थ भी रचे थे जिनका उल्लेख कथा में है। उसमें कथित पाणिनि-व्याकरण रचने की बात अवश्य आपत्तिजनक प्रतीत होती है और इसी बात पर प्रेमीजी ने उस सारे चरित्रग्रन्थ को असत्य ठहराया है। परन्तु यदि इस स्थल पर सामान्य विवेक से काम लिया जाय तो पाणिनि-

व्याकरण रचने की बात भी असत्य नहीं ठहरती ; क्योंकि शिलालेखीय एवं साहित्यिक साक्षी से स्पष्ट है कि पूज्यपाद ने पाणिनि-व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक न्यास (टीका) ग्रन्थ रचा था।* कथाकार ने टीका न लिख कर पाणिनि-व्याकरण ही लिख दिया और पाणिनि को पूज्यपाद का मामा बताया। परंतु उन्होंने यह नहीं लिखा कि यह पाणिनि संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध वैयाकरण हैं। हो सकता है कि पूज्यपाद के मामा का नाम पाणिनि हो और उन्होंने पाणिनि के प्रसिद्ध व्याकरण पर टीका रचना विचारा हो और वैसा न कर सकने पर पूज्यपादजी ने उनके विचार को पूरा किया हो। इससे तो 'शब्दावतार-टीका' रचे जाने का हेतु भी विदित हो जाता है। अत एव चरित्रगत इस उल्लेख को एकदम असत्य नहीं कहा जा सकता। श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० १०८ (२५८) में पूज्यपाद के विषय में यह लिखा हुआ मिलता है:—

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥१७॥

इसका अभिप्राय यही है कि श्रीपूज्यपाद मुनि अद्वितीय औषधि-ऋद्धि के धारक और विदेहक्षेत्र-स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-द्वारा पवित्र-गात्र हुए थे। एक समय उनके चरणोदक के स्पर्श से लोहा भी सोना हो गया था। चरित्रग्रंथ में भी इन्हीं बातों का उल्लेख है। श्रीदेवसेनकृत 'दर्शनसार' ग्रंथ के देखने से यह बात भी ठीक जंचती है कि पूज्यपादजी के शिष्य वज्रनंदि थे, जिन्होंने द्राविड़संघ की स्थापना की थी। इस प्रकार 'पूज्यपाद-चरित्र' में यह वर्णित आचार्य पूज्यपाद की जीवनवार्ता का समर्थन स्वाधीन साक्षि-द्वारा होता है। इस अवस्था में उसे एकदम 'असत्य' कह देना अति साहस होगा। कथा-वार्ता तब तक विश्वसनीय होना चाहिये जब तक उसके विरुद्ध पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो।

—का० प्र०

बैजनाथ की जिन-प्रतिमा का लेख।

[३]

"भास्कर" भा० ४ कि० ३ पृ० १५९ पर बैजनाथ के शिवालय में पार्श्वजिनेन्द्र की एक प्रतिमा होने का उल्लेख हुआ है। हाल में हमें स्व० श्रीकुमार देवेन्द्रप्रसादजी के कागजों में इपीग्रेफिया इंडिका भा० १ की प्रतिलिपि मिली है, जिससे प्रकट है कि उक्त जरनल के पृष्ठ ११८-११९ पर बैजनाथ के मन्दिर में विराजमान एक जैनमूर्ति का लेख छपा है। उस जैन-

* नगर ताल्लुक (शिवमोग्गा) के शिलालेख नं० ४६ में एवं वृत्तविलास कविकृत 'धर्मपरीक्षे' नामक ग्रन्थ में पूज्यपाद के 'शब्दावतार' नामक पाणिनि-व्याकरण की टीका का उल्लेख है।

मूर्ति का जो परिचय वहाँ दिया है उससे स्पष्ट है कि वह मूर्ति वह नहीं थी, जिसके दर्शन मैंनपुरी के जैनसंघ ने किये थे, क्योंकि यह मूर्ति भ० पार्श्वनाथ की न हो कर भ० महावीर की बताई गई है और जो लेख उस पर अङ्कित है उससे यह मूर्ति श्वेताम्बराम्नाय की प्रतीत होती है। बुल्हर सा० ने इस लेख को पढ़ा था और उन्हें बताया गया था कि निकटस्थ कीरग्राम में महावीर स्वामी का एक जैनमन्दिर था—उसके नष्ट होने पर इस प्रतिमा को पंडे लोग ले आये। मूर्ति पर के लेख का भाव यह है कि सम्वत् १२९६ फाल्गुन कृष्ण ५ रविवार को जिनेन्द्र महावीर के मूलबिम्ब को श्रेष्ठी दोल्हण और अल्हण ने निर्मापित कराया। यह दोनों सेठ ब्रह्मक्षत्रवंशी मानू के पुत्र थे। उन्होंने कीरग्राम में जिनमन्दिर भी बनवाया जिसमें इस प्रतिमा को रुद्रपल्लीय जिन-वल्लभ सूरि की आम्नाय में हुये अभयदेव सूरि के शिष्य देवभद्र सूरि से प्रतिष्ठित करा कर विराजमान किया। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि मध्यकाल में कीरग्राम (बैजनाथ) जैनधर्म का एक केन्द्र था।

—का० प्र०

संवत् १०११ के जैनमन्दिर का एक लेख

[४]

उल्लिखित जनरल के पृ० १३५ पर खजुराहो के जिननाथ-मन्दिर के द्वार पर अङ्कित लेख का परिचय भी दिया है। प्रिय देवेन्द्र ने उसकी भी नकल करके रख छोड़ी थी। उससे प्रकट है कि संवत् १०११ में परम धर्मात्मा पाहिल्ल ने कई वाटिकाओं का दान किया था। पाहिल्ल के गुणों के साथ-साथ उन्हें महाराज धङ्ग-द्वारा सम्मानित लिखा है। इन्हीं महाराज धङ्गदेव का उल्लेख यशोवर्मन् के लेख में हुआ है। महाराज-गुरु श्रीवासवचन्द्र थे।

—का० प्र०

दिल्ली का 'उर्दू-मन्दिर'

[५]

'लिस्ट आव मुहमडन एण्ड हिन्दू मानूमेण्ट्स' नामक पुस्तक से प्रकट है कि दिल्ली में वह जैनमन्दिर जो लाल-किले के पास अवस्थित है और जिसे 'उर्दू मंदिर' कहते हैं, सम्राट् शाहजहाँ के समय का है। 'उर्दू-मंदिर' वह इसलिये कहा गया था कि उसका निर्माण उन जैनियों के लिये किया गया था जो सम्राट् शाहजहाँ की सेना में थे। एक दफा सम्राट् औरङ्गजेब ने हुक्म निकाला था कि इस मंदिर में बाजे न बजाये जायँ; परन्तु उनके हुक्म की पाबन्दी

न हो सकी—बाजे बराबर बजते रहे—यह जरूर था कि बजाने वाला कोई न दिखता था। सम्राट् स्वयं यह देखने आये और संतोषित होकर उन्होंने अपना हुक्म वापस ले लिया। कहा जाता है कि जिस स्थान पर यह मन्दिर है पहले वहाँ पर शाही छावनी थी और एक जैनी सैनिक की छोलदारी वहाँ पर लगी थी, जिन्होंने अपने लिये दर्शन करने के वास्ते एक जिन-प्रतिमा उसमें विराजमान कर रखी थी। उपरान्त उसी स्थान पर यह विशाल मन्दिर बनाया गया। इस में प्रतिमायें संवत् १५४८ की प्रतिष्ठित हुई विराजमान हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि इस मन्दिर में विराजमान मूर्तियों और यंत्रों के लेखों को नकल करके प्रकट की जाय।

—का० प्र०

"जैन-ऐंटीक्वेरी" के लेख

(भाग ४ कि० १)

[६]

१—श्रीभास्कर आनन्द सालेतुर महोदय ने कर्णाटक देश के प्रसिद्ध जैनाचार्य वादी विद्यानन्द का प्रामाणिक परिचय लिखा है, जिसमें स्पष्ट है कि वह नन्दिसंघ और कुन्द-कुन्दान्वय से सम्बन्धित थे। गेरुसोप्पे के दिग० जैनसंघ के प्रधान गुरु थे। कोपण, श्रवण बेलगोल आदि दक्षिणवर्ती जैन तीर्थों में आपने धर्मप्रभावना के अनेक कार्य किये थे। अनेक राजदरबारों में जाकर उन्होंने परवादियों से वाद किये थे, जिनसे उनकी कीर्ति चारो ओर फैली थी। श्रीरङ्गनगर में ईसाई धर्माचार्य से भी उन्होंने वाद करके विजय पाई थी। सालेतुर महाशय ने उन सब राजाओं का भी ऐतिहासिक परिचय कराया है, जिनके समक्ष विद्यानन्दजी ने वाद किये थे। इन आचार्य का कार्य-काल सन् १५०२ से १५३० ई० तक सिद्ध किया है।

२—श्री एच० एम० भट्टाचार्य महोदय ने जैनसिद्धान्तानुसार 'ज्ञान' विषय पर मार्मिक लेख लिखा है। आपका यह लिखना ठीक है कि जैनसिद्धान्त और संस्कृति का अध्ययन जैसा चाहिये वैसा अभी तक विद्वानों ने नहीं किया है। जैनेतर विद्वान् जैनसिद्धान्त का निरूपण शायद ही ठीक-ठीक कर पाते हों। जैनमान्यतायें पाश्चात्य जगत् की आधुनिक मान्यताओं से टक्कर लेती हैं।

साहित्य-समालोचना

अहिंसा और कायरता

[१]

लेखक—अयोध्या प्रसाद गोयलीय ; प्रकाशक—हिन्दीविद्या-मन्दिर पहाड़ी धीरज देहली ; वितरक—लाला तनसुख राय जैन; भाषा—हिन्दी; पृष्ठसंख्या ३१; नवम्बर १९३७ ; साईज—डबलक्राउन सोलहपेजी; कागज मुद्रण आदि सुन्दर

इसमें अहिंसा-धर्म की उत्तमता एवं सर्वमान्यता, जैनधर्म में उसकी सर्वाङ्ग-पूर्णता व्यक्त कर आगे हिंसा का लक्षण और हिंसा के भेद की समीक्षा करते हुए गोयलीय जी ने अहिंसा पर कायरता का कलंक लगाना भूल है इस बात को सयुक्तिक साबित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि गोयलीयजी की लेखनी में ओज और प्रतिभा का सुन्दर सम्मिश्रण है। इनको साहित्यिक क्षेत्र में उतर कर अपनी लेखिक शक्ति का पूर्ण परिचय देना चाहिये। अब तो इन्हें सुयोग्य समाज-शुभचिन्तक लाला तनसुख रायजी मैनेजिंग डाइरेक्टर 'तिलक बीमा कम्पनी' देहली का पृष्ठपोषण भी मिल गया है।

—के० बी० शास्त्री

हमारी कायरता के कारण

[२]

लेखक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय ; प्रकाशक—जैन संगठन-सभा, पहाड़ी-धीरज देहली ; भाषा—हिन्दी ; पृष्ठ-संख्या ३० ; नवम्बर १९३७ ; मूल्य एक आना ; साइज—डबलक्राउन सोलहपेजी : कागज मुद्रण आदि समीचीन।

इसमें लेखक ने समाज की वर्तमानकालीन विलासिता का सजीव चित्र खींचा है और उसका सारा दायित्व माता-पिता के ऊपर निर्भर बतलाया है। इनका कहना है कि माता-पिता ही इसलिये इसके उत्तरदायी हैं; क्योंकि सन्तान को योग्य या अयोग्य बनाना उन्हीं के हाथ में है। वास्तव में यह बात है भी ठीक। गोयलीयजी ने इसमें आधुनिक स्त्रियों के फैशन का खाका बड़े अच्छे ढंग से खींचा है। बल्कि इन्हों ने सिद्ध किया है कि गरीब और साधारण स्थितिवाले परिवार इसी फैशन से तबाह हैं। अन्तमें गोयलीयजी ने वर्तमान-कालीन शिक्षा और संस्कार भी हमारी कायरता में कारण हैं—इस बात को अनेक उदाहरणों से अभिव्यक्त किया है। यह पुस्तक मुझे बहुत पसन्द आयी। समाज में घुसी हुई कुरीतियों को अन्त करने के लिये ऐसी ही पुस्तकों की आवश्यकता है। जैन समाज इससे अवश्य लाभ उठायेगा।

—के० बी० शास्त्री

क्या जैनसमाज जिन्दा है ?

[३]

लेखक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय; प्रकाशक—हिन्दीविद्या-मन्दिर न्यू देहली; द्रव्यदाता—लाला तनसुख राय; भाषा—हिन्दी; पृष्ठसंख्या—३२; एप्रिल १९३८; मूल्य—एक आना; साइज—डबलक्राउन सोलहपेजो; कागज, मुद्रणादि सुन्दर।

गोयलीयजी ने इस छोटी पुस्तिका में वर्तमान जैनसमाज का चित्र बड़े सुन्दर ढङ्ग से अङ्कित किया है। जैनसमाज में संगठन के अभाव को सोदाहरण सिद्धकरते हुए समाज में घर किये हुई प्रायः सभी कुरीतियों पर आपने अच्छा प्रकाश डाला है। वास्तव में जिन्हें जैनसमाज की उन्नति की चिन्ता रात-दिन सता रही है, उन्हें इस पुस्तिका का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। यथार्थ में संगठन के अभाव में ही जैनसमाज निर्जीव-सा बना हुआ है। अपने नगण्य भेद-भावों को भूल कर कमसे कम अब इसे संगठित हो जाना चाहिये। इस विषय में जैनियों को पारसी-सिक्ख आदि अल्पसंख्यक जातियों से शिक्षा लेनी चाहिये। लेखक का मत है कि शिक्षा-संस्थाओं, सभाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं आदि की वृद्धिंगत संख्या को सीमित कर उन सीमित संस्थाओं को सुदृढ़ तथा समुन्नत बनाने की बड़ी आवश्यकता है। तभी जैन समाज को इन परिष्कृत संस्थाओं से वास्तविक एवं पर्याप्त लाभ मिल सकता है। समाज में घुसी हुई बुराइयों का मूलोच्छेद करने के लिये ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है। कुछ व्यक्तियों को गोयलीयजी की लेखनी कटुतापूर्ण ज्ञात हो सकती है, पर मरणोन्मुख रोगी को मकरध्वज जैसे तीव्र रस ही काम दे सकता है, न कि साधारण काष्ठौषधी। इसके लेखक गोयलीयजी एवं प्रकाशक लाला तनसुख रायजी धन्यवाद के पात्र हैं।

—के बी शास्त्री

सचित्र विजयनगर-साम्राज्य

[४]

लेखक एवं प्रकाशक—पोतदार श्रीनिवासराय, स्वामी—श्रीनिवास ऐण्ड कम्पनी धारवाड़; भाषा—कन्नड, पृष्ठसंख्या—३०; मूल्य बारह आना; सन् १९३६।

इसमें निम्नलिखित विषय गर्भित हैं:—(१) प्रकाशकीय वक्तव्य (२) श्रीआलूरु वेंकटराय का प्राक्कथन (३) स्थलवर्णन (सचित्र) (४) इतिहास (५) क्षेत्र-माहात्म्य।

यह विशाल विजयनगर साम्राज्य के ध्वंसावशेष-स्मारक सम्बन्धी चित्रों का संग्रह है। विजयनगर साम्राज्य सन् १३३६ में स्थापित हुआ और सन् १५६५ में यवनों के द्वारा नष्ट किया

गया। यह नगर लगभग एक सौ एक वर्गमील से अधिक विस्तृत रहा। आज भी इसकी मुख्य-मुख्य इमारतें बुरी हालत में नौ-वर्गमील तक व्याप्त हैं। शेष स्थानों में केवल उसके चिह्न नजर आते हैं।

यह निर्विवाद बात है कि विजयनगर-साम्राज्य हिन्दुओं का एक चमकता हुआ आदर्शभूत साम्राज्य रहा। इसकी ख्याति केवल भारत तक ही सीमित नहीं थी, किन्तु बाहर भी थी। इसने काफी प्रसिद्धि उपार्जित की थी। विदेशों से यात्रा-निमित्त भारत में आये हुए पर्याटकों की विजयनगर-साम्राज्य विषयक शुभ-सम्मतियों को इकट्ठी की जाय तो एक गवेषणापूर्ण सुन्दर इतिहास तयार हो सकता है। इस साम्राज्य के शासनकाल में जैनी भी बड़े अमन-चमन से रहते थे, इसमें कोई शक नहीं। शासक हिन्दू होते हुए भी जैनधर्म एवं तदनुयायी जैनियों से उनका प्रेम था। इसके एक दो नहीं बल्कि अनेकों प्रमाण मौजूद हैं। इस सम्बन्ध में मेरा एक लेख इस 'भास्कर' एवं बेलगांव से प्रकाशित होनेवाले 'अरुणोदय' के विजयनगर-साम्राज्य के स्मारकोत्सव के उपलक्ष में प्रकट हुए विशेषांक में प्रकाशित हो चुका है।

अन्तमें मैं 'सचित्र विजयनगर-साम्राज्य' को प्रकाशित करनेवाले कलाविशारद पोतदार श्रीश्रीनिवास रायजी को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता। वास्तव में इनका यह परिश्रम सराहनीय एवं अनुकरणीय है। इसमें जितने चित्र दिये गये हैं वे सबके सब दर्शनीय हैं। जैन मन्दिरों के भी चित्र इसमें सम्मिलित हैं। यह केवल चित्रसंग्रह की दृष्टि से ही महत्त्वशाली नहीं है; किन्तु दर्शकों का एक पथप्रदर्शक भी है। —के० बी० शास्त्री

जैन सिद्धान्तभवन आरा की संक्षिप्त रिपोर्ट

(वीर नि-सं० २४६३ से २४६४ तक)

[६]

वीर नि० सं० २४६३ ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी से वीर नि० सं० २४६४ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक लगभग ५००० पाठकों ने भवन से लाभ उठाया है। विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित धनी-मानी एवं विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं:—

(१) राज्यभूषण रावराजा सर सेठ हुकुमचन्द नाइट इन्दौर (२) श्रीयुत बा० पि० पराडकर, सम्पादक 'आज' काशी (३) श्रीमती शिवरानी देवी, सम्पादिका 'हंस' काशी (४) श्रीयुत बा० मुरलीधरप्रसाद, सम्पादक 'सर्चलाइट' पटना (५) श्रीयुत पं० रामनरेश त्रिपाठी, सम्पादक 'कविताकौमुदी' प्रयाग (६) श्रीयुत पं० रामदहिन मिश्र काव्यतीर्थ, सम्पादक 'किशोर' पटना (७) श्रीयुत प्रधानमन्त्री इण्डियन सेक्सन 'थियोसोफिकल सोसाइटी' काशी (८) श्रीयुत बा० आर० के० शरण, असिस्ट० कमिश्नर आफ इनकम टैक्स पटना (९) श्रीयुत बा० नन्दकिशोर लाल रिटायर्ड डिप्टी कलक्टर, आरा

(१०) श्रीयुत बा० बलवन्त सहाय, प्लीडर पटना, (११) श्रीयुत बा० जगतनारायण लाल, पटना (१२) श्रीयुत बा० रूपचंद गार्गीय, पानीपत (१३) श्रीयुत पं० मुनिसुव्रतदास जैन, प्रबन्धक जैन हाईस्कूल पानीपत (१४ श्रीयुत बा० कौशलप्रसाद जैन, तिलक बीमा कम्पनी दिल्ली (१५) श्रीयुत पं० गोविन्दराय जैन न्यायतीर्थ, अध्यापक शिक्षा-मंदिर कोडरमा (१६) पं० राधारमण शर्मा शास्त्री काव्यतीर्थ, साहित्याचार्य, आयुर्वेदरत्नाकर गया। इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य सम्मतियों द्वारा भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

इस वर्ष भवन में मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, कन्नड, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भिन्न-भिन्न भाषाओं को चुनी हुई ८० तथा अंग्रेजी की २५, कुल १०५ पुस्तकें संगृहीत हुई हैं।

भवन के नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करनेवालों के अतिरिक्त विशेष नियम से बाहर भी २२५ ग्रन्थ स्वाध्यायार्थ दिये गये हैं। ग्रन्थ काशी, अलीगंज, कोल्हापुर, पटना, बम्बई, सरसावा, मद्रास, प्रयाग, मूडबिदुरे आदि शहरों में गये हैं।

पुस्तक भेंट करनेवाले दाताओं में 'नागरीप्रचारिणी सभा' काशी, 'नागरी प्रचारिणी सभा' आरा, के० जी० कुन्दनगार कोल्हापुर, राजकीय प्राच्यपुस्तकालय मैसूर और आर्चिओलोजिकल रिसर्च मैसूरु आदि सहृदय सज्जनों और संस्थाओं के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस 'भास्कर' के अतिरिक्त इसी में धारावाहिक रूपसे प्रशस्तिसंग्रह, तिलोयपण्णत्ती एवं वैद्यसार जो निकल रहे हैं वे ही इस वर्ष भवन के प्रकाशन-विभाग के उल्लेखनीय तीन ग्रन्थ हैं।

इस वर्ष अंग्रेजी के—(1) Indian Culture (2) Indian Historical quarterly, (3) Annual of the Bhandarkar oriental research institute (4) Karnatka Historical review (5)The Adyar Library Bulletin (6) Oriental Literary Digest (7) Quarterly Journal of the Mythic Society (8) Jaina Hostel Magazine (9) Jaina Gazette और हिन्दी के (१) नागरीप्रचारिणीपत्रिका (२) विशाल-भारत (३) सरस्वती (४)किशोर (५) जीवनसुधा (६) जैनदर्शन (७ वैद्य (८) जैनमहिलादर्श (९) दिगम्बर जैन (१०, धर्मदूत (११) शान्तिसिंधु (१२) जैनबोधक १३) खण्डेलवाल जैन-हितेच्छु (१४) जैनप्रचारक (१५) जैनबन्धु (१६) जैनसंदेश (१७) जैनमित्र (१८) जैनगजट (१९) नवशक्ति (२०) स्वाधीनभारत (२१) वीर (२२) विश्वमित्र (२३) साहित्यसन्देश (२४) हितैषी। संस्कृत के—(१) उद्यान-पत्रिका (२) सूर्योदय और कन्नड के—(१) प्रबुद्ध कर्णाटक (२ कर्णाटक-साहित्यपरिषत्पत्रिका (३) अध्यात्मप्रकाश ४) सुबोध (५) शरण-साहित्य ६) विवेकाभ्युदय (७) वीरवाणि (८) सर्वार्थसिद्धि ये कुल ४१ पत्र-पत्रिकायें भवन में बराबर आये हैं। इनमें से दो तीन को छोड़ कर शेष सभी परिवर्तन या भेंटरूप में आते रहे हैं, इसलिये इनके संचालक एवं सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं।

ज्येष्ठ-श्रुत-पंचमी
गुरुवार-वीर नि० सं० २४६४

मन्त्री
श्रीजैन सिद्धान्त-भवन, आरा।

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

१
१०

सायरउवमा इगिदुतिचउपणछस्सत्तअट्ठणवदसया ।
दसभजिदा रयणप्पह तुरिमिंदयपहुडि जेट्ठाऊ ॥२०८॥

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०

उवरिमखिदिजेट्ठाउ सोहसहेट्ठिमखिदीयजेट्ठम्मि ।
सेसं णियणियइंदयसंखाभजिदम्मि हाणिवड्ढीउ ॥२०९॥
तेरहउवहीपढमे दोद्दोजुत्ता य जाव तेत्तीसं ।
एक्करसेहिं भजिदा बिदियखिदीयिंदयाण जेट्ठाऊ ॥२१०॥

१३	१५	१७	१९	२१	२३	२५	२७	२९	३१	३३
११	११	११	११	११	११	११	११	११	११	११

इगतीसउवहिउवमापभउ चउवड्ढिदा य पत्तेक्कं ।
जा तेसट्ठि णवभजिदं पदं तदियावणिम्मि जेट्ठाऊ ॥२११॥

३१	३५	३९	४३	४७	५१	५५	५९	६३
९	९	९	९	९	९	९	९	९

बावण्णुवहीउवमापभउ तियवड्ढिदा य पत्तेक्कं ।
सत्तरिपरियंतंते सत्तहिदा तुरिमपुढविजेट्ठाऊ ॥२१२॥

५२	५५	५८	६१	६४	६७	७०
७	७	७	७	७	७	७

सगवण्णोवहिउवमाआदी सत्ताधिया य पत्तेक्कं ।
पणसीदीपरिअंतं पंचहिदा पंचमीय जेट्ठाऊ ॥२१३॥

५७	६४	७१	७८	८५
५	५	५	५	५

छप्पण्णा इगिसट्ठी छासट्ठी होंति उवहिउवमाणा ।
तियभजिदा मघवीए णारयजीवाण जेट्ठाऊ ॥२१४॥

५६	६१	६६
३	३	३

सत्तमखिदिजीवाणं आऊ तेत्तीसउवहिउवमाणा ।
उवरिमउक्कस्साऊ समउजुदो हेट्ठिमे जहण्णं खु ॥२१५॥

२२ | ३३ |

एवं सत्तखिदीणं पत्तेक्कं इंदयाण जो आऊ।
सेढिविसेढिगदाणं सो चेय पइण्णयाणं पि ॥२१६॥

। एवं आउ सम्मत्ता।

सत्तति छदंडहत्थंगुलाणि कमसो हवंति घम्माए।
चरिमिंदयम्मि उदओ दुगुणा दुगुणो य सेसपरिमाणं ॥२१७॥

दं ७, ह ३, अं ६। दं ह अं। दं ह। दं ह दं ह। दं ५००।

रयणप्पहपुढवीए उदओ सीमंतणामपडलम्मि।
जीवाणं हत्थतियं सेसेसुं हाणिवड्ढीओ ॥२१८॥

ह ३।

आदीअंते सोहिय रूऊणिदाहिदम्मि हाणिचया।
मुहसहिदे खिदिसुद्धे णियणियपदरेसु उच्छेहो ॥२१९॥

हाणिचयाण पमाणं घम्माए होंति दोण्णि हत्थाइं।
अट्ठंगुलाणि अंगुलभागो दोहिं विहत्तो य ॥२२०॥

ह २। अं ८। भा $\frac{1}{2}$

एक्कधणुमेक्कहत्थो सत्तरसंगुलदलं च णिरयम्मि।
इगिदंडो तियहत्थो सत्तरस अंगुलाणि रोरुगए ॥२२१॥

दं १, ह १, अं १७। दं १, ह ३, अं १७।

दो दंडा दो हत्था भंतम्मि दिवड्ढमंगुलं होदि।
उब्भंते दंडतियं दहंगुलाणि च उच्छेहो ॥२२२॥[2]

दं २, ह २, अ $\frac{3}{2}$ | दं ३, अंगु १०।

तिय दंडा दो हत्था अट्ठारह अंगुलाणि पव्वद्धं।
संभंतणामइंदयउच्छेहो पढमपुढवीए ॥२२३॥

दं ३, ह २, अं १८। भा $\frac{1}{2}$

चत्तारो चावाणिं सत्तावीसं च अंगुलाणि पि।
होदि असंभंतिंदियउदओ पढमाए पुढवीए ॥२२४॥

दं ४, अं २७।

1 Below these some numbers are put, but they are not legib'e.

2 This vers is missing in A and B.

चत्तारो कोदंडा तिय हत्था अंगुलाणि तेवीसं ।
वड्डिदाणि होदि उदऊ विब्भंतयणामि पडलम्मि ॥२२५॥
दं ४, ह ३, अं २३ ।

पंच च्चिय कोदंडा एक्को हत्थो य वीस पव्वाणी ।
तत्तिदयम्मि उदऊ पण्णत्तो पढमखोणीए ॥२२६॥
दं ५, ह १, अं २० ।

छ च्चिय कोदंडाणि चत्तारो अंगुलाणि पव्वद्धं ।
उच्छेहो णादव्वो पडलम्मि य तसिदणाममम्मि ॥२२७॥
दं ६, अं ४, भा १/२

बाणासणाणि छ च्चिय दो हत्था तेरसंगुलाणि पि ।
वक्कंतणामपडले उच्छेहो पढमपुढवीए ॥२२८॥
दं ६, ह २, अं १३ ।

सत्त य सरासणाणि अंगुलया एक्कवीसपव्वद्धं ।
पडलम्मि य उच्छेहो होदि अवक्कंतणाममम्मि ॥२२९॥
दं ७, अं २१, भा १/२

सत्त वि सिखासणाणि हत्थाइं तिण्णि छच्च अंगुलयं ।
चरिमिंदयम्मि उदऊ विक्कंते पढमपुढवीए ॥२३०॥
दं ७, ह ३, अं ६ ।

दो हत्थो वीसंगुल एक्कारसभजिद दो वि पव्वाइं ।
एयाई वड्ढीऊ मुहसहिदे होंति उच्छेहो ॥२३१॥
ह २, अं २० भा २/११

अट्ठ वि सिहासणाणि दो हत्था अंगुलाणि चउवीसं ।
एक्कारसभजिदाइं उदवो पुण बिदियवसुहाए ॥२३२॥
दं ८, ह २, अं २४ ।

णव दंडा बावीसंगुलाणि एक्कारसम्मि चउपव्वं ।
भजिदाउं सो भागो विदिए वसुहाय उच्छेहो ॥२३३॥
दं ९, अं २२, भा ४/११

णव दंडा तियहत्थं चउक्कत्तचोसयाणि पव्वाणि ।
एक्कारसभजिदाइं उदऊ मणइंदयम्मि जीवाणं ॥२३४॥

दं ९, ह ३, अं १८ भा ६/११

दस दंडा दो हत्था चोद्दस पव्वाणि अट्ठभागा य ।
एक्कारसेहिं भजिदा उदऊ तणगिंदयम्मि बिदियाए ॥२३५॥

दं १०, ह २, अं १४ भा ८/११

एक्कारस चावाणि एक्को हत्थो दसंगुलाणि पि ।
एक्कारसहिददसंसा उदऊ घादिंदियम्मि बिदियाए ॥२३६॥

दं ११, ह १, अं १० भा १०/११

बारस सरासणाणि पव्वाणि अट्ठहत्थरी होंति ।
एक्कारसभजिदाणि संघादे णारयाणा उच्छेहो ॥२३७॥

दं १२, अं ७८/११ [1]

बारस सरासणाणि तिय हत्था तिण्णि अंगुलाणि च ।
एक्कारसहियतिभाया उदऊ जिब्भिदअम्मि बिदियाए ॥२३८॥

दं १२, ह ३, अं ३ भा ३/११

तेवण्णणा य हत्था तेवीसा अंगुलाणि पणभागा ।
एक्कारसेहिं भजिदा जिब्भगपडलम्मि उच्छेहो ॥२३९॥

ह ५३, अं २३, भा ५/११

चोद्दस दंडा सोलसजुत्ताणि दोसयाणि पव्वाणि ।
एक्कारसभजिदाहिं लोलयणामम्मि उच्छेहो ॥२४०॥

दं १४, अं २१६/११

एक्कोणसट्ठिहत्था पणारस अंगुलाणि णव भागा ।
एक्कारसेहिं भजिदा लोलयणामम्मि उच्छेहो ॥२४१॥

ह ५९, अं १५ भा ९/११

1 This and the following verse are missing in A and B.

पण्णरसं कोदंडा दो हत्था बारसंगुलाणिं च ।
अंतिमपडले थणलोलगम्मि बिदियाए उच्छेहो ॥२४२॥

दं १५, ह २, अं १२ ।

एक्क धणू दो हत्था बावीस अंगुलाणि दो भागा ।
तियभजिदं णादव्वो मेघाए हाणिवड्ढीओ ॥२४३॥

ध १, ह २, अं २२, भा २/३ ।

सत्तरसं चावाणि चोत्तीसं अंगुलाणि दो भागा ।
तियभजिदा मेघाए उदओ तत्तिंदयंमि जीवाणं ॥२४४॥

ध १७ । अं ३७ । भा २/३ ।

एक्कोणवीस दंडा अट्ठावीसंगुलाणि तिहिदाणि ।
तसिदिंदयंमि तदियक्खोणीए णारयाण उच्छेहो ॥२४५॥

ध १९, अं २८/३ ।

वीसस्स दंडसहियं सीदीए अंगुलाणि होंदि तदा ।
तदियं चयपुढवीए तवणिंदयणारयंमि उच्छेहो ॥२४६॥

ध २०, अं ८० ।

णउदिपमाणा हत्था तिदिविहत्ताणि वीस पव्वाणि ।
मेघाए तवणिंदयठिदाण जीवाण उच्छेहो ॥२४७॥

ह ९०, अं २०/३ ।

सत्ताणउदी हत्था सोलस पव्वाणि तियविहत्ताणि ।
उदओ णिदाघणामाए पडले णारया जीवा ॥२४८॥

ह ९७, अं १६/३ ।

छव्वीसं चावाणिं चत्तारी अंगुलाणि मेघाए ।
पज्जलिदणामपडले ठिदाण जीवाण उच्छेहो ॥२४९॥

ध २६, अं ४ ।

सत्तावीसं दंडा [1]तियहत्थो अट्ठ अंगुलाणिं च।
तियभजिदाइं उदओ उज्जलिदे णारयाण णादव्वो ॥२५०॥

ध २७, ह ३, भा $\frac{८}{३}$

एक्कोणतीस दंडा दो हत्था अंगुलाणि चत्तारिं।
तियभजिदाइं उदओ संजलिदिंदियपुढवीए ॥२५१॥

ध २९, ह २, अं $\frac{४}{३}$।

एक्कतीसं दंडाए एक्को हत्थो अ तदिए[2] पुढवीए।
संजलिदे चरिमिंदयणारइया होंति उच्छाहो ॥२५२॥

ध ३१, ह १

चउ दंडा इगि हत्थो पण्णाणिं वीस सत्त पडिहत्ता।
चउ भागा तुरिमाए पुढवीए हाणिवड्ढीउ ॥२५३॥

ध ४, ह १, अं २०, भा $\frac{४}{७}$।

पणतीसं दंडाए हत्थाइं दोण्णि वीस पव्वाणिं।
सत्तहिदा चउभागा उदओ आरिंदयाण जीवाणं ॥२५४॥

ध ३५, ह २, अं २०, भा $\frac{४}{७}$।

चालीसं कोदंडा वीसब्भहिअं सयं च पव्वाणिं।
सत्तहिदं उच्छेहो पंचाए मारपडलजीवाणं ॥२५५॥

ध ४०, अं $\frac{१२०}{७}$।

चउदालं चावाणिं दो हत्था अंगुलाणि छव्वाणउदी।
सत्तहिदो उच्छेहो तारिंदयसंठिदाण जीवाणं ॥२५६॥

ध ४४, ह २, अं $\frac{९६}{७}$।

एक्कोणवण्ण दंडा बाहत्तरि अंगुला य सत्तहिदा।
तत्तिंदयम्मि तुरिमखोणीए णारयाण उच्छेहो ॥२५७॥

1 A तिहत्थो ; 2 A अतदिए।

ध ४९, अं ७२

७।

तेवण्णा चावाणिं दो हत्था अट्ठताल पव्वाणि।
सत्तहिदाणिं उदओ दुमणिंदयसंठियाण जीवाणं ॥२५८॥

ध ५३, ह २, अं ४८

७।

अट्ठावण्णा दंडा सत्तहिदा अंगुला य चउवीसं।
वाहिंदयंमि तुरिमाखोणीए णारयाण उच्छेहो ॥२५९॥

ध ५८, अं २४

७।

बासट्ठी कोदंडा हत्थाइं दोण्णि तुरिमपुढवीए।
चरिमिंदयंमि खलखलणामाए णारयाण उच्छेहो ॥२६०॥

दं ६२, ह २।

बासट्ठी तमकणामाणिं दो हत्था पंचमीए पुढवीए।
खयवड्ढीए पमाणं णिद्दिट्ठं वीयरायेहिं ॥२६१॥

दं १२, ह २।

पणहत्तरिपरिमाणा कोदंडा पंचमीए पुढवीए।
पढमिंदयंमि उदओ तमणामे संठिदाण जीवाणं ॥२६२॥

दं ७५।

सत्तासीदी दंडा दो हत्था पंचमीए खोणीए।
पडलंमि य भमणामे णारयजीवाण उच्छेहो ॥२६३॥

दं ८७, ह २।

एक्कं कोदंडसयं झसणामे णारयाण उच्छेहो।
चावाणि बारसुत्तरसयमेक्कं अंधयंमि दो हत्थो ॥२६४॥

दं १००। दं ११२, ह २।

एक्कं कोदंडसयं अब्भहियं पंचवीसरूवेहिं।
धूमप्पहाए चरिमिंदयंमि तिमिसयंमि उच्छेहो ॥२६५॥

दं १२५।

एक्कत्तालं दंडा हत्थाइं दोण्णि सोलसंगुलया।
छट्ठीए वसुहाए परिमाणं हाणिवड्ढीए ॥२६६॥

दं ४१, ह २, अं स १६ ।

छासट्ठीअधियसयं कोदंडा दोण्णि होंति हत्था य ।
सोलस पव्वा य पुढं हिमपडलगदाण उच्छेहो ॥२६७॥

दं ११६६ (?), ह २, अं १६ ।

दोण्णि सयाणिं अट्ठाउत्तरदंडाणि अंगुलाणं च ।
बत्तीसं छट्ठाए वद्दलट्ठिदजीवउच्छेहो ॥२६८॥

दं २०८३२ ।

पण्णासब्भहियाणिं दोणि सयाणं सरासणाणिं च ।
लल्लंकणामइंदयठिदाण जीवाण उच्छेहो ॥२६९॥

२५० ।

पंचसयाइं धणूणिं सत्तमअवणीइ अवधिठाणंमि ।
सव्वेसिं णिरयाणं काउच्छेहो जिणादिट्ठो ॥२७०॥

दं ५०० ।

एवं रयणादीणं पत्तेक्कं इंदयाण जो उदओ ।
सेढिविसेढिगदाणं पइण्णयाणं च सो च्चेअ ॥२७१॥

। इदि णारयाण उच्छेहो सम्मत्तो ।

रयणप्पहावणीए कोसा चत्तारि ओहिणाणखिदी ।
तं परदो पत्तेक्कं परिहाणी गाउदद्धेण ॥२७२॥

को ४ । ७/२ । ३ । ५/२ । २ । ३/२ । १

ओहि[1] सम्मत्ता ॥

गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणा कमसो ।
उवजोगा कहिदव्वा णारइयाणं जहाजोग्गं ॥२७३॥
चत्तारो गुणठाणा णारयजीवाण होंति सव्वाणं ।
मिच्छाइट्ठी सासणमिस्सो य तहा य अविरदसम्मो ॥२७४॥
ताण य पच्चक्खाणावरणोदयसहिदसव्वजीवाणं ।
हिंसाणंदजुदाणं णाणाविहसंकिलेस उप्पण्णा ॥२७५॥

1 ओही ?)

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

नाथूराम जी प्रेमी हैं। इस पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में प्रतिपादित दो-एक बातों पर जो मेरा मतभेद है—यहाँ पर सिर्फ उसी का खुलासा कर देना मेरा ध्येय है।

(१) प्रेमी जी ने इस भूमिका में लिखा है कि कवि ने अपने पूज्य पिता के नाम के आगे 'स्वामी' तथा 'भट्टार' पद को जोड़ा है, इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता साधु अथवा भट्टारक रहे होंगे। पर मुझे यह बात अखरती है। क्योंकि अगर इनके पिता गोविन्द भट्ट साधु या भट्टारक होते तो कवि उनके दीक्षानाम का उल्लेख अवश्य करता। बल्कि वह अपने पूज्य पिता के उस दीक्षानाम का ही उद्धरण सगर्व करता। किन्तु हस्तिमल्ल अपनी कृतियों में "भट्टारगोविन्दस्वामिसूनुना" इतना ही लिखकर चुप हो बैठते हैं। गोविन्द स्वामी या गोविन्द भट्ट यह नाम बहुधा दाक्षिणात्य जैनेतर ब्राह्मणों में आज भी प्रचलित है। इस बात को प्रेमी जी भी मानते हैं कि गोविन्द भट्ट जैन होने के पहले वत्सगोत्रीय हिन्दू ब्राह्मण थे। अब रहा 'भट्टार' शब्द। यह शब्द पूज्य अर्थ में प्रयुक्त होता कोशों में बहुलता से पाया जाता है। कवि हस्तिमल्ल के लिये अपने श्रद्धेय पिता के नाम के आदि में ऐसे आदरसूचक शब्द का प्रयोग करना सर्वथा स्वाभाविक है। प्रेमी जी ने अपने उक्त पक्ष को प्रमाणित करने के लिये एक और प्रमाण उपस्थित किया है। आप का कहना है कि विक्रांतकौरवीय प्रशस्ति में वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि आचार्यपरम्परा में गोविन्द भट्ट का उल्लेख मिलता है। मगर प्रेमी जी के इस प्रमाण के उत्तर में भी मेरी पहली दलील ही काफी मालूम पड़ती है। क्योंकि यहां भी उनका पूर्व नाम अर्थात् जैन होने के पहले का गोविन्द भट्ट नाम ही दिया गया है, न कि जैन आगमानुसार परिवर्तित दीक्षानाम। हां, यहां पर यह प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि गुणभद्रांत उक्त गुरुपरम्परा में गोविन्द भट्ट का उल्लेख कैसे हुआ? मेरे जानते इसमें कोई विशेष विचित्रता नहीं है। क्योंकि एक गृहस्थ जैनी भी किसी गुरुपरम्परा का अपने को अनुयायी बतला सकता है। इसके लिये कोई रुकावट नहीं है। इस सम्बन्ध में एक नहीं, अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। उन दिनों दक्षिण प्रांत में सेनगणीय आचार्यों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। अतः गृहस्थ गोविन्द भट्ट ने भी इस आदर्शभूत गुरुपरम्परा को ही अपनी गुरुपरम्परा मान लिया। अब यह भी एक शंका उठ सकती है कि जैनी होने के बाद गोविन्द भट्ट ने अपना नाम क्यों नहीं बदल लिया। पर यह कोई नई बात नहीं है। क्योंकि आज भी जैनियों में बहुत से लोग कट्टर जैनी होते हुए भी हिंदू नाम ही धारण किये हुए हैं। इतना ही नहीं, खास कर दक्षिण में आज भी बहुत से जैनवंशों में वत्स, वशिष्ठादि हिंदू गोत्र-सूत्र ही चले आ रहे हैं। जैनधर्म में दीक्षित होने के बाद भी उन्होंने अपने पूर्व गोत्र-सूत्रों का परित्याग नहीं

किया। इसके अतिरिक्त "तच्छिष्यानुक्रमे यातेऽसंख्येये विश्रुतो भुवि। गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान् मिथ्यात्ववर्जितः ॥" प्रेमी जी के जिनसेनगुरुपरम्परा को पुष्ट करने वाले इस श्लोक में गोविन्द भट्ट को साधु या भट्टारक सिद्ध करने वाला कोई शब्द नहीं है।

प्रेमी जी ने उक्त हस्तिमल्ल के द्वारा रचित विक्रांतकौरवीय नाटक के प्रथमाङ्क के अन्त में प्रतिपादित—"श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात्। नानाकलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहेश्वरेण श्लोकैः शतैः सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥४०॥" और इन्हीं के अञ्जनापवनञ्जय नाटक में अङ्कित—"श्रीमत्पाण्ड्यमहेश्वरे निजभुजादण्डावलम्बीकृते कर्णाटावनिमण्डलं पदनतानेकावनीशेऽवति। तत्प्रीत्यानुसरन् स्वबन्धुनिवहैर्विद्वद्भिराप्तैः समं जैनागारसमेतसंतरनमे (?) श्रीहस्तिमल्लोऽवसत् ॥" इन श्लोकों में उद्धृत पाण्ड्यनरेश को मधुरा के निकटस्थ पाण्ड्यदेशका शासक बतलाकर उल्लिखित हस्तिमल्लकविको इस पाण्ड्य नरेश-द्वारा सम्मानित बताया है। पर 'राजावलिकथे' में देवचन्द्र ने लिखा है कि 'यह कवि हस्तिमल्ल उभयभाषाकविचक्रवर्ती थे'। बल्कि इसी के आधार पर प्रेमी जी का भी कहना है कि यह कवि हस्तिमल्ल कन्नड के भी कवि प्रमाणित होते हैं एवं इस भाषा में भी इनकी कोई रचना होनी चाहिये। किन्तु यह तो सर्वविदित बात है कि मधुरा की प्रान्तीय भाषा सदा से तमिलु चली आती है। ऐसी अवस्था में कवि हस्तिमल्ल को मधुरा के पाण्ड्यनरेश के आश्रित मानना ठीक नहीं जचता। अगर देवचन्द्र प्रतिपादित उभयभाषाकविचक्रवर्ती का अर्थ संस्कृत एवं कन्नड भाषा ही माना जाय तो मेरा अनुमान है कि हस्तिमल्ल के आश्रयदाता उक्त पाण्ड्यनरेश पाण्ड्यदेश के न होकर वर्तमान दक्षिण कन्नडान्तर्गत कार्कल के माने जा सकते हैं। यह राजपरम्परा भी पाण्ड्यवंशीय ही था। बल्कि यह राजवंश शुरू से अन्त तक कट्टर जैनमतानुयायी ही रहा। इस वंश में कई विद्वान् राजा भी हुए हैं तथा इन्होंने अनेक ग्रन्थकर्ताओं को आश्रय भी दिया है।

दूसरी बात यह है कि प्रेमी जी जिस पाण्ड्यनरेश को हस्तिमल्ल कवि के सम्मानयिता बतला रहे हैं, वह सुन्दर पाण्ड्य प्रथम के उत्तराधिकारी हैं। मुझे जहां तक ज्ञात है कि यह सुन्दर पाण्ड्य जैन धर्म का एकान्त शत्रु था। ऐसी दशा में उसका उत्तराधिकारी एक कट्टर जैन विद्वान् को आश्रय दे यह बात जरा खटकती है। 'कन्नडकविचरिते' के मान्य लेखक श्रीमान् स्वर्गीय नरसिंहाचार्य ने भी हस्तिमल्ल कवि को कन्नडकवि माना है। इतना ही नहीं, इन्होंने इस कवि के प्रणीत 'आदिपुराण' नामक एक कन्नड ग्रन्थ का उल्लेख भी किया है। उल्लिखित बातों पर विचार करते हुए इस कवि को कार्कल पाण्ड्य

नरेश का आश्रित मानना अधिक समुचित ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त ऊपर उद्धृत 'श्रीमत्पाण्ड्यमहीश्वरे' इस श्लोक के द्वितीय चरण में अंकित—"कर्णाटावनिमण्डलं* पद्मानतानेकावनीशेऽवति" से भी मेरा कथन सर्वतो भाव से पुष्ट हो जाता है कि यह पाण्ड्यनरेश कर्णाटक देश के ही शासक थे न कि तमिलु प्रान्त के। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि कार्कल आज भी कर्णाटक प्रान्त के अन्तर्भुक्त है।

प्रेमी जी ने उक्त नाटकों की भूमिकाओं में हस्तिमल्ल कवि के परिचय में उद्धृत—"सम्यक्त्वं सुपरीक्षितुं मदगजे मुक्ते सरण्यापुरे ...." "श्लोकेनापि मदेभमल्ल इति यः प्रख्यातवान् सूरिभिः ..." इन श्लोकों को अय्यपार्य कृत 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' के बतलाया है। पर मुझे तो उक्त ग्रन्थ में ये श्लोक नहीं मिले। हां, इन्हीं हस्तिमल्ल के रचित अमुद्रित सुभद्रानाटिका के अन्त में ये दोनों श्लोक अङ्कित अवश्य हैं।

इसी 'प्रतिष्ठाविधान' के प्रारंभिक भागान्तर्गत यह २य श्लोक विशेष विचारणीय है—"नम्रेन्द्रनन्दिमुकुटोत्कर:प्रतिष्ठां प्राग्भाविकृत्यमजितं जिनदिव्यमूर्त्तेः। तोयैर्भुवं शुभतमैरभितो विशोध्य पात्राणि तत्र सलिलाद्यपि शोधयित्वा॥" खास कर इस पद्य के प्रारंभ में आये हुए इन्द्रनन्दि शब्द अत्यधिक द्रष्टव्य है। श्लोक कुछ अशुद्ध जान पड़ता है, इसी से ठीक सम्बन्ध नहीं बैठता। मैं इस बात की ओर संकेत करना चाहता हूँ; वह यह है कि इस प्रतिष्ठाविधान को इन्द्रनंदिकृत प्रतिष्ठा-पाठ से अवश्य मिला लेना चाहिये। संभव है कि उसी की छाया लेकर इस प्रतिष्ठा-ग्रन्थ का प्रणयन किया गया हो। अय्यपार्य ने भी अपने जिनेंद्रकल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठाग्रन्थ में इन्द्रनन्दि को प्रतिष्ठाग्रन्थ का प्रणेता बतलाया है। बल्कि वह श्लोक ऊपर उद्धृत भी कर दिया गया है। अस्तु कवि हस्तिमल्ल १३वीं शताब्दी के अन्त में हुए हैं।

*इससे तमिलु एवं कर्णाटक दो अर्थ नहीं निकल सकते हैं।

(३६) ग्रन्थ नं० २४९/ख

श्रीकल्याण-मन्दिर

कर्ता – कुमुदचन्द्राचार्य

विषय -- स्तोत्र और यन्त्र-मन्त्र

भाषा—संस्कृत (मंत्र तथा यन्त्र के विवरण
में प्राकृत एवं हिन्दी भी है)

लम्बाई ७ इञ्च   चौड़ाई ५ इञ्च   पत्रसंख्या ४४

प्रारम्भिक भाग—

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि भीताभयप्रदमनिन्दितमंघ्रिपद्मम् ।
संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तुपोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥ १ ॥
यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतोस्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥ २ ॥

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो पासं पासं पयाणाणं । ॐ ह्रीं अर्हं णमो दव्वं कराए । मंत्र—ॐ नमो भगवते मम इप्सितां कार्यसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा। यन्त्र—कमलाकार पंचवींग—२४ पाखड़ी मध्ये ऋद्धि मध्ये क्ष्ल्व्र्यूं. ऊपरि मन्त्र दिन ६० जपै, प्रहर २ नित्यप्रति १०० जपै। पर्वत ऊपर, रक्त आसन, रक्त माला, पूर्व दिग्मुख, धूप. कर्पूर, चन्दन, मृगमद से लाल रस की लक्ष्मी लाभ, मंत्र श्रीपार्श्वनाथ चूडारत्न करै. ब्रह्मचर्य पालै और एकान्त शुचि रहै ।

(आगे इसी मन्त्र का यन्त्र दिया है)॥ १-२ ॥

× × × ×

मध्य भाग (पर पृष्ठ २१, पंक्ति १)—

स्वामिन् सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुंगवाय ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥ २२ ॥

ऋद्धि—ॐ ह्रीं अर्हं णमो तत्तवत्तपत्ताए । मंत्र—ॐ नमो पद्मावत्यै ह्म्ल्व्र्यूं नमः । यंत्र—चम्पक वृत्ताकार पत्र नव—९ मध्ये मंत्राक्षराणि तदुपरि ऋद्धि, दिन २१, नित्य १००० जपै,

भाग में अच्छा श्रेष्ठ फलनि जपै. आसन डाभ (कुश), माला तुलसी, मुख नैर्ऋत्य कोण, धूप गुग्गुल, कुंदीला घृत को देय गयो पुष्प नीपजै (कदम्बपुष्प) ॥ २२ ॥

(आगे चम्पक-वृत्ताकार में सुन्दर यंत्र बना हुआ है) ।

× × × ×

अन्तिम भाग :—

जननयनकुमुदचन्द्रप्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।
ते विगलितमलनिचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥

ऋद्धि—ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं नमः । मन्त्र—ॐ नमो धरणेन्द्रपद्मावतीसहिताय श्रीं क्लीं ऐं अर्हं नमः । यन्त्र—गुलाब पुष्पवत् पंच कर्णिका मध्ये ॐ कर्णिकायां ऋद्धि । तदुपरि मंत्र । दिन ४०, नित्य १००० जपे, लक्ष्मी प्राप्ति, आसन रक्त, माला विद्रुम, पूर्व मुख, धूप चन्दन मुस्त, कपूर एलारस । प्रथम तो साधक जन ब्रह्मचर्य धारक हो, पश्च अहिंसादि धर्म का धारी हो, लघु भुक्ति, दयावान हो, पवित्रातें चर्माश्रित वस्तु घृत हींग आदि का त्यागी हो मन्त्र सिद्ध करे । मंत्र सिद्ध होने पर पद्मावती देवी का पूजन श्रावकाने भुक्त देय, चार प्रकार संघ दान दे । सर्व संकट टले, सर्वसिद्धि श्रीपार्श्वनाथ रत्न चूड़ा देय ॥ ४४ ॥

'भक्तामर' के समान इस स्तोत्र में भी ऋद्धि, मन्त्र, यन्त्र एवं साधनक्रम आदि प्रत्येक पद्य के अन्त में स्पष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ में कहीं मन्त्रादि विवरण-कर्ता का उल्लेख नहीं मिलता है । श्रीकुमुदचन्द्रजी केवल इस स्तोत्र के प्रणेता हैं ।

---

(३७) ग्रन्थ नं० $\frac{२५०}{ख}$

सिद्धचक्र

कर्ता—ललितकीर्ति भट्टारक

विषय—पूजा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १। इन्च चौड़ाई ४। इन्च पत्र संख्या ११६

प्रारम्भिक भाग—

प्रणम्य श्रीजिनाधीशं लब्धिसामस्त्यसंयुतम् ।
श्रीसिद्धचक्रयन्त्रस्याच्चासिहस्रगुणां स्तुवे ॥ १ ॥

यजमान-लक्षण— विनीतो बुद्धिमान् प्रीतो न्यायोपात्तधनो महान् ।
शीलादिगुणसम्पन्नो यष्टा सोऽत्र प्रशस्यते ॥ २ ॥

याजक-लक्षण— देशकालादिभावज्ञो निर्मलो बुद्धिमान् वरः ।
सद्वात्सल्यादिगुणोपेतो याजकः सोऽत्र शस्यते ॥ ३ ॥

आचार्य-लक्षण— दर्शनज्ञानचारित्रैः संयुतो ममतान्तगः ।
प्राज्ञः प्रश्नसहश्चात्र गुरुः स्याच्छान्तिनिष्ठितः ॥ ४ ॥

मण्डप-लक्षण— निर्मलं पृथुलं घंटातारकातोरणान्वितम् ।
प्रलम्बपुष्पमालाढ्यं चतुर्धा कुंभसंयुतम् ॥ ५ ॥
भेरीपटहकंसालतालमार्दलनिःस्वनैः ।
आकुलं, स्त्रैगणगीताढ्यं मण्डपं कारयेद्बुधः ॥ ६ ॥

सामग्री-लक्षण— स्वजात्योत्कर्षिणी पूता नेत्रमानसहारिणी ।
सामग्री शस्यते सद्भिर्निखिलानन्दकारिणी ॥ ७ ॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्वपृष्ठ ६६, पंक्ति १)

जयमाल— देवार्च्यांशैर्महांशैः फणिपतिभिरिह प्रत्यहं पूज्यपादा-
नर्हत्सिद्धानुगेहांस्त्रिविधमुनिवरान् सूर्युपाध्यायसाधून ।
दोषातीतानरिष्ठान निजसुगुणगणाभूषणैर्भूषितांस्तान
नत्वा दृग्बोधवृत्तादिभिरपि महितान्संस्तुवे तद्गुणाप्त्यै ॥ १ ॥
सदनन्तचतुष्टयगुणविलास हतघातिचतुष्टयकर्मपाश ।
सकलातिशयादिसुगुणसमृद्ध त्वक(?)मर्हन जिन जय जय सुबुद्ध ॥२॥
जय कर्माष्टककृतवैरदूर जय विश्वालोकनपरमशूर ।
जय जय सर्वोत्तमवसुसमृद्ध सिद्धाधिप जय जय शुद्ध बुद्ध ॥ ३ ॥
जय पञ्चाचारधरणधीर जय शिष्यानुग्रहकरणवीर ।
स्थितकल्पदशादिसुगुणसमृद्ध जय सूरीश्वर सततं प्रबुद्ध ॥ ४ ॥
एकादशांगधृतकण्ठहार जय लब्धचतुर्दशपूर्वपार ।
एवं श्रुतजलनिधिगुणसमृद्ध त्वं पाठक जय सततं प्रबुद्ध ॥ ५ ॥
आरंभपरिग्रहनिखिलमुक्त जय दृष्टिबोधचारित्ररक्त ।
जय मूलोत्तरगुणनिधिसमृद्ध जय साधो जय सततं प्रबुद्ध ॥ ६ ॥
जय सम्यग्दर्शनचक्षुरत्न तपसा सह रत्नत्रयपवित्र ।
व्यवहारपरमगुणभेदपूर्ण संचितमुनिवरकृतकर्मचूर्ण ॥ ७ ॥

पञ्चैतान्परमेष्ठिनः सुतपसा रत्नत्रयेणान्वितान्
संसाराम्बुधितारकान् भुविजनाः ध्यायन्ति ये नित्यशः ।
तं देवेन्द्रपदं नरेन्द्रपदवीप्राप्ता गुणैर्भद्रकैः
सार्द्धं जन्मजरादिदुःखरहितं पश्चाल्लभन्ते शिवम् ॥ ८ ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

श्रीकाष्ठसंघे ललितादिकीर्त्तिना भट्टारकेणैव विनिर्मिता वरा ।
नामावली पद्यनिबद्धरूपिका भूयात्सतां मुक्तिपदाप्तिकारणम् ॥

इस 'सिद्धचक्रपूजा' के रचयिता काष्ठासंघीय भट्टारक ललितकीर्तिजी हैं। इन्हों ने ही आदिपुराण की एक संस्कृत टीका भी लिखी है। इनके अतिरिक्त त्रिलोकसार-पूजा नामका एक और ग्रन्थ इनका मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धचक्रपूजा में रचयिता के नाम संघ और पद के सिवा और कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। हां, आदिपुराण की टीका की निम्न लिखित प्रशस्ति में अपने गुरु का नाम दिया है।

४ ८ ६ १

वर्षे सागरनागभोगिकुमिते मार्गे च मासेऽस्मिते
पक्षे पक्षतिसत्तिथौ रविदिने टीका कृतेयं वरा ।
काष्ठासंघवरे च माथुरवरे गच्छे गणे पुष्करे
देवश्रीजगदादिकीर्तिरभवत्ख्यातो जितात्मा महान् ॥
तच्छिष्येण च मन्दतान्वितधिया भट्टारकत्वं यता
शुभद्रे (?) ललितादिकीर्त्यभिधया ख्यातेन लोके ध्रुवम् ।
राजच्छ्रीजिनसेनभारतमहाकाव्यस्य भक्त्या मया
संशोध्येवमुपस्थितां बुधजनैः शान्ति विधायादरात् ॥

'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' में पं० नाथूरामजी प्रेमी ने इनका समय वि० सं० १८०११ दिया है। किन्तु उल्लिखित प्रशस्ति में दिये गये समय से इसका विशेष अन्तर पड़ जाता है।

ललितकीर्त्तिजी का यह टीकाग्रन्थ ताड़पत्राङ्कित कनडाक्षरमें भवन में मौजूद है। उन्हों ने अपने पूज्य गुरु का नाम ऊपर श्रीजगत्कीर्त्ति देव लिखा है। प्रायः यही जगत्कीर्ति 'एकीभावनोद्यापना' के रचयिता हों। प्रस्तुत कृति की भाषा ललित एवं विशुद्ध है।

(३८) ग्रन्थ नं० २५१/ख

लोकतत्त्व-विभाग

कर्त्ता—श्रीसिंहसूरि

विषय—भूगोल

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३ इञ्च | चौड़ाई ८। इञ्च | पत्रसंख्या ७०

प्रारम्भिक भाग—

लोकालोकविभागज्ञान् भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान् ।
व्याख्यास्यामि समासेन लोकतत्त्वमनेकधा ॥ १ ॥
क्षेत्रं कालस्तथा तीर्थं प्रमाणपुरुषैः सह ।
चरितञ्च महत्तेषां पुराणं पञ्चधा विदुः ॥ २ ॥
समन्ततोऽप्यनन्तस्य वियतो मध्यमाश्रितः ।
त्रिविभागस्थितो लोकस्तिर्यग्लोकोऽस्य मध्यगः ॥ ३ ॥
जम्बूद्वीपोऽस्य मध्यस्थो मन्दरस्तस्य मध्यगः ।
तस्माद्विभागो लोकस्य तिर्यगूर्ध्वोऽधरस्तथा ॥ ४ ॥
तिर्यग्लोकस्य बाहुल्यं मेर्वायामसमं स्मृतम् ।
तस्मादूर्ध्वो भवेदूर्ध्वो ह्यधस्तादधरोऽपि च ॥ ५ ॥

× × ×

मध्यभाग (पूर्वपृष्ठ ३७, पंक्ति १२)

शुक्रो जीवो बुधो भौमो राहुरिष्टशनैश्चराः ।
धूमाग्निकृष्णनीलाः स्युः रक्तः शीतश्च केतवः ॥
श्वेतकेतुर्जलाख्यश्च पुष्पकेतुरिति ग्रहाः ।
प्रतिचन्द्रं ग्रहा एते कृत्तिकादीनि भानि च ॥
षट्‌ताराः कृत्तिकाः प्रोक्ता आकृत्या व्यंजनोपमाः ।
शकटोऽग्निसमा ज्ञेया रोहिण्यः पंचतारकाः ॥

वैद्य-सार

पं० सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य

१५६—श्वासे इन्द्रवारुणी-योगः

इन्द्रवारुणिका—मूलं देवदारुकटुत्रयं ।
शर्करासहितं खादेदूर्ध्वश्वासहरं परं ॥१॥

टीका—इन्द्रायण की जड़, देवदार चंदन, सोंठ, काली मिर्च और पीपल इन सबको मिश्री की चासनी के साथ सेवन करने से उर्ध्वश्वास भी अच्छी हो जाती है।

१५७—पांडुरोगे मण्डूरत्रिफलावस्तु

मंडूरं चूर्णयेत् श्लक्ष्णं त्रिफलावसुगुणे पचेत् ।
अमृपणं त्रिफलां मुस्तां विडंगं चव्यचित्रकं ॥१॥
दार्वी ग्रन्थिं देवदारुं तुल्यं तुल्यं विचूर्णयेत् ।
सर्वसाम्यं च मण्डूरं पाकान्ते मिश्रयेत्ततः ॥२॥
भक्षयेत् कर्षमात्रं तु जीर्णे तक्रभोजनं ।
पाण्डुशोथं हलीमं च उरुस्तभं च कामलां ॥३॥
नाशयेन्नात्र संदेहः पूज्यपादेन निर्मितम् ।

टीका—मंडूर को लेकर आठ गुणा त्रिफला में पकावे अर्थात् शुद्ध करे तथा फिर मंडूर की भस्म कर लेवें और सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्र, बहेरा, आँवला, नागरमोथा, वायविडंग, चव्य चितावर, दारुहल्दी, पीपरामूल, देवदार, चंदन ये सब बराबर-बराबर लेवे तथा सबके बराबर मंडूरभस्म लेवें और फिर पाक कर के उसमें मिलाकर गोली बांध लेवे। इनको योग्य मात्रा से योग्य अनुपान से सेवन करावे और दवा (पच जाने) पर मही के साथ भोजन करावे। इससे पांडुरोग, शोकरोग, हलीमक रोग, उरुस्तंभ, कामला रोग शांत होते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

१५८—विबन्धे चिंतामणि-गुटिका

मरिचं पिप्पली शुण्ठी पथ्याधात्री समं-समं ।
सौवर्चलं समं ग्राह्यं टंकणं च द्विभागकं ॥१॥
शुद्धहिंगुलपड्भागं जयपालः सर्वतुल्यकः ।
जंबीरनिंबुनीरेण मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥२॥

पिष्ट्वा गुंजामितां वटिकां गोघृतेन निषेवयेत् ।
विरेचनकरी शीघ्रं हृद्रुजं नाशयेत्परं ॥३॥
शूलं गुल्मं च शोथं च पांडुप्लीहां च नाशयेत् ।
चिंतामणिः गुटिश्चासौ पूज्यपादेन भाषिता ॥४॥

टीका—काली मिर्च, पीपल, सोंठ, बड़ी हर्र का बकला, आँवला, काला नमक ये सब बराबर लेवे तथा सुहागा दो भाग, शुद्ध शिंगरफ छः भाग एवं सब के बराबर शुद्ध जमालगोटा ले सबको एकत्रित कर जंबीरी नींबू के रस से दो दिन तक मर्दन करे, जब खूब पिस जावे तब एक-एक रत्ती की गोली बांध लेवें। बलाबल के अनुसार गाय के घी के साथ सेवन करावे तो शीघ्र ही दस्त लाता है तथा हृदय-रोग को नाश करता है। और शूलरोग, गुल्मरोग, शोथरोग, पांडुरोग, प्लीहा रोग को नाश करता है। यह चिंतामणि नाम की गोली पूज्यपाद स्वामी की कही हुई बहुत ही योग्य है।

१५६—वाजीकरणे रतिलीलारसः

रसो नागश्च लोहं च भागकं चाभ्रकस्य च ।
त्रिभागं स्वर्णबीजानि विजया मधुयष्टिका ॥१॥
शाल्मली नागवल्ली च समभागान्विता तथा ।
मधुघृतान्विता सेव्या वल्लयुग्मस्य मात्रया ॥२॥
संतोषयेच्च बहुकांताः पुष्पधन्वसमान्वितः ।
रतिलीलारसश्चासौ पूज्यपादेन भाषितः ॥३॥

टीका—शुद्ध पारा, शीसे की भस्म, लोह भस्म तथा अभ्रक भस्म ये सब एक-एक भाग तथा धतूरे के शुद्ध बीज तीन भाग, भांग, मुलहठी, सेमल की जड़, नागरबेल (पान) ये भी समान भाग लेकर एकत्रित कर गोली बांध ले। योग्य ६ रत्ती की मात्रा से मधु तथा घी के साथ देवे तो पुरुष की इतनी ताकत बढ़े कि सैकड़ों स्त्रियों को संतोष कर सके तथा कामदेव के समान बहुत बलवान होवे। यह रतिलीला-रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१६०—त्रिदोष-पारदादियोगः

पारदं हिंगुलं गंधं कृत्वा भागोत्तरं क्रमात्।
नीलबीजञ्च भागैकं मर्दयेत्खल्वके बुधः ॥१॥
विजयाकनकव्योषैः सप्तवारेण मर्दयेत्।
आर्द्रकैः मधुपिप्पल्या दीयते वल्लमात्रया ॥२॥
त्रिदोषं सन्निपातं च नाशयेद्विषमज्वरम्।
शीतोपचारः कर्तव्यः मधुराहारसेवनं ॥३॥
सर्वज्वरविघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध गंधक क्रम से १, २, ३ भाग, नील के बीज १ भाग लेकर खरल में भांग तथा धतूरा के पत्ते के स्वरस से तथा सोंठ, मिर्च, पीपल के काढ़े से अलग-अलग सात-सात बार मर्दन करें और अदरख, शहद तथा पीपल के साथ तीन-तीन रत्ती की मात्रा से देवे तो त्रिदोष, सन्निपात, विषमज्वर को नाश करता है। यदि कुछ गर्मी मालूम हो तो ऊपरी शीतोपचार करना चाहिये और मधुर रस का आहार करना चाहिये। यह सब प्रकार के ज्वरों को नाश करनेवाला योग पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

१६१—सर्वरोगे मृत्युञ्जयरसः

भागैकं मरिचं च लोहकरसौ गंधस्य भागद्वयं।
लोहे न्यस्य गवां घृतेन गुटिकामेतां पचेत्पावके ॥१॥
तालं वै समभागकं प्रविदधेन म्लेच्छं शराशंविषं।
सर्वार्धं जयपालकं च कुटकीक्वाथेन दृष्यंबुना ॥२॥
भाव्यं सूर्यमितं तथार्द्रकरसैः त्रिसप्तकृत्वः दृढैः।
संमर्द्यातपशोषितं शतदलैः पुष्पैः समभ्यर्चयेत् ॥३॥
योज्यं गुंजमिते ज्वरे च सहसा सामे निरामेऽथवा।
जीर्णे वा विषमे समीरणभवे पित्तोत्थिते श्लेष्मजे ॥४॥
द्वन्द्वोत्थेषु च संनिपातजनिते शोकज्वरे चोल्बणे।
शैत्ये स्वेदयुतग्निमांद्यजनिते रोगे च शोकैर्युते ॥५॥

पांडौ चार्शगदार्दिते सुमनसा व्योषार्द्रकैः सिंधुना ।
जंबीराम्लद्रवैः परिस्रुतरसः पित्तोद्भवे चामये ॥६॥
मृत्युञ्जयरसो नाम सर्वरोगनिकृन्तनः ।
कथितोऽयं प्रयोगश्च पूज्यपादमहर्षिभिः ॥७॥

टीका—एक भाग काली मिर्च, लोहभस्म, शुद्ध पारा तथा, शुद्ध गंधक दो भाग इन सब को लोहे के खरल में डाल कर गाय के घी से मिला कर गोली सी बांध लेवे और अग्नि में पकावे। पकने पर जब ठंढी होने को आवे तब उसमें एक भाग हरिताल की भस्म, पाँच भाग तामे की भस्म और शुद्ध विषनाग तथा सब से आधा शुद्ध जमालगोटा सब को मिलाकर कुटकी के काढ़े से और दही के पानी से भावना दे धूप में सुखावे एवं कमल-पुष्पों से पूजा करे। फिर एक-एक रत्तीप्रमाण से कच्चे तथा पक्के ज्वर में जीर्णज्वर में, विषमज्वर में, वातजज्वर में पित्तज्वर में कफज्वर में, द्वन्द्वज ज्वर में, सन्निपात ज्वर में शोफ ज्वर में, शीतज्वर में, पसीना-सहित ज्वर में, अग्निमांद्य-जनित रोग में, सूजनसहित रोग में, पांडुरोग में, बवासीर में, सोंठ, मिर्च, पीपल, अदरख, सेंधानमक इनके अनुपान से यथायोग्य देवे तथा पित्तजन्यरोगों में जंबीरी नींबू के रस से देवे। यह मृत्युञ्जय रस सब रोगों को नाश करनेवाला पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ प्रयोग है।

१६२—गुल्मरोगे वातगुल्मरसः

शुद्धगंधं रसाभ्रं च त्रिफला सैंधवं वचा ।
चित्रकं च द्वयक्षारं विडंगं समभागकम् ॥१॥
मातुलुंगरसैर्मर्द्यः वातगुल्महरश्च सः ।
अग्निसंदीपनश्चापि गुल्मशूलातिसारजित् ॥२॥

टीका—शुद्ध गंधक, शुद्ध पारा, अभ्रकभस्म, त्रिफला, सेंधा नमक, दूधिया वच, चित्रक सज्जीखार, जवाखार, वायविडंग ये सब समान भाग लेकर बिजौरा (मातुलुंग) नींबू के रस से घोंटे और घोंट कर तैयार कर ले। यह रस अग्नि को बढ़ानेवाला गुल्मरोग, शूलरोग को नाश करनेवाला है।

१६३—चिंतामणिगुटिका

मरिचं पिप्पली शुंठी पथ्या धात्री विभीतकम्।
भागैकं रुचकं लवणं टंकणानां द्विभागकम् ॥१॥
दरदं चैकभागं च जैपालषड्भागकम्।
सर्वं जंबीरनीरेण मर्द्यं च दिवसद्वयम् ॥२॥
चणकप्रमाणवटिकां कारयेच्छुद्ध-बुद्धिभिः।
गोघृतेनावलेह्यः स्यात् सद्यः रेचः प्रजायते ॥३॥
हृद्रोगं शूलगुल्मं च शोफं च ज्वरप्लीहकम्।
पाण्डुं च नाशयेत् शीघ्रमसौ चिंतामणिर्गुटी ॥४॥
संपूर्णजनहितकरी पूज्यपादेन भाषिता।

टीका—काली मिर्च, पीपल, सोंठ, हर्र, आँवला, बहेरा और काला नमक ये सब एक-एक भाग; सुहागा २ भाग, शुद्ध सिंगरफ १ भाग और शुद्ध जमालगोटा ६ भाग इन सबको एकत्रित कर के जंबीरी नींबू के स्वरस में दो दिन तक घोंटे और चना के बराबर गोली बांधे। इसको गाय के घी के साथ खाने से शीघ्र ही रेचन करती है तथा हृदय-रोग, शूलरोग, गुल्मरोग, शोथ रोग, ज्वर, प्लीहा, पांडु इन रोगों को यह चिंतामणि गुटिका शीघ्र ही नाश करनेवाली है एवं यह संपूर्ण मनुष्यों को हित करनेवाली है।

१६४—षडंगगुग्गुलुः

रास्नामृता देवदारु शुंठी च चव्यचित्रकम्।
गुग्गुलुं सर्वतुल्यांशं कुट्टयेत् घृतवासितम् ॥१॥

टीका—रासना, गिलोय, देवदारु, सोंठ, चव्य, चित्रक ये सब बराबर ले तथा सब के बराबर शुद्ध गुग्गुल लेकर घी के साथ गोली बांधे और १ तोला प्रति-दिन सेवन करे तो लाभ होवे।

नोट—इसमें १ तोला की मात्रा लिखी है सो यह प्राचीन काल के मनुष्यों के बलानुसार है। इस समय मनुष्य बहुत कमजोर हैं इसलिये कम मात्रा अर्थात् तीन माशा की मात्रा से खाना चाहिये।

१६५—लूताविष-चिकित्सा

नरनीरेण सर्पाक्षीं पिष्ट्वा लेपं तु कारयेत् ।
असाध्यां नाशयेल्लूतां त्रिदोषोत्थां मुनेर्वचः ॥१॥

टीका—मनुष्य के मूत्र से सर्पाक्षी को पीस कर लेप करने से असाध्य भी मकरी का विष शांत हो जाता है। चाहे त्रिदोष भी हो गया हो तो भी शांत हो जाता है।

नोट—मकरी जब शरीर पर फिर जाती है और वह अपना जहर शरीर पर छोड़ती है तब कोदों के बराबर फुंसी सी हो जाती है, ये पकती नहीं है और बड़ा कष्ट होता है। इस पर उक्त प्रयोग करने से शीघ्र ही शांत हो जाता है।

१६६—पित्तदाहे धान्यादियोगः

धान्यकं मधुकं चैलां समभागेन शर्करां ।
नवनीतं पयः पीत्वा पित्त-दाह-विनाशनम् ॥२॥

टीका—धनिया, मुलहठी, छोटी इलायची ये तीनों बराबर लेवें और सबके बराबर शर्करा ले एवं मक्खन में मिला कर खाये तथा ऊपर से दूध को पीवे तो पित्त-संबंधी दाह कम हो जाता है।

१६७—दूसरा योग

नवनीतं क्षीरसंयुक्तं शर्करा-पिप्पलीयुतं ।
पित्तदाहं च तापं च चातुर्थ—विनाशयेत् ॥१॥

टीका—मक्खन, शक्कर, पीपल इन सब को मिला कर दूध के साथ पीने से पित्तज, दाह एवं चौथिया ज्वर शांत हो जाता है।

१६८—श्वासे पारदादियोगः

पारदं गंधकं शुद्धं मृतं लोहं च टंकणं ।
रास्नां विडंगं त्रिफलां देवदारुं कटुत्रयम् ॥१॥
अमृता पद्मकं क्षौद्रं विषं तुल्यांशचूर्णितम् ।
त्रिगुंजं श्वासकासार्थी सेवयेन्नात्र संशयः ॥२॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, लोहभस्म, सुहागा, रासना, वायविडंग, त्रिफला, देवदारु, सोंठ, मिर्च, पीपल, गिलोय, पद्माख, ,चन्दन, शहद शुद्ध विषनाग ये सब वस्तुएँ बराबर लेवे और सब को एकत्र घोंट कर तीन-तीन रत्ती के प्रमाण से सेवन करे तो श्वांस और खाँसी कम होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

१६९—श्वासे सूर्यावर्त्तरसः

सूतार्धं गंधकं मर्द्यं यामार्द्धं कन्यकाद्रवैः।
द्वयोस्तुल्यं ताम्रपत्रं पूर्णपत्रं च लेपयेत् ॥१॥
दिनैकं हंडिकामध्ये पचेयमादाय चूर्णयेत्।
सूर्यावर्तरसो ह्येषः श्वासकासहरः परः ॥२॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गंधक आधा भाग—इन दोनों को घीकुमारी के रस से आधे पहर तक मर्दन करे और दोनों के बराबर तामे का पत्र लेकर उस पर लेप करे तथा एक दिन तक हंडी के बीच में रख कर पाक करे। जब पाक हो जावे तब पत्रों पर से निकाल कर चूर्ण कर के अच्छी तरह घोंट लेवे तब यह सूर्यावर्त रस तैयार हुआ समझे। यह श्वास तथा खाँसी को हरनेवाला है।

१७०—हस्तिकर्णतैलम्

षोडशपलं च कंदं च बिल्वपत्रं पलाष्टकम्।
आरनालं चतुःप्रस्थं कषायमवतारयेत् ॥१॥
तैलं च कुडवं चैकं मृदुपाकं भिषग्वरः।
हस्तिकर्णमिदं नाम्ना सर्वशीतज्वरापहं ॥२॥

टीका—१६ पल कंदविशेष, ८ पल बेल की पत्ती, चार प्रस्थ (१३ छटांक) कांजी लेकर सब को एकत्रित कर के ४ कुडव पानी में पकावे। जब १ कुडव बाकी रहे तब उतार कर छान ले और फिर उसमें १ कुडव तैल डाल कर मृदु पाक से पाक करे। तैल मात्र बाकी रहे तब छान कर रख लेवे। यह तैल सब प्रकार के शीतज्वर को दूर करनेवाला है।

१७१—विनोद विद्याधररसः

सिन्दूरसागरफलवत्सनागाः ह्यष्टैकैकांशमनुक्रमेण।
जंबीरगोक्षीरसुनालिकेरश्रीखंडवासावरजीरकाणां ॥१॥

जीवंतिकाबालुकमेघनादाः पर्षां रसानां सुरसैः सुपिष्य ।
कस्तूरिकाचंदनकेन सार्धं निधाय शुल्वे बहुशोषयेत्तथा ॥२॥
निक्षिप्य भांडोदरके पिधाय पचेन् क्रमां मंदहुताशनेन ।
संशोष्य शीतज्वरपीडितानां मात्रां तु माषैकमितां प्रदद्यात् ॥३॥

टीका—रस सिन्दूर, ८ भाग, समुद्रफल ८ भाग, शुद्ध विषनाग १ भाग, इन तीनों को मिलाकर नीचे लिखी वस्तुओं के रस से मर्दन करे :—जंबीरी नींबू, गाय का दूध, नारियल का पानी, चंदन का काढ़ा, अडूसा का स्वरस, जीरे का काढ़ा, जीवंतीका-स्वरस, सुगंधवाले का काढ़ा, चौलाई का स्वरस इन सब के स्वरस में अलग-अलग भावना देकर कस्तूरी तथा चंदन के साथ ताम्रपत्र में रख कर सुखावे और उन पत्रों सहित एक भांड में बंद करके मन्द-मन्द अग्नि से पकावे। जब वह अत्यन्त शुष्क हो जावे तब तैयार हुआ समझे। यह शीतज्वर में हितकारी है। इसकी मात्रा १ माशे की है।

नोट—यह मात्रा अधिक है। वैद्य महाशयों को चाहिये कि रत्ती के प्रमाण में देवें।

१७२—पारदादि-योगः

पारदं द्विरदं गंधं सद्विसं क्रमवृद्धिना ।
सर्वं च मर्दयेत् खल्वे कनकस्वरसेन च ॥१॥
विजयास्वरसैश्चापि व्योषस्य क्वथनेन वा ।
सप्तवारं पृथक्कृत्य मर्दयेत् गुंजमात्रया ॥२॥
आर्द्रकैः मधुपिप्पल्या त्रिदोषं सन्निपातकम् ।
सर्वज्वरहरश्चाशु सर्वव्याधि विनाशनः ॥३॥
शीतोपचारः कर्तव्यः मधुराहारसेवनम् ।
योगोऽयं श्रेष्ठसिद्धश्च पूज्यपादेन भाषितः ॥३॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध हिंगुल २ भाग, शुद्ध गंधक ३ भाग, शुद्ध विष ४ भाग लेकर इन सब को खरल में डालकर धतूरे के रस से ७ बार, भांग के स्वरस से ७ बार, त्रिकटु के स्वरस से ७ बार भावना देवे और २ रत्ती के प्रमाण से अदरख तथा पीपल के साथ देवे तो त्रिदोष सन्निपात भी शांत हो। यह सब प्रकार के ज्वरों एवं सर्व व्याधियों को नाश करनेवाला है। इसके सेवन करने के बाद शीतोपचार करना चाहिये। यह श्रेष्ठ तथा सिद्धयोग पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. IV *SEPTEMBER, 1938* No. II.

Edited by
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:
INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8. SINGLE COPY Rs. 1-4.

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. IV. No. II | ARRAH (INDIA) | Sept. 1938.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

BY

Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

A casual perusal of Tamil Literature will reveal the fact that, from the earliest times, it was influenced by Jaina culture and religion. It is a well-known fact that Jainism was a religion originated in Northern India and thus must be associated with Āryan culture. When the Jainas migrated to the South and how they came in contact with the original Tamilians are problems which still remain obscure. But some light may be thrown on these problems if we turn our attention to the fact that even from the earliest times of Āryan settlement in the Indus valley, there was a section among the Āryans which was opposed to the religion of sacrifice and which was standing by the doctrine of Ahiṃsā. Even in the Ṛgveda Hymns we have evidence to substantiate this proposition. The story of Śunaḥśepha, a Brahmin youth, who was released by Viśvāmitra from being sacrificed is an important fact. The conflict between the Rājarṣi Viśvāmitra and Vasiṣṭha probably represents

the starting point of a great conflict between the school of sacrificial ritualism led by Brāhmaṇa Ṛṣis and the anti-sacrificial doctrine of Ahiṃsā led by the Kṣatriya heroes. Even in Ṛgveda Saṃhitā we have references to Ṛṣabha, Ariṣṭanemi, the former the first of the Jaina Tīrthaṅkaras and the latter 22nd Tīrthaṅkara, a cousin of Śrī Kṛṣṇa.

When we leave the period of the Saṃhitās and enter the second period known as the period of the Brāhmaṇas, we come across some more interesting facts relating to this cleavage among the Āryans. About this time the Āryans migrated towards the Gangetic valley, and they built kingdoms and settled down in the countries of Kāśī, Kosala, Videha and Magadha. Āryans living in these countries were generally designated as the Eastern Āryans as distinguished from the Western Āryans living in the Kuru Pāñcāla countries of the Indus valley. They looked down upon the Eastern Āryans as distinctly inferior to themselves in as much as they lost the orthodoxy associated with the Kuru Pāñcāla Āryans. The Orientalists suggest that the Eastern Āryans in the Gangetic valley probably represent an earlier wave of invaders who were pushed towards the east by the later invading hordes who settled down in the Indus valley. It is necessary to hold some such view in order to explain certain fundamental differences between the two sections. The Brāhmaṇa literature distinctly reveals the existence of political and cultural differences between the two groups of Āryans. On several occasions, armies were led to the eastern country against the Eastern Aryans. But there are two or three important facts mentioned in the Brāhmaṇa literature which constitute interesting evidence as to the difference of culture. In the Śatapatha Brāhmaṇa the orthodox Brāhmaṇas of the Kuru Pāñcāla countries are warned about their treatment in the eastern countries of Kāśī, Kosala, Videha and Magadha. It is mentioned there that it is not safe for the Brāhmaṇas of Kuru Pāñcāla countries to go to these countries of the east 'because Aryans in these countries have forgotten their Dharmas of Vedic *ritualism; not merely that they have given up the sacrifice but they*

have started a new Dharma according to which non-sacrificing is itself real Dharma. What kind of respect can you expect from such a lot of heterodox Aryans who have lost reverence for Dharma? Not merely this, they have also lost touch with the language of the Vedas. They cannot pronounce Sanskrit words with accuracy. For example, wherever *ra* occurs in Sanskrit words they can pronounce only *la*.

Again, in these eastern countries, Kṣatriyas have attained social supremacy in as much they claim to be higher than the Brāhmaṇas. Consistent with the social aggrandisement, the eastern Āryans led by the Kṣatriyas maintain that Rājasūya Yāga is the highest type of sacrifice as against Vājapeya sacrifice which is the highest according to the orthodox Kuru Pāñcālas. These are some of the reasons given why orthodox Kuru Pāñcāla Brāhmaṇas should avoid travelling in the eastern countries.

Again from an evidence in the Pañcaviṃśa Brāhmaṇa it may be inferred that on certain periods anti-ritualistic sections among the Aryans were more dominant and thus preached against Indra worship which did involve sacrifice. The persons who preached against Indra worship and anti-sacrificial ritualism are described as 'Yatis' with clean-shaven heads. When Indra-worship was revived once again by a powerful king, under the influence of the orthodox section, the revivalism led to the destruction of these Yatis whose heads were cut off and cast to the wolves. These facts given from non-Jaina literature are of great value in as much as they give us an inkling as to the antiquity of the religion of Ahiṃsā.

Now turn to the Jaina literature. What do you find there? Of the 24 Jaina Tīrthaṅkaras beginning with Ṛṣabha and ending with Mahāvīra, all are from the Kṣatriya clan. It is said that Lord Ṛṣabha, the first of the Tīrthaṅkaras, was the first to preach the doctrine of Ahiṃsā and turn the attention of the thinkers to the realisation of Self or Ātman by the path of Tapas or Yoga. Most of these Jaina leaders of Religion are associated with eastern countries; Ṛṣabha from Ayodhyā and Mahāvīra from Magadha

and of the intervening 22 mostly from countries generally grouped as Eastern Āryan countries. The language in which the Jinas preached their message was not Sanskrit, but a dialect of Sanskrit in the form of Māgadhī Prākrit. The early sacred literature of the Jainas is mostly in Prākrit language evidently a spoken language of the masses in those days. This liberal section of the Āryans evidently adopted this spoken language for the purpose of preaching to the masses their religious doctrine of Ahiṃsā.

When we come down to the period of Upaniṣads we see again the clash between the two different cultures: the sacrificial ritualism of the Kuru Pāñcālas and Ātmavidyā of the Eastern Āryans. The Upaniṣadic doctrine of Ātmavidyā is associated mainly with Kṣatriya heroes, and scholars from Kuru Pāñcāla countries are seen at the courts of these eastern kings, waiting for the purpose of being initiated into the new wisdom of Ātmavidyā. The Upaniṣadic world represents a stage at which these two sections were attempting to come to an understanding and compromise.

King Janaka represents such a spirit of compromise and Yājñavalkya, an eastern Āryan scholar, probably represents the force that effected the compromise and adjustment. The old sacrificial ritualism instead of being discarded altogether is retained as an inferior culture side by side with the new wisdom of Ātmavidyā which is recognised as distinctly higher. Such a compromise, no doubt, was a victory to the orthodox section of the Āryans. But such a compromise must have been unacceptable to the members of the liberal school who must have stood aloof; that such was the fact is evidenced by a small instance mentioned in the Jaina Rāmāyaṇa. When there was a talk of Rāma's marriage mooted in Daśaratha's court one of the ministers suggested that Janaka's daughter Sītā would be the proper bride. But it was seriously objected to by many ministers who pointed out that Janaka was no more the follower of the doctrine of Ahiṃsā in as much as he went back to the opposite camp. But it was finally decided that, from the political and military point of view, the alliance would be desirable in spite of this religious difference. This fact clearly suggests that Janaka was

considered as one of the liberal Āryans till he changed side. It would not be far wrong to suggest that the Eastern Āryans who were opposed to the sacrificial ritualism and who were led by the Kṣatriya heroes were believers in Ahiṃsā doctrines and as such the forefathers of the Jainas. This liberal school created out of itself, about the time of Mahāvīra, another radical school led by another Kṣatriya hero in the person of Gautama Śākyamuni, the founder of Buddhism. In the life of Gautama Buddha the Śākya clan to which he belongs is traced to Ikṣvāku dynasty which played a very important part in shaping the culture of ancient India. But even in Purāṇic Hinduism the services of the Kṣatriya heroes are recognised in as much as they are elevated as Avatāras of Viṣṇu for whom temples are raised and worship is conducted. It is strange that this doctrine of Ahiṃsā should be preached by Kṣatriya heroes who were generally associated with military exploits and who went about with bow and arrow.

How Ahiṃsā came to be associated with them remains a mystery. But the fact that they were the founders of the doctrine of Ahiṃsā is a fact which cannot be doubted. That these Kṣatriya leaders, wherever they went, carried with them their fundamental doctrine of Ahiṃsā, preached against animal sacrifice and promulgated vegetarianism are facts which every student of Indian History ought to acknowledge. In the drama Uttararāmacarita by Bhavabhūti this fact is well borne out in one of the scenes laid in Vālmiki Āśrama. Both Janaka and Vaśiṣṭha visit the Āśrama as guests. When Janaka is entertained as guest he is given pure vegetarian food and the Āśrama is cleaned and kept pure. But on the day when Vaśiṣṭha visits the Āśrama, a fat calf is killed in honour of his visit. One of the disciples of the Āśrama cynically asks a co-disciple of his whether any tiger visited the Āśrama ; and the other rebukes him for his disrespectful references to Vaśiṣṭha. The former apologises and explains himself by saying that, 'because a fat calf did disappear, I had to infer some carnivorous animal like tiger must have entered the Āśrama,' over which the former offers the explanation that Rājarṣi being a strict vegetarian must be entertained accordingly, whereas Vaśiṣṭha not being a strict vegetarian was

entertained to suit his taste. These facts clearly indicate the the significance and potency of Ahiṃsā doctrine, and it is well reflected in Tamil literature after the migration of the Jainas to the south and due to their participation in the creation of Tamil literature. The early Jainas should have adopted the propaganda work of their religion and hence they freely mixed up with the aboriginal people of the land. This is again borne out by the fact of their friendly relations with the aboriginal people. The people of the land against whom the Āryans had to fight their way were called Dasyus, who, though described in uncomplementary terms elsewhere, are all described with a certain amount of respect in Jaina literature. To give one single illustration the monkeys and Rākṣasas who figure in Vālmikī Rāmāyaṇa are all described as Vidyādharas in Jaina Rāmāyaṇa. It is also clear from the Jaina literature that Kṣatriya heroes belonging to the Āryan clan freely married the princesses from the Vidyādhara clan. Such a matrimonial alliance, most probably contracted for military and political reasons, must have paved their way for the introduction of the Ahiṃsā doctrine among the original inhabitants of the land. Some such reason must be assumed as the cause for the migration of the people from the north to the Tamil country and for introducing their culture, based upon Ahiṃsā. The orthodox school of Āryans must have appeared in the field of Tamil country much later as is quite clear from the fact of later Hindu revivalism which led to the downfall of Jaina supremacy in the South.

The migration of Jainas to South India is generally supposed to be at the time of Bhadrabāhu, the Guru of Candragupta Maurya. At the approach of a terrible famine of twelve years in the North, Bhadrabāhu led a whole Jaina Saṅgha towards the Deccan, that he was followed by his disciple Candragupta who abdicated his throne in favour of his son and that they came and settled for some time in Mysore Province, that Bhadrabāhu and Candragupta lost their lives on Candragiri at Śravaṇa Beḷgoḷa and the rest migrated to the Tamil country are facts generally accepted by oriental scholars. But, as I mentioned elsewhere, this could not be taken as the first approach of the Jainas towards the South. Tha

the migration to the South must have been conducted with a hope of hearty welcome from a friendly race for thousands of monks is the only reasonable suggestion. It is clear from the Hāthigumphā inscription of Khāravela that the Pāṇḍyan king sent shiploads of presents to King Khāravela at the time of latter's Rājyābhiṣeka. That Khāravela was an important Jaina emperor and that the Pāṇḍyan king was also the follower of the same religion are facts independently borne out by the inscription and Tamil literature. In connection with the Tamil work called 'Nālaḍiyār,' it is said that eight thousand Jaina monks who came and settled in the Pāṇḍyan country on account of the famine in the north wanted to go back to their country, which the Pāṇḍyan prince did not like. Hence they all left in a body the Pāṇḍyan capital, one night, each recording a stanza on a palm leaf which was left behind. The collection of these individual stanzas constitutes a book called 'Nālaḍiyār'; and this tradition is generally accepted in the south both among the Jainas and the non-Jainas. This fact also supports the view that even before the migration of Bhadrabāhu there must have been Jaina princes in the Tamil land. This naturally creates a problem as to the exact period of the migration of the Jainas to the Tamil land and what occasioned this. But it is enough for our purpose if we maintain that the introduction of Jainism in the south must be somewhere prior to the 4th century B. C. This view is in conformity with the conclusions obtained by the Tamil scholars after careful research. Mr. Sivarāja Piḷḷai in his 'Chronology of the Early Tamils' writes about the early Tamilians : "Before their contact with the Āryans, Dravidians, as I have elsewhere pointed out. were mainly engaged in building up material civilisation and securing for themselves the many amenities of life, individual and communal. Naturally, therefore, their lives took on a secular colour and came to be reflected as such in the literature of that period. The impulse of religion, which came to possess them at a later period, was then absent. And when the first infiltration of the Āryans began, the Jains and Buddhists seem to have been the earlier batch, all facts and traditions considered. These heretical sects finding

in the Tamil land no Brahmanic religion on any scale to oppose had to contend themselves with the composition of works mostly ethical and literary. The Tamils too seem to have taken themselves readily to this impulse which ran in the direction of their national bent, and the second period accordingly was throughout ethical and literary in substance and tone and seems to have been ushered in by the writing of such works as Kuṛal, Tolkāppiyam, etc. The Hindu Āryans were the last to come, and with their arrival was opened quite a new channel of national activity into which the whole of Dravidian life and thought have flowed since."

We cannot talk of Tamil literature without reference to what is known as the 3 Saṅgams. Tamil literature, especially the latter one, refers to the 3 Saṅgams or Academies under whose guidance Tamil literature was cultivated. The story of the Saṅgam is shrouded in a good deal of mythology. In the earlier works supposed to be Saṅgam literature the several collections such as the 8 collections, the 10 idylls etc., there is no reference to Saṅgam literature. The modern oriental scholars rightly conclude that the whole tradition is fictitious, and was created by some fertile imagination. The same author Mr. Sivarāja Piḷḷai referred to above, after an elaborate discussion about the Saṅgam tradition, writes thus—

"Reasons so many and substantial as these should lead any fair-minded scholar to reject the Saṅgam tradition as entirely apocryphal and not deserving of any serious historical consideration. It will, however, furnish a chapter in the study of myths and the psychological tendencies of the age in which it arose. Though worthless as testifying to any objective facts of Tamil history, the tradition itself claims our notice as a phenomenon of a certain type at a particular period of a nation's thought. I strongly suspect whether the eighth century tradition is not after all a faint reflex of the earlier Saṅgam movement of the Jains. We have testimony to the fact that one Vajranandi, a Jain Grammarian and Scholar and the pupil of the Devanandi Pūjyapāda, an accomplished Jaina Sanskrit Grammarian, in the Kanarese country, of the sixth century A.D., and the author of a grammatical treatise, 'Jainendra,' one of

the eight principal authorities on Sanskrit Grammar, went over to Madurā with the object of founding a Saṅgam there. Of course, that 'Saṅgam' could not have been anything else than a college of Jain ascetics and scholars engaged in a religious propaganda of their own. This movement must have first brought in the idea of a Saṅgam to the Tamil country. It is more than likely that, following closely the persecution of the Jains ruthlessly carried out in the 7th century A.D., the orthodox Hindu party must have tried to put their own house in order and resorted to the creation of Saṅgams with divinity too playing a part therein, for the express purpose of adding to the authority and dignity of their literature. It was sacerdotal 'Saṅgam' of the early Jains that most probably supplied the orthodox party with a clue for the story of a literary Saṅgam of their own on that model. The very name 'Saṅgam' unknown to the early Tamils proclaims its late origin and to attempt to foisting the idea it singnified on the so-called Saṅgam literature as its inspiring cause is little short of perpetrating a glaring and absurd anachronism."

To be Continued.

THE PREVIOUS BIRTHS OF SEJJAMSA.

BY

Kalipada Mitra, M.A., B.L.

In the Kuru *janapada* there is a city named Gajapura, there Somaprabha, son of Bāhubali was king, his son Sejjaṃsa was crown prince . . The latter saw his great-grandfather (Ṛṣabha who had been starving for a year) approaching, he then remembered his previous births . he wanted to give him food and drink ; when he was thinking thus, he saw a man bringing a jar of sugarcane-juice (*khoyarasa-ghaḍe*),...then with due rites of reverence, he circumambulated him, and after saluting him, taking the juice, in consonance with the three conditions of purity (with regard to the thing, the giver and the taker) approached him and asked him, "Lord, is it *kalpa* (worthy of acceptance)?" Then the latter stretched his hands, and thus his *pāraṇā* was satisfied. Five heavenly scenes were enacted... *viz.*, gold rained, there was fluttering of clothes expressive of joy, heavenly drums were struck, scented water and five kinds of flowers rained and rose the cry of "Oh, what charity, what charity!" (*aho dānaṃ, aho dānaṃ*). This was the first alms given to Ṛṣabha. Seeing the gods assembled, other kings came and asked Sejjaṃsa, "What is this?" "In this way alms should be given ; alms thus given leads to good way." "How do you know this?" "By remembering previous births (*jāisaraṇeṇa*) ; I was born with him eight times." He then recounted the previous births.

In one such birth,—in Jśāna-kalpa, the deva Lalitaṅga was the lord of Śrīprabhā vimāna, and he (Seyyaṃsa) was his chief queen Sayaṃprabhā. One day she saw the god morose and asked the reason for it. He said that in his former existence he had done only a little *tapa* (austerities) and narrated the following story.

(a) *Previous birth of Lalitaṅga—Story of Mahābala.*

In Jambudīpa, in Aparavideha, in the realm of Gandhilāvātī, in the Vaitādhya hill near Gandhamādana, there is a country (*janapada*) named Gandhāra, the town Gandhasamṛddha, there lived a king named Mahābala (son of Atibala, son of Śatabala). I was he. I had two ministers—a kshatriya friends, named Sayambuddha, who was devoted to the teachings of Jina ; and the other, Sambhinna-śrota, who was expert in many affairs but was an agnostic (*nāhiyavāī.*) Once I was seeing a female dancer singing and dancing. Sayambuddha said, " All singing is lamentation, all dance is insufferable condition, all decoration is a burden, all desires are miserable, therefore attend to what is good for the next world." The other quesned the validity of all these propositions. Sayambuddha said : "Listen, my Lord, how singing is lamentation ; as a woman whose husband is away, remembering her husband, wishing re-union and reflecting on his merits, makes lamentations morning and evening, or a servant in order to please an angry master, says things with great humility—that is lamentation or incoherent saying ; so a man or woman sets (arranges) certain words cleverly to please one who wants to hear music, is it not *vilāpa*? A man or a woman possessed by a *yakṣa* or wine-drunk throws (moves) the limbs, that is a painful condition ; even so a man or a woman, for pleasing the master, moves the hands, the feet, the head, the eyes and lips in accordance with certain laws established by learned men—that is in reality a painful condition ; a man obeying the order of his master carries the crown and other ornaments contained in a trunk, he certainly suffers the pain of bearing burden, even so one who wears ornaments well set on different parts of the body for making others stare in wonder, really suffers the pain of bearing burden, only that through attachment he does not mind it ; desires likewise produce misery ; as a deer infatuated by sound, a moth infatuated by visual-appearance (*rūpa*), a bee infatuated by (sweet) smell, an elephant infatuated by touch suffers imprisonment or death, even so the *jīvas* being enthralled by the senses of hearing etc., and tainting their hearts, suffer not

only death here, but are thrown into hell—therefore desires lead to misery.[1]

I said to Sayambuddha: "Doubtless you do not wish me good, in that you are tempting me with uncertain happiness of the other world, and blaming the immediate pleasures, thus depriving me of both." Thereupon Sambhinnasota said, "Sir, Sayaṃbuddha is like the jackal who wishing the fish forsook the piece of meat and went after the fish and lost both—the fish diving in the river, and the meat being snatched away by a vulture; so he desires to forsake the present pleasures and hopes for the doubtful happiness of the other world and loses both." Sayaṃbuddha said, "Infatuated by trifling pleasures, you say so; who in his senses will prove that? What do you think of one who pleased with glass (*kācamaṇi*) does not want jewels which come to him, and which are praised by competent men? Therefore, Sambinnasota, wise men, knowing the glories of the body (pleasures of the senses) to be impermanent, forsake the enjoyment of desires, and practise restraint and austerities which lead to the happiness of Nirvāṇa." Sambhinna said, "Well, Sayaṃbuddha, we will all die; for this reason can we, from the outset, reside in the *śmaśāna* (crematorium)? You are doubtless like tiṭṭibhis; as tiṭṭibhis, fearing the sky will fall, sleep with upturned feet to catch the (falling) sky, so you, since doubtless there will be death, forsake immediate pleasures and desire future happiness. Certainly when death comes we will do what is good for the other

1. *Cf.* Kundakunda's *Pravacanasāra* (Faddegon, Camb. 1935) 1.64. "Know misery to be innate in those who find satisfaction with sense-objects.

Tattva dīpikā. In those for whom these detestable sense organs are alive (*jīvad-avasthā*) misery does not depend on accidental conditions (*Upādhi*), but is innate; for we see their satisfaction with sense-objects.

We behold how, enslaved by the feelings of their uncontrollable senses they rush (*abhipāta*) for objects although on the point of perishing (*āsanna,-nipāta*), like the elephant for the touch (*sparśa*) of the harlot she-elephant, the carp for the taste (*svāda*) of the bait on the hook, the bee for the fragrance (*āmoda*) of the *aravinda* on the point of closing; the moth for the visual appearance (*rūpa*) of the lamp flame; the antelope for the sound (*svara*) of the hunter's song." See also A. N. Upadhye's *Pravacansāra*; p. 83.

world, but why now?" Sayaṃbuddha said, "You fool, when the fight has begun, to tame elephants and horses does not avail, nor does the sinking of a well when the house is on fire; if these had been performed earlier, you could expect to defeat the enemy or extinguish the fire with some ease. So he who does not exert from now for the next world cannot expect to do anything when he is overcome by death. Now listen to the following story told by wise men.

Tale of an elephant (narrated by Sayaṃbuddha)

A certain elephant, overcome with old age, trying to ford a hill stream fell on the uneven bank; owing to his weakness and heaviness of the body he was unable to raise himself and died there. His rectal region was eaten away by a jackal. A certain crow by that passage entered inside the elephant and fed on the flesh and water. The carcass, heated by the sun, shrank; and the passage closed; the crow was pleased and thought that now there was no danger. In the rainy season the stream was swollen and carried the carcass of the elephant to a great river, which, in its turn, carried it to the sea. It was eaten away by fishes and sharks. The crow was out, but found no shores, and met with death; if, on the other hand, it had issued out of the carcass before, it could have for a long time eaten at pleasure various kinds of flesh, etc. The moral of the tale is this. The crow is (represents) the *jīva* of the *saṃsāra*, entry into the carcass of the elephant is the getting of the human body; the eating of flesh of the carcass is the enjoyment of sense-objects; the closing of the passage is the obstacle to evolution, swelling of the stream death; issuing out of the carcass, the next *bhava* (birth, existence); therefore, know you, Sambhinnasota, he who forsakes the trifling, unsubstantial, ephemeral pleasures of the world and exerts himself in austerities and selfrestraint attains good condition and does not repent; on the other hand, he who, regardless of death, becomes greedy of sense-objects, finds himself, on the dissolution of the body, unprovided with viaticum, and sorrows for ever; therefore, do not be infatuated, like the jackal, with transient pleasures and despise long enduring happiness." Sambhinnasota said, "What is the instance of the jackal?" Sayaṃbuddha narrates it.

(b) *Tale of a jackal.*

A forest roamer rambling in an intricate jungle saw a big elephant, and hit him with a cruel arrow in the sensitive part. The elephant fell, but in his fall crushed a very big serpent which remained with half its body standing out. The hunter seeing that the elephant had fallen left behind the bow, and proceeded with an axe towards the elephant to take his ivory-teeth, but being bitten by the serpent died on the spot. A jackal came wandering there, saw the man and the elephant, receded through cowardice, but tempted by the greed of flesh again and again approached them ; when it knew for certain that they were lifeless, it became pleased, and looking on considered thus :—The elephant will yield me food for whole lifetime, the man and the serpent for sometime ; let me eat to-day the leather bow-string. In doing so, the slow-witted (jackal) was piercedi n the root of the palate and died If it had forsaken the unsubstantial string, and fed on the carcass of the man, elephant and the serpent, then it could have eaten them for long, besides other repast ; thus know you, he who is attached to human pleasures regardless of exertion for the next world, will die like the jackal.

Again, my lord, you say, that the (existence of the) next world is doubtful, but this is not proper ; for in your boyhood you went with me to the Nandana garden. there a god descended from the sky, seeing him we went aside, but the god soon came up to us and said. " Oh, Mahābala I am your grandfather, Śatabala ; having relinquished the splendour of kinghood I fulfilled my vows and have become lord of the Lantaga kalpa, therefore you also do not be heedless, meditate on the sayings of the Jinas, you will also attain good condition." Thus saying he departed. If then, sir, you remember this, you will believe in the next world. " Yes, I remember what my grandfather said." Then Sayambuddha said, " Listen, sir, to what happened in the past.

(c) *Story of king Kurucanda.*

One of your ancestors was king Kurucanda ; Kurumati was his chief queen, Haricanda was his son. That king, however, was an

agnostic intent on killing many kings, devoid of morality (*sīla*) and good conduct (*vrata*). Thus he passed his days for long till at the time of death he became like a denizen of hell suffering intense pain, mistaking sweet-strained music for harsh reproof, beautiful, for ugly, forms; sugared milk for filth, sandal paste for *mummura* (dung), garments painted with flamingoes of soft touch for heap of thorns . thus he died in great pain. Haricanda ruled with justice; thinking on the death of his father it occurred to him thus: - There exists the fruit of good and bad deeds. Then he asked Subuddhi—a Kshatriya friend of childhood—to narrate daily religious stories . Once, not far from the town, the gods came to elebrate the attainment of *kevala jñāna* by a sage ..hearing this from Subuddhi, Haricanda went to the *Kevalī* and listened to his discourse and asked - "Bhagavan, what condition has been attained by my father?" The sage said; "Haricanda, your father, not having stopped the inflow of evil *karman* and having afflicted many beings, on account of the enormity of his offences in this very existence sustained strange experience of sense-objects, and is now born below as a denizen of hell in the seventh earth (*sattamapuḍhavi-e*); he, there suffers intolerable and un-exampled pain. Hearing the fruit of the deed of his father Haricanda being afraid of *saṃsāra* saluted the sage, returned to his city, and making over his kingdom to his son, took *pravrajyā* from the *Kevalī* along with Subuddhi. Then he attained *kevalajñāna* and *darśana*, and finally *nirvāṇa*

In the line of the sage-king Haricanda, after countless pious kings, you have now sprung, and I in the line of Subuddhi; so this position of religious instructor is my lineal heritage. Now listen, why, of a sudden, I made this discourse. To day I went to Nandanavana. I saw there two *caraṇaśramaṇas*—named Ādityayaśā and Amitatejā, who being asked told me, that the life of king Mahābala would endure for one month only..." Then I turned religious and said to Sayaṃbuddha, "Only a month exists, what can I do that will be good for the other world?" "A day is enough, sir, for discarding all that is reprehensible, not to speak of a month." Then I made over to my son the rule of people,...and after starvation, worship of Jina,

attention to religious discourse, died and came here; thus my *tapa* is but a little."

(Here ends the story of Mahâbala narrated by Lalitanga; now begins the narration of Seyyamsa.)

Meanwhile from Isâna, king of the gods, came a god named Dṛḍhadharma and told Lalitaṅga—Isâna is going to the island of Nandissara to worship the Jinas, I am also going." We also went there immediately, and offered worship in the temple of the Jinas. While worshipping Lalitaṅga descended (*cuto*), then I (Sayampabhâ) being consumed by the fire of intense sorrow, returned with my entourage to Śriprabhâ vimâna, Sayambuddha (who had become a god) came and said, Syampabhâ, the time of your descent (*cavanakâla*) is nigh, worship the Jina so that, in the next existence also you may attain true knowledge (*bodhi*)." Accordingly I went again to Nandissara and worshipped the Jina. Then I descended and was born as the daughter of Gunavati, queen of Vajrasena, Chakkavatti king of Puṇḍarigini city in the realm of Pakkhalâvai in Puvvavideha in Jambuddiva. My name was Sirimai. I grew up and was instructed in arts. One evening I ascended the Sabbatobhadda palace and saw the descent of the gods outside the city, I remembered my *deva*-birth, and fainted. When I came to myself I thought. "Where is my beloved Lalitaṅga deva? Without him what care I to be addressed by people?" So I remained mute. My relations said that the Jambhaka gods had stopped my speech. The doctors made great efforts—by *homa*, *mantras* and charms—to remove my dumbness, but I remained obdurate. I gave orders to my maid servants in writing. One day in the pleasure garden, my wet nurse insisted on my telling the truth. I said, "listen."

There is a city named Namdiggâma in the country of Maṅgalavai in Puvvavideha in the island of Dhâyaisaṃda (Dhâtaki-khaṇḍa). There in the third previous existence from this, I was born in a poor family, I was the youngest of six sisters beginning with Sulakkhaṇâ and Sumaṃgalâ, my parents gave me no name, I was, therefore, famed as Ninnâmiyâ (Nirṇâmikâ). Once on the occasion of a certain festival I saw children of rich family coming out of their

houses with various kinds of food. I also asked my mother to give me some sweets, with which I might go and play with the children. She cruelly ejected me out of the house saying. " Where is food here? Go to the Ambaratilaka hill, eat fruits there or die "...I went to the hill, and ate sweet fruits that had fallen from trees, and wandering about the beautiful hill with people, heard sweet sounds, and proceeding saw the *Jugaṃdharā ācāryyas* who following various observances had mastered the fourteen Purvvas and attained four kinds of knowledge – discoursing on the subjects of 'bondage' and 'liberation' to gods and men assembled there. I also fell on their feet, sat on one side and listened; and then asked: " Is there any one more miserable than me?" They said, " Nirṇāmikā, you are hearing good and bad sounds, seeing good and bad forms, smelling good and bad smells, tasting good and bad juices, feeling good and bad touch; for you there is remedy against heat, cold and hunger, you can sleep comfortably, you can light a lamp in darkness and work—all these are denied to the denizens of hell, they dwell in the eternal darkness of hell for long and suffer immeasurable pain, animals also suffer heat and cold, hunger and thirst and various kinds of pain; yours on the other hand are common pleasure and pain, you consider yourself unhappy when you see others' prosperity." ... Some of the people took *pravrajyā*, some took householder's vows. I said, " Instruct me, sirs, in those observances of which I am capable." I was asked to observe the five *anuvvatas* (lesser vows). Pleased, I returned with the people to Nandiggāma, observed the vows, starved for one day, two days, three days; ..after sometime I saw at night a beautiful god who addressed me—" Nirnāmikā, think 'I will be the wife of this god,' then you will be my wife and enjoy with me heavenly pleasures"—and disappeared. I was pleased at the thought of becoming a goddess, died in *samādhi*, and was reborn as Sayampabhā, the chief queen of god Lalitaṅga, the lord of Srippabha vimāna in Isānakappa...

Story of Sirimaī continued.

For long I enjoyed heaveny pleasures with Lalitaṅga, who on the termination of his life descened. I know not, O mother, where

he has gone. I have come here, and seeing the gods am reminded of him, and am observing muteness, holding that god in my mind. My nurse said, "Very well then, draw on a canvas the story of your previous birth, I will search; if Lalitaṅga has been re-born as a man, then seeing his own life represented, he will remember his former birth." Then with brushes of various colours she drew the lives of both on the canvas—(1) Nandiggâma, (2) the sages seated under the flowering Aśoka tree on the Ambaratilaka hill, (3) the deva-couple, (4) Sirippabha Vimâna of Isânakappa with the deva-couple, (5) king Mahâbala with Sayaṃbuddha and Sambhinnsoya, (6) Niṇṇâmiyâ reduced by practice of austerities,—every-where the names of Sayampabhâ and Lalitaṅga were written. Taking the canvas the nurse, wishing to go to Dhâtakı Khaṇḍa, flew up in the sky, but instantly returned, and said: "Listen, daughter, why I have returned; here many kings of Vijaya have assembled on the occasion of the birth day anniversary of our lord, your father (*varisavaddhâvananimittaṃ*), so if your beloved be here, I will get him here, if he be not here, then I will search." She returned on the second day in the afternoon, and said with pleasure, "Be comforted, I have seen your Lalitaṅga." "Say, how." She said, "Daughter, I spread the canvas on the roadside, some connoisseurs came and praised it saying it has been drawn according to rules of art, ignorant men praised the colour and forms etc. Then came Duddanta, son of king Dummarisana, with his retinue and seeing it fainted. When the people demanded the reason of it, he said, 'I saw my previous existence drawn on the canvas and remembered it. I am Lalitaṅgadeva, and Sayaṃpabhâ is my wife.' I asked "What is the village?" He says, "Puṇḍarigini city, the hill is Meru, I am forgetting the name of the sage, do not know the name of the maiden practising austerities"··· Knowing him to be a fraud I said, "Yes, you are Lalitaṅga; but your Sayampabhâ is born as a cripple in Nandiggâma in Dhâtakikhaṇḍa; in order to find you out she has given me the canvas when I went there. Feeling compassion for her I am searching for you, come son, I am taking you to Dhâtakikhaṇḍa; comfort your beloved cripple." Being mocked by friends he held down his head and slipped away. In a moment

there came Prince Dhana from Lohaggala, who on account of his skill in jumping got the second name of Vairajamgha (diamond-thigh). He said that it was his previous life and identified every item in the picture. Then I said, "The maiden Sirimaī, the daughter of your father's sister, is Sayampabhā. I am asking the king so that she may be yours." Hearing this he became pleased, so, I have returned successful, I am going to the king, so that you may be re-united with him."

"There is a city named Viyasogā (vītaśokā) in Salilāvaīvijaya in Aparavideha, Jiyasattu was king he had two queens—Manoharī and Kekayī; they had respectively two sons—Ayalo and Bihisaṇo, Baladeva and Vāsudeva. On the death of their father they ruled each half of Vijaya. Manoharī, mother of Baladeva-Ayala asked leave to take *pravrajyā* which was granted when she had consented that she would come from the *devaloka* to instruct him when fallen in critical condition···She became a god in the Lantaga Kalpa. Baladeva and Vāsudeva enjoyed pleasures for a long time. Once in hunt they were carried by their horses deep into the forset...they fell in danger ..Bihisana died. Ayala, through affection, did not know him to be dead, but thought he had fainted, and wished to carry him in the cooler part of the forest. Remembering my former contract with my son I came from Lantaga Kalpa, and taking the form of Bihisana said to Ayala—"Brother, I went to fight with the Vidyādharas, they have been conquered; somebody has deceived you by taking my form, so leave this body and burn it in fire. He did so and returned to the city. I appeared to him in the form of Manoharī. Ayala said, "Mother, whence do you come?" I told him everything including the death of Bihisana, instructed him, to exert for the other world, knowing the prosperity of man to be inconstant, and returned to my kalpa. Ayala made over the kingdom to his son, left the world (*pavvaito*) and practising austerities became Lalitaṅgadeva ..there were 17 such Lalitaṅgas, whom I regarded as my son: he who is the husband of Sirimaī is the 18th Lalitaṅga... born as Vairajaṅgha."

Story of Sirimaī contd.

The king ordered the Chamberlain to bring Vairajaṅgha. He said, 'Son Vairajaṅgha, know Sirimaī to be Sayaṃpabhā of previous birth." He looked on me, as a swan looks on the lotus, and duly took my hand, was given enormous riches by my father... We went to Lohaggala ..King Vairasena being instructed by *Logantiyadevas* bestowed gifts for a year, made over the kingdom to his son Pokkhalapala, left the world···attained *kevala* knowledge. A son was born to me also...he grew up...We went to calm a rebellion raised by the Sāmantas of Pokkhalapala. After calming it, we returned, saw among reeds my brothers the *śramaṇas* Sāgarasena and Muṇitseṇa, and developed detachment from the world. Our son, meanwhile, during our absence became desirous of reigning, bribed our servants with gifts, and when we stayed in a house it was smoked with poisonous gas, so we died and were reborn as a couple in Uttarakuru. Therefore, know O noble one, she who was Ninnāmigā, or Sayaṃpabhā, or Sirimaī—is I ; he who was Mahābala, Laliyamgato or Vairajaṅgho is you ..Then we were reborn as *devas* in Sohamma kappa...Thence descending, in the city of Pahaṃkara in Vacchāvai Vijaya, my husband was born as Kesava, son of the physician Subihi, and I as ths son of a banker (seṭṭhi), there was great attachment between us ; in that very city there were king's son, minister's son, banker's son and merchants' son, there was a great friendship between them. Once a great sage suffering from maggot-riddled leprosy was attended by them and cured, by virtue of which they were reborn as gods like Indra in the Accua (Acyuta) kappa. On termination of existence there Kesava was reborn as the son of king Vairaseṇa and queen Maṅgalāvaī *alias* Dhāriṇī and named Vayaranābha (Vajranābha): the four others begining with the king's son were born as his younger brothers and named Kaṇaganābha *alias* Bāhu, Ruppanābhā *alias* Subāhu, Pīṭha and Mahāpīṭha, I was also born a prince in the city, and was attached to Vayaranābha even from childhood as his charioteer, named Sujasa. Vairasena became Tīrthakara ; on the day that he attained *kevala jñāna* the Cakkaratnaṃ rose for Vayaranābha (*i.e.*, he became a *cakkavaṭṭī*). He took *pavajjā* from his father. I also took

pavajjā with him. Vairasena further said that Vayaranābha was to become the first Tīrthaṅkara Usabha (Ṛṣabha) in Bhārata, and that Kanakanābha would become Cakkavatti Bharaha. Vayaranābha acquired the fourteen purvvas, others 11 aṅgas. Bāhu did service to the saints, Subāhu helped them to rest and were praised by Vayaranābha. Pīṭha and Supīṭha entertained malice against their guru Vayaranābha. All of them were reborn in the Sarvārthamahāvimāna and when their life ended there, Vayaranābha was first descended as Usabha, Bāhu as Bharaha and Subāhu as Bahubali—his sons, and Pīṭha as Bambhī and Mahāpīṭha as Sundarī—his daughters. On seeing the signs of great-grandfather I remembered that I saw the Tīrthaṅkara thus dressed and thought food and drink must be given to him .. The kings, learning this, praised Sejjaṃsa and went away. Sejjaṃsa erected a raised seat where the Tīrthaṅkara stood, it was called—*itithaṇaramaṇḍalaṃ* ; people did likewise ; in time it grew to be seats of sun worship. The thirteen existences of Ṛṣabha are indicated in the following gāthā :

Dhaṇa mihuṇa Sura Mahabbala Laliyaṅgaya Vairajaṃgha mihuṇe ya !

Sohamma Vijja accua Cakki Sabbaha Usabhe ya !

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S

Continued from Vol. III page 75—79.

"THE PRE-HISTORICAL PERIOD EVENTS."

No.	Period & Date.	Event.
114	Vaisākha Śukla Pratipadā.	Kunthunātha, the seventeenth Tīrthankara born at Hastinapura after half *palya* years since Śāntinātha was liberated. Sūryasena was his father and queen Śrikāntā was his mother. He became a *Chakravarti* monarch and ruled the world with justice and order.
115	Do.	Kunthunātha became a naked recluse and after observing a fast of two days, he dined at the home of King Aprājita of Hastinā-pura.
116	Chaitra Śukla Tratiyā	After observing penances and austerities for sixteen years, Kunthunātha obtained omniscience and became a world Teacher.
117	Vaisākha Śukla Pratipadā.	Kunthunātha was liberated from the Mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid*, 64, 13-25).
118	Mārgaśirsa Śukla Chaturdaśī.	After ¼ *palya*, less one thousand crore years since Kunthunātha attained liberation, Arhanātha Tīrthankara appeared at Hastinā-pura. His father Rājā Sudarśana, was a Kuruvaṃśīya Kṣatriya and queen Sumitrā or Mitrasenā was his mother. As a *Chakravarti* monarch, he made a *digvijaya* all round and ruled for full 42 thousand years.

No.	Period & Date.	Event.
119	Mārgaśīrśa Śukla Daśamī.	Arhanātha renounced the world and became a naked recluse.
120	Kārtika Śukla Dvādaśī.	Arhanātha became an omniscient world Teacher and began to preach the Dharma at large.
121	Chaitra Kraṣṇa Amāvasyā.	Arhanātha obtained Nirvāṇa from Mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid*; 65·24 ff.)
122	Two hundred Crore and 32 years after Arahnātha.	Subhauma Chakravarti flourished. It so happened that a Tāpasa by name Jamadagni married princess Renukā, the daughter of the King of Kānyakubja and had two sons from her, whom he named as Indra Rāma and Sveta Rāma. Attaining to youth, they killed the Kṣatriyas for 21 times in order to revenge their father. Anyhow the Kṣatriyāni Chitramati being pregnant took refuge with the help of Nirgrantha Subandhu at the āśrama of Ṛṣi Sāṇḍilya, where she gave birth to a son. He was Chakravarti Subhauma. (*Ibid*; 65, 51-120.)
123	Six hundred Crore years after Subhauma.	Nārāyaṇa Pundarika and Baladeva Nandiṣeṇa appeared at Chakrapura. (*Ibid*; 65·174.)
124	Mārgaśirṣa Śukla Ekādaśī.	After one thousand crore years since Aranātha attained to Nirvāṇa, Tīrthankara Mallinātha appeared at Mithilāpura. His parents were king Kumbha and queen Rakṣitta or Prajāvati of the renowned Kuru race of Kṣatriyas.

No.	Period & Date.	Event.
125	Mārgaśirṣa Śukla Ekādaśi.	As a born celebate, Mallinātha took the vow of a Digambara Jaina saint and observed penance.
126	Pauṣa Krasṇa Dvitiyā.	Mallinātha became an omniscient teacher and began to teach the world.
127	Phālguṇa Śukla Panchami.	Mallinātha attained to Nirvāṇa from Sammeda Sikhara (*Ibid*; 66·36 ff.)
128	......	Chakravarti Padma flourished. He was the son of the Ikṣvāku-vaṃśi king Padmanābha of Benares. In old age he adopted the life of a Jaina saint and gained Nirvāṇa. (*Ibid*; 66-97.)
129	......	Nārāyaṇa Datta and Baladeva Nandimitra flourished at Benares. (*Ibid*; 66, 106-108.)
130	......	During the Tirtha of Śitalanātha Tirthankara a Vidyādhara King named Ārya, with his wife Manoramā happened to reach Champapuri in Bharatkṣetra from a foreign country. Champa's throne being vacant, Ārya was lucky to instal himself as a king. His son was Hari, who became a great ruling prince and the founder of renowned Harivaṃśa. (Harivaṃśa; 15· 1-58).

No.	Period & Date.	Event.
131	Vaisākha Kṛaṣṇa Daṣamî.	A king in the famous Harivaṃśa by name Sumitra was ruling over Magadha from Kuśāgrapura (Rājagraha of the latter period). His queen named Padmāvatī gave birth to an illustrious son, who came to be known as Tīrthankara Munisuvratanatha. He appeared after 54 lacs years since Mallinātha attained Nirvāṇa.
132	Do.	After installing on the throne of Magadh his son Suvrata, Munisuvaratanātha adopted the life of a naked Jaina recluse.
133	Vaiśakha Kṛaṣṇa Naumî.	Munisuvratanātha gained omniscience and began to preach the *Dharma*.
134	Phālguṇa Kṛaṣṇa Dvādaśî.	Munisuvratanātha was liberated from Mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid*: 16·1-75 & Uttarapurāṇa, 67·22-27.)
135	......	Hariṣena Cakravartī flourished at Bhogapura. His parents were King Padmanābha and Queen Airā of the Ikṣvāku elan of the Kṣatriyas. He made a *digvijaya* and became famous by awarding to one and all the things which they required. (तत्प्रार्थितेन संतर्प दीनानाथवनीपकान्). Reaching to old age, he became a Jaina Muni near Śrī Nāga Jina on Śrimant hill. (Uttarapurāṇa, 67·84.)
136	......	Rāma and Lakṣamaṇa, the Epic heroes, flourished at Ayodhyā. (*Ibid*, 67-90 ff.)

No.	Period & Date.	Event.
137	Āṣaḍa Kṛaṣṇa Daṣmi.	After sixty lac years since Munisuvaratanātha attained nirvāṇa, Tīrthānkara Nami appeared at Mithilā. His father Śrī Vijaya or Vijayaratha belonged to the ruling clan of the Ikṣavāku Kṣatriyas of Mithilā. His mother was known as Vaprādevi.
138	Do.	Nami after enjoying prince's life and ruling for a considerable period, adopted the hard life of a Digambara Jaina recluse. He took his first meal as a monk, after a fast of two days, at the house of Sunayadatta at Rājagrāha.
139	Māgha Śukla Ekādasi.	Nami practised austerities and penances for full nine years and became an omniscient Teacher.
140	Vaiśākha Kṛaṣṇa Chaturdasi.	Nami having preached Dharma allround, attained Nirvāṇa from Mt. Sammeda-Sikhara. (*Ibid* 69, 18-32).
141	.....	Jayasena Chakravarti flourished at Kauśāmbi in the royal family of the Ikṣvāku King Vijaya, whose queen by name Prabhākarí was his mother. (*Ibid*, 69, 78-80.)
142	.....	Marriage known as Prājyāpatya came into existence, as a result of the love affairs of King Panḍu and virgin Kunti, who gave birth to a son named Karṇa. (*Ibid* 70-115)
		To be Continued.

THE JĀNGALŪ INSCRIPTION OF V. S. 1176.

By DASHARATHA SHARMA.

The inscription edited here for the first time can now be seen in the Dāgā Mahāvīra temple, Bikaner. The *parikara*, though now occupied by an image of Śrī Mahavīra, was, as is clear from the inscription, originally used for an image of Śrī Śantinātha, at Jāṅgalakūpa, now known as Jāngalū, a village twenty-four miles to the south of Bikaner. According to local tradition the village was founded by a Dahiyā queen of the Chauhān Emperor Pṛthvīrāja. But this can hardly he true, for Pṛthvirāja flourished in the second quarter of the 13th and our inscription recording the existence of Jāṅgalakūpa belongs to the 4th quarter of the 12th century of the Vikrama era. So the Pṛthvirāja meant by the tradition is most probably Pṛthviraja I, and not the Chauhan Emperor Pṛthvirāja III.

The inscription records the setting up of an image of Śrī Śāntinātha in a *vidhichaitya* at Jāṅgalakūpa on the sixth day of the darkhalf of Mārgaśirṣa, V.S. 1176. The donor was Tilhaka—the son of Nādhaka—who caused the image to be set up for the spiritual welfare of himself as well as his sister Śuklā.

The inscription is also of importance in as much as it shows the spread of the *vidhichaitya* movement so eagerly sponsored by many Jain acharyas of the period to such remote regions of Rājputāna as the south of Bikaner.

I am extremely thankful to my friend Mr. Bhanwarlal Nahta for having brought the inscription to my notice, and also for having prepared its ink impression, for my use.

The letters of the inscription belong to the variety of Brahmi used at the time in Malwa and Ajmer. The language used is correct Sanskrit.

Text.

"संवत् ११७६ मागशिरवदी ६ श्रीमज्जांगलकूपदुर्गनगरे श्रीवीरचैत्ये विधौ । श्रीमच्छान्तिजिनस्य बिंबमतुलं भक्त्या परं कारितं । तत्रासीद्दूरकीर्त्तिभाजनमत (नमः ?) श्रीनाढकः श्राद्धस्तत्सूनुर्गुणरत्नरोहणगिरिः श्रीतिल्हको विद्यते ॥१॥ ३० तेन स्वशुद्धवित्तेन श्रेयोर्थं च मनोरमम् । शुक्लाख्याया निजश्व(स्व) सुरात्मनो भूतिमिच्छता ॥२॥

The Jaina Bibliography.

Prākrit, Ardhamāgadhi, Apabhramsa etc :—

1. *Ardhamāgadhi Grammar for Beginners*—by Prof. V. M. Shah, Ahmedabad. Cr. pp. 79. As. 12.

2. *Mahāpurāṇa*—of Puṣpadanta, critically edited by Dr. P. L. Vaidya, with Introduction, Notes and glossary of important Prakrit words in English. (Rāyachandra Jain Granthamāla, Bombay) Royal : Cloth pp 42 + 672 Rs. 10.

3. *Parmātmā-Prakāśa*—Yogindradeva. Another Apabhramsa work dealing with Jain mysticism edited with Brahmadeva's Sanskrit Comm. and Daulatram's Hindi trans., critical intro : etc, by Prof. A. N. Upadhye. (Bombay) Rs. 4 8.

English :—

1. *The Discourse Divine*.—English translation of Shri Pūjyapāda's 'Iṣṭopadeśa' by C. R. Jain, Vidyā-Vāndhi 2nd ed. (Agra).

Hindi, Gujarāti etc. : —

1. *Jain-Buddha Tattva-Jñāna*.—(Hindi) by Brahmacarī Śitalprasadji. pt. II, pp. 264 (Kapadia Bhawan, Surat). Re. 1.

2. *Subhāṣit-Padya-Ratnākara*.—pt. III Collection of precepts from sanskrit literature with Gujarati translation by Muni Viśālvijaiji. Cr. pp. 819 to 1198, Rs. 1/4.

3. *Hemacandra-Vacnāmrata*.—Collection of the sayings of Ācārya Hemacandra from his Sanskrit works by Muni Jayantavijai. (Ujain) pp. 205 Rs. -/8/.

REVIEW.

LORD MAHAVIRA, A Short Sketch of the Life of Bhagawan Mahavira, by Harisatya Bhattacharya M A., B.L., Howrah, Published by the Hindi Vidya Mandira of Delhi with the financial aid of Lala Tanasukha Rai Jain, Crown pp. 4-38, Delhi 1938.

Mr. Bhattacharya is well known to students of Jainism by his numerous contributions published in the vols. of Jain Gazette. He has given in this small book a connected sketch of the life of Mahāvīra mainly following the traditional account of the Digambaras. Mr. Jaini's Foreword sheds a brilliant light on the universal importance of Mahāvīra's personality. An exhaustive life of Mahāvīra in English based on Digambara and Śvetāmbara sources is a desideratum. We would request Mr. Bhattacharya to take up this work, as he has been already working in the field.

A. N. UPADHYE.

Select Contents of Oriental Journals.

1. *Epigraphia Indica.*—Vol. XXIII, pts. I—II :—

   A. N. Upadhye—*Kolhapur Copper-plates of Gandrādityadeva : Śaka 1048.*

2. *Poona Orientalist*—Vol. II, No. 2 (July 1937) :—

   D. Sarma—Some Important Dates from the Kharatara Gaccha Paṭṭāvati compiled by Jinapāla, etc.

   A. Venkatasubbiah—*The Yaśastilaka and the Pañchatantra.* Somadeva was acquainted with a recension of Vasubhāga's version of the *Pañcatantra.*

3. *Ibid.*—Vol. II. No. 4 (Jany. 1938) :—

   D. B. Diskalkar—*Some unpublished Inscrips : of the Chalukyas of Gujrat.*

4. *Indian Culture*—Vol. IV No. 3 (Jany. 1938) :—

   O. Stein '*India between the Cultures.*'

   S. R. Sharma—*Jehangir's Religious Policy.*

   Jehangir expelled the Jains from his empire. (?)

   K. P. Jain *Jainism.*

5. *Journal of the Mythic* Society, Vol. XXVIII, No. 3 :—

   L. V. Ramaswami Ayar—*The Language of Tiruvalluvar's Kural.*

THE JAINA SIDDHĀNTA BHĀSKARA.

(Gist of our Hindi Portion Vol. V ; Part I .)

pp. 1—16. Pt. Jugal Kishor Mukhtar has written about Acārya Pūjyapāda and has given a cursory review of his work entitled "Samādhi-Tantra," which he is editing and publishing.

pp. 17—23. Translation of Prof. Kālipāda Mitra's article entitled "Teachers and Disciples."

pp. 24—32. Kamta Prasad Jain has written about and on the antiquities of Bairāt in the Jaipur State, which is the ancient Vairāṭa or Virātapura of the Jaina and Hindu literature.

pp. 33—38. Mr. Bendre endeavours to show that Samantabhadra and Śrīvijaya of the Kanarese literature were identical. This is a problem, which requires deep study.

pp. 39—45. B. Agarchand Nāhṭā has given a list of the Jaina journals and newspaper's so far published. He points that first paper which the Jainas of Ahmedabad published, was "Jaina Divākara." It appeared in Saṃ 1932.

pp. 46—54. Miscellany. (1) Was Udupi (Distt. South Kanara) a Jaina site? (K. Bhujabali Shastri) (2)A few Jain poet are named who wrote in Hindi; (3) An account of Jain Bidri (Śravaṇabelagola) etc. is given from an old ms. dated Aśvin Śukla 6, Saṃ 1800 and in possession of our editor (Kamta Prasad Jain).

pp. 55—57. Reviews. (1) Sahajānanda-Sopāna (Surat); (2) Jain-Bauddha-Tattvagñāna, pt. II (Surat); and (3) Maraṇa-Bhoja (Surat) (K. Bhujabali Shastri).

K. P. Jain.

RULES.

1. The Jaina Antiquary and Jaina Siddhanta Bhaskara is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*,. in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. *Any change of address should also be intimated to him* promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित	...	२।)
	(मू० कम कर दिया गया है)		
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	प्रतिमा-लेख-संग्रह	...	।।)
(४)	जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण	...	१)
(५)	" २य तथा ३य सम्मिलित किरणें	...	१।)
(६)	" २य भाग की चारों किरणें	...	४)
(७)	" ३य " "	...	४)
(८)	" ४र्थ " "	...	४)
(८)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची	...	।।)
	(यह अर्ध मूल्य है)		
(९)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	।।।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ५ किरण ३

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. NO. III.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER 1938.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर और जैनएन्टीक्वेरी, अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर; जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ५ मार्गशीर्ष किरण ३

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस

पं० के० भुजबली. शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९५

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

|| श्रीजिनाय नमः ||

भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

| भाग ५ | दिसम्बर १९३८ । मार्गशीर्ष, वीर नि० सं० २४६५ | किरण ३ |

जैन-कन्नड-वाङ्मय

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

दक्षिण भारत में प्रचलित प्रख्यात पञ्चद्राविड़ भाषाओं में कन्नड भाषा अन्यतम है। तमिलु, तेलुगु, मलेयाल एवं तुलु ही इस भाषा-वर्ग की अवशिष्ट चार संख्यायें हैं। द्राविड़-भाषायें संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं से भिन्न इसलिये मानी जाती हैं कि एक तो व्यवहार-पर्याप्त स्वतन्त्र शब्द इन भाषाओं में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, दूसरी बात यह है कि इस भाषा-वर्ग का व्याकरण संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरणों से बहुत कुछ भिन्न है। इसके लिये कुछ उदाहरण ये हैं—इन भाषाओं में लिंग अर्थपरक है; सन्धिक्रम भिन्न है; संज्ञाओं के एकवचन और बहुवचन में एक ही प्रकार की विभक्तियाँ लगती हैं; गुणवाचक शब्दों में तारतम्य-भाव नहीं है; सम्बन्धार्थक सर्वनाम का अभाव है; कर्मणि प्रयोग कम हैं; क्रियाओं में निषेधरूप है; कृतद्धित प्रत्यय स्वतन्त्र हैं।

ऊपर लिखा गया है कि इस भाषा-वर्ग में व्यवहारपर्याप्त स्वतन्त्र शब्द अधिक संख्या में पाये जाते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि कन्नड-भाषा में संस्कृत और प्राकृत-भाषाओं के शब्द हैं ही नहीं। बल्कि प्रसिद्ध कवियों ने भी अधिक संख्या में संस्कृत एवं प्राकृत-शब्द-भाण्डार से सहर्ष पर्याप्तरूप से उधार लिया है। यही कारण है कि कन्नडभाषा के पक्के हिमायती कतिपय कन्नड कवियों को यह बात खटकी और उन्होंने एकमात्र विशुद्ध कन्नड में काव्यरचकर भावी कवियों की आँख खोलने का सफल प्रयत्न किया। इसके लिये 'कब्बिगरकाव' आदि कृतियाँ ही ज्वलन्त उदाहरण हैं। पर इससे हुआ कुछ नहीं। आजतक कन्नड भाषा में वे संस्कृत, प्राकृत शब्द प्रवाहरूप से ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं। इतना ही नहीं काल के प्रभाव से इसमें क्रमशः उर्दू, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषा के शब्द भी आ गये हैं। यह केवल कन्नड-भाषा में ही नहीं, प्रत्युत सभी भारतीय भाषाओं में विदेशी शब्दों की रफ्तार इसी प्रकार जारी रही। यह एक प्राकृतिक अटल नियम है; इसे कोई रोक नहीं सकता। एक दृष्टि से यह है भी ग्राह्य। अन्यथा किसी भी भाषा के शब्द-भाण्डार की वृद्धि नहीं हो सकती। इतना ही नहीं प्रत्येक भाषा की सीमित शब्दावली में काम चल भी नहीं सकता है। बल्कि भाषातत्त्व के धुरन्धर विद्वान् डाक्टर काल्डिवेल के सिद्धान्तानुसार स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य एम० ए० ने अपने 'कर्णाटककविचरिते' भाग तीन की अवतरणिका में निम्नलिखित शब्द संस्कृत-कोषों में द्राविड़-भाषाओं से ही लिये गये हैं यों सप्रमाण निर्देश किया है:—

अक्क, अत्त, कुटि, कोट, नीर, पल्लि, मीन, एड, मरुत्त, हेरम्ब, अट्ट, आम्, बल्लि, मुकुल, कुन्तल, पालि, मण्ड, काक, माचल, मेक, सीर, ताल, वरुक, उल्क, तटिन् या तडिन, मलय, आलि, कलि, गण्ड, सुन्दि, खलीन, तल्प, कल्य, खर्ज, प्सा आदि। केवल द्राविड-भाषाओं से ही नहीं, लैटिन, ग्रीक भाषाओं से भी दीनार, द्रम्म, होरा इत्यादि शब्द संस्कृत-शब्द-समूह में हिलमिल गये हैं। यह तो संस्कृत-कोष से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हुईं। इसी प्रकार व्याकरण से सम्बद्ध उदाहरणभूत एक-दो बातों को भी ले लीजिये। कई पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों का मत है कि संस्कृत-व्याकरण में प्रचलित ध्वनि-विषयक टवर्गाक्षर द्राविड भाषाओं से ही आये हैं। क्योंकि यह टवर्ग द्राविड-भाषा-वर्ग के शब्द-समुदाय का प्रधान अङ्ग है। यह वर्ण केवल संस्कृत में ही मिलते हैं। इससे सम्बन्ध रखनेवाली इण्डो-यूरोपियन भाषाओं में नहीं। गौड भाषाओं में स्वर के आगे के परुषाक्षर जो मृदु हो जाते हैं, वह द्राविड-भाषाओं की ही प्रणाली है। मराठी में तालव्यवर्णों का द्विविध उच्चारणक्रम जो प्रचलित है वह भी तेलगु-भाषा की ही देन है। 'वत्' प्रत्यय संस्कृत का है अवश्य, फिर भी इस प्रचलित 'कृतवान्' यह रूप द्राविड के 'शेयूदवन्', 'गैयूदवम्' का ही अनुकरण है।

एक बात यह है कि कन्नडभाषा में संस्कृत एवं प्राकृत शब्द जो आ मिले हैं वे अधिकतर जैनग्रन्थकर्त्ताओं के द्वारा ही व्यवहृत माने जा सकते हैं। क्योंकि जैन ही कन्नडवाङ्मय के जन्मदाता हैं। साथ ही साथ उनके बहुभाग ग्रन्थ धार्मिक हैं और वे प्रायः मूल प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर बने हैं। बल्कि कन्नड-भाषा में जो तद्भव शब्द मिलते हैं उनका संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत से निकटतम सम्बन्ध है। यह है भी ठीक; क्योंकि जैनियों के मौलिक धर्मग्रन्थ प्राकृत-भाषा में है। अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामी ने भी मागधी भाषा में ही उपदेश दिया था जो प्राकृत-भाषा की अन्यतम शाखा मानी जाती है। आज भी प्राचीन कन्नड- भाषा का सर्वप्रामाणिक एवं आदर्शभूत व्याकरण जो उपलब्ध है, वह संस्कृत-सूत्रों के रूप में ही जैनाचार्य भट्टाकलङ्क के द्वारा रचा गया था। ये सब बातें विज्ञ पाठकों को आगे चलकर भलीभांति विदित हो जायेंगी।

कन्नडभाषा बहुत प्राचीन है। जिस समय हिन्दी, बंगला, मराठी एवं गुजराती आदि भाषाओं का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय कन्नड-साहित्य-भाण्डार अनेक बहुमूल्य ग्रन्थरत्नों से भरा पड़ा था। ज्ञात हुआ है कि इजिप्ट में प्राप्त ई० सन् द्वितीय शताब्दी के एक ग्रीक नाटक में कुछ कन्नड शब्द मिलते हैं।† नृपतुंग ने अपने पूर्वकालीन गद्यग्रन्थकारों के नामों में जिस दुर्विनीत का नाम लिया है वह लगभग ई० सन् ५०० में होनेवाला गङ्गराज दुर्विनीत ही होना चाहिये। ५वीं शताब्दी से तो कन्नड-शिलालेख भी पाये जाते हैं। ई० सन् की नवमी शताब्दी में कन्नडभाषा का प्रचार उत्तर में गोदावरी से लेकर दक्षिण कावेरी नदी तक था। परन्तु इस समय वह बात नहीं रही। फिर भी मैसूर, कोडगु, बंबई प्रांत के दक्षिण भाग, निजाम राज्य के पश्चिम भाग, मैसूर-कोडगु के उत्तर-पश्चिम-दक्षिण दिशाओं के मद्रास प्रांत के जिले, मध्यप्रांतान्तर्गत बरार के कुछ भाग, इन प्रदेशों में आज यह भाषा प्रचलित है। इस हिसाब से वर्तमान समय में कर्णाटक प्रांत मैसूर, हैदराबाद, मद्रास, बंबई, बरार, कोडगु इस प्रकार छः भागों में विभक्त है।

जिस प्रकार अन्यान्य प्रांतों में विद्वानों के द्वारा अपने अपने साहित्य का काल निर्धारित है, उसी प्रकार कन्नड-साहित्य का काल भी प्राचीन, माध्यमिक और वतमान यों अथवा क्षात्र, मत-प्रचारक एवं वैज्ञानिक काल के भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त है। प्राचीन काल नवमी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक, माध्यमिक काल बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक, वर्तमान काल सत्रहवीं शताब्दी से लेकर आजतक माना गया है।

अब तक प्राप्त कन्नडवाङ्मय-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'कविराज-मार्ग' नामक ग्रन्थ ही सर्व-प्राचीन है।

† देखें—'कर्णाटककविचरिते' भाग १म एवं २य की अवतरणिका।

कविराजमार्ग अलंकार-ग्रन्थ है। ग्रन्थ के लेखक बहुमत से नृपतुंग माने जाते हैं। दूसरे पक्षवालों का मत है कि इसके रचयिता नृपतुंग न होकर इन्हीं के आश्रित कवि श्रीविजय हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि यह ग्रन्थ ई० सन् ८१४ से ८७७ के मध्यकाल में रचा गया होगा। क्योंकि नृपतुंग का राज्यकाल यही है।* नृपतुंग अमोघवर्ष और अतिशय धवल के नाम से भी प्रख्यात थे। आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि नृपतुंग 'आदिपुराण' के प्रणेता भगवज्जिनसेनाचार्य के शिष्य थे।

कविराजमार्ग के रचयिता ने अपनी इस कृति में कतिपय अपने पूर्वकालीन प्राचीन कवियों एवं ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। परन्तु वे ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुए हैं। अब तक प्राप्त संस्कृत एवं प्राकृत के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं के जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनमें यह कविराजमार्ग ही प्राचीन माना जाता है। हिन्दी के 'पृथ्वीराज रासो' और मराठी के 'ज्ञानेश्वर' आदि ग्रन्थ निस्सन्देह इसकी परवर्तिनी कृतियाँ हैं संस्कृत, प्राकृतादि के समान इसका भी व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण है। अतः प्राचीन कन्नड व्याकरण की प्राप्ति से इस भाषा के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन सुलभता से हो जाता है। जिन्होंने व्याकरण-विहीन प्राचीन मराठी एवं हिन्दी ग्रन्थों को पढ़ने के लिये प्रयास किया है वे ही इस व्याकरण का महत्त्व अधिक अनुभव कर सकते हैं।

कन्नड-साहित्य की ओर सुदीर्घकाल से ही लक्ष्य देने का सफल प्रयत्न किया गया है। अन्तिम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु जब उत्तर भारत में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने का हाल जान कर अपने बहुसंख्यक शिष्यों के साथ दक्षिण भारत में पधारे उस समय के उस महत्त्वपूर्ण इतिहास से जैनसमाज एवं ऐतिहासिक विद्वान अपरिचित नहीं हैं। इन्हीं श्रीभद्रबाहु के बहुदर्शी शिष्यों ने दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रचार करने का व्रत लिया और उनमें बहुत से शिष्यों ने प्रान्तीय सुलभ साहित्य के द्वारा ही इस सदनुष्ठान का आरंभ किया। इन्होंने अपने इस सदनुष्ठान को पूरा करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगाकर कन्नड-साहित्य को उन्नत, सुदृढ़ एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाया। प्राचीन कन्नड-साहित्य इन्हीं के भगीरथ-प्रयत्न का यह सुमधुर फल है। आज भी कन्नड-साहित्य को सर्वोच्च एवं प्रौढ़ बनाने का प्रथम श्रेय जैनाचार्यों एवं जैनकवियों को ही दिया जाता है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जैनियों के द्वारा ही कन्नड़ भाषा का उद्धार तथा प्रसार हुआ है और इन्हीं प्रातःस्मरणीयों ने इस भाषा-सम्बन्धी साहित्य को एक उच्च श्रेणी की भाषा के योग्य बनाया है। कन्नड-साहित्य को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने में अथक परिश्रम कर उक्त साहित्य में इन्होंने सदा के लिये

---

* Indian Antiquary Vol. XII, P. 216.

अपना नाम अमर कर दिया है। इसी से आज भी सम्पूर्ण कर्णाटक उनके सुयश का गीत गा-गा कर अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त कर रहा है। तेरहवीं शताब्दी तक कन्नड-भाषा के जितने उद्भट ग्रन्थकर्त्ता हुए हैं वे प्रायः सब के सब जैनी हैं। इससे यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों कर्णाटक प्रांत में जैनधर्म का कितना प्राबल्य था। इन जैन कवियों को गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य और बल्लाल आदि शासक अनन्य पोषक एवं प्रोत्साहक रहे। इसी का यह परिणाम है कि जैनियों के द्वारा पोषित तथा वर्द्धित इस साहित्य में काव्य, नाटकादि ग्रन्थों के अतिरिक्त वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रवाद, कामशास्त्र, पाकशास्त्र, रत्नशास्त्र आदि भिन्न-भिन्न विषयों के भी अनेक मौलिक ग्रन्थ आज दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हाँ, आगे चलकर बल्लाल राजा विट्टिदेव के वैष्णव मत स्वीकार करने, कलचुरी वंशज बिज्जल के लिङ्गायत मत को ग्रहण करने आदि से राजाश्रय से वञ्चित हुए जैनियों की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होने से जैनकवियों की संख्या भी घटती गयी।

यह सब कुछ होते हुए भी एम० आर० श्रीनिवासमूर्त्ति का कहना है कि इस समय कर्णाटक जैन-साहित्य की जितनी अभिवृद्धि हुई है उतनी वृद्धि अन्य समय में नहीं हुई थी। वे इन असामान्य फल की निष्पत्ति में निम्न हेतु उपस्थित करते हैं:—

(१) "जैनियों के शक्ति-स्थान प्रबल मठ ही रहे: वे वहां जैन मुनियों के निकट अध्ययन करते हुए उनकी आज्ञानुसार या स्वपाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ अथवा पुराण-रचना-द्वारा पुण्य-प्राप्ति के लिये सदैव काव्य रचा करते थे। फिर भी राजाश्रय प्राप्त होने पर कविगण ने आस्थान-कविरूप में भी काव्य-प्रणयन किया है। इन विषयों के हमें पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध होते हैं। राजाश्रय अनिश्चित होने पर भी जैनियों को मठों का आश्रय सदैव मिलता रहा। (२) विट्टिदेव के वैष्णव होने पर भी उनके बाद के बल्लाल शासक जैनमत के पक्षपाती ही रहे हैं। बल्लालवंश के अन्तःपुर में जैनमतावलम्बिनी महिलायें अवश्य रहा करती थीं। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि बल्लाल चक्रवर्तियों ने साक्षात् जैनमहिलाओं से विवाह किया है और उन जिनभक्ता महिलाओं ने जैन-मन्दिरों को पर्याप्त दान भी दिया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि बल्लाल-वंश विट्टिवर्द्धन के बाद न कट्टर वीरवैष्णव-पक्षपाती ही थे और न उन्होंने जैनमत-ध्वंस की कोई दीक्षा ही ली थी।* (३) वीरशैव (लिङ्गायत) और ब्राह्मणमत प्रबल होने पर भी जैनविद्वान् शास्त्रार्थ में उन्हें जीत कर अपने मत की उत्कृष्टता को रक्षित रखते थे। वादि-कुमुदचन्द्र, कुमुदेन्दु, नेमिचन्द्र आदि जैनमत के उज्जीवन और उद्योतन के लिये बराबर कटिबद्ध रहे। (४) बल्लालों के चक्रवर्त्तित्व में कतिपय प्रबल मन्त्री, अनेक धनी व्यापारी और बहुत से शूरवीर सामन्त शासक जैनी ही थे। अतः

* मैं इस विषय पर एक स्वतन्त्र लेख लिखनेवाला हूं।

जैनकवि उस समय भी सर्वथा निराश्रय नहीं कहे जा सकते। इनसे द्वेष करने तक का वैष्णवमताभिमान बल्लालों में नहीं था। बिट्टिदेव के कट्टर वीरवैष्णव सिद्ध होने पर भी शेष बल्लाल राजाओं ने अपने पूर्ववंशगत जैनमताभिमान की यथाशक्ति रक्षा ही की है। यह बात भिन्न-भिन्न शासनों से स्पष्ट सिद्ध होती है। (५) सौन्दत्ति के रट्टों में और पश्चिम तटवर्ती तुलुओं में जैनमतावलम्बी ही शासन करते रहे। रट्टराज्य-प्रतिष्ठाचार्य मुनिचन्द्र जी जैनकवियों के विशेष प्रोत्साहक थे। तुलुदेश के शासक अपने आस्थान-कवियों से उत्तमोत्तम जैन-काव्यों की रचना कराया करते थे। कार्कल के गोम्मटेश्वर की मूर्त्ति की स्थापना से यह बात सिद्ध हो जाती है कि १५वीं शताब्दी में भी पश्चिम तीरस्थ प्रदेशों में जैनमत उन्नत दशा में था। (६) अन्त में एक और मुख्य कारण हमें जानना आवश्यक है और वह यह है कि सामान्यतः कर्णाटक-शासक जाति और मतभेदों का कभी शिकार नहीं बने। वे ब्राह्मण तथा जैनियों के मन्दिरों के लिये समान भाव से भूदानादि दिया करते थे और वे अपनी राजसभा में सभी मत के कवियों और मन्त्रियों को महत्व स्थान देकर उन्हें समानरूप से प्रोत्साहित करते रहे। कर्णाटक के बहुत से राजे भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों के शास्त्रार्थ को बड़ी सुरुचि से सुनकर सम्मान-पूर्वक सभी की रक्षा करते रहे हैं। इस विषय में हमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। अतः निस्सन्देह-रूप से हम कह सकते हैं कि कर्णाटक में चाहे किसी भी मत के कवि हों प्रोत्साहन नहीं मिलने से वे नष्ट नहीं हुए।

इसके अतिरिक्त ई० सन् १२ वीं और १३वीं शताब्दियों में शैवों तथा वैष्णवों के साथ भिड़ कर जैनियों ने अपने स्थान की रक्षा के प्रयत्न में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। अपनी शिष्य-परम्परा को स्वमत-संबन्धी ग्रंथ पढ़ाना ही इस ध्येय से अनेक कवियों ने उस समय अनेक व्याख्यानों एवं टीकाओं की रचना की तथा संस्कृत मूलग्रन्थों का कन्नड में अनुवाद किया। जिस समय वीरशैव एवं ब्राह्मण अपने अपने मत-प्रचारार्थ सुयोग्य साधनों को एकत्रित कर स्वमत की उत्कृष्टता को घोषित करते हुए अन्यान्य मतों का अवहेलन करते थे उस समय जैनी भी अपने धर्मग्रन्थों एवं पुराणों का कन्नड में प्रचार करते हुए ब्राह्मण तथा शैवमत की अवहेलना करने वाले ग्रन्थों का जन्म देने लगे। वे जनसाधारण को सुगमता से समझ में आ जानेवाली कथाओं को उत्तम शैली में रचकर जैनमत की उत्तमता को पामरों तक पहुँचाते रहे। इस प्रकार कतिपय दूरदर्शी जैनकवियों ने ई० सन् १२वीं तथा १३वीं शताब्दियों में काव्यवस्तु और उसकी शैली में परिवर्तन कर अपने साहित्य में नूतन क्रम को स्थान देना अत्यावश्यक समझा। उस समय उस नूतन क्रमावलम्बी जैन कवियों ने यथा-साध्य संस्कृतपद-प्रयोग को कम करके देशभाषा को ही विशेष स्थान दिया और अलङ्कारादि को गौण करके पाण्डित्य को घटाना आरंभ किया। अर्थात् जनसामान्य को मान्य होनेवाली

शैली में ही ग्रन्थ रचने लगे। परन्तु यह परिवर्तन शीघ्र ही सर्वत्र उपयोग में नहीं आये; क्योंकि उस समय के भी बहुत से जैन काव्य प्रौढ़ शैली में ही रचे गये मिलते हैं। दीर्घ-कालीन संस्कृत वाङ्मयानुकरणगत अभ्यास को संस्कृतज्ञ पण्डित कवि सहसा कैसे छोड़ सकते थे? साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि उस समय कुछ संस्कृताभिमानियों को देश-भाषा का विशेष अभिमान नहीं था।

देश-भाषा में पद-सामग्री की कमी को देखकर संस्कृत-प्रयोग की बहुलता का समर्थन करने वाले कवियों में दोषारोपण करना भी उचित नहीं है। अस्तु, यह उल्लिखित परिवर्तन शीघ्र ही व्यवहृत न हो कर एक-दो शताब्दियों तक होते होते १५ वीं शताब्दी के प्रारंभ तक लग-भग सभी जैन कवियों ने नूतन मार्ग का अनुसरण किया। यह बात साहित्यालोचना से विशद होती है। इस समय उत्पन्न हुए जैन षट्पदि और सांगत्य ग्रन्थों की संख्या अन्य मत-सम्बन्धी ग्रन्थों की संख्या से न्यून नहीं है*।"

जिस प्रकार कन्नड भाषा के कवियों में जैन कवि ही आदि कवि हैं उसी प्रकार स्त्री-कवियों में जैन स्त्री कवि कन्ति ही आदि कवयित्री हैं। यह स्त्री-कविरत्न द्वार-समुद्र के प्रख्यात बल्लाल राज-दर्बार में आस्थान-पण्डिता थी और इन्हें 'अभिनववाग्देवी' की उपाधि प्राप्त थी। विद्वानों का मत है कि यह स्त्री कवि लगभग ई० सन ११०५ में विद्यमान रही। इस कवीश्वरी के विषय में जैन हिन्दीपत्रों में मेरे दो-तीन लेख निकल भी चुके हैं।

कर्णाटक-साहित्य-सेवा का भार तीन धर्मानुयायियों के ही हाथों में रहा। जिस समय जिस धर्म की प्रधानता थी उस समय मुख्यतया उस धर्मके अनुयायियों ने पूर्ण रीति से साहित्य-सेवा की है। प्रायः ई० सन ९०० से १२०० तक जैनियों का विशेष प्रभाव था। अत एव कर्णाटक-भाषा का प्रारंभिक साहित्य उन्हीं की लेखनी-द्वारा लिखा गया है। इस सम्बन्ध में कन्नड-साहित्य के ममज्ञ विद्वान् शेष भो० पार्शिवाड़ का अभिप्राय यों है। "लगभग ई० सन् ६ ठी शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक के सात आठ सौ वर्ष-सम्बन्धी जैनियों के अभ्युदय-प्राप्तिनिमित्त जो वाङ्मय है, उसको अवलोकन करना उचित है। तत्कालीन करीब २८० कवियों में ६० कवियों को स्मरणीय एवं सफल कवि मान लेने पर इनमें ५० जैन कवियों के नाम ही हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। इन ५० जैन कवियों में से ४० कवियों को निस्सन्देह हम प्रमुख मान सकते हैं। लौकिक चरित्र, तीर्थङ्करों के पारमार्थिक पुराण, दार्शनिक आदि अन्यान्य सभी ग्रन्थ जैनियों के द्वारा ही जन्म पाकर वे कन्नड साहित्य के ऊपर अपना प्रभाव शाश्वत जमाये हुए हैं। गद्याभिमुख एवं सुलभ शैली पर रचे गये इधर के 'चेन्नबसवपुराण', 'कर्णाटक-महाभारत' आदि ग्रन्थों को देख कर सहृदय पाठक

* देखें—'कर्णाटक-साहित्य-परिषत्पत्रिका, वर्ष १, अंक ४।

निश्चयतः मुग्ध हो सकते हैं। फिर भी जैनियों के सुविख्यात प्राचीन कन्नड की प्रौढ़ता पर लक्ष्य देना परमावश्यक है। मेरा बराबर कहना है कि जैनियों का तेज हमारी आधुनिक भाषा में विशेष कान्ति प्रदान करनेवाला है। अतः तत्कृत ग्रन्थों से परिचित होना सुशिक्षितों को परमावश्यक है +।" इस विषय में दूसरे एक विद्वान् का मत भी नीचे दिया जाता है—

"यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि कन्नड-वाङ्-मय अपनी संपूर्ण संस्कृतियों से अखिल कला-सम्पन्न जैनियों के द्वारा दी गयी सुदृढ़ नींव पर ही आज भी स्थिर है। 'पंपभारत' सदृश सर्वाङ्गसुन्दर महाप्रबन्धों एवं 'शब्दमणि-दर्पण' तुल्य शास्त्रीय ग्रन्थों को देख कर किस साहित्याभिमानी के हृदय में जैन कवियों के विषय में आदर-बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी? एक समय सम्पूर्ण कर्णाटक जैनधर्म का आवास था ‡।"

जैनियों के बाद अनुमानतः ई० सन् १२०० से १७०० तक लिंगायतों का प्राधान्य रहा। अतः इन शताब्दियों में मुख्यतया कर्णाटक-साहित्य इन्हीं के हस्तगत रहा। ई० सन् १७०० से आज तक ब्राह्मणों की प्रधानता में दो तीन शताब्दियों से इस धर्म के कवि साहित्य-सेवा कर रहे हैं।

प्राचीन समय में धर्मोन्नति के साथ साथ साहित्योन्नति का सम्बन्ध कितना सुन्दर था। साथ ही साथ वह कितने विशदरूप से अपने ऐतिहासिक रहस्य को प्रकट कर रहा है। ये सब बातें साहित्य के क्रमबद्ध इतिहास का अभ्यास करनेवाले विद्वानों से छिपी नहीं है। अस्तु; यद्यपि कर्णाटक-भाषा का प्रारंभिक काल जैन-काल, माध्यमिक काल लिङ्गायत-काल, वर्तमान काल ब्राह्मण-काल कहलाता है अवश्य। फिर भी लिंगायत या वर्तमान काल में जैनी अपनी परम्परागत पवित्र साहित्यसेवा को भूले नहीं थे। क्योंकि इन समयों में भी कई उच्च जैनग्रन्थ रचे गये मिलते हैं। बल्कि इस बात को मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं।

अब मैं कर्णाटक-साहित्य के अङ्गोपांगभूत व्याकरण, छन्द, अलङ्कारादि ग्रन्थों के जन्मदाता जैनकवियों के कुछ पोषक तथा प्रोत्साहक राजाओं का यहां पर उल्लेख कर देना भी आवश्यक समझता हूं। वह इस प्रकार है—

(१) गंग—इन राजाओं में अनुमानतः ई० सन ५०० में वर्तमान गद्यग्रन्थकार राजा दुर्विनीत आचार्य श्रीपूज्यपाद का शिष्य था और ई० सन ८८६—९१३ का एरेयप्प प्रख्यात कवि एवं हरिवंश आदि ग्रन्थोंके रचयिता गुणवर्म का पोषक रहा। आज तक के उपलब्ध कन्नड गद्य-ग्रन्थों में प्राचीनतम (ई० सन ९७८) 'चावुण्डराय-पुराण' के प्रणेता वीर मार्तण्ड चावुण्डराय राजा राचमल्ल का सुदक्ष मन्त्री था।

+ देखें—'कर्णाटक-साहित्य-परिषत्पत्रिका' वर्ष ११, अंक १।

‡ देखें—'शासनपद्यमंजरी' १४७३।

(२) राष्ट्रकूट—इस वंश के तृतीय कृष्णराज (ई० सन्० ९३९-९६८) ने महाकवि पोन्न को 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि से सम्मानित किया था।

(३) चालुक्य—इस वंश का राजा अरिकेशरी महाकवि आदि पम्प का आश्रय-दाता था और तैलप (ई० सन् ९७३-९८७) ने महाकवि रन्न को 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि दी थी। 'जातकतिलक' के रचयिता श्रीधराचार्य आहवमल्ल के आश्रित थे एवं 'सुकुमार-चरित्र' के लेखक शान्तिनाथ लक्ष्मण नृप के मन्त्री रहे। 'समय-परीक्षा' एवं 'त्रैलोक्य-रक्षा-मणिस्तोत्र' का रचयिता वत्सगोत्रीय जैनब्राह्मण ब्रह्मशिव आहवमल्ल के पुत्र तथा विक्रमादित्य के सहोदर कीर्तिवर्म का आश्रित था। कटकोपाध्याय जैनब्राह्मण नागवर्म द्वितीय जगदेकमल्ल (ई० सन् ११३८—११५०) के आश्रय में रहा।

(४) होय्सल—अभिनवपंप तथा कन्ति ये दोनों बल्लाल प्रथम (ई० सन् ११००-११०६) के आस्थान-विद्वान थे। व्यवहारगणित, व्यवहाररत्न, लीलावती, चित्रहसुगे, जैनगणित-सूत्रटीकोदाहरण आदि गणितग्रन्थों के रचयिता राजादित्य विष्णुवर्द्धन (ई० सन् ११ — १४१) के समय में था। यशोधरचरित्र आदि ग्रन्थों के प्रणेता कवि जन्न का पिता सुमनोबाण नरसिंह राजा का सेनापति था। कविता-विशारद बूचिराज वीर बल्लाल का मन्त्री रहा। यह कविता में महाकवि पोन्न का समकक्ष था। इसी राजा के अधिकारी पद्म-नाभ के आशयानुसार नेमिचन्द्र ने 'अर्द्धनेमि' रचा है। इसी राजा के अन्यतम मन्त्री रेचरस की प्रेरणा से आचण्ण ने वर्द्धमानपुराण की रचना की है। उक्त राजा ने ही जन्न-कवि को 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया था। केशिराज के पिता मल्लिकार्जुन ने सोमेश्वर के विनोदार्थ 'सूक्तिसुधार्णव' का प्रणयन किया है।

(५) सान्तलिगरसरु—पार्श्वनाथपुराण के कर्ता पार्श्वपण्डित कार्तवीर्य चतुर्थ का आस्थान-कवि था। द्वितीय गुणवर्म इसी राजा के अधिकारी शान्तिवर्म का आश्रित था। मालूम होता है कि कवि बालचंद्र भी इसी राजा का समकालीन है।

(६) कोंगाल्व—ज्ञात होता है कि चन्द्रनाथाष्टक का कर्ता मौलिक कवि वीर कोंगाल्व के शासन-समय में हुआ था।

(७) चंगाल्व—तृतीय मंगरस इन्हीं राजाओं का कुल-क्रमागत मन्त्रि-पुत्र था। इसने जयनृपकाव्य, प्रभञ्जनचरित्र, श्रीपालचरित्र, सम्यक्त्व-कौमुदी और सूपशास्त्र आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है।

(८) तुलुराज—कार्कल के भैरवरस के पुत्र पाण्ड्य राजा के लिये कल्याणकीर्ति ने 'ज्ञानचन्द्राभ्युदय' एवं संगीतपुर के हैवनृप के पुत्र संगम की आज्ञानुसार कोटीश्वर ने 'जीवन्धर षट्पदि' की रचना की है। 'भरतेश्वरचरित्र' के रचयिता रत्नाकर कार्कल के भैरवरस ओडेय

की सभा में आस्थान कवि था*। रसरत्नाकर, भारत, वैद्यसांगत्य आदि के प्रणेता कवि साल्व तौलव, हैव कोंकण देशाधिपति साल्व मल्ल का दर्बार-कवि रहा। कार्कल के भैरवेन्द्र की आज्ञानुसार बाहुबली ने 'नागकुमार-चरित्र' का प्रणयन किया है। इसी राजा के आदेशानुसार कवि चन्द्रम ने 'कार्कल-गोम्मटेश्वरचरिते' लिखा है।† गेरुसोप्पे के राजा भैरवराय के समय में आदियप्प ने 'धन्यकुमारचरित्र' की रचना की है। पायण्ण ने संगमराय के पुत्र के आश्रय में रह कर 'अहिंसाचरित्र' का प्रणयन किया है। 'रामचन्द्रचरित्र' के पूर्वार्द्ध के प्रणेता कवि चन्द्रशेखर बंगवाडि लक्ष्मण बंगरस का आस्थान-कवि था। इसी चरित्र के उत्तरार्द्ध को लेखक पद्मनाभ कवि मूलिक के चेन्नराय का आश्रित था। चौटरानी चेन्नमाम्बा के समय में इन्हीं की आज्ञानुसार कवि सुराल ने 'पद्मावतीचरित्र' की रचना की है।

(९) विजयनगर—प्रथम हरिहर (ई० सन् १३३६—१३५३) के काल में मुगुलिपुर के स्वामी मंगरस प्रथम ने 'खगेन्द्रमणिदर्पण' की और द्वितीय हरिहर के आस्थान-कवि मधुर ने 'धर्मनाथपुराण' की रचना की है। बिलिगि तालुकके एक शासन से ज्ञात होता है कि 'शब्दानुशासन' के प्रणेता भट्टाकलंक वेंकटपतिराय के काल में हुए थे।

(१०)मैसूर के राजा—चामराज के संदेशानुसार पद्मराज पण्डित ने 'हयसारसमुच्चय' की रचना की थी एवं पण्डित शान्तराज मुम्मडि कृष्णराज का आश्रित था।

यों संक्षेप में जैन कवियों के आश्रयदाता और प्रोत्साहक राजाओं का परिचय कराया गया। इस विषय के विशेष जिज्ञासु पाठक 'कर्णाटककविचरिते' का अनुशीलन करने का कष्ट उठायेंगे। उल्लिखित महत्त्वपूर्ण इस चरिते के तीन भागों में से १म और २य भाग का हिन्दी अनुवाद श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी के द्वारा हो कर क्रमशः 'जैन हितैषी' एवं अनेकान्त वर्ष १ म में प्रकाशित हो भी चुके हैं। 'जैन हितैषी' में प्रकाशित उक्त १म भाग का अनुवाद प्रेमीजी ने पुस्तकाकार में भी छपवा कर हिन्दी-भाषाभाषियों के लिये सुलभ कर दिया है। ३ रे भाग का अनुवाद मेरे ही द्वारा होकर अनेकान्त वर्ष १म में ही प्रकट हो चुका है। इन तीनों को एकत्रित कर परिष्कृत रूप में सुन्दर पुस्तकाकार में प्रकाशित हो जाना परमावश्यक है। इसकी आवश्यकता बतलाकर इस सत्कार्य का भार अपने ऊपर लेने की सूचना उसी समय मेरे अनुवाद के नीचे टिप्पणी के रूप में मित्रवर पण्डित जुगलकिशोरजी ने दे भी दी है। पर खेद है कि अभी तक जैन समाज का ध्यान इस परमावश्यक कार्य की ओर नहीं गया। खैर, इस सिलसिले में कर्णाटक जैन कवियों के सम्बन्ध में श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी ने जो विचार प्रकट किया है उसका कुछ अंश मैं यहाँ उद्धृत कर देना समुचित समझता

* देखें—'आदर्शजैन चरितमाला' के साहित्यांक में प्रकाशित मेरा लेख।

† देखें—भास्कर भाग १, किरण २।

हूं। "जैनधर्म में मुख्य दो सम्प्रदाय हैं: एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। इनमें से दक्षिण और कर्णाटक में केवल दिगम्बर-सम्प्रदाय का ही अधिक प्राबल्य रहा है। ऐसा मालूम होता है कि वहां श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रवेश हो नहीं हुआ। दक्षिण और कर्णाटक का जितना जैन-साहित्य है वह सब ही दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय के विद्वानों की रचना है। जहां तक हम को मालूम है श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का कोई भी प्रौढ़ विद्वान् उस ओर नहीं हुआ। इतिहास के पाठकों के लिए यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है।

इस बात को सुन कर सब ही आश्चर्य करेंगे कि दिगम्बर-सम्प्रदाय के जितने प्रधान-आचार्य इस समय प्रसिद्ध हैं, वे प्रायः सब ही कर्णाटक देश के निवासी थे और न केवल संस्कृत, प्राकृत, मागधी के ही ग्रन्थकर्ता थे, जैसा कि उत्तर भारत के जैनी समझते हैं, किन्तु कन्नड के भी प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे। समन्तभद्र, पूज्यपाद वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, अकलंकभट्ट, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, भूतबली, पुष्पदन्त, वादीभसिंह, पुष्पदन्त (यशोधरचरित्र के कर्ता), श्रीपाल आदि आचार्य जो दिगम्बर-सम्प्रदाय के स्तम्भ समझे जाते हैं और जिनके संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों का हमारे उत्तर भारत में बहुत प्रचार है, प्रायः कर्णाटक के ही थे।"

वास्तव में कुछ शताब्दियों तक दक्षिण भारत दिगम्बर जैनसम्प्रदाय की लीलाभूमि बना रहा। वहां की संस्कृति पर इस सम्प्रदाय की अमिट छाप पड़ी है। इस बात को जैनी ही नहीं पक्षपातशून्य प्रकृत जैनेतर विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। बल्कि एक जमाने में कारण-विशेष से निराश्रित दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय को हस्तावलम्बन देकर इसकी रक्षा एवं अभिवृद्धि करने का सफल तथा पवित्र श्रेय दक्षिण भारत को ही है। यदि उल्लिखित ये दिग्गज दिगम्बराचार्य दक्षिण भारत में जन्म लेकर दिगम्बर-साहित्य की श्री वृद्धि नहीं करते तो बहुत कुछ संभव था कि आज अन्यान्य लुप्त भारतीय सम्प्रदायों की तरह इसका भी केवल नाम ही दृष्टिगोचर होता। क्योंकि यह निर्विवाद सिद्ध बात है कि कोई भी साम्प्रदाय बिना अपने मौलिक साहित्य के दीर्घ काल तक जीवित नहीं रह सकता है। मैं समझता हूं कि इस पैत्रिक साहित्य-सम्पत्ति जैसी अमूल्य एवं अलभ्य निधि की रक्षा करने के उपलक्ष में उत्तर भारत का दिगम्बर-जैनसमाज दक्षिण भारत का सदा कृतज्ञ बना रहेगा।

अन्त में 'कर्णाटक-कविचरिते' के लेखक कन्नड-साहित्य के अनन्य सेवक, रावबहादुर स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य जी ने जैनकवियों के सम्बन्ध में जो शुभोद्गार प्रकट किये हैं, उन्हें भी विज्ञ पाठकों के समक्ष रख दिया जाता है।

"जैनी ही कन्नड भाषा के आदि कवि हैं। आज तक के उपलब्ध सभी प्राचीन एवं उत्तम कृतियां जैन कवियों की ही हैं। ग्रन्थरचना में जैनियों के प्राबल्य का काल ही कन्नड-

साहित्य की उच्च स्थिति का काल मानना होगा। प्राचीन जैन कवि ही कन्नडभाषा के सौंदर्य एवं कान्ति के विशेषतया कारणभूत हैं। उन्होंने शुद्ध और गंभीर शैली में ग्रन्थ रच कर ग्रन्थ-रचना-कौशल को उन्नत प्रासाद पर पहुंचाया है। पम्प, पोन्न, रन्न इनको कवियों में रत्नत्रय मानना उचित ही है। पोन्न ने राष्ट्रकूट राजा तृतीय कृष्ण से, रन्न ने चालुक्य राजा तैलप से और जन्न ने होयसल राजा बल्लाल द्वितीय से 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि पायी थी। नागवर्म द्वितीय चालुक्य राजा द्वितीय जगदेकमल्ल के यहां, जन्न का पिता तथा केशिराज के मातामह सुमनोबाण होयसल राजा नरसिंह द्वितीय के यहां कटकोपाध्याय थे। अन्य कवियों ने १४वीं शताब्दी के अन्त तक सर्वश्लाघ्य चम्पूकाव्यों की रचना की है। इनमें मधुर ही अन्तिम कवि ज्ञात होता है। कन्नड भाषाध्ययन के सहायकभूत छन्द, अलङ्कार, व्याकरण, कोश आदि ग्रन्थ अधिकतया जैनियों के द्वारा ही रचित हैं। तमिलु-भाषा में भी प्रायः इसी प्रकार है। षट्पदि-लेखकों में कुमुदेन्दु, भास्कर, मंगरस तृतीय इनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अब मैं जैनसमाज के समक्ष एक परमावश्यक प्रस्ताव उपस्थित कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूं। वह यह है कि कन्नड जैन-साहित्य के मौलिक ग्रन्थों का अनुवाद या तात्पर्यांश हिन्दी-भाषाभाषी जनता के सामने आ जाना परमावश्यक है। खास कर जो कृतियां संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं में उपलब्ध नहीं होती हैं, उनका तो प्रकाश में आ जाना अनिवार्य भी कहा जा सकता है। जो संस्कृत-प्राकृतादि भाषाओं में प्राप्त होते हैं, बल्कि उसी के आदर्श पर कन्नड में रचे गये हैं, उनका प्रकटीकरण भी अनुपादेय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें तुलनात्मक अध्ययन-द्वारा प्राचीन क्रमिक जैन संस्कृति का पता लगाने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। मैं केवल कन्नड जैनसाहित्य के उद्धार एवं प्रकाशन के लिये ही जैनसमाज से अपील नहीं करता हूं; किन्तु तमिलु और तेलगु जैनसाहित्य के लिये भी। हां, तेलगु-साहित्य में जैन-कृतियां बहुत ही कम हैं। पर तमिलु जैन-साहित्य तो कन्नडसाहित्य के समान बहुत ही उन्नत एवं समृद्धिशाली है। इस विषय में 'भास्कर' के अंग्रेजी-विभाग में विद्वान् लेखक प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती एम० ए० आइ० इ० एस० का गवेषणापूर्ण एक विस्तृत गम्भीर लेख धाराप्रवाह से प्रकट हो भी रहा है। हिन्दी जैनपत्र में किसी विद्वान् को इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर हिन्दी-भाषाभाषियों के लिये भी तद्विषयक ज्ञान को सुलभ कर देना चाहिये। फिर मुझे उसी बात को दुहरानी पड़ती है कि हमारे जैनसमाज में कोई भी ऐसी सुदृढ़ एवं सम्पन्न संस्था नहीं है जहां पर दश-पांच अन्वेषक विद्वान् बैठ कर निराकुलता से इन सब महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कार्यों को कर सकें। जैन समाज में जो भी मुष्टिमेय विद्वान् अन्वेषण का काम कर रहे हैं उनके पीछे पेट का सवाल सदा आगे आ जाता है। देखें ऐसा सुवर्णावसर जैनसमाज को कब नसीब होता है।

मूलाराधना की कुछ और नवीन टीकायें

[लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री, उज्जैन]

मुनिधर्म या श्रावक धर्म की अन्तिम सफलता शान्तिपूर्वक समाधिमरण में है और इस समाधिमरण के लिये—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप चार आराधनाओं के आराधन की अत्यन्त आवश्यकता है। विना इन चार आराधनाओं के आराधन किये—न तो जीवन में ही शान्ति मिल सकती है और न जीवनान्त या मरण के समय ही। इसलिये जैनसम्प्रदाय में उक्त चारों आराधनाओं को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया गया है। समन्तभद्राचार्य जैसे प्रभावक पुरुषों ने भी 'अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्माद् यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।' कहकर समाधि मरण का महत्त्व प्रकट किया है और समाधि-मरण की साधक होने से आराधनाओं को स्वतः ही महत्त्व प्राप्त है।

मूलाराधना—जिसका कि 'भगवती आराधना' यह नाम अधिक प्रसिद्ध है—उक्त चारों आराधनाओं का वर्णन करनेवाला—एक महत्त्वपूर्ण विशद एवं बहुत प्राचीन ग्रन्थ है।

बहुत पहले इसका प्रथम संस्करण पं० सदासुखदासजी की भाषा-टीका के साथ प्रकट हुआ था। उस समय तक इसकी अन्य किसी भी टीका का पता न था। बाद इसीका दूसरा संस्करण सन १९३५ में अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमाला से पुनः प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी की विस्तृत एवं गवेषणापूर्ण भूमिका देखने को मिली। जिसमें उक्त ग्रन्थ की पांच संस्कृत टीकाओं का उल्लेख किया गया है। वे टीकायें क्रमशः इस प्रकार हैं:—अपराजितसूरि—जिनका कि दूसरा नाम श्रीविजयाचार्य है—कृत विनयोदया या विजयोदया टीका। (२) अमितगतिसूरि-कृत पद्यात्मक संस्कृताराधना। (३) पं० आशाधर-कृत मूलाराधनादर्पण। (४) अज्ञात-नाम आचार्य-प्रणीत आराधनापंजिका। (५) और पं० शिवजीलालकृत भावार्थदीपिका। इन पांचों टीकाओं मे अन्तिम टीका सबसे अर्वाचीन और पहली विजयोदया टीका सबसे प्राचीन है। उसी भूमिका में एक टिप्पणी यह भी देखने में आई कि—"विनयोदया टीका से पहले भी कोई टीका थी जिसमें 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' आदि प्रथम गाथा की टीका में साधक के 'निवृत्तविषयराग' आदि चार विशेषण दिये गये हैं;। परन्तु विनयोदयाकार उन्हें ठीक नहीं समझते हैं। यह टीका किसकी बनाई हुई है और

उसका क्या नाम है—यह तब तक नहीं ज्ञात हो सकता—जब तक कि विनयोदया का बारीकी से अध्ययन न किया जाय" आदि।

इसके बाद सन् ३५ में मूलाराधना का अनेक टीका-समन्वित नया संस्करण सोलापुर से प्रकाशित हुआ—जिसमें उक्त नं० १—२ और ३ की संस्कृत टोकायें मुद्रित हैं। मैंने श्री प्रेमीजो के सूचनानुसार उनका बारीकी के साथ अध्ययन प्रारंभ किया और अन्त में जिस निर्णय पर पहुंचा उसे पाठकों के सामने उपस्थित करता हूं।

विजयोदया टीका का निर्माण करते समय श्रीअपराजित सूरि के सामने एक से अधिक टीकायें अवश्य थीं—ऐसा विजयोदया टीका के स्वाध्याय करने से पद-पद पर स्पष्ट प्रतिभास मिलता है; पर वे कहीं भी उस टीका का स्पष्ट उल्लेख या नाम-निर्देश नहीं करते हैं। 'अत्र परा व्याख्या' 'अत्रान्ये व्याचक्षते' इत्यादि कह कर ही उन्होंने अपना मतभेद प्रदर्शित किया है। इतना ही नहीं, किन्तु अनेक स्थलों पर तो वे उन पूर्ववर्त्तिनी टीका-संमत अर्थ का खण्डन तक भी करते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार विजयोदया टीका के आधार पर इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता है कि वह टीका संस्कृत में थी या प्राकृत में? किस आचार्य ने बनाई थी? आदि बातों का उससे कुछ भी पता नहीं चलता है।

किन्तु पं० आशाधरजी-प्रणीत मूलाराधना टीका के आलोकन करने पर कुछ और भी अधिक एवं महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है। उनकी टीका में अनेकों स्थानों पर बिना किसी खास नामोल्लेख के मतभेद तो मिलता ही है, पर कितने ही स्थलों पर वे अपराजितसूरि-कृत विजयोदया टीका के सिवाय एक और टीका का स्पष्ट उल्लेख करते हैं और उसे 'प्राकृत टीका' नाम से पुकारते हैं। जैसे—

गाथा नं० ४३० की व्याख्या करते हुए पंडितजी 'चौरासीलाख योनियों में—मनुष्यभव की अति दुर्लभता बताने के लिये—

चुल्लय पासं धरागं, रदगाणि सुमिगचक्कं वा।
कुम्मं जुगपरमाणुं, दस दिट्ठंता मणुयलंभे॥ १॥

गाथा का उल्लेख करते हैं और उसके नीचे लिखते हैं कि—

एतेच स्त्रीभोजनादि—कथा सम्प्रदाया :दशापि प्राकृतटीकादिषु विस्तरेणोक्ताः प्रतिपत्तव्याः
पृष्ठ ६४३

इस उक्त अवतरण में प्राकृत टीका का स्पष्ट उल्लेख तो मिलता ही है पर साथ ही यह भी स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह टोका कितनी अधिक विशद एवं विस्तृत होगी।

गाथा नं० ५२५ की व्याख्या करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि 'षड्त्रिंशद् गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचाराः, अष्टौ दर्शनाचाराश्च, तपो द्वादशविधं,, पंच समितयः तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायां। प्राकृतटीकायां तु—अष्टाविंशतिमूलगुणाः आचारवत्त्वादयश्चाष्टौ, इति षट्त्रिंशत्।

भावार्थ—उक्त गाथा में आचार्य के छत्तीस गुणों से युक्त होने का उल्लेख आया है। जिस पर संस्कृत टीकाकार तो आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पांच समिति तीन गुप्ति, इस प्रकार (८+८+१२+५+३=३६) छत्तीस गुणों को बतलाते हैं। किंतु प्राकृत टीकाकार साधुओं के अट्ठाइस मूल गुणों के साथ आचारवत्त्व आदि आठ गुणों को मिलाकर (२८+८=३६) छत्तीस गुणनिर्देश करते हैं।

उक्त कथन से एक और भी नवीन बात का पता चलता है कि वर्तमान में जो आचार्यों के ३६ गुण प्रचलित हैं उनके सिवाय और भी अनेक मतभेद उनमें पाये जाते हैं और उसी को गाथा नं० ५२६ में उल्लेख भी किया गया है, जिसमें कि संस्कृत-टीकाकार प्रक्षिप्त समझ कर छोड़ देते हैं।

गाथा नं० ५५० में पठित 'काउस्सग्गं' पद की व्याख्या करते हुए पं० जी लिखते हैं कि—

'काउस्सग्गं—सामायिकदण्डकस्तव-प्रयोगपूर्वकं बृहत्सिद्धभक्तिं कृत्वोपविश्य लघुसिद्धभक्तिं करोतीति प्राकृतटीकाम्नायः ॥

परन्तु संस्कृत-टीकाकार इस स्थान पर कुछ भी खुलासा नहीं करते हैं। इसी प्रकार गाथा नं० ५६७, १३२५, १८१८ में भी स्पष्टरूप से प्राकृतटीका का उल्लेख किया गया है।

कुछ अन्य टीकाओं का उल्लेख

इसके सिवाय पं० आशाधरजी ने अपनी टीका में 'अन्ये अपरे' इत्यादि बहुवचनों का प्रयोग देकर अन्य भी टीकाकारों का उल्लेख किया है जिनका स्पष्ट एवं पुष्ट प्रमाण निम्न गाथाओं की व्याख्या से मिलता है। जैसेः—

गाथा नं० १८१८ में 'एषा प्राकृतटीकाकारमतेन व्याख्या। अन्ये 'सयममेज्झाणीति पठित्वा अमेध्ययोग्यास्स्वयमशुचीनि सन्तीत्यर्थमाहुः। अपरे पुनः 'सलिलादीणित्यादि सूत्रं-सामान्येन व्याख्यायोत्तरसूत्रेण प्रकृतं देहाशुचित्वं अनुसंदधते।

गाथा नं० १९६७ में अन्ये तु 'वासे वासे' इति पठित्वा वर्षे वर्षे, इत्यर्थं व्याचक्रुः। अपरे 'मासे मासे' इति पाठं मत्वा एव शब्दं विकल्पार्थमीषुः।'

गाथा नं० १९६८ में 'अन्ये 'एगंता सालोगा' इति पठित्वा एकान्तपरैः प्रायेणाहश्या

इत्यर्थं प्रतिपन्नाः ।' × × × × 'अपरे तु 'दूरमोगाढ़ा' इत्यस्य निषद्यास्थानस्तंभापेक्षया बहुधः प्रवेशेत्यर्थमाहुः ।'

इस प्रकार एक ही गाथा में दो-दो प्रकार के अर्थ भेदों का उल्लेख भी रहस्य से रिक्त नहीं है। पता चलता है कि पं० आशाधरजी के सामने अवश्य ही अन्य कितनी ही टीकायें उपस्थित थीं। और वे टीकायें गद्यात्मक ही होनी चाहिये —ऐसा ऊपर दिये गये अवतरणों से स्पष्ट प्रकट है।

'एक टिप्पनक'

पं० जी ने अपनी टीका में कई स्थलों पर 'टिप्पनक' का उल्लेख करते हुए अर्थभेद एवं पाठ-भेद को दिखाया है जैसे:—

गाथा नं० ५६७ की व्याख्यामें —"टिप्पनके तु कृमिरागत्यक्तरक्तावारंजिततन्तुनिष्पादित-कंबलस्येति" इत्यादि।

इसी प्रकार पं० जी अपनी व्याख्या में अनेकों स्थलों पर गाथा सम्बन्धी पाठभेदों का उल्लेख करते हैं, जिससे भी अन्य व्याख्याओं का पता चलता है।

गाथा नं० ५८९ की टीका में तो पं० जी उक्त टिप्पनक का टिप्पणकार के नाम के साथ उल्लेख करते हैं यथा :—

'श्रीचन्द्रटिप्पनके त्वेवमुक्तं'।

संभव है पं० जी के सामने एकाधिक टिप्पण भी रहे हों।

'एक अन्य पद्यमयी टीका'

जिस प्रकार मूल गाथाओं का अनुसरण करते हुए श्रीअमितगति आचार्य ने श्लोकों द्वारा एक पद्यमयी टीका बनायी है, इसी प्रकार एक और भी पद्यमयी टीका का उल्लेख पं० आशाधरजी की टीका में मिलता है। उसे वे 'उक्तं च 'तथोक्तं' इत्यादि के रूप में ही उल्लेख करते हैं। इस प्रकार से उद्धृत किये गए श्लोकों की संख्या लगभग एक सौ से भी अधिक है और उन श्लोकों को देखते हुए निःसंकोच यह कहने का साहस होता है कि वह मूलाराधना की ही संस्कृत छायात्मक टीका है। इस पद्यमयी टीका में अमितगति के श्लोकों से कुछ नवीनता एवं गाथार्थ के साथ अत्यधिक समीपता पायी जाती है। पाठकों की जानकारी के लिये कुछ पद्य उद्धृत करता हूं:—

[१]

मूल—छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसेहिं भत्तेहिं अदिविकट्ठेहिं।
मिदलहुगं आहारं, करेदि आयंबिलं बहुसो ॥ २५१ ॥

मूलाराधना।

पद्यटीका नं० १—षष्ठाष्टमादिभिश्चित्रै-रुपवासैरतंद्रितः ।
गृह्णाति मितमाहार-माचाम्लं बहुशः पुनः ॥ २५१ ॥

अमितगति

पद्यटीका नं० २—षष्ठाष्टमादिभक्तैरतिशयवद्भिर्बली हि भुंजानः ।
मितलघुमाहारविधिं विदधात्यम्लाशनं बहुशः ॥

कोई अज्ञातनामाचार्य

पद्यटीका नं०३—समोऽथ षष्ठाष्टमकैस्तपोधिकै-
स्ततो विकृष्टैर्दशमैः शमात्मकः ।
तथा लघु द्वादशकैश्च सेवने,
मितं मुदाचाम्लमनाविलो लघुः ॥

कोई अज्ञातनामआचार्य

[२]

मूल—पडिचोदणा सहण वायखुभिदपडिवयणइंधणाइहो ।
चंडो हु कसायग्गी, सहसा संपज्जिलेज्जाहि ॥ २६५ ॥

मूलाराधना

पद्यटीका नं०१—वाक्यासहिष्णुतावात्या प्रेरितः कोपपावकः ।
उदेति सहसा चंडो भूरि प्रत्युत्तरोधनः ॥ २६५ ॥

अमितगति

पद्यटीका नं०२—प्रतिवचनेन्धनजनितः प्रतिकूलाचरणपवनसंचलितः ।
चंडः कसायदहनः सहसा संप्रज्वलेत् पापः ॥

अज्ञातनामाचार्य

[३]

मूल—रोगादंकादीहिं य, सगणे परिदावणादिपत्तेसु ।
गणिणो हवेज्ज दुक्खं, असमाधी वा सिणेहो वा ॥ ३६१ ॥

मूलाराधना

१—परीषहैर्घोरतमैः स्वसंघं निपीड्यमाणस्य निपीड्यमानं ।
गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः, प्रवर्तते संघपतेरवार्यः ॥ ४०२ ॥

अमितगति

२—निजगणागतेषु रोगिषु, परिदेवनदुःखपरिगतेषु पुरः ।
कारुण्यशोकमोहा, भवेयुरसमाधये सूरेः ॥

कोई अज्ञात आचार्य

उक्त अवतरणों से पाठक महोदय भी मेरी बात से सहमत होंगे । इसी प्रकार गाथा नं०—
१०, २४, १७६, ४११, ५३१, ५६०, ५७०, ५८१, ७२०, ८८२, ९११, ९२३, ९३१, ९४० ९५६, ९७६, १०११, १०८७, १०९६, १११५, ११२१, ११२३, ११८६, ११९२, १३२५, १३४६×, १३६८, १४१२* १५६६, १६१५, १६६१, १७२८, १७८१, १८१२, १८१९, १८५१, १९६८ इत्यादि गाथाओं की टीका में भी पं० जी ने गाथार्थ-सूचक श्लोक दिये हैं, जो कि अमितगति के श्लोकों से भिन्न हैं जिनसे मेरी बात की पुष्टि बहुत अच्छी तरह से होती है ।

उपसंहार

इस प्रकार यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि उक्त मुद्रित टीकाओं के अतिरिक्त और भी अनेक टीकायें हैं, जिनमें एक प्राकृतटीका, २ पद्यात्मटीका और ३ श्रीचन्द्र टिप्पणक इन तीन का उल्लेख पं० आशाधरजी की टीकामें हुआ है, हमारे स्वाध्याय-प्रेमी पाठकगण अपने यहां के सरस्वती-भाण्डारों में इन टीकाओं की खोज करेंगे और मिलने पर पत्रों द्वारा जन-साधारण की जानकारी के लिये प्रकाशित करने की कृपा भी करेंगे । प्राकृत-टीका की अवश्य ही खोज होनी चाहिये, क्योंकि वह सब से प्राचीन प्रतीत होती है और उससे अनेक नवीन विषयों का परिचय प्राप्त होने की भी आशा है ।

× इस गाथा की टीका करते हुए पहले तो पं० जी गाथा का—पाठभेद दिखाते हैं और पीछे से 'तथा च तद्ग्रन्थः' कह कर अज्ञात आचार्य का पद्य उद्धृत करते हैं, इससे स्पष्ट है कि एक पद्यात्मक स्वतन्त्र टीका और भी है।

*इस नवम्बरवाली गाथा की व्याख्या में 'अन्ये पुनरेतद्गाथाद्वयं पृथक् संबध्नन्ति तत्पाठस्त्वयम् ×× तथा च तद्ग्रन्थः' आदि कह कर पद्य को उद्धृत करते हैं, इससे मेरी उक्त बात की पुष्टि होती है ।

मुसलमान-राज्यकाल में जैनधर्म

(ले०—बाबू कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०, 'साहित्यमनीषी')

भारत पर मुसलमानों के आक्रमण ईस्वी आठवीं शताब्दी से होने प्रारम्भ हुए थे[1]; वैसे अरब के मुसलमानों का व्यापारिक सम्पर्क दक्षिण-भारत के लोगों से बहुत पहले का था। महाराष्ट्र और कर्णाटक देश में जिस समय राठौर राजा राज्य कर रहे थे, उस समय मुसलमान व्यापारीगण मान्यखेट आदि प्रमुख नगरों में आकर बसे थे। सम्राट् अमोघवर्ष की उन्होंने बहुत प्रशंसा लिखी थी और उनकी गणना संसारके प्रमुख राजाओं में की थी[2]। सम्राट् अमोघवर्ष जैन-धर्मानुयायी थे और उनके सुखकर राज्य में इन विदेशी मुसलमानों को बहुत कुछ सुविधायें प्राप्त थीं; परन्तु इतने पर भी इन मुसलमानों की यह हिम्मत न होती थी कि हिन्दुओं के बीच में रह कर कोई ऐसी रीति-नीति का पालन करें जो उनको असह्य हो—वे लोग अपने मृतकों को अपने घरों में ही दफ़ना देते थे[3]। किन्तु ज़माना बदला—मुसलमान लोग हिन्दुस्तान को लूट कर यहां से मालामाल हो जाने की दुर्भावना को लेकर यहाँ आये। वे आये और लूट मार करके अपने देश को लौट गये—प्रारम्भ में उनको यह अवसर ही न मिला कि वह अपने पैर यहाँ जमाते। उनके इन आक्रमणों का आतङ्क हिन्दू जनता के दिलों पर बुरी तरह छा गया और वे मुसलमानों को अपना शत्रु समझने लगे। किन्तु बाद में जब मुसलमान शासकों ने भारत में अपना झंडा गाड़ दिया और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि हम हिन्दुस्तान में रहेंगे और हिन्दुओं पर शासन करेंगे तो उनको अपनी नृशंसता भी कम करनी पड़ी! वह जान गये कि हिन्दुओं पर शासन करने के लिए हमें हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। यही कारण है कि हम उस बादशाह बाबर को जिसने लाखों हिन्दुओं को तोप से उड़वा दिया था और ग्वालियर आदि स्थानों में जाकर देवमूर्तियों और मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट किया था[4]; अन्त में अपने पुत्र हुमायूँ को निम्नलिखित शब्दों में धार्मिक शिक्षा देते पाते हैं[5]:—

"हे पुत्र, भारत का राज्य विविध धर्मों से भरा हुआ है। तेरे लिये यह आवश्यक है कि तू अपने हृदय से धार्मिक पक्षपात को मेट दे और प्रत्येक धर्म के अनुसार न्याय-प्रदान कर।"

---

1 Oxford Student History of India, p. 97

2 Elliot, History of India, Vol. I, pp. 2—13

3 I bid., pp. 162-163.

4 I bid.

5 Journal of the Mythic Society, Vol XVIII, p. 116

बाबर की यह सुनहरी शिक्षा मुसलमान बादशाहों के लिये मार्गदर्शक रही—उन्होंने हिन्दू शासकों से प्रेम-व्यवहार स्थापित किया—यहाँ तक कि उन्होंने राजपूत कन्याओं से व्याह भी किये! बादशाहों की इस नीति से हिन्दुओं को किञ्चित् सान्त्वना मिली। वह अपने दैनिक जीवन के कार्यों को करने में लग गये। जैनियों को भी संतोष हुआ—उन्हें यह अवसर मिला कि वे अपने धर्मप्रभावना-सम्बन्धी कार्यों को करते। सारांशतः मुसलमान शासकगण जैनियों के सर्वथा विरोधी नहीं रहे, बल्कि उन्होंने उनके साथ मैत्री का व्यवहार भी किया![1]

पहले-पहले मुसलमानों ने सिन्धुदेश पर आक्रमण किया था और उस समय वहां पर उन्हें जो लोग प्रधान रूप में मिले थे, उनको उन्होंने 'समन' (श्रमण) लिखा है[2]। सिन्धु देश का शासक भी उस समय 'समनियों' का उपासक था। वह अहिंसाव्रत का पालन कट्टरता से करता था और समनों के ज्योतिषवाद का कायल था।[3] निस्सन्देह 'समन' शब्द 'श्रमण' का प्राकृत-रूप है, जिसका प्रयोग जैन और बौद्ध साधुओं के लिये समान रूप से होता आया है। मुख्यतः वह जैन साधुओं के लिये रूढ़ था[4]। उस पर सिन्धु देश में जैनियों का अस्तित्व भगवान् महावीर के समय से लेकर ईस्वी बारहवीं शताब्दी तक मिलता है[5]—मुसलमानों के आक्रमणों के कारण ही वे गुजरात और कच्छ की ओर चले आये। उस पर, जैनी अपनी अहिंसा और ज्योतिष-विद्या के लिये हमेशः प्रसिद्ध रहे हैं। मुसलमान लेखकों ने तत्कालीन सिन्धुनिवासियों के लिये लिखा है कि 'वे जीवों की हिंसा नहीं करते और न मांस, मछली व अण्डे खाते हैं।[6] उनका यह वक्तव्य जैनियों ही से लागू होता है, क्योंकि ब्राह्मण और बौद्ध लोग इन चीजों के परहेजगार नहीं मिलते।[7] अतः मुसलमानों को सिन्धुदेश में जो भारतवासी मिले वह सम्भवतः जैन-धर्मानुयायी थे।

'गौड़ीच-पार्श्वनाथ' के विषय में जो जनश्रुति प्रचलित है, उसमें भी यह बात स्पष्ट होती है कि बारहवीं शताब्दी के पहले से सिन्धु देश में जैनियों का अस्तित्व था; किन्तु अन्तिम समय में वह हतप्रभ हो रहे थे। वहां का एक वणिक् संभवतः गौड़ीच जाति का

१ प्रो० हेल्मुथ फॉन ग्लासेनाप्प का भी यही मत है। "Der Jainismus," p. 65.

2 Elliot, History of India, Vol. 1, pp. 147—158.

3 I bid, pp. 158—161.

4 "But the Jainas used the term "Sramana" prior to the Buddhists." etc.—Buddhist India p. 143

५ सिंधुसौवीर में उदायन राजा था। श्रीजिनविजयजी-द्वारा सम्पादित "विज्ञप्तित्रिवेणी" की भूमिका देखो (भावनगर-संस्करण)

6 Elliot, Loc. cit., p. 97.

७ 'भगवान महावीर की अहिंसा' (दिल्ली) देखो।

गौडीदास नामक गुजरात में श्रीहेमचन्द्राचार्य जी के पास गया था और उनसे पार्श्वनाथ भगवान् की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित करा कर लाया था। मार्ग में वह मारा गया, परन्तु उसका मित्र एक सोड़ा-राजपूत था; जिसने वह मूर्ति और उसका सब सामान उसके पुत्रों के पास वल्लीपट्टम् में पहुंचा दिया। वहाँ से वह सोड़ा-राजपूत अपने घर परिनग्गर (Parinuggur) गया, जो पारकर जिले का एक प्रसिद्ध नगर था और जहां धनिक श्रावक रहते थे, जिनके वहाँ बड़े-बड़े मन्दिर थे। वहाँ सोड़ा-राजपूत-वंश का ही राजा राज्य करता था। इस घटना के कुछ समय पश्चात् वल्लीपट्टम् रेत में दब कर नष्ट हो गया और पार्श्वनाथ जी की वह प्रतिमा भी वहीं दबी रह गई। उपरान्त तीस वर्ष बीतने पर परिनग्गर में दो श्रावक भाई नगरसेठ के रूप में मिलते हैं। उनके नाम कजुल और विजुल थे। उन्हें स्वप्न-द्वारा गौड़ीच-पार्श्वनाथ के ज़मीदोज़ होने के समाचार मिले—वह वहाँ गये, किन्तु उस स्थान पर एक मुसलमान घर बना कर रह रहा था। सेठ ने ४५ हजार रुपये देकर उसे सन्तुष्ट किया और प्रतिमा जी को निकलवा कर वह परिनग्गर लाये। राजा के सहयोग से उन्होंने वहां एक मन्दिर बनवाया और उस में वह प्रतिमा विराजमान की; जो गौड़ीपार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध हो गई। उसके संरक्षक वहां के सोड़ा राजपूत शासक रहे। पारकर के निम्नलिखित राजाओं ने इस मूर्ति को अपनी रक्षा में रक्खा था :—

(१) राजा जसराय सोडा, (२) राजा देउधीर सोडा, (३) राजा कुनपाल सोडा (४) राजा धनपाल सोडा, (५) राजा परभूत सोड़ा, (६) राजा जीतसिंह सोडा। जीतसिंह के पुत्र मोरजी थे, जिनके पास से इस मूर्ति को वुरावोव (Wurawow) के शासक पुंजाजी का नाती सुल्ताजी चुरा ले गया था। सन १८०९ ई० में यह मूर्ति उसके अधिकार में थी। जब सिन्धु में ब्रिटिश-राज्य स्थापित हो गया तो यह मूर्ति राधनपुर के पास ले आई गई। जैनयात्रियों का संघ हजारों रुपये राजपूतों में बांट कर उनको संतोषित करता था, तब कहीं इस प्रतिमा के उन्हें दर्शन हो पाते थे। सन् १८१० ई० में सूरत से दयाल भाई सेठ एक संघ लाये थे, जिस में करीब सत्तर हजार स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। इसके पहले संघ पारकर (सिंध) को जाया करते थे। गौड़ीच-पार्श्वनाथ के इस वर्णन से सिंधु देश में जैन धर्म का प्रचलित होना स्पष्ट है। सिन्धु में गौरीच नामक एक जाति का अस्तित्व मिलता है। संभव है कि गौरीच-पार्श्वनाथ का सम्बन्ध इस जाति के लोगों से हो![1]

सच तो यह है कि मुसलमानों का मात्र सम्पर्क ही पहले जैनों से नहीं हुआ, बल्कि सुलेमान जैसे मुसलमानों को दिगम्बर साधु अधिक संख्या में मिले, जिन्होंने उनका ध्यान

1 Transactions of the Literary Society of Bombay, XIII p. 183 ff.

अपनी ओर आकृष्ट किया।[1] इन दिगम्बर जैन साधुओं की तपस्या और ज्ञान की प्रशंसा मुसलमान शासकोंने भी सुनी और वह उनकी ओर आकर्षित हुये। कहा जाता है कि सुलतान मुहम्मद गौरी ने अपनी बेगम के आग्रह करने पर एक दिगम्बर जैन साधु को अपने दरबार में बुला कर सम्मानित किया था।[2]

उपरान्त खिलजी तुगलक और लोदी बादशाहों के ज़माने में भी जैन-धर्मका प्रभाव उल्लेखनीय रूप में था—यहाँ तक कि खिलजी बादशाह अलाउद्दीन मुहम्मद शाह का ध्यान उसकी ओर गया था। इस में शक नहीं कि अलाउद्दीन एक क्रूर शासक था; परन्तु उस में एक और गुण था और वह गुण यह था कि वह प्रजा का हित साधना अपना परम कर्तव्य समझता था। उसे इस्लाम-मजहब की भी ज्यादा परवा नहीं थी। वह एक न्याय-शील और कठोर शासक था। शायद यही वजह थी कि उसकी प्रजा बहुत ज्यादा राज-भक्त थी। उसके राज्य-काल में दैनिक जीवन के लिये आवश्यक वस्तुयें जैसे अन्न, वस्त्रादि बहुत सस्ती थीं। बाज़ार में व्यापारियों का व्यवहार ईमानदारी को लिये हुये था। लोगों को यात्रा करते हुये मार्ग में लुटेरों का ज्यादा भय नहीं रहा था। यद्यपि सुलतान की ओर से विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला था, फिर भी विद्वानों आदि महापुरुषों की कमी नहीं रहती थी।[3] कहा जाता है कि राघो और चेतन नामक दो ब्राह्मणों का प्रभाव सुलतान अलाउद्दीन पर बहुत ज्यादा था।[4] उन्होंने ही अलाउद्दीन को दिगम्बर जैनियों के विरुद्ध बरगलाया था। सुलतान ने जैनियों से कहा कि अपने गुरु को राजदरबार में उपस्थित करें। उस समय उत्तर भारत में कोई भी समर्थ दिगम्बर जैनाचार्य न था। हठात दिगम्बर जैनी कर्णाटक देश की ओर गये और वहाँ श्रीमहासेन आचार्य से उन्होंने दिल्ली चल कर राज दरबार में जैन धर्म का प्रभाव स्थापित करने की प्रार्थना की। वह आचार्य दक्षिण से आये और अलाउद्दीन के समक्ष उन्होंने जैन धर्मका सिक्का स्थापित किया। सुलतान उनकी विद्वत्ता और तपस्या के कायल हो गये।[5] मालूम यह होता है कि अलाउद्दीन का समागम इन मुनिराज

1 Elliot, loc cit. p. 6.

2 Indian Antiquary, Vol. XXI. p. 361

3 Elliot, loc cited. pt. III (Tarikh-i-Firozshahi), pp. 295-206.

४—५ जैन सिद्धान्त भास्कर भा० १, कि० ४, पृ० १०६, श्वेताम्बराग्रंथ 'तीर्थकल्प' में अला-उद्दीन के एक मन्त्री का नाम माधव विप्र लिखा है, जिसकी प्रेरणा से उन्होंने गुजरात पर आक्रमण किया था। ('अल्लावद्दीन सुरत्ताणस्स कणिट्ठो भाया उलूखान नामधिज्जो दिल्लीपुराओ मंतिमाहव पेरिओ गुज्जरधरं पट्ठिओ") "विचारश्रेणी" में भी यह लिखा है। (१३६० वत्सरे माधवनागर-विप्रेण आनीताः) शायद माधौ का ही उल्लेख राघौ नाम से होता था।

से उनके मित्र सेठ पूर्णचन्द्र द्वारा हुआ था। दिल्ली के अग्रवाल-जैनियों में उस समय पूर्णचन्द्र जी एक विशेष सम्माननीय और प्रतिष्ठित महानुभाव थे। सुलतान उनका सम्मान करता था। वह उन पर इतना सदय हुआ था कि पूर्णचन्द्र जी दिल्ली से श्रीगिरिनार जी की यात्रा के लिये एक संघ ले जाने में समर्थ हुए थे। जिस समय यह संघ तीर्थों की यात्रा करता हुआ गिरिनार पहुंचा था, उस समय पेथड़शाह के नेतृत्व में श्वेताम्बरों का भी एक संघ वहाँ आया था। दोनों संघों में गिरि का वन्दना आगे-पीछे करने के प्रश्न पर बहस छिड़ गई थी; परन्तु वृद्ध लोगों ने समझौता कराके दोनों संघों के साथ-साथ वन्दना करने का अवसर उपस्थित किया था[1]। अलाउद्दीन ने श्वेताम्बर जैनाचार्य रामचन्द्र सूरि का सम्मान किया था।[2] सन् १२०७—१२०८ ई० में अलाउद्दीन ने समग्र गुजरात देशको अपने अधीन कर लिया था। संभवतः यही मुहम्मदशाह थे, जिनका समागम अलकेश्वरपुर भड़ौच के दिगम्बर जैन साधु श्रुतवीर स्वामी से हुआ था[3]। अलाउद्दीन के इस आक्रमण में उनका भाई उलूगखान मुख्य था। दिल्ली लौटने पर अलाउद्दीन ने अलपखाँ को गुजरातका शासक बनाकर भेजा था। उस समय पाटन में ओसवाल जैनी समरसिंह एक उल्लेखनीय महानुभाव थे। अलपखाँ उनका बहुत आदर—सत्कार करता था। उन्होंने शत्रुंजय तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया था और एक यात्रा-संघ भी उन्होंने निकाला था। यात्रा-संघ की रक्षा के लिये समरसिंह की प्रार्थना करने पर अलपखाँ ने दश मीर (जमादार) साथ कर दिये थे[4]। इस प्रकार खिलजी राज्यकाल में जैनधर्मका प्रभाव विस्तृत रहा था।

उपरान्त तुगलक बादशाहों के शासन-काल में भी हमें जैनधर्म का उल्लेखनीय अस्तित्व मिलता है। निस्सन्देह अन्य मतावलम्बियों के समक्ष उस समय जैनियों की संख्या अल्प थी; परन्तु वे अपने धन, अपने सदाचार और अपने ज्ञान के लिये प्रसिद्ध थे। तुगलक बादशाहों का भी ध्यान उनकी ओर अकर्षित हुआ था। गयासुद्दीन तुगलक के मन्त्री होने का गौरव प्राग्वाट कुलके दो जैनी भाइयों—सूर और वीर को प्राप्त था।[5] साथ ही मैसूर राज्यके हुंबुच नामक स्थान से उपलब्ध पद्मावतीबस्ती-शिलालेख से स्पष्ट है कि सुलतान महमूद अथवा मुहम्मद ने कर्णाटक-देशवासी दिगम्बर जैनाचार्य सिंहकीर्ति का सम्मान किया था। प्रो० सालेतोरे ने इस बादशाह को मुहम्मद तुगलक बतलाया है जो सन् १३२५ में राजसिंहासनारूढ़ होकर सन् १३५१ तक शासन करते रहे थे। मुसलमान

१ जैनहितैषी, भा० १५ पृष्ठ १३२

2 Der Jainismus. p. 66.

३ जैन सिद्धान्त-भास्कर भा० ३, कि० २-१, पृ० ३५

४ पुरातत्त्व (अहमदाबाद) पुस्तक ४, अङ्क १-४, पृष्ठ २७७—२७९

५ सोमचरित्रगणिकृत 'गुरुगुण-रत्नाकर'— कर्णाटक-हिस्टोरीकल रिव्यू, भा० ४, पृ० ८६ फुटनोट

बादशाहों में यह बादशाह बहुत ही विद्वान् और राजकुशल था। इस्लाम के अतिरिक्त अरस्तू के सिद्धान्तों का वह विशेष ज्ञाता था। उसे तत्ववेत्ताओं और वादिओं से तर्क-वितर्क करने मे आनन्द आता था। सामान्यवादी तो उससे वाद करने का नाम सुनते ही कन्नी काटते थे। हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं का भी वह आदर करता था। बङ्गाल-प्रान्त भी उसके राज्यका अङ्ग था। इसी सुलतान ने आचार्य सिंहकीर्ति को अपने राजदरबार में निमन्त्रित किया था और उनका तात्त्विक विवेचन सुनकर वह बहुत ही प्रभावित हुआ था।[1]

दूसरे तुग़लक़ बादशाह फीरोजशाह थे, जिन्होंने अपने पूर्वज मुहम्मद तुग़लक़ का अनुसरण किया था। फीरोजशाह भी अपने ज्ञान और दान के लिये प्रसिद्ध था। इतिहास से पता चलता है कि फीरोजशाह ने ३६ लाख टंक (Tankas) विद्वानों और धार्मिक-पुरुषों और लगभग १०० लाख गरीबों और दुःखिओं को बांटने के लिये नियुक्त कर रक्खे थे।[2] इस उदारमना सुलतान ने भी अपने दरबार और महल में एक दिगम्बर जैन आचार्य को आमंत्रित किया था। फीरोजशाह की बेगम को दर्शन और उपदेश देकर जब दिगम्बराचार्य लौटे तो उन्होंने वस्त्र उतार कर एक ओर रख दिया और अपने असत्कर्म के लिये प्रायश्चित्त किया। परन्तु इतने पर भी वस्त्रधारी भट्टारकों का सद्भाव हो ही गया।[3] फीरोज़शाह ने इन आचार्य का खूब ही सम्मान किया था। इन्हीं सुलतान ने बहुत से ब्राह्मणों और सेवड़ा (जैनों) लोगों को अशोक की लाट वाला शिलालेख पढ़ने को बुलाया था।[4] कहते हैं कि श्वेताम्बराचार्य श्रीरत्नशेखर का भी सम्मान फीरोजशाह ने किया था।[5] सारांशतः तुग़लक-शासन-काल में जैन धर्म का गौरवशाली अस्तित्व रहा था।

सन् १५२६ ई० से सन् १७६१ ई० के मध्यवर्ती काल में सूर और मुग़ल राजवंशों के बादशाहों ने भारत पर शासन किया था। सौभाग्य से इन बादशाहों में से कई जैनियों पर सदय हुये थे। सूर खान्दान के बादशाहों में सिकन्दर सुलतान उल्लेखनीय हैं। वह दिल्ली के राजसिंहासन पर सन् १५५४ ई० में बैठे थे। उन्होंने भी दिगम्बर जैनाचार्य के दर्शन करने की अभिलाषा प्रकट की थी। परिणाम-स्वरूप कर्णाटक देश से

१ कर्णाटक-हिस्टा०-रिव्यू, भा० ४ पृ० ८६
2 Elliot, loc. cited, pt. III, p. 317.
३ भट्टारकमीमांसा (सूरत) पृ० २
4 Elliot, loc. cited, p. 352.
5 Glassenapp, Der Jainismus, p. 66.

दिगम्बर जैन गुरु विशालकीर्ति दिल्ली पधारे थे। उन्होंने राजदरबार में जाकर सुलतान को धर्मोपदेश दिया था और उनसे सम्मान प्राप्त किया था।[१]

मुसलमान बादशाहों की इस उदारता का ही शायद यह परिणाम था कि उस जमाने में भी दिगम्बर जैन साधुओं का अस्तित्व और विहार सारे भारत में होता था। मार्को पोलो ट्रावरनियर, बरनियर, मलिक जायसी इत्यादि पर्यटकों और लेखकों ने इन दिगम्बर मुनियों का उल्लेख अपनी अपनी रचनाओं में किया है।[२]

मुसलमान-शासन-काल में मुग़ल बादशाहों का शासन अपनी व्यवस्था और उदारता के लिये प्रसिद्ध रहा है। उनके राजत्वकाल में जैनियों को भी धर्म-साधन आदि क्रियाओं में विशेष स्वाधीनता प्राप्त थी। उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही जैनसंप्रदायों का अस्तित्व था। दिगम्बर जैनों का भी उल्लेख अबुलफ़ज़ल ने 'आईन-इ-अकबरी' में किया था।[३] जैन-दर्शन का पूर्ण विवेचन अबुलफ़जल के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में उल्लेखनीय है।[४] इस ग्रन्थ में बङ्गालदेश के राजाओं की वंशावली का निरूपण जैन विद्वानों के सहयोग से ही किया गया था।[५] सम्राट् अकबर के समय में उत्तर भारत में दिगम्बर जैनों के केन्द्र स्थान दिल्ली, मथुरा, आगरा, सहजादपुर, वैराट इत्यादि नगर थे। वैराट में उस समय दिगम्बर जैन-संघ विद्यमान था। महाकवि राजमल्ल उस समय वैराट में जैनधर्म के एक महान स्तम्भ थे। भटानियाकोल (अलीगढ)-निवासी साहु टोडर इन महाकवि के आश्रय-दाता थे और वह सम्राट् अकबर की शाही टकसाल में अध्यक्ष पद पर नियुक्त थे। कवि राजमल्ल ने सम्राट् अकबर की खूब प्रशंसा लिखी है। उन्होंने लिखा है कि सम्राट् ने 'जजिया' कर उठा दिया था और मादक वस्तुओं का बेचना भी बन्द कर दिया था।[६] अन्य स्रोत से यह भी प्रकट है कि सम्राट् अकबर ने प्रत्येक धर्मावलम्बी को अपने धर्म का प्रचार करने एवं अपने-अपने धर्मोत्सव मनाने की स्वाधीनता प्रदान की थी—यही नहीं, अन्य धर्मावलम्बी मुसलमानों को अपने मत में दीक्षित कर सकते थे, जैसे कि तब तक मुसलमान अन्यों को इस्लाम में दीक्षित करते आये थे।[७] इसके अतिरिक्त सम्राट् ने विवाह करने की भी

---

१ कर्णाटक-हिस्टारीकल रिव्यू, भा० ४, पृष्ठ ७८-८१

२ दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृष्ठ २४६—२६०

३ आईन-इ-अकबरी (लखनऊ) भा० ३, पृ० ८७

४ कर्नल जैरेट-कृत आईन-इ-अकबरी का अंग्रेजी अनुवाद भा० २, पृ० १८८ इत्यादि

५ एशियाटिक—रिसर्चेज, भा० ९, पृ० २०८

६ जम्बूस्वामी-चरित्र (मा० ग्र०) पृष्ठ ४-१०

7 Indian Culture, Vol. IV, No. 3, p. 304.

उदारता आज्ञा दे रक्खी। केवल मुसलमान ही हिन्दू लड़कियों को व्याहें यह बात नहीं थी, बल्कि हिन्दू भी मुसलमान कन्याओं को ले सकते थे। परन्तु किसी मुसलमान का विवाह एक हिन्दू कन्या से तभी हो सकता था जब कि वह मुसलमान होना स्वीकार करे। बलात् धर्म-परिवर्तन को निषेध सम्राट् ने किया था। बदायूनी ने ऐसा ही एक उल्लेख किया है कि मूसानामक एक मुसलमान किसी हिन्दू कन्या से विवाह करना चाहता था। राजनियम के भय से वह उस लड़की को साथ लेकर अन्यत्र चला गया और उसका पता उसके माता-पिता को नहीं होने दिया, क्योंकि यदि उनको पता लग जाता तो वह अदालत की शरण लेकर उस कन्या को वापस ले सकते थे[1]। सम्राट् की इस उदार नीति का फायदा हिन्दुओं, जैनियों और ईसाइयों आदि ने उठाया था। प्रत्येक सम्प्रदाय अपना मंदिर-मस्जिद-गिरजा बनवा सकती थी। जैनियों ने भी अपने कई तीर्थों और मन्दिरों का जीर्णोद्धार इस समय कराया था। जिन साहु टोडर का उल्लेख हमने ऊपर किया है, स्वयं उन्होंने एक विशाल जैन-संघ निकाला था, जो मथुरातीर्थ की वंदना करने गया था। मथुरा में उन्हों ने जो पांच सौ प्राचीन जैनस्तूप जीर्ण-शीर्ण पड़े हुये थे, उनका उद्धार कराया था और खूब धर्मोत्सव मनाया था।[2]

अकबर के राजदरबार में बीकानेर-निवासी ओसवाल जैनियों का आदर सत्कार होता था।[3] अकबर ने श्वेताम्बर जैनाचार्य श्रीहीरविजय सूरि और उनके शिष्यों का सम्मान किया था। ये साधुजन एकान्त में सम्राट् को जैन धर्म की शिक्षा दिया करते थे, जिस का प्रभाव सम्राट् के दैनिक जीवन पर भी पड़ा था। यदि ईसाई पादरी (Jesuit Missionary) पिनहेरो (Pinheiro) के लेख को विश्वसनीय माना जाय तो कहा जा सकता है कि सम्राट् अकबर जैन नियमों पर अमल करने लगे थे। जैनियों और जैन गुरुओं के प्रति वह निस्सन्देह सदय हुये थे। श्रीहीरविजय सूरि, विजयसेन, जिनचन्द्र और भानुचन्द्र जैसे साधुपुरुष उनकी विनय के पात्र थे।[4] भानुचन्द्र जी ने सम्राट् अकबर के लिये 'सूर्यसहस्रनाम' की रचना की थी; इसीलिये वह "पातशाह अकबर जलालुद्दीन श्रीसूर्यसहस्रनामाध्यापक" कहलाते थे। अबुलफज़ल ने इन साधु पुरुषों की गणना अकबर के दरबार के उल्लेखनीय विद्वानों में की है। भानुचन्द्र जी फारसी के भी उत्कट विद्वान् थे। वह अकबर को अच्छे अच्छे ग्रन्थ सुनाया करते थे। अकबर उनके अपूर्व बुद्धि-प्रभाव से प्रसन्न हुये थे और उन्हें 'खुशफहम' की उपाधि प्रदान की थी। जैनियों के अहिंसा-सिद्धान्त का प्रभाव अकबर के

1 Indian Historical Quarterly, Vol. XIII, pp. 455-456.

२ जम्बूस्वामी-चरित्र (मा० चं० ग्रं०)

३-४ सूरीश्वर और सम्राट्नामक ग्रंथ देखो

हृदय पर विशेष था, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने जीवदया-सम्बन्धी आज्ञायें निकाली थीं। जैन तीर्थों पर हिंसा न किये जाने के लिये भी उन्होंने खास तौर पर फरमान निकाले थे।[1] सारांशतः अकबर के शासन-काल में अन्य मतों के साथ जैन मत का भी उत्कर्ष हुआ था।

सम्राट् जहाँगीर ने भी अपने पिता के समान ही शासन की रीति-नीति रक्खी थी। तो भी धार्मिक उदारता जो सम्राट् अकबर के समय में थी, यद्यपि जहांगीर के समय में भी उसका ध्यान रक्खा गया था, परन्तु उस में कुछ कमी अवश्य आ गई थी। जहाँगीर को इस्लाम का पक्ष अकबर से विशेष था। अकबर ने इस्लाम के पक्ष को आगे रख कर शासन नहीं किया था; जहाँगीर ने इस्लाम का पक्ष ग्रहण किया था। एक दफा जब रजौरीनामक स्थान के हिन्दुओं ने कितनी मुसलमान कन्याओं को हिन्दू बना कर व्याहा था, तो जहाँगीर ने मालूम होने पर यह आज्ञा निकाली थी कि भविष्य में कोई भी हिन्दू ऐसा नहीं कर सकेगा और यदि कोई व्यक्ति ऐसा साहस करेगा तो वह दण्डित किया जायगा। इसके विपरीत इस्लाम में दीक्षित हुये लोगों को जहाँगीर ने दैनिक वेतन देना नियत किया था। अन्य प्रान्तों पर आक्रमण करने के समय जहाँगीर ने हिन्दू-मन्दिरों को भी नष्ट किया था; परन्तु वैसे उसने अपने राज्य में हिन्दुओं को अपने मंदिरादि बनाने और धर्मोत्सव मनाने की आज्ञा दे रक्खी थी। अकेले बनारस में ही सत्तर से ज़्यादा हिन्दू मन्दिर उसके राज्य के अन्तिम समय में बने थे। हिन्दुओं को अपने तीर्थों की यात्रा करने की भी स्वाधीनता जहाँगीर ने अकबर के समान ही प्रदान की थी। हॉकिन्स-नामक एक यूरोपियन को उसने अपना सेवक यह शर्त पर स्वीकार करके बनाया था कि जहाँगीर उसका व्याह एक मुसलमान-रमणी से करने देगा और उसे ईसाई होने में नहीं रोकेगा। सारांशतः जहाँगीर कट्टर मुसलमान शासक नहीं था—उसने अन्यमतावलम्बी प्रजा के साथ उदारता का बर्ताव किया था।[2] जैनियों के भी प्रति जहाँगीर का व्यवहार समुदार था। उल्लिखित जैन साधुओं का उसने सम्मान किया था। जिनचन्द्र जी के शिष्य जिनसिंह जी पर वह विशेष सदय हुये थे और उन्हें 'युग-प्रधान' की पदवी से अलंकृत किया था।[3] हाँ, बीकानेर के यति मानसिंह से जहाँगीर रुष्ट हो गये थे। मानसिंह ने खुसरु का पक्ष लिया था, जब उसने खुली बगावत की थी। मानसिंह जी के परामर्श से ही रायसिंह जहाँगीर का विरोधी हो गया था और दिल्ली छोड़ कर बीकानेर चला गया था। यद्यपि जहाँगीर ने रायसिंह का अपराध क्षमा कर दिया था, परन्तु उसने मानसिंह को सम्प्रदाय के जैनियों को अपने राज्य से निर्वा-

१ पुरातत्त्व पुस्तक ५, अंक ४, पृष्ठ २४१-२४३

२ इण्डियन-कलचर, भा० ४, नं० ३, पृ० ३०६-३०८

३ सूरीश्वर और सम्राट् पृ० ७५-३६०

सित कर दिया था।[१] गुजरात-प्रान्त में बहुत से धनवान् जैनी रहते थे। उस समय शाहजहाँ वहाँ का प्रान्तीय शासक था। जैनियों ने राजकोष में अपार सम्पत्ति देकर जीव-हिंसा के निषेधक कितने ही शाही फरमान निकलवाये थे।[२] ग़र्ज़ यह कि जहाँगीर के शासन-काल में भी जैनधर्म का अस्तित्व महत्त्वशाली था। इन बादशाहों की समुदार राजनीति ने ही तत्कालीन कवियों की बुद्धि को भी परिष्कृत और पारस्परिक ऐक्य-वर्द्धक बना दी थी। उस समय के प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास जी ने तत्कालीन वातावरण को लक्ष्य करके ही संभवतः निम्नाङ्कित पद्य में यह उद्गार प्रकट किया था :—

> " एक रूप हिन्दू तुरक, दूजी दशा न कोय।
> मन की द्विविधा मान कर, भये एक सों दोय ॥ "

कहते हैं कि कवि बनारसीदास जी सम्राट् शाहजहाँ के कृपापात्रों में से थे। वह शतरंज अच्छी खेला करते थे। सम्राट् को भी शतरंज खेलने का शौक़ था। वह कवि जी को बुलालिया करते थे और उनके साथ शतरंज खेला करते थे।[३] गुजरात के शासक-पद पर उस समय शाहजहाँ का पुत्र मुराद नियुक्त था। वह अहमदाबाद के प्रसिद्ध जैन जौहरी शान्तिदास पर विशेष सदय हुआ था।[४]

बादशाह औरङ्गज़ेब यद्यपि अपनी साम्प्रदायिक कट्टरता के लिये प्रसिद्ध हैं; परन्तु उन्होंने भी जैनियों के प्रति उदारता का परिचय दिया था। उल्लिखित अहमदाबाद के जैन जौहरी शांतिदास को उन्होंने अपना दरबारी नियत किया था। दिगम्बर जैनाचार्यों की तपस्या और ज्ञान की प्रसिद्धि उन्होंने सुनी थी—एक प्राचीन कन्नड भाषा की विरुदावली से प्रकट है कि उन्हों ने एक दिगम्बर जैनाचार्य का आदर-सत्कार किया था।[५] कवि विनोदी लाल-जी उन्हीं के समय में हुये थे—उन्होंने एक स्थल पर सम्राट् औरङ्गजेब के विषय में लिखा था :—

---

१ इण्डियन-कल्चर, भा० ४, नं० ३, पृ० ३११-३१२, प्रो० श्रीरामशर्मा प्रकट करते हैं कि जहांगीर ने अपने राज्य से सारे जैनियों को निर्वासित किया था; किन्तु प्रो० बेनी प्रसाद उन्हीं जैनियों का निर्वासित होना बतलाते हैं जो मानसिंह के अनुयायी थे। यह कथन ठीक जंचता है; क्योंकि जहाँगीर के शासनकाल की मूर्तियां और पोथियां उत्तरभारत में मिलती हैं—यदि सब ही जैनी निर्वासित किये गये होते तो वह नहीं मिल सकती थीं।

2 Indian Culture, Vol. IV, No. III. p. 317.

३ जैन कवियों का इतिहास, पृ० ३९-४०

4 Der Jainismus, p. 67

5 Studies in South Indian Jainism, pt. II, p. 132.

" औरङ्गशाह बली को राज, पायो कविजन परम समाज।
चक्रवर्ति-सम जग में भयो, फेरत आँनि उदधि लों गयो ॥
जाके राज्य परम सुख पाय, करी कथा हम जिन-गुन गाय!"

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि औरङ्गजेब के शासन-काल में हिन्दुओं को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

उधर दक्षिण-भारत में भी मुसलमानी शासन-सत्ता के समय में जैनियों को अपने धर्म-कर्म करने का सुअवसर प्राप्त था। हैदर अली जैसा नृशंस शासक भी उन पर सदय हुआ था। उसने जैन मंदिरों के लिये जैन गांवों की भेटों को अक्षुण्ण रक्खा था; यद्यपि श्रावणबेल्गोल आदि स्थानों पर धर्मोत्सव का मनाया जाना उसने बन्द कर दिया था।[1] बिजापुर के एक मुसलमान बादशाह के विषय में कहा जाता है कि उनकी मित्रता गेरुसोप्पे की जैनी रानी भैरव देवी से थी और उन्होंने उनकी सहायता की थी।[2]

यद्यपि मुस्लिम-राजत्व-काल में अनेकानेक जिनमन्दिर और जिनमूर्तियां नष्ट की गई थीं परन्तु इसी कालके अन्तर्गत अगणित रूप में उनका निर्माण और प्रतिष्ठा भी हुई थी। सं० १५३३ से १५४८ विक्रम के मध्यवर्ती काल में मुड़ासा नगर के निवासी सेठ जीवराज जी पापड़ीवाल ने सहस्रावधि जिनबिम्ब प्रतिष्ठित कराकर भारतवर्ष के प्रत्येक जिन-मंदिर में पहुँचा दी थी।[3]

इस प्रकार संक्षेप में मुसलमान बादशाहों के शासन-काल में जैनधर्म के गौरवशाली अस्तित्व का परिचय है। इस दिशा में यदि अधिक अन्वेषण किया जाय, तो इस विषय पर और भी प्रकाश पड़ने की संभावना है। दक्षिण भारत के शास्त्र-भाण्डारों का अन्वेषण विशेष उपयोगी सिद्ध होगा। क्या जैन विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे?

1 Ibid.

2 Buchanan, Travels in the Distts. of Kanara & Malabar.

३ जैन-प्रतिमा-यन्त्र-लेख-संग्रह देखो

मुस्लिम-कालीन भारत

[लेखक—श्रीयुत बाबू अयोध्या प्रसाद गोयलीय]

द्वितीय प्रकरण

खिलजी वंश

(ई० सन् १२९० से १२३० ई० तक)

खिलजी वंश के बादशाह खिलज के रहने वाले अफ़ग़ान थे. परन्तु यह तुर्किस्तान से आये थे और भाषा भी तुर्की बोलते थे। इस वंश का संस्थापक शाइस्ताखाँ गुलामवंशीय क़ैकुबाद का वध कर के ७० वर्ष की अवस्था में जलालुद्दीन के नाम से दिल्ली के राज्यासन पर बैठा। यह कुछ नम्र स्वभाव का था। शासकोचित कूट नीति से अनभिज्ञ था। अपने भतीजे और दामाद अलाउद्दीन का बड़ा विश्वास करता था। अन्त में उसी ने इसे धोखे से मार डाला और इसके सिर को भाले पर टाँग कर सारी फौज में घुमाया। फिर इसके दोनों बच्चों की आँखें निकाल कर क़ैद में सड़ा कर और बेगम को भी निर्दयतापूर्वक समाप्त करके वह स्वयं बादशाह बना।

जलालुद्दीन फ़ीरोज़-शाह (१२९०-९५)

अलाउद्दीन ने १२९५ से १३१६ ई० तक राज्य किया। यह बड़ा निर्दय और कठोर था, किन्तु अबतक होनेवाले बादशाहों में यह सब से अधिक शक्तिशाली था। यह अपना एकच्छत्र शासन स्थापित करना चाहता था, उसकी इच्छा थी कि, साम्राज्य में सम्राट् के अतिरिक्त कोई भी दूसरी सत्ता न रहे। अबतक के बादशाह शासन-विभाग राजनैतिक-क्षेत्र और दण्डविधान आदि प्रत्येक कार्य मुसलमानी धर्मग्रन्थों के अनुसार करते थे। किसी भी कार्य को करने से पूर्व उन्हें धर्मशास्त्रज्ञों (काजी मुल्लाओं) की राय लेनी अत्यावश्यक थी। उनकी आज्ञाओं के विपरीत आचरण करने की उन्हें कभी कल्पना भी नहीं होती थी। किन्तु अलाउद्दीन राजनैतिक कार्यों में धार्मिक ग्रन्थों की परवाह नहीं करता था। उसने अपने मन के शासनोचित दण्डविधान और न्यायालय स्थापित किये और अपराध करने पर इसलामधर्म के विपरीत मुसलमानों को भी प्राणदण्ड दिया। यह धर्मान्ध शासक न होकर साम्राज्यलिप्सु था। अतः मुस्लिम-साम्राज्य के विस्तार और दृढ़ करने में इसने जो कार्य उचित समझे वे सब कार्य बग़ैर किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के किये।

अलाउद्दीन (१२९५-१३१६)

अलाउद्दीन को यह चिन्ता सदैव बनी रहती थी कि मौक़ा पाकर स्वतंत्रताप्रिय हिन्दू, मुस्लिम-साम्राज्य को उखाड़ न फेंकें, अतः उसने हिन्दुओं के विद्रोह को दबाने के लिये, उन्हें निर्धन करने की युक्ति निकाली। ताकि पेट-पूर्ति से ही हिन्दुओं को अवकाश न मिले, क्योंकि पेट भरे हुए मनुष्य ही जिन्हें और कोई कार्य नहीं होता, विद्रोहात्मक षड्यन्त्र रचा करते हैं। अतः उसने यह नीति कार्यरूप में परिणित की कि, "हिन्दुओं के पास इतना धन न रहने पावे, जिससे वह घोड़ों पर चढ़ सकें, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन सकें, हथियार रख सकें और सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकें। हिन्दुओं ने दोआब में विरोध किया तो, उन्हें सख्ती से दबा दिया गया। उपज का आधा भाग उनसे लगान के तौर पर लिया जाता था। ढोर चराने तथा मकान तक का कर वसूल किया जाता था। इससे हिन्दुओं की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। किन्तु अलाउद्दीन ने यह सब अत्याचार धार्मिकभाव से नहीं अपि तु राजनैतिक परिस्थिति के कारण किये थे। उसने हिन्दुओं को निर्बल और अशक्त बनाने का तो प्रयत्न किया, किन्तु उनके धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप बिलकुल नहीं किया। वह तो मुस्लिम साम्राज्य का दृढ़ संगठन और पूर्ण विस्तार चाहता था, जिन उपायों से इस कार्य में उसे सफलता प्राप्त करने की सम्भावना होती, वही कार्य साम्प्रदायिक भेद-भाव-रहित होकर करता था। जब उसने हिन्दुओं को शक्ति-हीन किया तो मुसलमानों के पास भी उसने अधिक धन न रहने दिया। बरानी लिखता है—"मलिक, अमीर, सरकारी कर्मचारी, मुलतानी तथा बनियों के अतिरिक्त किसी के भी पास आवश्यकता से अधिक एक थैली भी न रहने पायी। किसी न किसी रीति से उनका सारा धन सरकारी कोष में पहुँचा दिया गया। जिस किसी के जागीर थी, वह भी छीन ली गई। और कुछ हज़ार टंकों के अतिरिक्त सारी पेंशनें, जागीरें आदि सब बन्द कर दी गईं या ज़ब्त कर ली गईं। सब मनुष्य अपने पेट के प्रश्न को हल करने में लगे हुए थे, किसी को भी विद्रोह करने की नहीं सूझती थी*।"

अलाउद्दीन ने शराब की महफ़िलों का भी होना इसी उद्देश्य से बन्द कर दिया था, क्योंकि षड्यन्त्रकारी शराब पीने के बहाने एकत्रित हो जाया करते थे। अमीरों (दरबारियों) के लिये भी यह नियम बनाया कि, वे एक दूसरे के मकान पर न जायं, और न कभी परस्पर मिलें। वे बग़ैर बादशाह की आज्ञा प्राप्त किये अपने बच्चों के रिश्ते भी नहीं कर सकते थे और न किसी अज्ञात व्यक्ति को अपने मकान में ठहरा सकते थे। यहाँ तक कि देशाटन करते हुए भी संयोगवश यदि किसी सराय में दो अमीर ठहर गये तो भी, वह परस्पर बातें कर के अपना मनोरंजन नहीं कर सकते थे। क्योंकि इनके परस्पर मिलते रहने से अला-

*—पूर्व-मध्यकालीन भारत पृष्ठ १२१।

उद्दीन को विद्रोह की आशंका थी। उस समय यदि एक अमीर को उसके अपराध पर दण्ड दिया जाता था, तो उसके अन्य सम्बन्धी अथवा मित्र वगैरह भी विद्रोही हो जाते थे। इसी भय से अलाउद्दीन ने अमीरों के इस संगठन को तोड़ने के लिये उक्त अमोघ अस्त्र काम में लिया था। और इन सब बातों की जानकारी के लिये उसने एक जासूस-विभाग भी नियुक्त किया था।

अलाउद्दीन के उपर्युक्त नियम अत्यन्त कठोर थे, इससे मनुष्यों का सामाजिक और आर्थिक जीवन बिलकुल नष्ट हो गया था। उसने अपनी सेना के ३० हज़ार नवमुस्लिम मुग़ल सैनिकों को विद्रोही होने के संदेह में मरवा डाला। उसने यह विचार नहीं किया कि कुरआन में मुसलमानों को मृत्यु-दण्ड देने का निषेध है।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने मुस्लिम-साम्राज्य का दृढ़ संगठन करके उसने उसके विस्तार के लिये भी प्रयत्न करने प्रारम्भ किये। अपने भाई अलफ़खाँ को गुजरात पर आक्रमण करने के लिये भेजा। और वह गुजरात विजय करके वहाँ की रानी कमलादेवी को भी ले आया, जिसने अलाउद्दीन से सहर्ष पुनर्विवाह कर लिया। इसी रानी ने अपनी पुत्री को भी उड़वा मंगाया और वह अलाउद्दीन के पुत्र के साथ व्याह दी। राजपूत जाति में यही एक ऐसा दृष्टांत मिलता है, अन्यथा वीर राजपूतानियाँ जीते जी आग में कूद कर लाखों और करोड़ों की संख्या में नष्ट हो गईं किन्तु विजेताओं को अपने शरीर का स्पर्श तक न करने दिया।

गुजरात के बाद अलाउद्दीन मेवाड़-रत्न पद्मिनी की सुंदरता की प्रशंसा सुनकर उसे अपहरण करने के लिये चित्तौड़ पर आक्रमण करने स्वयं गया। यह लड़ाई बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर अङ्कित है, अतः यहाँ उसके देने की आवश्यकता नहीं। चित्तौड़-निवासी कट-कट कर मर गये और पद्मिनी १३ हज़ार स्त्रियों को लेकर सती † हो गयी। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ में गया तो वहाँ देखने तक को एक भी मनुष्य न मिला, अतः हताश होकर लौट आया।

अलाउद्दीन का सब से बड़ा सरदार मलिक काफ़ूर था, यह पहिले हिन्दू था, पर पीछे

†—शील-रक्षा के निमित्त यहाँ की स्त्रियों का यह आचरण देख फ़ारसी के महाकवि शेख़सादी ने प्रभावित होकर निम्न शेर कहा था :—

चूं ज़ने हिन्दी कसे दरआशक़ी मर्दाना नेस्त।
सोख्त बबर शमामुर्दन कारे हर परवाना नेस्त॥

अर्थात्—प्रेम-पातिव्रत में हिन्दोस्तान की स्त्रियों से बढ़ कर कोई बहादुर नहीं। बुझी हुई शमा पर—मरे हुए पति की लाश पर—जल मरना हरएक परवाने पतंगे का काम नहीं।

मुसलमान हो गया था। सिंहासन पर कोई दूसरा अधिकार न कर ले, इसलिये लड़ाइयों में बादशाह स्वयं न जाकर इसी को भेजता था। अतः मलिक काफूर उत्तरोत्तर विजय प्राप्त करता हुआ अत्यन्त शक्तिशाली हो गया और अलाउद्दीन की तो नाक का बाल ही समझा जाने लगा। शक्तिसम्पन्न होते ही इसे स्वयं बादशाह बनने की सनक सवार हुई। अतः इसने षड्यन्त्र रचकर अलाउद्दीन और उसके बेटों में नाचाकी पैदा करा दी और बाप से ही बेटों को बन्दी करा दिया। अन्त में अलाउद्दीन को भी दवा के बहाने एक हलका सा विष दे दिया, जो शनैः शनैः अपना काम करके—बादशाह के प्राण लेकर—ही टला। अलाउद्दीन के राज्यकाल में छोटी बड़ी ८६ लड़ाइयाँ हुईं। इसने कई इमारतें बनवानी प्रारम्भ की थीं; वे निर्विघ्न निर्माण हों, इसलिये उसने उस समय के जाहिलाना रिवाज के मुताबिक़ हज़ारों ही मुग़ल जाति के मनुष्यों का बध करके उनका रक्त उन स्थानों पर छिड़कवाया था। यह निरक्षर होते हुए भी अत्यन्त चतुर, राजनीतिज्ञ, शक्तिशाली बादशाह था किन्तु इसका शासनकाल आदि से अन्त तक रक्त-रंजित ही रहा।

अलाउद्दीन की मृत्यु होते ही मलिक काफूर ने उसके दोनों बड़े बेटों की आँख निकलवा कर ग्वालियर में क़ैद कर दिया और उसकी बेगम से जबरन निक़ाह करके, स्वयं बादशाह बनना चाहा, किन्तु बादशाह के शुभचिन्तक सिपाहियों ने मलिक काफूर को भी अलाउद्दीन की मृत्यु के ठीक पच्चीसवें रोज़ जहन्नुम रसीद कर दिया।

कुतुबुद्दीन मुबारिक शाह (१३१६–२०)

मलिक काफूर की मृत्यु होते ही अलाउद्दीन का एक पुत्र मुबारिक शाह क़ैद से निकल कर और अपने एक छोटे भाई की आँखें निकाल कर राज्यासीन हुआ। नाम बड़े और दर्शन थोड़े—यह कहावत ठीक इस पर चरितार्थ होती है। ऐय्याशी, नाचो-रंग, बनाव-शृङ्गार और षड्यन्त्रों के दौरदौरों के सिवाय काम की बात एक भी नहीं थी। शुरू-शुरू में तो ज़ोर-शोर रहा, दक्षिण में हरपाल देवगिर के राजा की खाल खिचवाई, परन्तु वहाँ से वापिस आकर बिलकुल अकर्मण्य हो गया। अब आरामतलबी ऐशोपसन्दी का यह आलम था कि सिर्फ नाम का बादशाह मुबारिक शाह था और काम का बादशाह खुसरो था—जो एक नीच क़ौम का हिन्दू गुलाम मगर बड़ा खूबसूरत और बहादुर था। इसे मलिक खुसरो का ख़िताब देकर मुबारिक ने अपना वज़ीर बनाया। एक प्रकार से बादशाह की नकेल इसी के हाथ में थी। कुछ सरदारों ने षड्यन्त्र करके मुबारिक के भतीजे खिजर खाँ के पुत्र को सिंहासन पर बिठाकर विद्रोह करना चाहा, किन्तु मालूम होते ही मुबारिक ने अपने इस भतीजे को—जो केवल १० वर्ष का था, पाँव पकड़ कर दे मारा और उसका सर पत्थरों से टकरा कर मार डाला। साथ ही ग्वालियर क़िले में क़ैद किये हुए अलाउद्दीन के अन्य पुत्रों शहाबुद्दीन, शादी खाँ, अबूबकर खाँ, खिजर खाँ को

भी मरवा कर एक गड्ढे में फिकवा दिया और ख़िजर खां की चहेती स्त्री देवलरानी को जबरन अपने महलों में डाल लिया।

मुबारिक शाह मलिक ख़ुसरो का आवश्यकता से अधिक विश्वास करता था। एक रोज़ यह अपने साथियों को लेकर बादशाह के एकांतवास में पहुंच गया और उसका बध करके क़िले के नीचे फेंक दिया। बादशाह को बध करने के पश्चात् मलिक ख़ुसरो ख़िलजी वंश के बचे हुए मनुष्यों, स्त्रियों और बालबच्चों को समाप्त करके स्वयं बादशाह बन बैठा। अलाउद्दीन के वंश का इस प्रकार निर्दयतापूर्वक अन्त होते हुए देख, उस समय एक मुसलमान विद्वान् ने कहा था—अलाउद्दीन ने जो व्यवहार अपने चचा और उसके बीवी-बच्चों के साथ किया, वही व्यवहार अलाउद्दीन और उसके कुटुम्ब के साथ हुआ! ख़िलजी वंश का आदि और अन्त दोनों अत्याचार पर ही अवलम्बित हैं। किसी पीड़ित हृदय ने क्या ख़ूब कहा है:—

यह हमने माना कि ज़ेरे ख़ंजर, गला हमारा नहीं रहेगा।
कमर में क़ातिल के ओ सितमगर! हमेशा तू भी नहीं रहेगा॥

नासिरुद्दीन मलिक ख़ुसरो (१३–२०)

मलिक ख़ुसरो नासिरुद्दीन नाम से राज्यासीन हुआ, यह पूर्व में हिन्दू था, अतः पूर्व संस्कार के कारण यह हिन्दुओं के साथ रियायत करने लगा, उन्हें प्रतिष्ठित पद देने लगा, गो-बध-निषेध कर दिया, अतः मुसलमान विद्रोही हो गये। और वे सब पंजाब के सूबेदार गयासुद्दीन तुग़लक को भड़का कर दिल्ली पर चढ़ा लाये। अन्त में मलिक ख़ुसरो बन्दी हुआ और जो व्यवहार उसने शाही ख़ान्दान के साथ किया था, वही व्यवहार उसके साथ करके "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" वाली उक्ति चरितार्थ की गई। इस प्रकार ख़िलजी वंश का अन्त हुआ।

षट्खंडागम और भ्रम-निवारण

(लेखक—श्रीयुत पं० पन्नालाल सोनी)

जैनसिद्धान्त-भास्कर भाग ५, किरण २ के प्रारम्भ में 'भ्रामक सूचनाएं' इस नाम का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसके लेखक हैं वयोवृद्ध बाबू जुगल किशोर जी मुख्तार। आपके लेख से पहले भाग ४ किरण ४, में पं० हीरालाल जी न्यायतीर्थ का एक लेख प्रकाशित हो चुका है। पं० हीरालाल जी अपने लेख में कई भ्रम फैलाने वाली बातें लिख गये हैं उन्हीं की सूचनाएं उक्त बाबू जी ने अपने उस लेख में दी हैं। मेरे इस लेख का उद्देश किसी एक को भला-बुरा कहने का नहीं है; परन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि इन भ्रामक सूचनाओं से बाबू जी भी अछूते नहीं रह सके हैं।

आपकी भ्रामक सूचनाओं का उल्लेख मैं यथास्थान आगे करूंगा। उससे पहले 'षट्-खंडागम' पर प्रकाश डाला जाता है। इसके बिना बाबू जी की सूचनाएं भ्रामक हैं—यह समझ में नहीं आ सकेगा।

आचार्य भूतबलि पहले कृति-अनुयोग के प्रारम्भ में लिखते हैं—

"अग्गेयणीयस्स पुव्वस्स पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम"

अर्थात् अग्रायणीय पूर्व की पांचवीं वस्तु का चौथा प्राभृत 'कर्म-प्रकृति' है।

अग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तुएं हैं उनके नाम श्रुतभक्ति में पूज्यपाद-स्वामी ने इस प्रकार दिये हैं—

पूर्वान्तं ह्यपरान्तं ध्रुवमध्रुवच्यवनलब्धिनामानि।
अध्रुवसंप्रणिधिं चाप्यर्थं भौमावयाद्यं च ॥
सर्वार्थकल्पनीयं ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालं।
सिद्धिमुपाध्यं च तथा चतुर्दशवस्तूनि द्वितीयस्य ॥

एक-एक वस्तु में बीस-बीस प्राभृत होते हैं और एक-एक प्राभृत में चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार होते हैं। इस हिसाब से पांचवीं वस्तु के चौथे प्राभृत में भी चौबीस अनुयोगद्वार हैं; उनके नाम ये हैं—

पंचमवस्तुचतुर्थप्राभृतकस्यानुयोगनामानि।
कृति-वेदने तथैव स्पर्शनकर्म प्रकृतिमेव ॥
बन्धन-निबन्धन-प्रक्रमानुपक्रममथाभ्युदयमोक्षौ।
संक्रम-लेश्ये च तथा लेश्यायाः कर्मपरिणामौ ॥
सातमसातं दीर्घह्रस्वं भवधारणीयसंज्ञं च।
पुरुपुद्गलात्मनाम च निधत्तमनिधत्तमभिनौमि ॥

सनिकाचितमनिकाचितमथ कर्मस्थितिक-पश्चिमस्कन्धौ ।
अल्पबहुत्वं च यजे तद्द्वाराणां चतुर्विंशम् ॥
—श्रुतभक्तिः ।

उक्त नामों का प्रतिपादक मूल सूत्र भी है। यथा—

कदि, वेदणाए, पस्से, कम्मे, पयडीसु, बंधणे, णिबंधणे, पक्कमे, उवक्कमे, उदए, मोक्खे, पुण संकमे, लेस्सा, लेस्साकम्मे, लेस्सापरिणामे, तत्थे सादमसादे, दीहेरहस्से, भवधारणीए, तत्थ पोग्गलअत्ता, णिधत्तमणिधत्तं, णिकाचिदमणिकाचिदं, कम्मट्ठिदी, पच्छिम-क्खंधे, अप्पाबहुगं च सव्वत्थ ।

चौथा कर्मप्रकृति प्राभृत है, उसमें उक्त चौबीस अनुयोगद्वार हैं। इस 'कम्मपयडिपाहुड' का दूसरा नाम 'वेयणकसीणपाहुड' भी है। यथा—

णामं-कम्माणं पयडिसरूवं वण्णेदि तेण कम्मपयडिपाहुडेत्ति गुणणामं, वेयणकसीण-पाहुडेत्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि, वेयणा कम्माणमुदयो तं कसीणं णिरवसेमं वण्णेदि अदो वेयणकसीणपाहुडमिदि, एदमवि गुणणाममेव ।

'षट्खंडागम' इसी कम्मपयडि पाहुड के उक्त अनुयोगद्वारों में से निकला है। सभी अनुयोगद्वारों में से नहीं किन्तु खास करके 'वेयणा' नाम के दूसरे अनुयोगद्वार में से और 'बन्धन' नाम के छट्ठे अनुयोगद्वार में से अथवा प्रारंभ के छह अनुयोगद्वारों में से निकला है।

जीवट्ठाण (१) खुद्दाबन्ध (२) बन्धस्वामित्वविचय (३) वेयणा (४) वग्गणा (५) और महाबन्ध (६) इन छह खंडों की 'षट्खंडागम' संज्ञा है। इनमें से वेयणा नाम का चौथा खंड तो वेयणा-अनुयोगद्वार में से निकला है और शेष पांच खंड छट्ठे बन्धन-अनुयोगद्वार में से निकले हैं। इसी का स्पष्टीकरण क्रमशः यहां किया जाता है।

(१) जीवट्ठाण—

इसमें आठ अनुयोग और नव चूलिकाओं का कथन है। उनका निर्गमक्रम इस प्रकार है—

चौबीस अनुयोगद्वारों में जो छट्ठा 'बन्धन' अनुयोगद्वार है उसके चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। उनमें से दूसरे 'बन्धक' के ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। उनमें के पांचवें द्रव्यप्रमाण में से 'द्रव्यप्रमाणानुगम' निकला है। यथा—

एत्थ बंधगेत्ति अणियोगद्दारस्स एक्कारसअणियोगद्दाराणि, तं जहा-एकजीवेण सामित्तं, एकजीवेणकालो, एगजीवेण अंतरं, णाणाजीवेहिं भंगविचओ, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो, पोसणाणुगमो, णाणाजीवेहिं कालाणुगमो, णाणाजीवेहिं अंतराणुगमो, भागाभागाणुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ।........तत्थ पंचमादो दव्वपमाणादो दव्वप-माणाणुगमो णिग्गदो ।

बन्धविधान के प्रकृतिबन्ध आदि चार भेद हैं। उनमें प्रकृतिबन्ध के दो भेद-मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। उत्तरप्रकृतिबन्ध के दो भेद एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबन्ध। उनमें एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्तना आदि को लेकर चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उनमें के पहले समुत्कीर्तना नाम के अनुयोगद्वार में से प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना, तीन महादंडक निकले हैं, जो नव चूलिकाओं में की पांच चूलिकाएं हैं तथा तेईसवें भाव में से भावानुगम नाम का (सातवां) अनुयोगद्वार निकला है। यथा—

बन्धविहाणं चउव्विहं, तंजहा—पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो, अनुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। तत्थ जो सो पयडिबंधो सो दुविहो मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि। तत्थ जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्पो। जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो एगेगुत्तरपयडिबंधो अव्वोगाढउत्तरपयडिबंधो चेदि। जो सो एगेगुत्तरपयडिबंधो तस्स चउव्वीस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि हवंति, तं जहा—समुक्कित्तणा, सव्वबंधो, णोसव्वबंधो, उक्कस्सबंधो, अणुक्कस्सबंधो, जहण्णबंधो, अजहण्णबंधो, सादियबंधो, अणादियबंधो, धुवबन्धो, अद्धुव बंधो, बंधसामित्तविचओ, बंधकालो, बंधंतरं, बंधसण्णियासो, णाणाजीवेहिं भंगविचओ, भागाभागाणुगमो, परिमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो, पोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अंतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। एदेसु समुक्कित्तणादो पयडिसमुक्कित्तणा ठाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया णिग्गया तेवीसमादो भावादो भावो णिग्गदो।

उपर्युक्त अव्वोगाढ-उत्तरप्रकृति बन्ध के दो भेद हैं भुजाकार-बन्ध और प्रकृतिस्थान-बन्ध। प्रकृतिस्थान-बन्ध में सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वार हैं, उन आठों में से छह अनुयोगद्वार निकले हैं—सत्प्ररूपणा, क्षेत्रप्ररूपणा स्पर्शप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, और अल्पबहुत्वप्ररूपणा। छह तो ये और उपर्युक्त द्रव्यप्रमाणानुगम और भावानुगम दो ये मिलकर आठ हुए सो ये आठ जीवट्ठाण के आठ अनुयोगद्वार हैं। यथा—

जो सो अव्वोगाढ उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो भुजगारबंधो पयडिट्ठाणबंधो चेदि। जो सो भुजगारबंधो तस्स अट्ठअणियोगद्दाराणि सो थप्पो, जो सो पयडिट्ठाणबंधो तत्थ इमाणि अट्ठअणियोगद्दाराणि, जहा संतं—तपरूवणा, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो, पोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अन्तराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। एदेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु छअणियोगद्दाराणि णिग्गयाणि, तं जहा—संतपरूवणा खेत्तपरूवणा, पोसणपरूवणा, कालपरूवणा, अंतरपरूवणा, अप्पाबहुगपरूवणा चेदि। एदाणि छ—पुव्विल्लाणि दोण्णि एक्काणि एक्कदो मेलिदे 'जीवट्ठाणस्स' अट्ठ अणियोगद्दाराणि हवंति।

नव चूलिकाओं की उत्पत्ति भी इस प्रकार है—स्थितिबन्ध के दो भेद हैं—मूलप्रकृतिस्थिति-

बन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। उत्तर प्रकृतिस्थितिबन्ध के अद्धाच्छेद आदि चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उनमें अद्धाच्छेद दो प्रकार का है। जघन्यस्थिति अद्धाच्छेद और उत्कृष्ट-स्थिति अद्धाच्छेद। दोनों में से क्रम से जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति निकली है। सूत्र से, जो दृष्टिवाद का एक भेद है—सम्यक्त्वोत्पत्ति निकली है, व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम के पांचवें अंग में से गत्यागति निकली है। पूर्वोक्त प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना तीन महादंड इन पांचों में जघन्यस्थिति अद्धाच्छेद, उत्कृष्टस्थिति अद्धाच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति, गत्यागति इन चारों को मिला देने पर चूलिका के नव अधिकार होते हैं। यथा—

तदो ट्ठिदिबंधो दुविहो मूलपयडिट्ठिदिबंधो उत्तरपयडिट्ठिदिबंधो चेदि। तत्थ जो सो मूलपयडिट्ठिदिबंधो सो थप्पो। जो सो उत्तरट्ठिदिबंधो तस्स चउव्वीस अणियोगद्दाराणि, तं जहा—अद्धाच्छेदो सव्वबंधो..............अप्पाबहुगाणुगमो चेदि। तत्थ अद्धाच्छेदो दुविहो जहण्णट्ठिदिअद्धाच्छेदो उक्कस्सट्ठिदिअद्धाच्छेदो चेदि। जहण्णट्ठिदिअद्धाच्छेदादो जहण्णट्ठिदी णिग्गदा, उक्कस्सट्ठिदि अद्धाच्छेदादोउक्कस्सट्ठिदी णिग्गदा। पुणो सुत्तादो सम्मत्तुप्पत्ती णिग्गया, वियाहपण्णत्तीदो गदिरागदी णिग्गदा। संपडि पुव्वं उत्तपयडि-समुक्कित्तणा ठाणसमुक्कित्तणा तिण्णि महादंडया पदाणं पंचण्हमुवरि संपहिवुत्त जहण्ण-ट्ठिदिअद्धाच्छेदं उक्कस्सट्ठिदिअद्धाच्छेदं सम्मत्तुप्पत्तिगदिरागादिं च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति।

(२) खुद्दाबंध—

यह खंड छट्ठे 'बन्धननामक अनुयोगद्वार का 'बंधगा' नाम का दूसरा अधिकार है। यथा—

जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसा,—सूत्र।

जे ते बंधगा णाम इदि वयणं बंधगाणं पुव्वसिद्धत्तं सूचेदि। पुव्वं कम्हि पसिद्धे बंधगे सूचेदि? महाकम्मपयडिपाहुडम्मि, तं जहा—महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणादिसु चउवीसअणियोगद्दारेसु छट्ठस्स बन्धणेत्ति अणियोगद्दारस्स बंधो बंधगा बंधणिज्जं बंधविहाणमिदि चत्तारि अधियारा, तेसु बन्धगेत्ति विदियो अधियारो सो पदेण वयणेण सूचिदो जे ते महाकम्मपयडिपाहुडम्मि बंधगा णिद्दिट्ठा तेसिमिमो णिद्देसोत्ति वुत्तं होदि।

बंधन-अनुयोग द्वार में जहां बंधकों का अधिकार आया है वहां लिखा है कि बंधक अधि-कार आठ प्रकार के कर्मों के बंधकों को सूचित करता है सो 'खुद्दाबंध' में प्ररूपण किया गया है। यथा—

बंधगाहियारो अट्ठविहकम्मबंधगे परूवेदि सो च खुद्दाबंधे परूविदो।

बंधक अधिकार का नाम ही खुद्दाबंध है, यह इस से स्पष्ट हो जाता है।

(३) बन्धस्वामित्वविचय—

इस नाम का यह तीसरा खंड है, इसका निर्गम-स्थान भी छट्ठा बंधन अनुयोगद्वार है। बंधन अनुयोग द्वार का चौथा अधिकार बंधविधान है, उसके चार भेद हैं, प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबंध। उनमें प्रकृतिबंध दो प्रकार का है, मूलप्रकृतिबंध और उत्तरप्रकृतिबंध। मूलप्रकृतिबंध दो प्रकार का है एकैकमूलप्रकृति और अव्वोगाढमूलप्रकृतिबंध। ......उत्तर प्रकृतिबंधके समुत्कीतनादि चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उनमें बंधस्वामित्व नाम का जो अनुयोगद्वार है उसी की बंधस्वामित्वविचय-यह संज्ञा है। यथा—

जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसबंधो चेदि। तत्थ पयडिबंधो दुविहो मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि. जो सो मूलपयडिबंधो सो दुविहो एगेगमूल-पयडिबंधो अव्वोगाढमूलपयडिबंधो चेदि, जो सो अव्वोगाढमूलपयडिबंधो सो दुविहो भुजागारबंधो पयडिट्ठाणबंधो चेदि। तत्थ उत्तरपयडिबंधस्स समुक्कित्तणादि चउवीस-अणियोगद्दाराणि भवंति तेसु चउव्वीसअणियोगद्दारेसु बंधसामित्तं णाम अणियोगद्दारं तस्सेव 'बंधसामित्तविचओ' त्ति सण्णा।

(४) वेदनाखंड—

महाकर्मप्रकृति प्राभृत के कृतिवेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में दूसरा 'वेयणा' नामक अनुयोगद्वार है, उसी की 'वेदनाखंड' संज्ञा है। इस खंड के प्रारम्भ में ४४ मंगलसूत्र हैं। अन्तिमसूत्र की व्याख्या में भगवद्वीरसेन लिखते हैं:—

णिवद्धअणिवद्धभेएण दुविहं मंगलं तत्थेदं किं णिवद्धमाहो अणिबद्धमिदि? ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादिचउवीसअणियोगावयस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदवलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदिए मंगलट्ठं तत्तो आणे-दूण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो।

इस से स्पष्ट है कि यह वेदनाखंड है। पर है वेदना अनुयोगद्वार का उपसंहार। यह इस शंका-समाधान से सुनिश्चित है:—

कधं वेयणाए महापरिमाणाए उवसंहारस्स इमस्स वेयणाखडस्स वेयणाभावो? ण, अवयवेहिंतो पयंतेण पुधभूदअवयविस्स अणुवलंभादो।

(५) वर्गणाखंड—

यह पाँचवां खंड है। ग्रंथ के पर्यालोडन से मालूम होता है कि तीसरा 'फास' अनुयोग-द्वार, चौथा 'कम्म' अनुयोगद्वार, पांचवां 'पयडि' अनुयोगद्वार और छट्ठे 'बन्धन' अनुयोगद्वार के बन्ध और बन्धनीय ये दो अधिकार वर्गणाखंड के नाम से प्रसिद्ध हैं।

एक तो ये सब अनुयोगद्वार 'वेदना' खंड के आगे के हैं, दूसरे इन अनुयोगद्वारों के जो सूत्र टीकाकार ने जहाँ कहीं उद्धरण रूप में दिये हैं उनका वर्गणासूत्र के नाम से भी उल्लेख किया है। इससे हम जानते हैं कि यह वर्गणाखंड हैं। इन अनुयोगद्वारों में ऐसी भी सूचना मिलती है कि इनका अन्तर्भाव वेदनाखंड में नहीं है।

देखिये:—

वेदनाखंड के अन्त में लिखा है 'एवं वेयण अप्पाबहुगा णियोगद्दारे सम्मत्ते वेयणा खंड (डं) सम्मत्ता (त्त)।' इसी के आगे 'णमो णाणाराहणाए' इत्यादि लिखते हुए 'वेदनाखंड समाप्त' ऐसा लिख कर खंड समाप्त किया गया है। इसके बाद 'फासाणियोगद्दार, प्रारंभ होता है। इससे मालूम पड़ता है कि फासाणियोगद्दार से पहले तक ही वेदना खंड है। फासाणियोगद्दार के अंत में भगवद्वीरसेन स्वामी लिखते हैं —

जदि कम्मफासे पयदं तो कम्मफासो सेसपण्णारसअणियोगद्दारेहिं भूदबलिभयवदा सो एत्थ किराण परूविदो ? ण एस दोसो, कम्मक्खंधस्स फाससण्णिदस्स सेसाणियोगद्दारेहिं परूवणाए कीरमाणाए 'वेयणाए' परूविदत्थादो विसेसो णत्थित्ति।

तथा प्रकृतिअनुयोगद्वार के अन्त में भगवद्भूतबलि स्वयं भी लिखते हैं—"सेसं वेयणाए भंगो"

इन दो उद्धरणों से भी स्पष्ट होता है कि 'फासाणियोगद्दार' के पहले तक ही 'वेदनाखंड' है।

जयधवल में लिखा है—

सिप्पोग्गहादीणं अत्थो जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ परूवेदव्वो।

जयधवल में न तो अवग्रह आदि का अर्थ लिखा है और न मतिज्ञान के ३३६ भेद ही स्पष्ट गिनाये हैं। प्रकृतिअनुयोगद्वार में इन सब का स्पष्ट और सविस्तर वर्णन टीका ही में नहीं बल्कि मूल में है। इससे मालूम पड़ता है कि वेदनाखंड के आगे के उक्त अनुयोगद्वार वर्गणाखंड के अन्तर्गत हैं या उनका सामान्य नाम वर्गणाखंड है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य प्रकृतिअनुयोगद्वार को वर्गणाखंड के नाम से न लिखते। और भी देखिये—

धवल सिद्धान्त पत्र ८३८ में वेयणाखंड के प्रारंभ के उक्त मंगलसूत्रों की व्याख्या में लिखा है—

कथमेदं णव्वदे ? "ओहिणाणावरणस्स असंखेज्जमेत्तीओ चेव पयडीओत्तिवग्गणसुत्तादो।"

यह सूत्र उसी प्रकृति अनुयोगद्वार मे इसरूप में लिखा है—

ओहिणाणावरणीयस्स कम्मस्स असंखेज्जाओ पयडीओ ॥४७॥

आचार्य वीरसेन की यह शैली है कि वे कहीं-कहीं उद्धरणों में स्पष्टार्थ कुछ सन्निवेश कर देते हैं और कहीं-कहीं पाठ भेद भी कर देते हैं—जैसे "प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः" इत्यादि।

उद्धरणगत सूत्र में पाठ-भेद कर दिया है। बाकी है सूचना उसीकी। उक्त पत्र में ही उसी के आगे लिखा है—

कालो चउण्णउड्डी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्डीए।
वुड्डीए दव्वपज्जय भजिदव्वा खेत्तकाला दु॥
एदम्हादो वग्गणसुत्तादो णव्वदे।

यह सूत्र भी प्रकृतिअनुयोगद्वार में पत्र १५२५ में मौजूद है। तथा पत्र ८३८ में लिखा है—

आहारवग्गणाए दव्वा थोवा, तेयावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, भासावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, मणा० दव्वा अणंतगुणा, कम्मइय अणंतगुणात्ति वग्गणसुत्तादो णव्वदे।

यह कथन भी बन्धनीय अधिकार में है। और भी इस तरह के कई उद्धरण हैं जो इन उक्त अनुयोगद्वारों में पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यही वर्गणाखण्ड है।—इससे जुदा और कोई वर्गणाखंड नहीं है।

(६) महाबन्ध—

यह छट्ठा खण्ड है। यह भी छट्ठे बन्धनअनियोगद्वार के चौथे बन्ध-विधान नाम के अधिकार में से निकला है। इस पर भगवद्वीरसेन-प्रणीत धवला टीका नहीं है। यथा—

(सूत्र) जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं—पयडिबंधो, ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि।

(व्याख्या एदेसिं चदुण्णं बंधाणं विहाणं भूदबलिभडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहदंनि अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि। एवं बंधणअणियोगद्दारं सम्मत्तं।

यह हुई भूतबलिकृत 'पट्खण्डागम' की उत्पत्ति। खण्डों के हिसाब से उक्त छह खंड और अनुयोगद्वार के हिसाब से कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधन ये छह अनुयोगद्वार ही आचार्य भूतबलि रचित हैं।

षट्खंडागम धवल—

धवल सिद्धान्त षट्खंडागम के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी यह प्रसिद्धि अलीक नहीं है। धवल के पांच खंड तो जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्ध-स्वामित्वविचय, वेदना और वर्गणा इन पांच खंडों की टीका है। छट्ठा खंड चौबीस अनुयोगद्वारों में से भूतबलिकृत आदि के छह अनुयोगद्वारों को छोड़ कर शेष १८ अनुयोगद्वार हैं। इस खंड का नाम श्रुतावतार के अनुसार सत्कर्म है।

भगवद्वीरसेन ने चित्रकूटपुर-वासी एलाचार्य के समीप सब सिद्धान्त का अध्ययन किया और बन्धन अनुयोग के ऊपर के निबन्धनादि १८ अधिकार लिखे। यथा—

काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितननिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च ? लिलेख ॥

ये अधिकार उनने चित्रकूट से आकर लिखे। किस ग्राम में लिखे, वहां कहां ठहर कर लिखे, किन ग्रन्थों को प्राप्त कर लिखे, उन अधिकारों की संख्या कितनी है, उनका कौनसा खंड और उसका कौनसा नाम रक्खा, कुल कितने खंड हैं, सारी टीका का प्रमाण कितना हुआ, किस भाषा में टीका लिखी और उस का नाम क्या रक्खा, इन सब प्रश्नों का उत्तर श्रुतावतार से इस प्रकार मिलता है। यथा—

आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खंडतस्ततस्तस्मिन् ।
उपरितननिबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य ।
इति षण्णां खंडानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥
प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम् ।

विबुद्ध श्रीधर भी पंचाधिकार नाम के शास्त्र के श्रुतावतारप्र-रूपणा नामक चौथे परिच्छेद में लिखते हैं।

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपार्श्वे सिद्धान्तद्वयं वीरसेननामा मुनिः पठित्वा अपराण्यपि अष्टादशाधिकाराणि प्राप्य पंचखंडे षट्खंडं संकल्प्य संस्कृतप्राकृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वासप्ततिसहस्रप्रमितां धवलनामांकितां लिखाप्य विंशतिसहस्रकर्मप्राभृतं विचार्य वीरसेनो मुनिः स्वर्गं यास्यति ।

अन्य अठारह अधिकारों को वोरसेन ने प्राप्त किये और पांच खंडों पर छह खंड संकलित किये; इससे भी धवल षट्खंड सिद्ध होता है। आचार्य इन्द्रनन्दी छट्ठे खंड का नाम सत्कर्म है—ऐसा उल्लेख करते हैं और विबुध श्रीधर संपूर्ण टीका का नाम 'सत्कर्म' बताते हैं, यह भेद अवश्य है, परन्तु १८ अनुयोगद्वारों को वीरसेन स्वामी ने लिखा और वह धवल का छट्ठा खंड है इस विषय में दोनों एक मत हैं। सूक्ष्मतम गवेषणा से यह भी पता चल सकेगा कि संभवतः सारी धवला टीका का नाम "संतकम्मपयडिपाहुड" हो।

अब स्वयं वीरसेन स्वामी इस संबंध में क्या लिखते हैं—इस पर भी दृष्टि डालिये। वे अठारह अनुयोगद्वारों का प्रारंभ करने के पहले सातवें निबन्धननाम के अनुयोगद्वार के शुरू

ही में लिखते हैं कि भूतबलि भट्टारक ने यह सूत्र 'देशामर्शकभाव' से लिखा है, इस लिए इस सूत्र-द्वारा सूचित किये गये अठारह अनुयोगद्वारों का थोड़ा संक्षेप से प्ररूपण करते हैं। यथा—

भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेस-अट्ठारसअणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।

अतः स्पष्ट है कि शेष १८ अनुयोगद्वारों का निरूपण वीरसेनकृत है। यदि भगवद्भूतबलि ने निबंधनादि १८ अनुयोगद्वारों पर कुछ लिखा होता तो यह देशामर्शक सूत्र भूतबलि-भट्टारक ने लिखा है, उससे सूचित शेष १८ अनुयोगों का प्ररूपण हम करते हैं—ऐसा लिखने की आवश्यकता वीरसेन स्वामी को न होती। यह आवश्यकता तभी हुई है जब कि भूतबलि ने उन पर कुछ नहीं लिखा है। यदि लिखा होता तो सूत्र देशामर्शक नहीं हो सकता था। देशामर्शक सूत्र वह होता है जिसमें किसी विषय का एक देश कहा जाता है। और उसी के बल पर शेष देशों का कथन किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि शेष १८ अनुयोगद्वार आचार्य भूतबलि-रचित नहीं हैं, उनकी रचना आचार्य वीरसेन ने की है; जो इन्द्रनन्दी और विबुध श्रीधर के कथनानुसार धवल सिद्धान्त का छट्ठा खण्ड है। तात्पर्य—धवल भी 'षट्खण्डागम' है।

भ्रमनिवारण—

अब पाठकों का ध्यान बाबू जुगलकिशोर जी की उन भ्रामक सूचनाओं की ओर आकर्षित करते हैं। आप लिखते हैं—

(१) इसके सिवाय भूतबलि-पुष्पदंत से पहले श्रीगुणधराचार्य के 'कसायपाहुड' की रचना हो चुकी थी।

(२) भूतबलि ने अपने वेदनाखण्ड में 'कसायपाहुड' का उल्लेख किया है।

(३) इतना ही नहीं बल्कि कसायपाहुड की गाथाओं के सर्वार्थ को अवधारण करने वाले 'आर्यमंक्षु' 'नागहस्ति' नाम के उत्तरवर्ती आचार्यों तक का उल्लेख किया है; जैसा कि वेदना-खण्ड के क्रमशः २२ वें और २४ वें अनुयोगद्वारों के निम्न सूत्र-वाक्यों से प्रकट है:—

"कम्मट्ठिदि अणियोगद्दारेहि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणेत्ति णागहत्थिखमासमणा भणंति; अज्जमंखुखमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिद-संतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणेत्ति भणन्ति।"

"अप्पाबहुगअणियोगद्दारे णागहत्थिभडारओ संतकम्ममग्गणं करेदि एसो च उवदेसो पवा-इज्जदि।"

ये तीनों ही अंश भ्रामक हैं। कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा वाली कहावत के अनुसार से बाबू जी ने यह नई ईजाद प्राप्त की है। प्रथम तृतीय अंशको लीजिये—२२ वें और २४ वें

अनुयोगद्वार जिनको बाबू जी वेदनाखण्ड के लिखते हैं—बिल्कुल ग़लत हैं। ये अनुयोगद्वार 'वेदनाखण्ड' के नहीं हैं बल्कि 'कम्मपयडिपाहुड' के हैं। 'कम्मपयडिपाहुड' अग्रायणीय नाम के दूसरे पूर्व की पांचवी च्यवनलब्धि वस्तु का चौथा पाहुड है, जिसके कि कदिवेदणा आदि २४ अनुयोगद्वार हैं और 'वेदनाखण्ड' 'कम्मपयडिपाहुड' का दूसरा वेदना नाम का अनुयोगद्वार है। इस वेदनानुयोगद्वार के कहिये या वेदनाखण्ड के कहिये १६ ही अनुयोगद्वार हैं। उनके नाम ये हैं—

"वेदणात्ति तत्थ इमाणि वेयणाए सोलस अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति वेदणणिक्खेवे, वेदणाणयविभासणदाए, वेदणाणामविहाणे, वेदणादव्वविहाणे, वेदणाखेत्तविहाणे, वेदणाकालविहाणे, वेदणाभावविहाणे, वेदणापच्चयविहाणे, वेदणासामित्तविहाणे, वेदणावेदणविहाणे, वेदणागइविहाणे, वेदणाअंतरविहाणे, वेयणासण्णियासविहाणे, वेयणापरिमाणविहाणे, वेयणाभागाभागविहाणे, वेयणाअप्पाबहुगेत्ति।"

कम्मपयडिपाहुड के २४ अनुयोगद्वारों के नाम लेखके प्रारंभ में दिये हैं, उनमें २२ वां अनुयोगद्वार कर्मस्थितिनाम का और २४ वां अनुयोगद्वार अल्पबहुत्व नाम का कम्मपयडियाहुड का है, जिनको बाबूजी वेदनाखंड के लिखते हैं—आश्चर्य की बात है। जहां तक उक्त १६ अनुयोगद्वारों का कथन है वहीं तक वेदनाखंड हो सकता है; आगे के अनुयोगद्वारों को भी वेदनाखंड के नाम से कहना भारी भूल है।

यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि २४ अनुयोगद्वारों में से कदि, वेदना, फास, कम्म, पयडि और बन्धन इन छह अनुयोगद्वारों को ही भूतबलि ने संक्षेप से लिखा है। आगे के निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्मा निधत्तानिधत्त, निकाचितानिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कन्ध और अल्पबहुत्व इन अठारह अनुयोगद्वारों को 'कदि वेदणाए' इत्यादि सूत्र को देशामर्शक कह कर वीरसेन स्वामी ने लिखा है। ऐसी हालत में २२ वें कर्मस्थिति और २४ वें अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार के उद्धरण भूतबलिकृत सूत्रवाक्य के नाम से जो बाबू जी ने दिये हैं कहां तक सुसंगत हैं, मैं नहीं समझता। इसी लिए कहना पड़ा कि कहीं की ईंट और कहीं के रोड़े वाली कहावत के अनुसार बाबूजी ने यह नई ईजाद प्राप्त की है।

जब वे सूत्रवाक्य भूतबलि-कृत ही नहीं हैं और न शेष १८ अनुयोगद्वार ही भूतबलिकृत हैं तब 'भूतबलि ने आर्यमंक्षु और नागहस्ति का उल्लेख किया है; वेदनाखण्ड में उनने 'कसायपाहुड का उल्लेख किया है। भूतबलि-पुष्पदन्त से पहले कसायपाहुड की रचना हो चुकी थी' ये सब आकाशकुसुम-सौरभवत् उत्तरोत्तर असंभव हैं। आकाश के कुसुम संभव हों तो उनकी सौरभ भी संभव हो सकती है, जब आकाश के कुसुम ही असंभव हैं तब उनकी सौरभ तो और भी असंभव है। शेष १८ अनुयोगद्वार

भूतबलिकृत सिद्ध होने पर आर्यमंचु और नागहस्ति का उल्लेख भूतबलिकृत सिद्ध हो सकता है। जब ये अनुयोगद्वार भूतबलिकृत ही सिद्ध नहीं है तब उनमें आया हुआ आर्यमंचु और नागहस्ति का उल्लेख भूतबलिकृत है—कैसे सिद्ध हो सकता है ?

अब द्वितीय अंश को लीजिये—वह भी असंभव ही है। शेष १८ अनुयोगद्वारों में आया हुआ 'कसायपाहुड' का उल्लेख भूतबलिकृत नहीं माना जा सकता जब कि उनको भूतबलि ने लिखा ही नहीं है। जितना वेदनाखंड है उतने में ही नहीं बल्कि और खंडों में भी भूतबलि ने कहीं भी 'कसायपाहुड' का उल्लेख नहीं किया है। टीकागत कसायपाहुड का उल्लेख भूतबलिकृत नहीं हो सकता।

"भूतबलि-पुष्पदन्त से पहले श्रीगुणधराचार्य के कसायपाहुड की रचना हो चुकी थी"। इस प्रथमांश में कोई आपत्ति तो नहीं है, कोई भी पहले हो, 'कसायपाहुड' की रचना पहले हुई हो या 'षट्खण्डागम' की परन्तु यदि उन्हीं उद्धरणों पर से कसायपाहुड की रचना भूतबलि-पुष्पदन्त से पहले कही जाती हो तो नियमतः आपत्ति है। और कोई प्रमाण दिया नहीं गया है। इसलिए बाबू जी का यह कहना भी आकाशकुसुम-सौरभवत् ही है।

गोम्मटसार की टीकाओं में भूतबलि को प्रथम सिद्धान्त का कर्त्ता और यतिवृषभ को द्वितीय सिद्धान्त का व्याख्याता अनेक स्थलों में लिखा है। दोनों सिद्धान्तों का जिन-जिन ने अपने-अपने ग्रन्थों में परिचय दिया है। उनने भी प्रथम षट्खंडागम का और पीछे कसाय-पाहुड का परिचय दिया है; जैसे इन्द्रनंदी ने श्रुतावतार में, विबुध श्रीधर ने पंचाधिकारान्तर्गत श्रुतावतार में और ब्रह्म हेमचन्द्र ने श्रुतस्कन्ध में। तथा षट्खंडागम प्रथम सिद्धान्त है और कसायपाहुड द्वितीय, ऐसी प्रसिद्धि भी चली आ रही है। इन पर से तो यही ज्ञात होता है कि षट्खंडागम की रचना पहले हुई है और कसायपाहुड की पीछे। फिर भी हमारा इस विषय में कोई अत्याग्रह नहीं है और न हर्ष-विषाद ही है। परन्तु विषय को विपरीत समझ कर और उसके बल पर परंपरागत के विपरीत प्रतिपादन कर जो भ्रम फैला दिया जाता है—अवश्य विषादोत्पादक है।

जिनको बाबू जुगलकिशोर जी सूत्रवाक्य बताते हैं उनमें कोई सूत्रता भी तो नहीं। २२ वाँ अनुयोगद्वार जितना ऊपर बाबू जी ने लिखा है उतना ही है, सिर्फ उसके प्रारंभ में मंगलात्मक गाथा है और अन्त में "एवं दोहि उवएसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। एवं कम्मट्ठिदीत्ति समत्तमणियोगद्दारं" इतनी सी पंक्ति और है। इस तरह यह अनुयोगद्वार पूर्ण हो जाता है। यदि ऊपर लिखा हुआ पंक्तिवाक्य सूत्रवाक्य है तो उसे कुछ तो वीरसेन स्वामी स्पष्ट करते ? खैर, न किया न सही फिर भी यह पंक्तिवाक्य भूतबलिकृत सूत्रवाक्य नहीं है।

क्योंकि निबन्धादि अठारह अनुयोगद्वार व्याख्याप्रज्ञप्ति गुरूपदेश आदि के आधार पर वीरसेन स्वामी की स्वतंत्र रचना है।

चौबीसवां अनुयोगद्वार कुछ बड़ा है। ऊपर लिखे वाक्य के अलावा और ऐसे कई वाक्य उसमें हैं परन्तु वे सब सूत्र नहीं हैं। यथा—

"महावाचयाणमज्जमंखुसमणाणमुवदेसेण लोगे पुण्णे आउअसमं करेदि। महावाचयाण-मज्जणंदीणं समुवदेसेण अंतोमुहुत्तं ठवेदि।

महावाचयाणं खमासमणाणं उवदेसेण सव्वत्थोवाणि कसायउदयट्ठाणाणि, ट्ठिदिबंध-अज्भवसाण ट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि ....।

अप्पाबहुएत्ति जमणियोगद्दारं एत्थमहावाचयखमासमणा संतकम्मट्ठाणं करेदि उत्तर-पयडि संतकम्मेण दंडओ तं जहा... ... . ।"

जैसे ये वाक्य हैं वैसे ही ऊपर बाबू जी द्वारा उल्लिखित अनुयोगद्वारों के प्रारम्भ के वाक्य हैं। इनमें किसी में भी सूत्रता की कोई सूचना नहीं है। यदि इन सब को सूत्रवाक्य माना जाय तो षट्खंडागम की रचना महावाचक आर्यनन्दी से भी बाद की सिद्ध हो सकती है। ये सूत्र नहीं हैं और बाबू जी द्वारा उल्लिखित पंक्तिवाक्य सूत्रवाक्य हैं, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं दिखता है। हां, भूतबलिकृत सूत्रवाक्य न होकर वीरसेनकृत पंक्तिवाक्य हैं—इस विषय में तो विशेष हेतु फिर भी दृष्टिगोचर होता है। वह है शेष १८ अनुयोगद्वारों की रचना, भूतबलिद्वारा न होना और वीरसेन-द्वारा होना।

आगे आप लिखते हैं—

'हां 'षट्खंडागम' की धवल नाम से प्रसिद्धि ज़रूर है और वह भी ग़लत प्रचार पर अवलंबित है।"

यहां भी बाबू जी भूलते हैं; भूतबलिकृत 'षट्खंडागम' की धवल नाम से प्रसिद्धि नहीं है। किन्तु धवल को षट्खण्डागम के नाम से प्रसिद्धि उसी के षट्खण्डों पर से है जो ग़लत प्रचार पर अवलंबित नहीं है। धवल भी षट्-खंडात्मक है फिर उसकी षट्खण्डागमरूप प्रसिद्धि ग़लत प्रचार पर अवलंबित कैसे हो सकती है। जब 'महाबंध' पर धवला टीका है ही नहीं तब साधारण व्यक्ति भी जान सकता है कि धवल का छट्ठा खण्ड और कोई होगा जिसके बल पर वह भी षट्खण्डागम कह-लाता है। वह है शेष १८ अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा।

आप अपने उक्त कथन पर हेतु देते हैं:—

"क्योंकि धवला टीका वास्तव में समूचे षट्खंडागम की टीका नहीं है बल्कि उसके प्रथम चार खंडों की है।"

इतना ठीक हो सकता है कि धवला टीका भूतबलिकृत छहों खंडों की टीका नहीं है। पर वह प्रथम के चार खंडों की है यह ग़लत है। क्योंकि धवला टीका प्रथम के चार खंडों की न होकर पाँच खंडों की है। जिस का स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है।

और भी देखिये—वेदनाखंड में स्वयं आचार्य वीरसेन लिखते हैं :—

'अवसेसं सुत्तट्ठं वग्गणाए परूवइस्सामो'

अर्थात् सूत्र का अवशिष्ट अर्थ 'वर्गणा' में प्ररूपण करेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'वर्गणा' का प्ररूपण भी वीरसेन स्वामी ने किया है। वर्गणा का वह प्ररूपण धवल से बहिर्भूत नहीं है किन्तु धवल ही के अन्तर्भूत है। आश्चर्य इस बात का है कि बाबू जुगल-किशोर जी 'वेदनाखंड' के आगे के 'कम्मपयडिपाहुड' के सभी अनुयोगद्वारों को 'वेदना-खंड' के समझे हुए हैं। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि वेदनाअनुयोगद्वार का जहां तक वर्णन है वहीं तक वेदनाखंड है। उससे आगे फास, कम्म, पयडि, ये तीन अनुयोगद्वार और बन्धनअनुयोगद्वार के बन्ध और बन्धनीय ये दो अधिकार खंड के हिसाब से वर्गणा-खंड के हैं। इस वर्गणाखंड पर भी वीरसेन स्वामी ने टीका लिखी है। अतः धवला टीका प्रथम चार खंडों की ही नहीं किन्तु आगे के पांचवें वर्गणाखंड की भी है। और उसका छट्ठा खंड स्वतंत्र है अर्थात् ग्रंथान्तरों के अधार पर वीरसेन-द्वारा रचित है।

फिर आप लिखते हैं :—

"अन्त के दो खंडों का मूल-परिमाण तो, इन्द्रनन्दिश्रुतावतार के कथनानुसार, प्रथम चार खंडों के परिमाण से पंचगुने से भी अधिक है।"

यह कथन तो सर्वथा ग़लत है; क्योंकि इन्द्रानन्दिश्रुतावतार के कथनानुसार अन्त के दो खंडों का मूल-परिमाण प्रथम के चार खंडों के परिमाण से पंच गुने से अधिक नहीं है, किन्तु अन्त के एक खंड का मूल-परिमाण प्रथम के पांच खंडों के परिमाण से पंचगुने से अधिक है। यथा—

तेन ततः परिपठितां भूतबलिः सत्प्ररूपणां श्रुत्वा।
षट्खंडागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन् मानवान् प्रतीत्य ततः।
द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारैः खंडपंचकस्यान्वक् ॥
सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि।
प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खंडम् ॥
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।
तेषां पंचानामपि खंडानां शृणुत नामानि ॥

यहां करकंकण को देखने के लिए आरसी की ज़रूरत नहीं है। ये श्लोक इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के ही हैं। इन से यह अर्थ तो निकलता है कि भूतबलि आचार्य ने पांच खंडों के छः हजार ग्रन्थ-परिमाण सूत्र पहले रचे जिन में पुष्पदन्त की सत्प्ररूपणा के सूत्र भी सम्मिलित हैं, पीछे उनने महाबन्ध नाम के छट्ठे खंड के तीस हजार ग्रन्थ-परिमाण सूत्र रचे परन्तु यह अर्थ नहीं निकलता कि पहले चार खंडों के छः हजार सूत्र रचे गये और बाद अन्त दो खंडों के तीस हजार सूत्र लिखे। यदि ऐसा लिखा होता तो पहले चार खंड के परिमाण से अन्त के दो खंडों का परिमाण पंचगुना हो सकता था। अधिक तो फिर भी नहीं होता।

लेख बहुत बड़ा हो गया है अतः अब हम पाठकों का अधिक समय नहीं लेना चाहते। सिर्फ इतनी सी सूचना कर देना चाहते हैं कि इसके आगे बाबूजी के उस लेख की अन्तिम पंक्तियों के पढ़ने का यहां भी कष्ट उठावें। "आशा है सत्य के अनुरोध और भ्रामक सूचनाओं के प्रचार को रोकने की सद्भावना से लिखे हुए इस लेख से बहुतों का समाधान होगा और वे सब इस बात का प्रयत्न करेंगे कि भविष्य में इस प्रकार की ग़लत सूचनाओं का अवरोध होवे, वे फैलने न पाएं और हमारी लेखनी अधिकाधिक सावधान होकर उन्नत पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तय्यार करने में समर्थ हो सके।"

विविध विषय

कतिपय ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ

(१)

कई वर्ष हुए जब हमें श्रीबड़ा मंदिर जी मैनपुरी के शास्त्रभण्डार को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। उस समय हमने उस भाण्डार के कतिपय ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ नोट कर ली थीं। उन्हीं प्रशस्तियों को आज हम यहां उपस्थित करते हैं :—

उक्त भाण्डार में लाल गाढा की जिल्द बंधा हुआ एक गुटका है, जिसका आकार १० × १९ अंगुलप्रमाण है। इस गुटके में 'भावत्रिभंगी' व श्रुतिमुनिकृत 'भावसंग्रह' आदि ग्रन्थ संगृहीत हैं। 'भावत्रिभंगी' की प्रशस्ति इस प्रकार है:—

"अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्या गताब्दः संवत् १६०५ वर्षे चइत्र सुदि द्वादसी १२ बुद्धवारे॥ श्रीकाष्ठासंघे। माथुरान्वये। पुष्करगणे॥ भट्टारक श्रीगुणसूरिदेवाः॥ तत्सिष्य श्रीमंडलाचार्य श्रीविमालकीर्ति देवाः॥ तत्सिष्यसर्वगुणविराजमान मंडलाचार्य मुनि श्रीखेमकीर्तिदेवाः॥ तत्सिष्य श्रीएकादशप्रतिमाधारकान् जिनपदांवुजसेवनीकद्विरेफान् अबोधजीवप्रतिबोधकान्। इत्यादि अनेकगुणविराजमान तान् कान् ब्रह्मसाकनामधेयान् तत्सिष्य पण्डितचंदणनामधेयान्। रायचंदाइणे गोइल गोत्रे। आंवहरिया साधु चूहडु। तस्य पुत्र द्वौ प्रथम पुत्र साधुनानू। द्वतीय पुत्र। पं० चांदण। त्रिभंगीसारु कर्मक्षयनिमित्त लिखितं॥×॥ सीलतोरंतरंगिनी-त्रिभंगी शास्त्रपठनवागेश्वरी निजकुलसरोवरमण्डनपद्मिनीमति-पिन्निपत्ताकाशमुद्योतनज्योत्स्नासदृशी सद्व्रताभूषणभूषितब्राह्मी सुन्दरी-समानी पण्डितशिरोमणिअनेकशास्त्रअध्यात्मआगमजलधिपारगतान् श्रीपंडितदिनकर तत्पुत्री साध्वी तल्होनामधेयान् पठनार्थं॥ लि० पं० चांदणु कर्मक्षयनिमित्तं शुभं भवतु मांगल्यं दद्यात् लेखिकपाठकयोः। ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोभयदानतः। अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजं भवेत्। स्तब्धदृष्टिकटिग्रीवरुद्धदृष्टिरधोमुखः। कष्टेन लिखि (तं) शास्त्रं यत्नेन प्रतिपालयेत्॥"

इससे स्पष्ट है कि संवत् १६०५ में श्री तल्होनामक महिला परम विदुषी श्राविका-रत्न थीं। श्राविकाओं को ज्ञानदान देने का उस समय सर्वथा अभाव नहीं था। उसी गुटके में 'दसभेदसम्यक्त्व' के हिन्दीगद्य में लिखे हुये हैं, जिससे सतरहवीं शताब्दी के हिन्दी-गद्य का रूप झलकता है। नमूना यूं है :

"वीतराग की आज्ञामात्र रुचि होइ नान्यथावादिनो जिन। एवं आज्ञा सम्यक्त्वं ज्ञातव्यं॥१॥ मार्गसम्यक्त्व किं। मोक्ष कउ मार्गु रत्नत्रय यतिधर्म्मु सुखिकरि रूचि उप-

जइ। तहा मार्गसम्यक्त्व कहिज्जइ ॥ २ ॥ उपदेस सम्यक्त्व किं । त्रेसठिसलाका पुरुषानि कउ चरित्र सुणिकरि रूचि उपजइ तहा उपदेस सम्यक्तु कहिजाइ ॥ ३ ॥"

उपरान्त इसमें 'उपासकाध्ययनांग' गाथायें लिखी हैं, जिनका आरम्भ इस गाथा से हुआ है :—

"कदकारिदाणुमणणं । जो गति पणत स हिंसणं णत्थि ॥
जत्थवदे थूलथडे । पढमे पच्चक्ख दु दूणं ॥ १ ॥

"टीका—यत्र स्थूलव्रते प्रथमे अहिंसाणुव्रते मनोवाकायोतियोगत्रयेण कृतकारितानुमननं त्रसहिंसनं त्रस विराधनं नास्ति। किं कृत्वा पूर्व्वं पव्वक्खदद्धूणं प्रत्यक्ष त्रसकायान् लोचनाभ्यां दृष्ट्वा न हंति ॥"

एक अन्य दर्शनीय ग्रन्थ इस भाण्डार में श्वेताम्बराम्नाय का सचित्र 'कल्पसूत्र' है। इसके कुल पत्र ७८ हैं, जिनका आकार ७×१५ अंगुलप्रमाण है। प्रत्येक पत्र पर करीब-क़रीब एक चित्र अंकित है। अंतिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है :—

"संवत् १७६५ वर्षे द्वितीय आसूज वदि १३ शनौ श्रीसकल भट्टारिक श्री श्री श्री श्री तिलकसागर सूरीश्वराणाभ्यो इदं पुस्तकं। लिषतं पं० लिक्ष्मीरत्न श्रोरस्तु श्रे ॥"

हमने इस ग्रन्थ को प्रसिद्ध कलाविद् श्री एन० सी० मेहता आई० सी० एस० महोदय को दिखाया था, जिन्होंने इस प्रति के चित्रों को कला की दृष्टि से उस समय की अन्य प्रतियों की समकोटि में साधारण बताया था।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त खोज करने पर उक्त भाण्डार में और भी अश्रुतपूर्व ग्रन्थ प्राप्त हो सकते हैं।

—का० प्र०

कतिपय अनूठी हिन्दी रचनायें

(२)

हमारे संग्रह में दो प्राचीन गुटके हैं। एक गुटका ब्र० ज्ञानसागर जी का ब्र० मतिसागर जी के पठनार्थ लिखा हुआ है। सम्भवतः यह वही ज्ञानसागर जी हैं, जिनकी निषधिका नशियां जी इटावा में मौजूद है। इस गुटके में 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि रचनायें दी हुई हैं, जिन में एक रचना 'चौवीसतीर्थंकराका गीत' नामक है, जो इस तरह प्रारम्भ होती है :—

"सयल जिणेसर। प्रणमोपाय सरस्वति सामण द्यो मति माय।
हीयडे समरु श्रीगुरुनाम जिम मनिस वंछित सीभइ काम ॥ १ ॥"

इसमें श्रीमल्लिनाथ जी का परिचायक पद्य निम्न प्रकार है, जो सर्वथा दिगम्बर मान्यता के अनुसार है :—

"मिथलानयरी महिमाधणी। राजा कुम्भ तात तेहतणो।
प्रभावति राणी नुं पुत्र सुनाथ। कलसलंछण प्रणमुं मल्लिनाथ॥ २१ ॥"

किन्तु निम्नलिखित अन्तिम पद्यों से यह रचना तपागच्छीय साधुओं की कृति प्रकट होती है :—

"इन्दु बाणरस नयर प्रमाण। पह संवछर संख्या जाणि॥
तपगछ-नायक-विभासण-भाण। श्रीहेमविमलसूरि जुगप्रधान॥ २८ ॥
पूज्य सिरोमणी पंडितराय। साध विजय गिरुवागुणगाय॥
कमल साधु जयवंत मुणंद्र। ता सीसय भणइ आणंद ॥ २६ ॥"

अब इन तपागच्छीय साधुओं को श्वेताम्बरीय कहा जाय तो शंका होती है कि उन्होंने अपनी रचना में दिगम्बर मान्यता को क्यों प्रतिपादन किया ? पाठकों को शायद स्मरण होगा कि 'भास्कर' की एक पिछली किरण में हम यह अनुमान प्रबल साक्षी के आधार से कर चुके हैं कि तपागच्छीय साधु दिगम्बराम्नाय के भी हुये हैं। क्या उक्त रचना इस अनुमान की पोषक हो सकती है ? सुविज्ञ पाठक स्वयं विचार करें।

दूसरा गुटका सं० १८६४ का लिखा हुआ है, जिसमें पहले एक पद किन्हीं कवि धर्मपाल का रचा हुआ निम्न प्रकार हैं :—

"दुख सौं काहे डरै, रे जय दुख सौं काहे डरै रे॥
पूरव पाप करत नहिं संक्यो, अब कहो स्वांस भरै रे॥ ओ० ॥
कर्म-भोग भुगते ही बनि है, सिथिल भये न टरै रे।
धीरज धारि मारि मन ममता, यौं सब काज सरै रे॥ अरे० ॥
करत दीनता जन-जन पै, तेरो कौन सहाइ करै रे।
धरमपाल प्रभु सुमरि जगतपति, वे सब विपति हरै रे॥ अरे० ॥"

इसमें आगे उल्लेखनीय रचना 'नेमिनाथ जी के कवित्त' (ख्याल) नामक है, जिसका प्रारम्भ निम्न लिखित छन्दों से होता है :—

"प्रथम नमौं अरहंतकौं दूजे सरस्वति माय।
तीजें गुरु को प्रणमि कें छंद रचौं हरषाय॥ १ ॥
जंबूदीप सुहावनो जोजन लख विस्तार।
भरतक्षेत्र दक्षिण दिशा सोरठ देश मंझार॥ २ ॥ इत्यादि"

काव्य की दृष्टि से यह रचना महत्त्वपूर्ण है। जरा इसके नमूने देखकर उसके महत्त्व का

अनुमान कीजिये। श्रीनेमिनाथ जी के मनमें रागभाव जागृत करने के लिये उनकी भावजें क्या रंगरेलियाँ करती हैं, यह जरा पढ़िये :—

"नेमिनाथ को हाथ पकरि कैं खड़ी भई भावज सारीं।
ओढ़ें चीर तीर सरवर के तहां खड़ी हैं जदुनारी॥
बहुत विनय धरि हाथ जोरि करि मधुरस्वर गावैं गारी॥ प्रभु नाम सार० ॥
केइक हांसि विलास करत हैं, केइक कटाक्ष करत प्यारी।
उड़त गुलाल परस्पर ऊपर भूपर बजति सुजनकारी।
केइक प्रभुकों मुख-चुम्बन करि हंसि हंसि हांस देती तारी॥ प्रभु० ॥"

पाठक, नेमिनाथ जी से पशुओं ने फरियाद की, उस करुणरस का भी स्वाद लीजिये :—

"हम दीन सुदीनानाथ विना सु भए बहु दीन पुकारत हैं।
हमरे शिशु साल विकार करें सु तुम विनु कौन मिलावत हैं॥
ये प्राण परे जम हाथ अबै सो प्रभु विनु कौन छुड़ावत हैं।
ये वचन सुदीन सुने प्रभजी तब सारथि सों बतलावत हैं॥ ८१ ॥"

सारथि से पशुओं की विपदा जान कर नेमि प्रभु ने उन्हें बंधनमुक्त किया और स्वयं जग-बन्धन से मुक्त होने के लिये गिरिनार पर जा विराजे। नववधू राजुल ने जब यह वियोग-समाचार सुने, तब उसकी क्या दशा हुई यह भी कवि के शब्दों में पढ़िये :—

"काहे को सार शृङ्गार करै, सुनि तेरो पिया गिरनार गयो री।
मूर्छित ह्वै धरनी पै गिरी, मनु वज्र-छटा का आनि परयो री॥
सुधि-बुधि बिसरि गई सु भई मनु तनतें चेतन दूर भयो री।
सीतल पवन सचेत कियो 'सो पी कहाँ' यह नाम लियो री॥ ९७ ॥"

राजुल वियोग-व्यथा को सहन न कर सकी—वह घर से निकली—गिरिनार पर पहुँचा और नेमि से बोली :—

"नव-भव की तुम सों लगी, प्रीति महा रस भीन।
चूक कहा अबकें प्रभू दसवें भव तज दीन॥ १०२ ॥
हम दीन भईं बिललाइ गईं तुम होऊ दयाल सुनाथ हमारे।
अब मौन तजो मुख वैन भजौ कर जोर कें पाइ परों जु तुम्हारे॥
जग-जीवन जीव सु पालत हो मो जीवन की गति नांहि संभारें।
तुम मोह बिना निरमोह भए, हम तो जु पिया अब साथ तुम्हारे॥ १०३ ॥"

अब आइये पाठक अन्तिम पद्यों में कवि का आत्म-परिचय भी पढ़ लीजिये :—

"अघत जगा नगर में श्रावग बसें सुजान।
देव धरम गुरु गन्थ को हैं तिनके सरधान॥ ११४ ॥

करैं सरधान सु जिन पहिचान, सु मनमें आनि यही मानैं ।
देव-धरम-गुरु-गून्थ-विना, अरु दूजा देव नहीं जानैं ॥
समकित की परतीति धरैं, मन और कुक्रिया नहिं ठानैं ।
साधरमी जिन-शासनवरतो, तिनसौं प्रोति सदा उर आनैं ॥ ११५ ॥

तिनमें श्रावग सिद्धमनि जिनमारग में लीन ।
पुत्र चार तिनके भए जिन-शासन-परवीन ॥ ११६ ॥

प्रथम पुत्र को नाम रतनसम तातैं कहिये मानिकचन्द ।
हरि-उद्योत धरैं अति उज्ज्वल तैसे गुनधारी हरिचन्द ॥
क्षमा शब्द जगमें प्रसिद्ध यह यातैं नाम कुशल है चंद ।
सरम नाम सुख के है भाई भयौ परमसुख चौथो नंद ॥ ११७ ॥
कुसलचंद के नन्द को, नाम झुनक अवधार ।
अल्पमती बहु तुच्छ बुधी कीना यह विस्तार ॥ ११८ ॥
करम-जोग इक कारन आए नगर सकूराबाद ।
तहां श्रावग पुनीत बहु तिनके जिन-सेवा मरजाद ॥
महाकारन सुभ सुफल सुकरि कं भयौ नहीं जहां हरष-विषाद ।
श्रावग सेवादास-तनुजवर तिनसौं मिल पायौं अहलाद ॥ ११९ ॥
भई मित्रता मिलत ही मनमें हर्ष उपाय ।
लघुनंदन को नाम अब जानौ अतिसुखदास ॥ १२० ॥
तिन ऐसो उपदेश दियो जब, कोई बनायौ मंगल-माल ।
तिनको मन उपदेश लग्यो जब तिनके हेत रच्यो यह ख्याल ॥
कृष्णापक्ष सप्तमि दिन जानौं सोमवार मगसिर सुविसाल ।
तीन-चार-वसु-चन्द्र आंक सम्वत्सर के वे जानौं हाल ॥ १२१ ॥

अन्त में लिखा है कि "मिती माघसुदी १२ मंगलवार संवत् १८६४ दसषत हरचंद के ।" इससे स्पष्ट है कि अघोतजगो-निवासी कुसलचंद के पुत्र झुनकलाल ने सम्वत १८४३ में सकूराबाद के सेठ अतिसुखदास जो के कहने पर उक्त रचना रची थी। सकूराबाद वर्तमान जिला मैनपुरी में शिकोहाबाद-नामक स्थान है—इसलिए कवि का निवासस्थान अघतजगा भी उसके निकट होनो चाहिये। तहसील अलीगंज जिला एटा में अघतिया—सराय-नामक एक स्थान है, जहां अब भी जैनी रहते हैं। हमारे ख़याल से कवि का निवासस्थान यह अघतिया ग्राम ही था। लिपिकर्त्ता हरचंद कवि के चाचा प्रतीत होते हैं। उस समय आगरा-प्रान्त में ख़याल-बाजी का बहुत प्रचार था—कवि ने भी समयानुसार वैसी ही रचना रची है।

इसी गुटके के अन्त में किन्हीं प्रहलाद कवि-कृत 'श्रीनेमिनाथ जी के कवित्त' भी दिये हैं जिसका नमूना यूं है :—

"जाके जपतें वपु, तेज बढ़े गजसाज चढे रज रंगी के।
जाके सुमरें सुख सर्व लहै दुख दारिद्र दहै अरंगी के ॥
जाके जग में दृिढ़ ध्यान धरै निहचै कल्यान करंगी के।
हैं मंगल करन हरन संकट पद नेम नवल शिवसंगी के ॥ १ ॥

× × × ×

"तरिहै नहिं दंभ अनेक किये बहु भेष धरें न कछू सरिहै ।
सरिहै जबही सबसौं समता अरु जीवदया मनमें धरिहै ॥
धरिहै उरु ध्यान जिनेश्वर कों भवसागर में न फिरै परि है।
परिहै मति ठीक कही पहलाद बिना जिन-भक्ति नहीं तरिहै ॥"

—का० प्र०

काठियावाड़ की प्राचीनतम जैन मूर्तियाँ।

(३)

जूनागढ़ से उत्तर-पश्चिम की ओर एक छोटी-सी रियासत ढंक नामक है। बरजेस सा० ने वहाँ जाकर कुछ मूर्तियों का पता चलाया था। उन्होंने उनको बौद्ध बताया था। परन्तु उनका वर्णन सन्तोषदायक न था। इसलिये हाल में श्री एच० डी० संकलिया महाशय ढंक गये थे और उन्होंने उन मूर्तियों की परीक्षा की थी और अपनी परीक्षा का परिणाम, एक सचित्र लेख के रूप में, उन्होंने 'जर्नल ऑव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जुलाई (१९३८) वाले अङ्क में प्रकट किया है। पाठकों के परिचय के लिये उसका भावार्थ हम यहाँ सधन्यवाद उपस्थित करते हैं :—

संकलिया महाशय ने ढंक पहुंचने पर उन मूर्तियों को जैनमत की पाया, जिनको बर्जेस सा० ने बौद्ध बताया था। खास बात यह है कि यह मूर्तियाँ काठियावाड़ में सर्व प्राचीन हैं। 'Moreover, they seem to be the earliest specimens of this or of any other school of sculpture found in Kathiāwār.) यह मूर्तियाँ ढंक की पहाड़ी के निचले छोर पर उकेरी हुई कोठरियों अथवा गुफाओं में हैं। यहां की पहली गुफा में घुसने के लिये चार फीट ऊंचा एक सुराख है, जो दरवाजे का काम देता है। भीतर से गुफा ७ फीट ९ इञ्च चौड़ी व ८ फीट ४ इञ्च लम्बी है, जिस में तीन आले बने हुए हैं। एक आला

सुराख के सामने हैं और बाकी दो इधर-उधर की दीवालों में एक-एक है। प्रत्येक आले में एक-एक पद्मासन दिगम्बर (nude) प्रतिमा है। मूर्तियों का दाहिना हाथ बायें हाथ पर रक्खा हुआ है, जिनकी हथेली ऊपर की ओर है। शीश पर तीन छत्र लगे हुए उकेरे गये हैं। आसपास 'चामर' और उनके ऊपर छोटे-छोटे 'विद्याधर' बने हुए हैं। बर्जेस सा० ने इन्हीं मूर्तियों को बौद्ध बताया था; परन्तु वास्तव में वे जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ हैं, क्योंकि पहले तो वे नग्न हैं, दूसरे उनकी मुद्रा, और हाथों का संकेत एक जैन तीर्थङ्कर की प्रतिमा के समान हैं। तीसरे ये मूर्तियाँ उनसे सटी हुई अन्य जैन मूर्तियों के अनुरूप हैं। ये मूर्तियाँ संभवतः आदिनाथ (ऋषभदेव) की हैं।

इस पहाड़ी पर को चट्टान में भी ऊपर की ओर उकेरी हुई कई मूर्तियां हैं। उस चट्टान के अन्तिम छोर पर एक स्त्री की मूर्ति है जिसकी गोद में एक बच्चा दायें पाँव पर बैठा हुआ है। उसका दाहिना हाथ दाहिने घुटने पर टिका हुआ है, और ऊपर को संकेत कर रहा है। वह भारी-भारी बालियां और बालों की मांग में एक चन्द्रक पहने हुये हैं—बाल लहरोले-गुच्छेदार हैं। यह मूर्ति अम्बा अथवा अम्बिका देवी की है। मथुरा के जैनस्तूप पर भी अम्बादेवी की ऐसी ही मूर्तियाँ अङ्कित थीं। मध्यकालीन जैन तक्षण और चित्रकला में अम्बा देवी की मूर्ति एक खास चिह्न है।

अम्बादेवी की मूर्ति से सटी हुई एक नग्न मूर्ति २७ इञ्च ऊंची कायोत्सर्ग-मुद्रा में अङ्कित है, जिस पर एक सर्प का फन बना हुआ है। यह मूर्ति २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की होना चाहिये।

पार्श्वनाथ की इस मूर्ति के पास ही एक पद्मासन मूर्ति ७ इञ्च ऊंची बनी हुई है; जिसके निकट एक अन्य नग्न प्रतिमा भी पद्मासन अङ्कित है। इस मूर्ति के सिंहासन में बीच में एक चक्र और एक हिरण उकेरा हुआ है, जिनके आसपास सिंह बने हुए हैं। शीश पर तीन छत्र बने हुए हैं और आसपास चामर खड़े हुए हैं। हिरण जैन तीर्थङ्कर शान्तिनाथ का लाञ्छन है। अङ्कै (Ankai) की गुफाओं में भी एक ऐसी ही मूर्ति है। इस मूर्ति के निकट कायोत्सर्ग-मुद्रा में एक नग्न मूर्ति बनी हुई है, जिसके दोनों ओर दो चमरेन्द्र हैं। इस मूर्ति के कान ज्यादा लम्बे और कंधों पर बालों की एक लट रक्खो हुई दरसाई गई है। उसके अतिरिक्त चार मूर्तियाँ और हैं, जो निस्सन्देह जैन तीर्थङ्करों की हैं। अन्तिम दो के शीश बड़े हैं।

इन मूर्तियों पर जो चामरवाहकादि की मूर्तियाँ हैं, वह संभवतः यक्षों की हैं। परन्तु सिवाय शिरोवस्त्र के उनके शेष आयुध आदि नहीं अङ्कित हैं और न यक्षणी साथ में बनीं हैं। इससे मालूम होता है कि पहले जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियों के साथ केवल सादा यक्ष बनाये जाते थे—यक्षों के आयुधादि एवं यक्षियां बाद में बनाई जाने लगीं।

अतः ढंक की यह मूर्तियाँ जैनमत की हैं और वस्तुतः वह दिगम्बर साधुओं द्वारा निर्माण की गई थीं, क्योंकि अधिकांश मूर्तियाँ नग्न हैं। निस्सन्देह यह एक आश्चर्यजनक बात है, क्योंकि दिगम्बर जैनधर्म का प्राबल्य काठियावाड़ या गुजरात में शायद ही रहा मिलता है। न तो वह आज वहाँ प्रबल है और न चालुक्य-राज्य-काल में था। इसलिये संभव यह है कि दिगम्बर जैनधर्म इस प्रांत में बहुत पहले क्षत्रप बादशाहों के जमाने में खूब प्रचलित था। (It is probable that Digambara Jainism was flourishing is these parts at a much earlier period probably under the Kṣatrapas) *circa* A. D. 100-300 ?) क्योंकि जैन साधुओं और आर्यिकाओं का अस्तित्व शिलालेखों से सिद्ध है। इन मूर्तियों का सादृश्य कुशानकालीन मथुरा की मूर्तियों से है। अतः ढंक की इन मूर्तियों से काठियावाड़ की मूर्ति-कला के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है।

नोट—मान्य लेखक ने यक्ष-यक्षिणी के विषय में जो मत प्रकट किया है वह ठीक नहीं जंचता; क्योंकि प्राचीन मूर्तिकला में यक्षियों की मूर्तियां भी अङ्कित हुई मिलती हैं। स्वयं ढंक (Dhank) की मूर्तियों में लेखक ने अम्बादेवी की मूर्ति देखी है, जो तीर्थङ्कर अरिष्टनेमी की यक्षी (शासनदेवी) हैं। हाँ उनका यह अनुमान ठीक है कि गुजरात में दिगम्बर जैनों की प्रधानता का काल बहुत प्राचीन है। दिगम्बर जैन साहित्य से भी इसका समर्थन होता है। जिस समय की यह मूर्तियाँ और अन्धौ एवं जूनागढ़ के शिलालेख हैं, उस समय दिगम्बर जैन संघ के प्रमुख ऋषिगण जूनागढ़ की गुफाओं में वास करते थे। इस विषय पर हम एक स्वतन्त्र लेख लिखने का विचार रखते हैं। —का० प्र०

श्रीपद्मनन्दि विरचित

"जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-संग्रह"

(४)

भारतीय भूगोलवाद एक स्वतंत्र विषय है। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के प्राचीन और अर्वाचीन अनेक जैन ग्रन्थों में इस विषय का प्रतिपादन खूब ही विशद और सूक्ष्मरीति से हुआ मिलता है। अर्द्धमागधी (श्वे०) आगमसाहित्य में 'सूरपण्णत्ति' (सं० सूर्यप्रज्ञप्ति) 'जम्बूद्दीव-पण्णत्ति' (सं० जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति) और 'चंदपण्णत्ति' (सं० चन्द्रप्रज्ञप्ति) ग्रंथ इस विषय के उल्लेखनीय हैं। जैन भूगोलवाद (अथवा कहिए 'करणानुयोग') का श्रेष्ठ प्रतिपादन डॉ० करफेल के 'डै कोस्मोग्रैफी डैर इंडेर' नामक जर्मन भाषा के ग्रन्थ (पृष्ठ २०८-३४०) में अच्छा हुआ है। उन्होंने अपने ग्रन्थ-निर्माण में अनेक श्वेताम्बरी-ग्रन्थों का साहाय्य लिया है। दिगम्बरीय साहित्य में से उन्होंने श्रीइन्द्रवामदेव कृत 'त्रैलोक्यदीपिका'

और नेमिचन्द्राचार्यकृत 'त्रिलोकसार' ग्रन्थों पर अपना आधार अवलम्बित रक्खा है। वैसे दिगम्बर-साहित्य में इस विषय के प्रमुख ग्रन्थ प्राकृत भाषा में रचे हुये श्रीयतिवृषभ-कृत 'तिलोयपरणत्ति' (सं० त्रिलोकप्रज्ञप्ति) और श्रीपद्मनन्दिकृत 'जम्बूदीवपरणत्ति' (सं० जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति) समझे जाते हैं। जहाँ तक ज्ञात हुआ है, इन ग्रन्थों की कोई भी टीकायें उपलब्ध नहीं हैं। उस पर यह विषय इतना विक्षिप्त और गहन है तथा मूल ग्रन्थ इतने अशुद्ध लिखे हुये मिलते हैं कि शोधक को पद-पद पर कठिनाइयों का ही सामना करना पड़ता है। हाँ, भाषाज्ञान की दृष्टि से यह दोनों ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं, क्योंकि शोधक को उनमें प्राकृत-व्याकरण के लिये बहुत-सा नया मसाला मिलता है। 'तिलोयपरणत्ति' (मूल) का सम्पादन और प्रकाशन जैनऐंटीक्वेरी' (आरा) में क्रमशः हो रहा है। प्रस्तुत लेख में 'जम्बूद्दीवपरणत्ति' के विषय में विचार किया गया है, जिसकी एक प्रति हाल ही में प्रो० उपाध्ये को प्राप्त हुई थी। उसी के आधार से उन्होंने एक लेख अंग्रेजी में प्रकट किया है, जिसका यह स्वतन्त्र अनुवाद पाठकोंको सधन्यवाद समर्पित है।

प्रो० उपाध्ये की इस प्रति का आकार १४×८½ इंच है और यह हाल ही में वैशाख सुदी १ सं० १९७१ को लिपि हो करके 'ऐलक पन्नालाल दिग० जैन पाठशाला, शोलापुर' में आई है। इसमें कुल ८४ पन्ने हैं। यद्यपि यह प्रति बड़े-बड़े देवनागरी लिपि के अक्षरों में बहुत शुद्धता-पूर्वक लिखी गई है, फिर भी लेखक से इसमें जहाँ-तहाँ अशुद्धियाँ हो गई हैं।

लिपिकर्त्ता ने इसका नाम 'जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति' लिखा है, किन्तु ग्रन्थ का यथार्थ नाम जैसे कि उसके उद्देश्यों की अन्तिम-पंक्तियों से प्रकट है, 'जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-संग्रह' है। 'संग्रह' शब्द से स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्त्ता ने किसी प्राचीन ग्रन्थ के आधार से अपना ग्रन्थ रचा है—संभवतः उनका आधारभूत ग्रन्थ 'दीवसागरपरणत्ति' नाम का था। जैसे कि निम्नलिखित गाथाओं से भासता है :-

दे वन्दिदूण सिरसा वाच्छामि जहा-कमेण जिण-दिट्ठं।
आयरियपरम्परया पराणत्तिं दाव जलधीगं॥
आयरिय-परम्परया सायर-दीवाण तहा य परणत्ती।
संखेवेण समत्थं वोच्छामि जहाणुपुव्वीए॥

ग्रंथ में कहा गया है कि इस विषय का प्रतिपादन महावीर स्वामी ने किया था और गण-धरों ने उसको ग्रंथबद्ध-रूप दिया था जो आचार्य-परम्परा से चला आया। (१.८ व १३.-१४१ इत्यादि)। पद्मनन्दि जी का कहना है कि जो कुछ उन्होंने लिखा है वह आचायपरम्परा-द्वारा प्राप्त विषय का सारमात्र है :—

'आयरिय-परम्परेण य गंथत्थं चेव आगयं सम्मं।
उवसंहरित्थ लिहियं समासदो हि णायव्वं[1]॥'

---

1 यह पद अशुद्ध प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ में कुल १३ उद्देश हैं और कुल गाथाय २४२६ हैं, जैसे कि निम्नोक्त मानचित्र से स्पष्ट है :—

उद्देशों के नाम	गाथाओं की संख्या
१—उवघाय-पत्थावो[1]	७४
२—भरहेरावय-वंस-वण्णणो	२१०
३—पव्वद-नदी-भोगभूमी-वण्णणो	२४६
४—महाविदेहाहियारे चत्तदेशो[2]	२९१
५—महाविदेहाहियारे मन्दरगिरि-जिणभवण-वण्णणो	१२५
६—महाविदेहाहियारे देवकुरु-उत्तरकुरु-विण्णास-पत्थारो	१७७
७—महाविदेहाहियारे कच्छविजय-वण्णणो	१५२
८—महाविदेहाहियारे पुव्वविदेह-वण्णणो	१९८
९—महाविदेहाहियारे अवर-विदेह-वण्णणो	१९७
१०—लवण-समुद्द-वावण्णणो	१०२
११—वाहिर-उहार-दीव-दीसायर नरयगदि-सिद्धखेत्त वण्णणो	३६५
१२—जोइसलोय-वण्णणो	११३
१३—पमाण-परिच्छेदो	१७६

उद्देशों के नामों से ही ग्रन्थ के विषयों का आभास होता है। समूचा ग्रंथ गाथा-छन्द में लिखा हुआ है और प्राकृतभाषा 'जैनसौरसेनी' है।

यद्यपि ग्रंथ-निर्माण-तिथि लिखी हुई नहीं है, परन्तु पद्मनन्दि जी ने अन्तिम गाथाओं में अपनी गुरुपरम्परा का परिचय अवश्य कराया है। उससे प्रकट है कि वारनन्दिनामक एक आचार्य थे, जो पंचमहाव्रतधारी-सम्यक्त्वविशुद्धज्ञानी-संयमी-तपस्वी-निर्मोही-साहसी-पंचाचारयुक्त-षट्कायजीवप्रतिपालक और सुख-दुःख की वेदना से रहित थे (१३।१५८-९)। उनके शिष्य बलनन्दि हुये, जो सूत्रों और सूत्रार्थों के विशेष ज्ञाता थे, महान् बुद्धिमान् थे, मोह-ममता-विहीन थे और रत्नत्रयधर्म के धारक थे (१३।१६०।१)। इन बलनन्दि के शिष्य पद्मनन्दि हुये, जो गुण-गणालंकृत, त्रिदंडदोपरहित, त्रिशल्यशूलविहीन त्रि-गारव-मुक्त, सिद्धान्त के पारगामी, तपादियुक्त, रत्नत्रयधर्म के आराधक, और पापों से मुक्त थे। (१३।१६२-३) पद्मनन्दि जी बतलाते हैं कि उन्होंने सिद्धान्त का ज्ञान श्रीविजय के निकट से प्राप्त किया था, जिनका उल्लेख ऋषि विजय के रूप में भी हुआ है। वह अध्यात्मगुणों से विभू-

---

१ अंतिम शब्द अशुद्ध प्रतीत होता है।

२ अंतिम शब्द 'पत्थारो' भी पढ़ा जाता है। —श्रीउपाध्ये जी

पित एक महान् साधु और परमागमके शिक्षक थे। (१३।१४४-५ व १६४) उस समय माघनन्दिनामक एक प्रसिद्ध और ज्ञानी साधु थे, जिनके एक बुद्धिमान् शिष्य सकलचन्द्रनामक थे। इन सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनन्दि थे। इन श्रीनंदि के लिए ही पद्मनंदि जी ने इस ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रन्थ उस समय रचा गया था जब पद्मनन्दि जी वारा नगर में विराजमान थे। यह नगर परियत्रदेश में अवस्थित था और उस समय वहां का राजा शांतिभूपालनामक था। (वारा-नयरस्स पहू नरुत्तमो शांतिभूपालो, १६६) उनका सम्मान नरपति ने किया था और वह एक वीर-धर्मगुणों से अलंकृत एवं जैनधर्म के भक्त पुरुष थे। संक्षेपरूप में यूं कहिये कि पद्मनन्दिनामक एक साधु थे, जिनके पूर्वज वीरनन्दि के शिष्य बलनन्दि थे। उन्होंने श्रीविजय से सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया और माघनन्दि के प्रशिष्य एवं सकलचंद के शिष्य श्रीनन्दि के लिये यह 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसंग्रह' नामक ग्रंथ परियत्रदेश के वारा नगर में रचा था, जहां पर उस समय शांतिभूपाल राज्य कर रहे थे। इस ग्रंथ की अन्य प्रतियां मिलने पर इसकी निर्माण-तिथि आदि पर ऊहा-पोहात्मक विचार किया जायगा।

(नोट—'इंडियन हिस्टॉरीकल क्वाटरली, भा० १४, अंक २ में प्रकाशित लेख का अनुवाद। —का० प्र०

"जैन एण्टीक्वेरी" के लेख

(भा० ५ कि० २)

(५)

१—प्रो० ए० चक्रवर्ती महोदय ने एक लेख-माला 'तामिल भाषा में जैन साहित्य' विषय पर लिखी है, जो क्रमशः प्रकट होना प्रारंभ हुई है। लेखमाला के इस अंश में प्रो० महाशय ने प्रकट किया है कि तामिल साहित्य प्राचीनतम काल से जैनधर्म और जैन-संस्कृति से प्रभावित हुआ था। वैदिक-मतानुयायियों में भी प्राचीनकाल से एक ऐसा संप्रदाय था जो हिंसक यज्ञों के विरुद्ध था। 'ऋग्वेदसंहिता' में ऋषभ और अरिष्टनेमि तीर्थङ्करों का उल्लेख है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से भी पूर्वी भारत में अहिंसा-धर्म के माननेवाले आर्यों का पता चलता है। जैन शास्त्रों से प्रकट है कि सब ही तीर्थङ्कर क्षत्रिय और पूर्वीय भारत के अधिवासी थे। उपनिषदों से भी पूर्वीय आर्य-क्षत्रियों का अहिंसाधर्म का अनुयायी होना प्रकट है। दक्षिण भारत में जैनों का आगमन भद्रबाहुजी श्रुतकेवली के समय में अनुमान किया जाता है; परन्तु वास्तव में जैनधर्म दक्षिण भारत में उनसे भी पहले विद्यमान था। वैदिक धर्म का प्रचार दक्षिण में इसके दीर्घकाल पश्चात् हुआ था।

२—प्रो० कालीपाद मित्रा ने कुरुवंशी सम्राट् श्रेयाँस के पूर्व भवों का वर्णन लिखा है।

३—कामता प्रसाद जैन ने 'जैनकालगणना' में तीर्थङ्कर कुंथुनाथ से तीथकर नेमिनाथ तक की घटनाओं का उल्लेख किया है।

४—प्रो० दशरथ शर्म्मा ने वि० सं० ११७६ के जाङ्गल (बीकानेर) से उपलब्ध एक शिलालेख का प्रतिपादन किया है, जिसमें श्रीशान्तिनाथ की मूर्ति के बनवाने का उल्लेख है।

—का० प्र०

साहित्य-समालोचना

द्रव्य-संग्रह

(१)

मूलरचयिता—श्रीनेमिचन्द्र मुनि; टीकाकार—पं० भुवनेन्द्र "विश्व"; प्रकाशक—सरल-जैन-ग्रन्थ-माला-जवाहरगंज, जब्बलपुर; मूलभाषा—प्राकृत; टीका-भाषा—हिन्दी; साइज—डबल क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठसंख्या—८७, मूल्य—जिल्दवाली छः आने, बिना जिल्द—पाँच आने; मुद्रण-समय—१९३८ ई०; कागज मुद्रण आदि सुन्दर।

द्रव्यसंग्रह के अभी तक हिन्दी में कई संस्करण निकल चुके हैं। पर उन सभी संस्करणों में यह संस्करण विशेष उल्लेखनीय है। इसका कारण यह है कि उन संस्करणों की अपेक्षा इसमें कई विशेषतायें हैं। जैसे—ग्रंथगत प्रत्येक अधिकार का सारांश, अर्थ-संग्रह—ग्रन्थगत कठिन सांकेतिक शब्दों का सरलार्थ, भेदसंग्रह—ग्रन्थगत पारिभाषिक शब्दों के भेदों का खुलासा, प्रश्नपत्रसंग्रह, ग्रन्थकर्त्ता का परिचय, छः द्रव्यों के चित्र, चार्ट एवं विवरण, आवश्यक फुटनोट, अकारादिक्रम से गाथा-सूची आदि।

एक बात और है कि यह संस्करण कई विद्वानों के परामर्श, सहयोग एवं संशोधन से अधिक परिष्कृत हो गया है। साथ ही साथ अब की बार राजाराम कौलेज कोल्हापुर के अर्द्धमागधी के सुयोग्य प्रोफेसर श्रीयुत ए० एन० उपाध्ये एम० ए० के द्वारा मूल गाथाओं का संशोधन भी कराया गया है। वास्तव में द्रव्य-संग्रह में जैनधर्म का सिद्धान्त अधिक सरलता से थोड़े ही शब्दों में आकर्षक पद्धति से भर दिया गया है। इसी से यह ग्रन्थ प्रत्येक जैनपरीक्षालय की पाठ्यपुस्तकों में भी संमिलित है। एम० सी० घोषाल के द्वारा अनुवादित होकर सन १९१७ में इसका एक सुन्दर अंग्रेजी-संस्करण भी निकल चुका है। मराठी, कन्नड आदि अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। पाठ्यपुस्तकों को अधिक से अधिक सुलभ शैली में तैयार कराकर प्रकाशित करने की सख्त ज़रूरत है। बड़े हर्ष की बात है कि सरलजैनग्रन्थमाला जब्बलपुर ने इस पुनीत कार्य को अपने हाथ में लिया है। प्रस्तुत इस संस्करण को उपयोगी ढंग से तैयार कर प्रकाशित करने के उपलक्ष में उक्त ग्रन्थमाला के सुयोग्य स्वामी पं० भुवनेन्द्र जी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

एक बात और रह गयी। वह यह है कि श्रीयुत पं० जुगल किशोर जी के विचार से इस द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता त्रिलोकसारादि ग्रन्थों के रचयिता सुप्रसिद्ध आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्त्ती नेमिचन्द्र न होकर नेमिचन्द्र मुनि नामक उनसे भिन्न रचयिता हैं। पर प्रस्तुत संस्करण के

प्रारम्भ में दिये गये ग्रन्थकर्त्ता के जीवनचरित्र में 'त्रिलोकसार' एवं 'द्रव्यसंग्रह' इन दोनों की अन्तिम गाथाओं को उद्धृत कर इनका साम्य दिखलाते हुए दोनों के ग्रन्थों के रचयिता एक ही नेमिचन्द्र हैं यों प्रकट किया गया है। अब पं० जुगल किशोर जी इस पर विचार कर अपने पूर्व विचार को पुष्ट युक्तियों से सिद्ध कर दिखायें या परम्परागत इस बहुमत को ही मान लें। क्योंकि इस बात का निर्णय हो जाना आवश्यक है। इस संस्करण में जहां-तहां जो मुद्रण-दोष रह गये हैं. वे सुधारणीय हैं।

के० बी० शास्त्री

इष्टोपदेश

(२)

मूलरचयिता—आचार्य श्रीपूज्यपाद; टीकाकार—आस्थानविद्वान् न्यायतीथ श्रीयुत पं० ए० शान्तिराज शास्त्री; प्रकाशिका—श्रीमती देजम्म पणपील; मूलभाषा—संस्कृत; टीकाभाषा-कन्नड; साइज—डबल क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठसंख्या ४८; मूल्य—शास्त्रविनय, पठन और आत्मकल्याण; मुद्रणसमय १९३८ ई०; कागज और मुद्रण सन्तोषप्रद।

दक्षिणभारत के जैनियों में आश्विन शुक्ल अष्टमी 'जीवदयाष्टमी' के नाम से प्रख्यात है। वहाँ का जैन-समाज इसे एक परमपुनीत पुण्य दिवस कहकर अपनाता आ रहा है। कब से और केवल दक्षिणभारत में ही यह क्यों प्रचलित हुआ यह बात अभी अन्वेषणीय है। मेरा अनुमान है कि हिन्दुओं के नवरात्र में जोरों से प्रचलित हिंसामयी दुर्गाष्टमी की ओर लक्ष्य कर के उधर से सात्त्विक पूजा की ओर जनता को खींचने के लिये ही जैनियों में यह जीवदयाष्टमी प्रचलित हुई होगी। बल्कि दक्षिणभारत के समान ही उत्तरभारत में भी जहाँ-तहाँ उक्त इन नौ दिनों में ज्वालामालिनी पद्मावती आदि आसन-देवियों की सात्त्विक पूजा जैनियों में अवश्य होती है। जीवदयाष्टमी की कथा यशस्तिलकचम्पू, यशोधरचरित्र आदि संस्कृत एवं कन्नड आदि भारतीय भिन्न-भिन्न भाषामयी रचनाओं में विस्तारपूर्वक अङ्कित है। दक्षिण के अन्यान्य स्थानों के समान उस रोज खासकर मूड़बिदुरे में आसपास के हजारों जैनी एकत्रित हो पुरातन बहुमूल्य जैन मन्दिरोंका दर्शन, पूजन, व्याख्यान-श्रवणादि के द्वारा पुण्य-संचय किया करते हैं। उस दिन प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रकाशिका श्रीमती देजम्म एवं आपके श्रद्धेय पति श्रीधर्मश्रेष्ठी की ओर से उपस्थित सभी सज्जनों को बड़े प्रेम एवं विनय के साथ प्रतिवर्ष 'एकाशन' कराया जाता है और वहाँ के अमूल्य रत्नमूर्त्तियों के दर्शन के साथ-साथ भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा तैयार कराकर एक नया ग्रन्थ सबोंको सादर भेंट किया जाता है। यह इष्टोपदेश इसी वर्ष की जीवदयाष्टमी का उपहार

ग्रन्थ है। श्रीमतीजी इसी प्रकार कई साल से शास्त्रदान करती आ रही हैं। यह दम्पती एक प्रसिद्ध जैनराजवंश के होते हुए भी बड़े ही विनयी एवं निरभिमान धर्मात्मा हैं।

इस पुस्तक के मूलरचयिता प्रातः स्मरणीय आचार्य श्रीपूज्यपादजी हैं। इन के विषय में 'भास्कर' भाग ५, किरण १ में श्रीयुत पं० जुगल किशोर जी मोख्तार ने 'श्रीपूज्यपाद और उनका समाधितन्त्र" शीर्षक लेख में अच्छा प्रकाश डाला है। अतः यहां पर उसकी पुनरावृत्ति पिष्टपेषणमात्र समझ कर नहीं की गयी। वास्तव में यह एक बहुमूल्य मौलिक अध्यात्मक ग्रन्थ है। इस में पूज्यपादजी की सर्वतोमुखी प्रतिभा का सुन्दर निदर्शन मिलता है। अब रही इस की कन्नडटीका। टीकाकार शास्त्रीजी एक अनुभवी सिद्धहस्त लेखक हैं। टीका सुगम एवं सुन्दर है। हाँ, प्राक्कथन में ग्रन्थकर्त्ता का कुछ और विशेष परिचय दिया जाता तो और अच्छा होता। मैं बहुत दिनों से इसकी कन्नडटीका लिखना चाहता था। अवकाशाभाव से वह नहीं हो सका। पर अपनी चिरकालीन अभीष्ट-पूर्त्ति श्रद्धेय शास्त्री जी के द्वारा होती देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रकाशिका जी से मेरा साग्रह अनुरोध है कि आगामी वर्ष आप इन्हीं पूज्यपाद जी के समाधितन्त्र या शतक को शास्त्रदान के लिये चुनेंगी। इस प्रकार अनेक आर्ष ग्रन्थ धीरे-धीरे कन्नड-भाषा में भी प्रकाश में आ जायेंगे।

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

देसविरदादि उवरिमदसगुणठाणाणि हेदुभूदाओ ।
जाउ उवसोधियाउ कइया विण्ण ताउ जायंति ॥२७६॥

पज्जत्तापज्जत्ता जीवसमासा य होंति पदाणं ।
पज्जत्ती छब्भेया तेत्तियमेत्ता अपज्जत्ती ॥२७७॥

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकायाणि आउपाणा य ।
अणाप्पाणप्पाणा दस पाणा होंति चउ सण्णा ॥२७८॥

णिरयगदीए सहिदा पंचक्खा तह य होंति तसकाया ।
चउमणवचदुवेगुव्वियकम्मइयसरीरजोगजुदा ॥२७९॥

अवहोंति णपुंसयवेदा णारयजीवा य दव्वभावेहिं ।
सयलकसायासत्ता संजुत्ता णाणछक्केण ॥२८०॥

सव्वे णारइया खु विविहेहिं असंजमेहिं परिपुण्णा ।
चक्खुअचक्खूओहीदंसणतिदएण जुत्ता य ॥२८१॥

भावेसुं तियलेस्सा ताओ किण्हा य णीलकाओदा ।
वेणुक्कडकिण्हा भव्वाभव्वा य ते सव्वे ॥२८२॥

छस्सम्मत्ता ताइं उवसमखइयाइवेदगंमिच्छो ।
सासणमिस्सा य तहा संणी आहारिणो अणाहारा ॥२८३॥

सायारअणायारा उवयोगा दोंणि होंति तेसिं च ।
तिव्वकसाएण जुदा तिव्वोदयअप्पसत्थपयडिजुदा ॥२८४॥

। गुणठाणादि सम्मत्ता ।

पढमधरंतमसण्णी पढमंबिदियासु सरिसओ जादी ।
पढमादीतदियंतं पक्खिभुयंगादि यायए तुरिमं ॥२८५॥

पंचमखिदिपरियंतं सिंहो इत्थी वि छट्ठखिदिअंतं ।
आसत्तमभूवलयं मच्छो मणुवो य वच्चंति ॥२८६॥

वट्ठसगछक्कपणचउतियदुगवारो य सत्तपुढवीसु ।
कमसो उप्पज्जंते असण्णिपमुहाइ उक्कस्से ॥२८७॥

॥ उप्पज्जमाणजीवाणं वण्णणा सम्मत्ता ॥

चउवीसं मुहुत्ताणि सत्त दिणा पक्खमेक्क मासं च ।
दोचउछम्मासाइं पढमादो जम्ममरणअंतरयं ॥२८९॥

मु २४ दि ७ दि १५ मा १ । मा २
मा ४ मा ६ ॥

रयणादिणारयाणं णियसंखा दोयसंखभागमिदा ।
पडिसमयं जायंते तेत्तियमेत्ता य मरंति पुढं ॥२९०॥

॥ जम्मणमरणाणंतरकालपमाणं सम्मत्तं ॥

२ । ३ । १२२ १०३ । ६२ । ३२ । ५२ ।
१ २

उप्पज्जं ।

णिक्कंता णिरयादो गब्भेसुं कम्मसंणिपज्जत्ते ।
णरतिरिएसुं जम्मदि तिरियच्चिय चरमपुढवीए ॥२९१॥
वालीसुं दाढीसुं पक्खीसुं जलचरेसु जाऊणं ।
संखेज्जाउगजुत्ता केई णिरएसु वच्चंति ॥२९२॥
केसवबलचक्कहरा ण होंति कइयावि णिरयसंचारी ।
जायंते तित्थयरा तदीयखोणीए परियंतं ॥२९३॥
आतुरिमखिदी चरमंगधारिणो संजदा य धूमंतं ।
छट्ठंतं देसवदा सम्मत्तधए केइ चरिमंतं ॥२९४॥

। आगमणवण्णणा सम्मत्ता ।

आउस्स बंधसमए सिलो व्व सिलो व्व वेणुमूले य ।
किमिरायकसाया उदयंमि बंधेदि णिरयाऊ ॥२९५॥
किण्हादितिलेस्सजुदा जे पुरिसा ताण लक्खणं एदं ।
गोत्तं तह सकलत्तं[1] एक्कं वंछेदि मारिदुं दुट्ठो ॥२९६॥
किण्हा य णीलकाऊणुदयादो बंधिऊण णिरयाऊ ।
मरिऊण ताहिं जुत्ता पावइ णिरयं महाघोरं ॥२९७॥
धम्मदयापरिचत्तो[2] अमुक्कवेरो पयंडकलहयरो ।
बहुकोहो किण्हाए जंमदि धूमादिचरिमंते ॥२९८॥
विसयासत्तो विमदी माणी विण्णाणवज्जिदो मंदो ।
अलसो भीरू मायापवंचबहुलो य णिद्दालू ॥२९९॥
परवंचणप्पसत्तो लोहंधो धणसुहाकंखी ।
बहुसण्णा णीलाए जम्मदि तं चेव धूमंतं ॥३००॥
अप्पाणं मण्णंता अण्णं णिंदेदि अलियदोसेहिं ।
भीरू सोकविसण्णो पराबमाणी असूयाअ ॥३०१॥

1 A सकलं ह; 2 परिचत्तो (?) ।

अमुणियकज्जाकज्जो धूवंतो परमपहइ सव्वहइ (?)।
अप्पं पिव मरणंतो परं पि कस्स वि ण पत्तिअइ ॥३०२॥
थुव्वंतो देइ धणं मरिदुं वंछेदि समरसंघट्टे।
काऊण संजुत्तो जंमदि घम्मादिमेघंतं ॥३०३॥

॥ आउगबंधणपरिणामा सम्मत्ता ॥

इंदियसेढीबद्धं पइण्णयाणं हवंति उवरिंमि।
बाहिं बहुलस्सिजुदा अक्कोवट्टायधोमुहाकंठा ॥३०४॥
चेट्ठंदि जम्मभूमी सा[1] घम्मप्पहुदिखेतिदयंमि (?)।
उत्तियकोत्थलिकुंभीमोद्दलिमोग्गरमुइंगणालिणिहा ॥३०५॥
गोहत्थितुरयभत्थो अंतं पुढ अंबरीसदोणीओ।
चउपंचमपुढवीसुं आयारो जम्मभूमीणं ॥३०६॥
झल्लरिमल्लयपत्थीकेयूरमसूरसाणयकिलिंजा।
धयदीविचक्कवावासीगालसरिसा महाभीमा ॥३०७॥
अज्जखरकरहसरिच्छा संदोलअरिक्खसंणिहागारा।
छसत्तमपुढवीणं दुरिक्खणिज्जा महाघोरा ॥३०८॥
करवत्तसरिच्छाओ अंतेवट्टा समंतदाऊ य।
मज्जवमइयो णारयजम्मणभूमीउ भीमाए ॥३०९॥
अजगजमहिसतुरंगमखरोट्टमज्जालभेसपहुदीणं।
कुथिताणं गंधादो णिरए गंधा अणंतगुणा ॥३१०॥
पणकोसवासजुत्ता होंति जहण्णम्हि जम्मभूमीओ।
जेट्ठचउस्सयाणि दहपणरसं च मज्झिमए ॥३११॥

५। ४००। १०। १५।

जंमणखिदीण उदया णियणियरुंदाणि पंचगुणिदाणि।
सत्तितिदुगेक्कोणे पण कोणा होंति पदाउ ॥३१२॥

२५। २०००। ५०। ७५।

एक्कदुतिपंचसत्त य जंमणखेत्तेसु दारकोणाणि।
तेत्तियमेत्ता दारा सेढीबद्धे पइण्णए एवं ॥३१३॥
तिद्वारतिकोणाउं इंदयणिरयाणि जम्मभूमीउं।
णिच्चंधयारबहुला कत्थुरिहिंता[2] अणंतगुणो ॥३१४॥

---

[1] साघम्मपहुदि.; [2] कत्थुरिहिंतो (?)।

। जम्मणभूमिगदा ।

पावेणं णिरयबिले जादूणं ता मुहुत्तगंमेत्ते ।
छप्पज्जत्ती पाविय आकंसिय भयजुदो होदि ॥३१५॥
भीदीए कंपमाणो चलिदुं दुक्खेण पट्ठिओ संतो ।
छत्तीसाउहमज्झे पडिदूणं तत्थ उप्पलइ ॥३१६॥
उच्छेहजोयणाणि सत्तधणूछस्सहस्सपंचसया ।
उप्पलइ पढमखेत्ते दुगुणं दुगुणं कमेण सेसेसु ॥३१७॥

जो ७ ध ६५०० ।

दट्ठूणमयसिलंबं जह वग्घो तह पुराणणेरइया ।
णवणारयं णिसंसा णिब्भच्छंता पधावंति ॥३१८॥
साणगणा एक्केक्के दुक्खं धावंति दारुणपयारं ।
तह अण्णोण्णं णिच्चं दुस्सहपीडादि कुव्वंति ॥३१९॥
चक्कसरसूलतोमरमोग्गरकरवत्तकोंतसूईणं ।
मुसलासिप्पहुदीणं वणणगदावाणलादीणं ॥३२०॥
वयवग्घतरच्छसिगालसाणमज्जालसीहपक्खीणं ।
अण्णोण्णं च सदा ते णियणियदेहं विगुव्वंति ॥३२१॥
गहिरबिलधूममारुदअइतत्तकहल्लिजंतचुल्लीणं ।
कंडणिपीसणिदव्वीणरूवमण्णे विकुव्वंति ॥३२२॥
सूवरवणग्गिसोणिदकिमिसरिदहकूववाइपहुदीणं ।
पुहुपुहुरूवविहीणा णियणियदेहं पकुव्वंति ॥३२३॥
पुच्छिय पलायमाणं णारइयं वग्घकेसरिप्पहुदी ।
वज्जमयवियलतोंडा कत्थवि भक्खंति रोसेण ॥३२४॥
पीलिज्जंते केई जंतसहस्सेहिं विरसविलवंता ।
अण्णे हम्मंति तहिं अवरे छेज्जंति विविहभंगीहिं ॥३२५॥
अण्णोण्णं बज्झंते वज्जोवमसंखलेहिं थंभेसु ।
पज्जलिदम्मि हुदासे केई छुब्भंति दुप्पिच्छे ॥३२६॥
फालिज्जंते केई दारुणकरवत्तकट्टअमुहेहिं ।
अण्णे भयंकरेहिं विज्झंति विचित्तभल्लेहिं ॥३२७॥
लोहकलाहावट्टिदतेल्ले तत्तंमि केवि छुब्भंति ।
पचिदूणं पव्वंते जलंत जालुक्कडे जलणे ॥३२८॥

इंगालजालमुम्मुरअग्गीदज्झंतमहसरीरा ते ।
सीदलजलमणणंता धाविय पविसंति वइतरिणि ॥३२९॥
कत्तरिसलिलायारा णारइया तत्थ ताण अंगाणि ।
छिंदंति दुस्सहाओ पावंता विविहपीडाओ ॥३३०॥
जलयरकच्छवमंडूकमयरपहुदीण विविहरूवधरा ।
अण्णोण्णं भक्खंते वइतरिणिजलचरंमि णारइया ॥३३१॥
विउलसिलाविच्चाले दट्ठूण बिलाणि जंति पविसंति ।
तत्थ वि विसालजालो उट्ठदि सहसा महाअग्गी ॥३३२॥
दारुणहुदासजालामालाहिं दज्झमाणसव्वंगा ।
सीदलछायं मण्णिय असिपत्तवणंमि पविसंति ॥३३३॥
तत्थ वि विविहतरूणं पवणहदा तवअपत्तफलपुंजा ।
णिवडंति ताण उवरिं दुप्पिच्छा वज्जदंडं व्व ॥३३४॥
चक्कसरकणयतोमरमोग्गरकरवालकोंतमुसलाणि ।
अण्णाणि वि ताण सिरं असिपत्तवणादु णिवडंति ॥३३५॥
णिच्छिण्णसिरा भिण्णकरा बुदियंछा[1] लंबमाणअंतचया ।
रुहिरारुणघोरतणा णिस्सरणा तव्वणम्मि मुंचंति ॥३३६॥
गिद्धा गरुडा काया विहगा अवरे वि वज्जमयतोंडा ।
कादूणं खुडुदंता ताणंगं ताणि कवलंति ॥३३७॥
अंगोवंगट्ठीणं चुण्णं कादूण चंडघादेहिं ।
विउलवणाणं मज्झे छुहंति बहु[2]खारदव्वाणि ॥३३८॥
जइ विलवयंति करुणं अंगं तेजइ चलणजुगलम्मि ।[3]
तहविह सयणं खंडिय छुहंति चुल्लीसु णारइया ॥३३९॥
लोहमयजुवइपडिमं परदाररदाण गाढमंगेसुं ।
लायंते अइतत्तं खिवंति जलणो जलंतम्मि ॥३४०॥
मंसाहाररदाणं णारइया ताण अंगमंसाणि ।
छेत्तूण तम्मुहेसुं छुहंति रुहिरोल्लरूवाणि ॥३४१॥
महुमज्जाहाराणं णारइया तम्मुहेसु अइतत्तं ।
लोहदव्वं घल्लंते विलीयमाणंगपब्भारं ॥३४२॥
करवालपहरभिण्णं कूवजलं जह पुणो वि संघडदि ।
तह णारयाण अंगं छिज्जंतं विविहसत्थेहिं ॥३४३॥

1 तुदिचच्छा (?) ; 2. S बहुखार°; 3. S चलजगलम्मि ।

कत्थुरिकरकचसूजीए इंगारादिविविहभंगीहिं।
अण्णेण जादणाओ कुणंति णिरएसु णारइया ॥३४४॥
अइतित्तकडुवकत्थरिसंतीदोबुसंथियं अणंतगुणं।
घम्माए णारइया थोवं ति चिरेण भुंजंति ॥३४५॥
अजगजमहिसतुरंगमखरोट्टमज्जारतुरगपहुदीणं।
कुथिताणं गंधादो अणंतगंधो हुवेदि आहारो ॥३४६॥
अदिकुणिममसुहमण्णं रयणप्पहपहुदि जाव चरिमखिदि।
संखातीदगुणेणं दुगुच्छणिज्जो हु आहारो ॥३४७॥
घम्माए आहारो कोसस्सब्भंतरम्मि ठिदजीवे।
इहमारहि गंधेणं सेसे कोसद्धवड्डिया[1] संति ॥३४८॥

१ ३ २ ५ ३ ७ ४
२ २ २

पुव्वंबंधसुराऊ[2] अणंतअणुबंधिअण्णदरउदया।
णासियतिरयणभावा णरतिरिया केइ असुरसुरा ॥३४९॥
सिकदाणणासिपत्ता महबलकालायसामसबलं हि।
रुद्दं वरिसा विलसिदणामो महरुद्दखरणामा ॥३५०॥
कालग्गिरुद्दणामा कुंभी वेतरणिपहुदिअसुरसुरा।
गंतूण वालुकंतं णारइया[3]णप्पकोपंति ॥३५१॥
इह खेत्ते जह मणुवा पेच्छंते समहिसजुद्धादिं।
तह णिरये असुरसुरा णारयकलहं पतुट्ठमणा ॥३५२॥
एक्कतीसगद ससत्तरस तह य बावीसं होंति तेत्तीसं।
जह अरडवुमा पावंते ताव महा य बहुदुक्खं ॥३५३॥
णिरएसु णत्थि सोक्खं अणुमिसमेत्तं पि णारयाण सदा।
दुक्खाइं दारुणाइं वट्टंते पच्चमाणाणं ॥३५४॥
कदलीघादेण विणा णारयगत्ताणि आउअवसाणे।
मारुदपहदब्भाइ व णिस्सेसाणिं विलीयंते ॥३५५॥
एवं बहुविहदुक्खं जीवा पावंति पुव्वकददोसा।
तद्दुक्खस्स सरूवं को सक्कइ वण्णिदुं सयलं ॥३५६॥
सम्मत्तरयणपव्वदसिहरादो मिच्छभावखिदिपडिदो।
णिरयादिसु अइदुक्खं पाविय पविसइ णिगोदम्मि[4] ॥३५७॥

1. S °वड्ढिया; 2. बद्ध (?); 3. णारइया ; 4. Readings corrupt in AB

सम्मत्तं देसजमं लहिदूणं विसयहेदुणा चलिदो।
णिरयादिसु अइदुक्खं पाविय पविसइ णिगोदम्मि ॥३५८॥
सम्मत्तं सयलजमं लहिदूणं विसयहेदुणा चलिदो।
णिरयादिसु अइदुक्खं पाविय पविसइ णिगोदम्मि ॥३५९॥
सम्मत्तरहिदचित्तो जोइसमंतादिएहि वट्टंतो।
णिरयादिसु बहुदुक्खं पाविय पविसइ णिगोदम्मि ॥३६०॥

। दुक्खसरूवं समत्ता ।

घम्मादी खिदितिदए णारइया मिच्छभावसंजुत्ता।
जाईभरणेण केइ केई दुव्वारवेदणाभिहदा ॥३६१॥
केई देवाहिंतो धम्मणिबद्धा कहाउ सोदूणं।
गेण्हंते सम्मत्तं अणंतभवचूरणणिमित्तं ॥३६२॥
पंकमहापहुदीणं णारइया तिदसबोहणेण विणा।
सुमरिदजाईदुक्खप्पहदा गेण्हंति सम्मत्तं ॥३६३॥

। दंसणगहणं गदं ।

मज्जं पिवंता पिसिदं लसंता जीवे हणंते मिगयाण तत्ता।
णिमेससमेत्तेण सुहेण पावं पावंति दुक्खं णिरए अणंतं ॥३६४॥
लोहकोहभयमोहबलेणं जे वदंति वयणं पि असच्चं।
ते णिरंतरभये उरुदुक्खे दारुणम्मि णिरयम्मि पडंते ॥३६५॥
छेत्तूण भित्तिं वधिदूण पियं[1] पट्टादि घेत्तूण धणं हरंता।
अण्णेहिं अण्णा असहेइ मूढा भुंजंति दुक्खं निरयम्मि घोरे ॥३६६॥
लज्जाए चत्ता मयणेण मत्ता तारुण्णरत्ता परदारसत्ता।
रत्तीदिणं मेहुणमाचरंता पावंति दुक्खं णिरएसु घोरं ॥३६७॥
पुत्ते कलत्ते सजणम्मि मित्ते जे जीवणत्थं परवंचणेणं।
वड्ढंति तिण्हा दविणं हरंते ते तिव्वदुक्खे णिरयम्मि जंति ॥३६८॥
संसारण्णवमहणं तिहुवणभव्वाणपेम्मसुहजणणं।
संदरिसियसयलट्ठं संभवदेवं णमामि तिविहेण ॥३६९॥

एवमाइरियपरंपरागयतिलोयपण्णत्तिए णारयलोयसरूवणिरूवण-
पण्णत्तिणाम बिदुउ महाहियारो सम्मत्तो ॥

---

1. AB पियं।

भव्वजणमोक्खजणणं मुणिंददेविंदपणदपयकमलं ।
णमिय अभिणंदणेसं भावणलोयं परूवेमो ॥१॥
भावणणिवासखेत्तं भवणपुराणं वियप्पचिण्हाणि ।
भवणाणं परिसंखाइं दाण पमाणणामाइं ॥२॥
दक्खिणउत्तरइंदा पत्तेक्कं ताण भवणपरिमाणं ।
अप्पमहड्ढियमज्झिमभावणदेवाण भवणवासं च ॥३॥
भवणं वेदी कूडा जिणघरपासादइंदभूदीउ ।
भवणामराण संखा आउपमाणं जहाजोग्गं ॥४॥
उस्सेहोहिपमाणं गुणठाणादीपि एक्कसमयम्मि ।
उप्पज्जणमरणाण य परिमाणं तह य आगमणं ॥५॥
भावणलोयस्साउ बंधणपावोग्गभावभेदा य ।
सम्मत्तगहणहेऊ अहियारा इत्थ चउवीसं ॥६॥
रयणप्पहपुढवीए खरभाए पंकबहुलभागम्मि ।
भवणसुराणं भवणाइ होंति वररयणसोहाणि ॥७॥
सोलससहस्समेत्ता खरभागो पंकबहुलभागो वि ।
चउसीदि सहस्साणिं जोयणलक्खं दुवे मिलिदा ॥८॥

१६००० । ८४०० ।

। भावणदेवाणं णिवासखेत्तं गदं ।

असुरा णागसुवण्णा दीउवहित्थणिदविज्जुदिसअग्गी ।
वाउकुमारा परया दसभेदा होंति भवणसुरा[1] ॥९॥

। वियप्पा सम्मत्ता ।

चूडामणि अहिगरुडा करिमयरा वड्ढमाणवज्जहरी ।
कलसो तुरवो मउडे कमसो चिण्हाणि एदाणि ॥१०॥

। चिण्हा सम्मत्ता ।

चउसट्ठी चउसीदी बावत्तरि होंति छस्सु ठाणेसु ।
छाहत्तरि छण्णउदी एक्काणि भवणवासिभवणाणि ॥११॥

६४००००० । ८४००००० । ७२००००० । ७६००००० ।
७६००००० । ७६००००० । ७६००००० । ७६००००० ।
७६००००० । ९६००००० ।

1. S omits this.

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

मृगस्य शिरसा तुल्यास्तिस्रः सौम्यस्य तारकाः ।
दीपिकावद्भवत्याद्रा एकतारा च सोदिता ॥
पुनर्वसोश्च षट्तारा व्याख्यातास्तोरणोपमाः ।
अनुराधाः षडेवोक्ता मुक्ताहारोपमाश्च ताः ॥
वीणाश्रृंगसमा ज्येष्ठा तिस्रस्तस्याश्च तारकाः ।
मूलो वृश्चिकवत्प्रोक्तो नव तस्यापि तारकाः ॥
आष्यं दुष्कृतवापीवच्चतस्रस्तस्य तारकाः ।
वैश्वस्य सिंहकुंभाभाश्चतस्रस्तारका ध्रुवम् ॥
अभिजिद्गजकुंभाभस्तिस्रस्तस्य च तारकाः ।
मृदंगसदृशो दृष्टः श्रवणश्च त्रितारकः ॥
पंचतारा धनिष्ठा च पतत्पक्षिसमाश्च ताः ।
एकादशशतं तारा वारुणासैन्यवच्च ताः ॥
पूर्वप्रोष्ठपदे तारे हस्तिपूर्वतनूपमे ।
उत्तरे चोदिते तारे हस्तिनोऽपरगात्रवत् ॥
रेवती नौसमा तस्या द्वात्रिंशत्खलु तारकाः ।
अश्विनी पञ्चतारा स्यान्मताः साश्वशिरस्समा ॥
भरण्योऽपि त्रिकास्ताराश्चुल्लीपाषाणसंस्थिताः ।
सैकादशशतं चैकसहस्रं स्वस्वतारकाः ॥
प्रमाणेनाहतं कृत्तिकादितारा प्रमा भवेत् ।
नवाभिजिन्मुखास्ताराः स्वातिः पूर्वोत्तरेति च ॥
द्वादशप्रथमे मार्गे चरन्तीन्दोर्मता इति ।
मघापुनर्वसू तारे तृतीये सप्तमे पथि ॥
रोहिणी च तथा चित्रा षष्ठे मार्गे च कृत्तिका ।
विशाखा चाष्टमे चानुराधा च दशमे पथि ॥
ज्येष्ठा चैकादशे मार्गे शेषाः पञ्चदशोष्टकाः ।
हस्तमूलत्रिकं चैव मृगशीर्षद्विकं तथा ॥
पुष्यद्वितयमित्यष्टौ शेषताराः प्रकीर्तिताः ।
कृत्तिकासु पतन्तीषु मध्यं यन्त्यष्टमा मघाः ॥
उदयन्त्यनुराधाश्च शेषेष्वेवं तु योजयेत् ।
भरणी स्वातिरश्लेषा चार्द्राशतभिषकथा ॥

ज्येष्ठेति षड् जघन्याः स्युरुत्कृष्टाश्चोत्तरात्रयम् ।
पुनर्वसु विशाखा च रोहिणी चेति षट् पुनः ॥
अश्विनी कृत्तिका चानुराधा चित्रा मघा तथा ।
मूलं पूर्वात्रिकं पुष्यं हस्तः श्रवणरेवती ॥
मृगशीर्षं धनिष्ठेति त्रिपञ्च च मध्यमाः ।
रविर्जघन्यभे तिष्ठेत् सप्त द्वादशमांशकम् ॥
षड्दिनं मध्यमोत्कृष्टे भे तद्द्वित्रिगुणं क्रमात् ।
अभिजिन्नामभे नेनः सपञ्चमचतुर्दिनम् ॥
सप्तषष्ठ्याप्तशून्यत्रिषण्मुहूर्त्तं विधुश्चरेत् ।
चन्द्रो जघन्यनक्षत्रे दिनार्धं मध्यमर्क्षके ॥
दिवसं चोत्तमे भे च तिष्टेत् सार्धदिनं ध्रुवम् ।
योजनानां भवेत्त्रिंशत् षष्टिश्च नवतिः क्रमात् ॥
जघन्यमध्यमोत्कृष्टनक्षत्रपरिमण्डलम् ।
अभिजिन्मण्डलक्षेत्रमष्टादशकयोजनम् ॥
घटिका अपि तासां स्युः समसंख्या हि मण्डलैः ।

× × ×

अन्तिम भाग—

युक्तः प्राणिदयागुणेन विमलैः सत्यादिभिश्च व्रतैः
मिथ्यादृष्टिकषायनिर्जयशुचिर्जित्वेन्द्रियाणां वशम् ।
दग्ध्वा दीप्ततपोऽग्निना विरचितं कर्मापि सिद्धं मुनिः
सिद्धिं याति विहाय जन्मगहनं शार्दूलविक्रीडितम् ॥
भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्रीवर्धमानार्हता
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः ।
आचार्यावलिकागतं विरचितं तत्सिंहसूरर्षिणा
भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः सम्मन्यतां साधुभिः ॥
वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे
राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण(पाण्ड्य) राष्ट्रे
शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दी ॥

संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशसिंहवर्मणः ।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये ॥
पञ्चादशशतान्याहुः षट्त्रिंशदधिकानि वै ।
शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेष छन्दसानुष्टुभेन च ॥

इति लोकविभागे मोक्षविभागो नामैकादशं प्रकरणं समाप्तम् ।

इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत और छन्द अनुष्टुप् है। इसमें जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, द्वीपसमुद्र, काल, तिर्यग्लोक, भवनवासिलोक, गति, मध्यलोक, व्यन्तरलोक, स्वर्ग एवं मोक्षविभाग नाम के ग्यारह अधिकार या अध्याय हैं। संक्षेप में यह त्रैलोक्यसार के ढंग का ग्रन्थ है। इसके अन्तिम श्लोक ये हैं—

"वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे,
राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ।
ग्रामे च पाटलिक नामनि पाण(पाण्ड्य)राष्ट्रे,
शास्त्रं पुरा लिखितवान्मुनिसर्वनन्दी ॥१॥"

"संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशसिंहवर्मणः ।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये ॥२॥"

"पञ्चादशशतान्याहुः षट्त्रिंशदधिकानि वै ।
शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेषः छन्दसानुष्टुभेन च ॥३॥"

उल्लिखित प्रथम श्लोक का यह अर्थ होता है कि जिस समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र में शनि, वृषराशि में गुरु तथा उत्तराफाल्गुनी में चन्द्रमा था, एवं शुक्लपक्ष था (अर्थात् फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा थी) उस समय पाण (पाण्ड्य) राष्ट्र के पाटलिग्राम में इस शास्त्र का प्रणयन पहले सर्वनन्दी नामक मुनि ने किया।

श्लोकगत पाटलिग्राम शब्द के फुटनोट में जैनहितैषी भाग १३, पृष्ठ ५२६ में पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने पाटलिग्राम को पाटलिपुत्र मान कर लिखा है कि 'पाटलिपुत्र पटने का पुराना नाम है'। परन्तु वास्तव में यह पाटलिग्राम प्राचीन पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) न होकर प्राचीन पाण्ड्यदेशान्तर्गत वर्तमान कड्डलोर (Cuddalore) है।† इसे 'पेरियपुराण' आदि ग्रन्थों में तिप्पदिरिपुलियूर (Trippadiripuliyur) भी कहा गया है।

† "Some contributions of South India to Indian Culture" By Prof. Krishna Şwami Iyangar.

क्योंकि उल्लिखित द्वितीय श्लोक का यह स्पष्ट अर्थ है कि 'कांची के राजा सिंहवर्मा के राज्यारोहण के बाईसवें संवत्सर और शक ३८० वें वर्ष में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ'। कांचीश राजा यह सिंहवर्मा पल्लववंश के तत्कालीन शासक हैं; अतः लोकविभाग का रचनास्थान प्राचीन पाटलिपुत्र अर्थात् वर्तमान पटना न होकर दक्षिण भारत का उक्त स्थान मानना ही सयुक्तिक है। दूसरी बात यह है कि उक्त श्लोक में जो 'पाणराष्ट्र' शब्द आया है उसको कितने ही विद्वान् अभी तक पाण या बाण राष्ट्र के रूप में ही मानते आ रहे हैं। किन्तु वास्तव में वह पाण या बाण राष्ट्र न हो कर 'पाण्ड्य राष्ट्र' ही होना चाहिये, जिसकी राजधानी सिंहवर्मा के काल में भी कांची नगरी ही रही। ऊपर दिये अन्त के तीसरे पद्य से सिद्ध होता है कि इस लोक-विभाग में अनुष्टुप् छन्द के हिसाब से १५२६ पद्य हैं। साथ ही साथ निम्नलिखित पद्य तथा उक्त प्रथम पद्य के अन्तिम पाद से यह भी ज्ञात होता है कि इसके मूल प्राकृत के रचयिता मुनि सर्वनंदी हैं। सिंहनंदी केवल इसके संस्कृत भाषान्तरकार हैं :—

"भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्रीवर्द्धमानार्हता
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः।
आचार्यावलिकागतं विरचितं तत्सिंहसूरर्षिणा
भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः ॥"

इस ग्रन्थ में जो शक ३८० [वि० सं० ५१२] रचनाकाल दिया गया है, वह मूल प्राकृत लोकविभाग का है; न कि इस सिंहनंदिकृत संस्कृत लोकविभाग का। संभव है कि इसका रचनाकाल या तो लिखा ही नहीं गया है या लेखकों के प्रमाद से छूट गया है। इस संस्कृत लोकविभाग में 'त्रिलोक-प्रज्ञप्ति' और 'आदिपुराण' आदि के अतिरिक्त 'त्रिलोकसार' ग्रन्थ के भी उद्धरण मिलते हैं। इसलिये निर्विवाद सिद्ध होता है कि यह लोकविभाग विक्रमीय ग्यारहवीं शताब्दी के बाद का है। हाँ, इसका निश्चित समय अभी विचारणीय है।

उल्लिखित पंक्तियों का आशय यह हुआ कि उपलब्ध यह संस्कृत 'लोकविभाग' अधिक प्राचीन नहीं है। प्राचीनता से उसका इतना ही सम्बन्ध है कि वह शक संवत् ३८० [वि० सं० ५१२] के एक बहुत पुराने प्राकृत लोकविभाग का संस्कृत रूपान्तर है। परन्तु इस बात का निर्णय होना अभी बाकी है कि यह त्रिलोकसार से कितने समय पीछे बना। अगर इसके कर्त्ता श्रीसिंह सूरि जी के अन्य किसी ग्रन्थ का पता लगता तो उससे शायद इसका निर्णय हो जाता। मेरे जानते सिंहसूरि-नामक ग्रन्थकर्त्ता दो-तीन हुए हैं। यह सिंहसूरि उनमें से अन्यतम हैं या भिन्न हैं इसका भी निर्णय होना अवशिष्ट है।

प्रस्तुत लोकविभाग के कर्त्ता सिंहसूरि जी ने अपनी इस कृति में अपनी गुरुपरम्परा का कुछ भी परिचय नहीं दिया है।

इसमें सन्देह नहीं है कि यह लोकविभाग जैनभूगोल के उल्लेखनीय ग्रन्थों में से एक है। बल्कि संस्कृत साहित्य की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं है। क्योंकि यह ग्रन्थ अपनी सरलता एवं शब्द-सुन्दरता से रचयिता के संस्कृत-पाण्डित्य को अभिव्यक्त करने से बाज नहीं आता। किसी जैनप्रकाशन-संस्था को इसे प्रकाशित कर जैनभूगोल-संबंधी उलझनों को सुलझाने में सहायक बनना चाहिये।

---

(३७) ग्रन्थ नं० २५२/ख

श्रीपुराण

कर्त्ता—सकलकीर्त्ति

विषय—पुराण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३ इञ्च *चौड़ाई ६ इञ्च* *पत्र संख्या ३८*

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे।
धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे ॥१॥
पुराणं मुनिमानम्य जिनं वृषभमच्युतम्।
महतस्तत्पुराणस्य पीठिका व्याकरिष्यते ॥२॥
अनादिनिधनः कालो वर्तनालक्षणो मतः।
लोकमात्रः स सूक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणकः ॥३॥
वर्णितो द्रव्यकालेन वर्तनालक्षणेन यः।
कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय कल्पते ॥४॥
उत्सर्पिण्यावसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्त्तितौ।
उत्सर्पाद्वसर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणाम् ॥५॥
कोटीकोट्यो दशैकस्य प्रमा सागरसंख्यया।
शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते ॥६॥

× × ×

मध्य भाग (परपृष्ठ १९, पंक्ति ११)

अथ कालागरूद्दामधूपधूमाधिवासिते ।
मणिप्रदीपिकोद्योतदूरीकृततमस्तरे ॥
वासगेहेऽन्यदा शिश्ये तल्पे मृदुनि हारिणि ।
प्रियास्तनतटस्पर्शसुखमीलितलोचनः ॥
तत्र वातायनद्वारपिधानारुद्धधूमके ।
केशसंस्कारधूपोद्यद्धूमेन क्षणमूर्छितौ ॥
विरुद्धोच्छ्वासदौस्थित्यादन्तः किञ्चिदिवाकुलौ ।
दम्पती तौ निशामध्ये दीर्घनिद्रामुपेयतुः ॥
जम्बूद्वीपे महामेरोरुत्तरां दिशमाश्रिताः ।
सन्त्युदक्कुरवो नाम स्वर्गश्रीपरिहासिनः ॥
नवमासं स्थिता गर्भे रत्नगर्भगृहोपमे ।
यत्र दम्पतितामेत्य जायन्ते दानिनो नराः ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

मनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः समुत्पन्नवत्केवलं चानु तस्मात् ।
तदेवाभवद्भव्यता तादृशी सा विचित्रांगिनां निर्वृतेः प्राप्तिरत्र ॥
परिचितयतिहंसो धर्मवृष्टिं निषिंचन्
नभसि कृतनिवेशो निर्मलस्तुङ्गवृत्तिः ।
फलमविकलमग्र्यं भव्यशस्येषु कुर्वन्
व्यहरदखिलदेशांश्छादेवास्तमेघः ॥
विहृत्य सुचिरं विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो-
मुहूर्त्तपरिमास्थितो विहितसत्क्रियो विच्युतो ॥
तनुत्रितयबन्धनस्य गुणसागरमूर्त्तिः स्फुर-
ज्जगत्त्रयशिखामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥
सर्वेऽपि ते वृषभसेनमुनीशमुख्याः
सख्यं गताः सकलजन्तुषु शान्तचित्ताः ।
कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णाः
निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणीन्द्राः ॥

यो नाभेस्तनयोऽपि विश्वविदुषां पूज्यः स्वयम्भूरिति
त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सकलः स्वामीति यः शब्द्यते ।
मध्यस्थोऽपि विनेयसत्वसमितेरेवोपकारी मतो-
निर्दानोऽपि बुधैरुपास्यचरणो यः सोऽस्तु वः शान्तये ॥

इस 'श्रीपुराण' के मंगलाचरण अथवा अन्तिम भाग आदि में कहीं भी ग्रन्थकर्ता ने अपनी कुछ भी चर्चा नहीं की है। फिर भी यह ग्रन्थ वि० सं० १४५६ अर्थात् १५वीं शताब्दी वाले सकलकीर्त्ति का माना जाता है। भट्टारक सकलकीर्त्ति जैनसाहित्यक्षेत्र में बड़े ही सफल लेखक माने गये हैं। बल्कि इनके प्रश्नोत्तरश्रावकाचारादि कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। 'ज्ञानार्णव' की प्रशस्ति में एक जगह इनके सम्बन्ध में यों लिखा मिलता है—"भट्टारकपदारूढः सकलाद्यन्तकीर्त्तिभाक् । येन शास्त्राम्बुधिः सम्यक् वर्धितो निजलीलया ॥" इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप भट्टारकपदारूढ़ होते ही बड़ी आसानी से जैन साहित्य-भाण्डार को भरने लगे। 'प्रश्नोत्तरमाला' में श्रीसकलभूषण ने इन्हें "पुराणमुख्योत्तम-शास्त्रकारी" इस विशेषण के द्वारा सादर स्मरण किया है। ब्रह्मचारी जिनदास जी ने अपने 'पद्मपुराण' तथा 'हरिवंशपुराण' में आपको "महाकवित्वादिकलाप्रवीणः" कहा है। 'पाण्डव-पुराण' में भट्टारक शुभचन्द्र जी इनकी प्रशंसा में यों लिख रहे हैं कि "कीर्त्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थकर्त्री सकला पवित्रा।" इसी प्रकार और भी बहुत से ग्रन्थप्रणेताओं ने सकलकीर्त्ति को महान् ग्रन्थकार होने को लिखा है। इन की लेखनी बहुमुखी रही, अत एव प्रायः प्रत्येक विषय पर इनकी रचना उपलब्ध होती है। इस नाम के एक दूसरे भी भट्टारक हुए हैं, जो कि सुरेन्द्रकीर्त्ति भट्टारक के पट्ट पर आसीन हुए थे। इनका समय उन्नीसवीं शताब्दी है। इनका उल्लेख "जैनहितैषी" भाग ११. अङ्क १२ में मिलता है। पर इस द्वितीय सकलकीर्त्ति जी के पाण्डित्य-द्योतक कोई प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता है; इसीलिये इनकी इतनी प्रसिद्धि नहीं है।

प्रथम सकलकीर्त्ति जी पद्मनन्दी के पट्ट पर आरूढ़ हुए थे। इनके बाद क्रमशः इस पट्ट पर श्रीभुवनकीर्त्ति और श्रीज्ञानभूषण पट्टाधिकारी बने। कामराजकृत 'जयपुराण' की प्रशस्ति में इस सकलकीर्त्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य दिये गये हैं:—

"आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत् ।
स सकलकीर्त्तियोगीशो ज्ञानी भट्टारकेश्वरः ॥
येनोद्धृतो गतो धर्मो गुर्जरे वाग्वरादिके ।
निर्ग्रन्थेन कवित्वादिगुणानेवार्हता पुरा ॥
तस्माद्भुवनकीर्त्तिः श्रीज्ञानभूषणयोगिराट् ।
विजयकीर्त्तयोऽभूवन् भट्टारकपदेशिनः ॥"

इन पद्यों से ज्ञात होता है कि सकलकीर्त्ति जी ने गुजरात और बागड आदि देशों में जैनधर्म का अच्छा प्रचार किया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मंगलाचरण श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्य-कृत महापुराण का ज्यों का त्यों है। इससे अनुमान होता है कि श्रीपुराण का आदर्श महापुराण ही है। इस मंगलाचरण के प्रकृत रहस्य का पता लगाने के लिये श्रीपुराण का साद्यन्त सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता है। इसमें प्रथम तीर्थङ्कर श्रीआदिनाथ का चरित्र चित्रित है; इसीलिये लोग इसे आदिपुराण भी कहते हैं। श्रीपुराण की रचनाशैली सरल, सुन्दर एवं भावपूर्ण है।

---

(३८) ग्रन्थ नं० २५३/ख

दशभक्त्यादि महाशास्त्र

कर्त्ता—मुनीन्द्र वर्द्धमान

विषय—भक्ति आदि

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ६।। इञ्च पत्रसंख्या १३२

प्रारम्भिक भाग—

नमः श्रीवर्द्धमानाय चिद्रूपाय स्वयम्भुवे।
सहजात्मप्रकाशाय सततसंसारभेदिने ॥१॥
रागद्वेषसमृद्धिरुद्धसमता भूतेषु सत्यादयः
सर्वेषु प्रमदाजनेषु विरतिः कार्पण्यहानिः परा।
सद्भक्तिर्जिनसिद्धशास्त्रमुनिषु प्रख्यातयोगाहृति-
स्तत्सामायिकसंयुते यतिजने संजायते सर्वदा ॥२॥
नामादि षड्विधं प्रोक्तं रागद्वेषादिकारणम्।
तद्वर्जनं कदा मे स्यात् सामायिकमनुत्तरम् ॥३॥
सम्यक्त्वज्ञानसंयुक्तसंयमाढ्यतपोयुतः।
परिणामः कदा मे स्यात् सर्वसावद्यदूरगः ॥४॥

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. IV | *DECEMBER, 1938* | No. III.

Edited by
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:
INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8 SINGLE COPY Rs. 1-4.





The two torsos above were discovered in February 1937 at Lohanipur, near Patna Junction, in the bed of a dry canal. The larger figure is of special interest by reason of its fine sculptural workmanship and the high polish that has been imparted to the stone. The latter feature points to its having been fashioned during the Mauriyan period, *i.e.*, about the third century B.C. At that time, during the illusterious reign of Asoka, the Art of stone-polishing was brought to a high degree of perfection, as may be seen from the image of the Chauri bearer, nearby, and by the walls of the famous Asokan caves at Baraber in the Gaya district. It is interesting to compare this polished figure with unpolished torso of very similar shape unearthed at Mohenjadaro in Sind, a photograph of which is shown herewith.

The smaller image is that of a Jain Tirthanker dating probably from the Gupta period-about 400 A.D.

See 'Jain Antiquary' Vol III, No. I, p. 17. By the Courtesy of :—Jagadisha Pd. Jain

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. IV. No. III | ARRAH (INDIA) | Decr. 1938.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. IV, No. II, page 43.

The only thing that I want to add to this is the existence of the Drāviḍa Saṅgha, otherwise known as Mūla Saṅgha, about the first century B. C. at southern Pāṭalipura, identified with modern Tiruppāppuliyūr, a suburb of Cuddalore. This Drāviḍa Saṅgha was presided over by Śrī Kundakundācārya, a great Jaina teacher, who is held in high veneration by the Jainas all over India. The attempt by Vajranandi to revive the Tamil Saṅgam in the Tamil Nāḍu implies rather the downfall of the earlier Mūla Saṅgha associated with Śrī Kundakundācārya. This fact is mentioned merely for the information of research students who may be interested in the chronology of the Jaina influence in the Tamil land. One other interesting fact which deserves to be mentioned, in this connection, is the reference to the Prākṛta language and its prevalence in all countries. The collection of Sūtras supposed to be the remnants of the great grammatical work of Agastya contains a section on northern languages, the Sanskritic languages. Here, after referring to Sanskrit and Apabhṛṃśa, it speaks of 'Pahatam' as a language used by all the countries. On a former occasion we had to refer to the fact of Prākṛta being specially associated with the Jaina leaders of thought

in the North. A reference to this in the Tamil grammar as a language spoken all over the land is a very significant fact in as much as it would imply the early introduction of Prākṛta literature and the migration of Prākṛta speaking people into the Tamil land. Another relevant fact is the description of 'Vaḍakkiruttal' or Sallekhanā found in some of the so-called Saṅgam collections. This 'Vaḍakkiruttal' is said to be practised by some kings who were followed by their friends. An important religious practice associated with the Jainas is what is known as 'Sallekhanā'. When a person, suffering from illness or otherwise, realises that death is at hand and that it is no use to waste time in drugging the body, he resolves to spend the rest of his life in meditation and prayer. He no more accepts food or medicine till the end of life. This practice is called 'Sallekhanā' and a reference to this is found in the earliest Tamil collections where it is spoken of as 'Vaḍakkiruttal'. There is some doubt as to the derivation of this word, though the significance is quite clear. All these facts taken together constrain us to believe that we have traces of Jaina influence discernable even in the earliest Tamil literature extant, not to speak of the Jaina contributions to the literature with which we are directly concerned.

1. Tolkāppiyam.—This authoritative work on Tamil grammar is supposed to be written by a Jaina scholar. The fact is disputed by some scholars and various views are entertained as to the religion of the author. We shall merely state some of the facts of internal evidence and leave it to the reader to judge for himself. Though it is a work of grammar, it contains a mine of information about the social Polity of the early Tamilians; and research scholars are mainly dependent upon this work for information relating to the customs and manners of the early Tamilians. It has not been fully availed of by students of historical research. It is supposed to be based on earlier works on grammar such as Aindra which probably refers to a system of Sanskrit grammar. This is considered to be an authoritative work on grammar, and all later writers in Tamil language faithfully conform to the rules of diction enunciated therein. The author of this work, Tolkāppiyam, was supposed to be a student

of Agastya, the mythical founder of Tamil literature. It contains a preface by a contemporary author, Panampāranār, who certifies that the 'Aindiram-nirainca-Tolkāppiyam', the Tolkāppiyam full of Aindra grammar system, was read in Pāṇḍyan assembly and approved by Adaṅkōṭṭāśān. Dr. Burnell maintains that the author of the Tolkāppiyam was a Buddhist or Jaina and he is one of the unquestionably old Tamil authors. In the same preface, Tolkappiyar is referred to as the "great and famous Paḍimayōn." The word 'Paḍimayōn' is explained by the commentator as one who performs Tapas. It is well known to students of Jaina literature that Pratimā Yoga is a Jaina technical term and some Jaina Yogis were spoken of as Pradhāna Yogadhāris. On this basis, scholars like S. Vaiyapuri Piḷḷai infer that the author of Tolkāppiyam was a Jaina by religion. The same author strengthens his conclusion by quoting the sūtras from Tolkāppiyam referring to the classification of Jīvas according to sense-organs possessed by the Jīvas. In the section called Marabiyal Tolkāppiyam speaks of Jīvas with one sense, such as grass and trees, Jīvas with two senses such as snails, Jīvas with three senses such as ants, Jīvas with four senses such as crabs and Jīvas of fiv senses, such as higher animals and Jīvas with six senses such as human beings. It is not necessary for me to point out and emphasise the fact that this forms a philosophical doctrine of Jaina thought. This classification of Jīvas is found in all the important Jaina philosophical works both in the Sanskrit and Tamil. Works, such as Merumandirapurāṇam and Neelakeśi, two of the Jaina important philosophical works, contain description of Jīvas in this manner. It is but natural to conclude that this refers to the Jaina conception of life, and it goes without saying that the author was well-versed in Jaina philosophy. There is one other fact, not noticed by the research students, which must also be considered as an important evidence in favour of this conclusion. In another Sūtra in the same Marabiyal Tolkāppiyam introduces the classification of literary works, according to Tamil tradition, Mudal Nool and Vaḷinool, primary and basic work and secondary and derivative work. When he defines 'primary and basic work,' Mudalnool, he speaks of Mudalnool as that which is revealed by the Lord of Jñāna obtained after complete

liberation from Karmas, *i.e.*, knowledge revealed by Sarvajña after Karmakṣaya. It is not necessary to emphasise the fact that, according to Jaina tradition, almost every writer would trace the first source of his information through his previous Ācāryas and through Gaṇadharas to the Tīrthaṅkara himself propounding his dharma in the Samavasaraṇa. But to every unbiased student who is acquainted with this Jaina tradition it would be clear that the reference contained in this definition of the basic work is distinctly a reference to Sarvajñavītarāga as the fountain source of all knowledge. From all these it would be clear that the view that the author was a Jaina is more probable than the opposite view. The persons who tried to reject this suggestion have cited no serious argument in support of their view. One critic refers to the fact that such a classification of Jīvas as is contained in this work is also contained in an obscure Tantra work. But the verses referred to are not fully quoted. Even granting for argument's sake that it is referred to in that Tantra work, it will be of doubtful value as an evidence. Here it is necessary to point out that this classification of Jīvas based on sense-organs is not found in any of the other Darśanas or systems of Indian thought. It is peculiar to Jaina philosophy and Jaina philosophy alone. We may leave further discussion of this point to other competent scholars interested in such research. It is enough for us to note, at this stage, that the composition of this work on grammar, one of the earliest Tamil works, was probably by a Jaina author who was equally well-versed in Sanskrit grammar and literature. As to the exact age at which it was composed there is a good deal of controversy, and we need not enter into that discussion for the present.

This grammatical treatise consists of three great chapters 'Eluttu,' 'Śol', and 'Porul'—letters, words and meaning respectively. Each chapter consists of nine 'Iyals' or sections. On the whole it contains 1612 sūtras. This forms the foundation of the later grammatical works in the Tamil language. Unlike the Sanskrit grammar or Vyākaraṇa which has the 1st and 2nd alone, this contains three chapters, the third being on 'Porul.' This 3rd chapter contains lot of extra-grammatical matter dealing with love and war, and thus offers

many useful suggestions for reconstructing the history of the early Dravidians.

It is said that there are five commentaries on this treatise written by

1. Iḷampūraṇar.
2. Pērāśiriyar.
3. Sēnavaraiyar.
4. Naccinārkkiniyar.
5. Kallāḍar.

The first is the oldest of the commentators and is generally referred to as 'The Commentator' by the later ones.

This great work of Tamil grammar is assigned by tradition to the second Saṅgam period. We know that all the existing Tamil works are generally assigned to the last and the third Saṅgam period. Hence this Tolkāppiyam must be assumed to be anterior to practically the whole of the existing Tamil literature. This would be a curious tradition to be accepted, for it is not likely that a work of grammar would precede all the other works in a particular language. As a matter of fact, grammar is but a science of a language codifying the literary usages and as such must presuppose the existence of a vast literature in that particular language. Even the Tamil grammarians have recognised this fact in as much as they speak of 'literature first and grammar second'. Hence if we are to accept the tradition that Tolkāppiyam belongs to the period of the middle Saṅgam, we have to assume a vast literature prior to that, now somehow lost completely. Such a supposition would not be altogether improbable, if we call to our mind the condition of the early Dravidian civilisation. About the time of Aśoka, the Tamil land consisted of three great kingdoms, Cēra, Cōla and Pāṇḍya. Aśoka does nol refer to having subdued these kingdoms. They are mentioned in the list as friendly states around the Aśokan empire. That the Tamil land contained excellent harbours, carried a flourishing sea-borne trade with the European nations around the Mediterranean basin, that the Tamil language contributed important words to foreign vocabulary and that Roman gold coins indicating contact with the Roman empire are found in various places in the Tamil

country are all well-known facts to students of history. This, taken together with the recent explorations and discoveries in Mohanjadaro and Harappa, reveals a civilisation prior to that of the Āryans and gives us an idea of the high state of civilisation that must have been attained by the early Dravidians. For the present all these would remain in the field of speculation till we come across sufficient evidence to reconstruct this early Dravidian culture. Since the extant Tamil literature is said mainly to belong to the 3rd Saṅgam period, most of the works that we are going to consider must be assigned to this period. This would probably mean from 2nd century B. C. to the 7th century A.D. Since the institution of Saṅgam or Academy is taken to be a doubtful entity, the term Saṅgam is merely used as a conventional term to indicate a certain period in the history of the Tamils.

The classification of Tamil literature into three distinct periods natural, ethical and religious, suggested by Mr. Sivarāja Piḷḷai may be taken as a convenient frame-work, since it broadly represents the historical developments of Tamil literature. Some of the ethical works such as Kuraḷ and Nālaḍiyār are freely quoted in the later literature. Hence it could not be altogether a mistake if we suppose that ethical literature seems to be earlier than the Kāvya literature. In this group of ethical literature, the influence of Jaina teachers is prominently felt. The two great works, Kuraḷ and Nālaḍiyār, were the work of Jaina teachers who settled down in the Tamil country.

Kuraḷ.—The ethical work called 'Kuraḷ' is a most important work in Tamil literature, judged from its popularity among the Tamil speaking people. It is composed in the form of couplets known as Kuraḷ Veṇbā, a metre peculiar to the Tamil literature. The term Kuraḷ means 'short' as opposed to the other type of Veṇbā which is also a metre peculiar to the Tamil literature. The book derives its name Kuraḷ from the metre employed in its composition. It is a work based on the doctrine of Ahiṁsā; and throughout, you have the praising of this Ahiṁsā-dharma and the criticism of views opposed to this. The work is considered so important by the Tamils that they use various names to designate this great work, such as 'Uttaraveda', Tamil Veda, 'divine scripture,' 'the great

truth,' 'non-denominational Veda' and so on. The work is claimed by almost all the religious sects of the Tamil land. The Śaivaite claims that it was composed by a Śaivaite author. The Vaiṣṇavaites claim it as their own. The Reverend Pope who translated this into English even suggests that it is the work of an author influenced by Christianity. The fact that the different communities are vying with one another in their claim to the authorship of this great work, is itself an indication of its great eminence and importance In the midst of all such various claimants we have the Jaina who maintains that it is the work of a great Jaina Ācārya. The Jaina tradition associates this great ethical work with Ēlācāriyar which is the other name for Śrī Kundakundācārya. The period of Śrī Kundakundācārya is covered by the latter half of the first century B. C. and the former half of the first century A. D. We have referred to Śrī Kundakundācārya as the chief of the Dravidian Saṅgha at southern Pāṭalīpura.

We are not merely to depend upon this tradition to base our conclusions.

We have sufficient internal evidence as well as circumstantial evidence to substantiate our view. To any unbiased student who critically examines the contents of this work it would be quite clear that it is replete with the Ahiṁsā doctrine and therefore must be a product of Jaina imagination. Unbiased Tamil scholars who are entitled to pronounce an opinion on this point have expressed similar opinion as to the authorship of this work. But the majority of the Tamil scholars among the non-Jainas are not willing to accept such a verdict based upon scientific investigation. This opposition is mainly traceable to religious feeling. About the time of the Hindu revival (about the 7th century A. D.) the clash between the Jaina religion and the Vedic sacrificial religion of the Hindu reformers must have been so tremendous that echoes of it are felt even now. In this conflict the Jaina teachers were evidently worsted by the Hindu revivalists who had the support of the newly converted Pāṇḍyan king on their side. As a result of this it is said that several Jaina teachers were put to death by impaling them. How much of this is history and how much of this is the creation

of fertile imagination fed by religious animosity, we are not able to assess clearly. But even to this day we have this story of impaling the Jainas painted on the walls of the Madurā temple, and annual festivals are conducted celebrating the defeat and destruction of religious rivals. This would give us an insight into the attitude of the Tamil scholars towards the early Jainas. It is no secret, therefore, that they generally resent the very suggestion that this great ethical work must have been written by a Jaina scholar.

According to one tradition the author of this work is said to be one Tiruvaḷḷuvar about whom nothing is known except what is concocted by the imagination of a modern writer who is responsible for the fictitious story relating to Tiruvaḷḷuvar. That he is born of a Cāṇḍāla woman, that he was a brother and contemporary of almost all great Tamil writers are some of the absurd instances mentioned in this life of Tiruvaḷḷuvar. To mention it is enough to discredit it. But the more enthusiastic among the modern Tamil scholars and modern Tamils have elevated him into a God-head and built temples in his name and conducted annual festivals analogous to the festivals associated with the other Hindu deities. And the author is claimed to be one of the Hindu deities and the work is considered to be the revelation by such a deity. From such quarters, one cannot ordinarily expect application of canons of historical criticism. So much so, whenever any hypothesis is suggested as a result of critical examination of the contents, it is rejected with a vehemence characteristic of uninstructed religious zeal. Many so-called critics who have written something or other about this great work have been careful to maintain that peculiar intellectual attitude which Samuel Johnson had when he had to report the proceedings of the House of commons. He was particular to see that the Whigs had not the better of it. When such is the general mentality of the Tamil students and when the real spirit of research adopting the scientific and historical method is still in its infancy, it is no wonder that we have nothing worth the name of Tamil literature. Hence we are handicapped in our own attempt in presenting anything like a historical account of Jaina literature.

THE DATE OF THE *KATHĀKOŚA*.

BY

Dr. B. A Saletore, M. A., Ph. D.

I wish in this short note to draw the attention of students of Jaina literature to certain statements made in the *Kathākośa* which may help us to fix the date of that work. These refer mainly to three monarchs who were rather well known to Karnāṭaka history. They are Kakka, Arikesarin, and Mammaṇa.

In the *Kathākośa* we have the following concerning king Kakka. While writing about Dīpaśikha, king Vikramasena, and Gandharvadattā, the author of the *Kathākośa* says that as Dīpaśikha accompanied by Gandharvadattā was going along " he reached the city of Pratiṣṭhāna, and he encamped in a garden in the suburbs. And at this time it happened that Līlāvatī, the daughter of Karka, the king of that town. was bitten by a serpent... ...[1] " From this it follows that Karka, or Kakka, was the ruler of Pratiṣṭhāna.

We have two kings of that name who were rulers of that famous town. Both of them belonged to the Rāṣṭrakūṭa family. The earlier of these two was Kakka I who was the son of Govinda I and the grandson of Indra I and the great-grandson of Dantivarma I. Beyond this nothing more is available about king Kakka I[2]. But about king Kakka II, however, we have more details in history.

---

1. The *Kathākośa*, pp. 66-7. (Trans. by C. H. Tawney) (London, 1895, Oriental Translation Fund, New Series II.)

2. Fleet, Dynasties of the Kanarese Districts, pp. 386, 388. Dr. Altekar Conjectures that Kakka I's grandfather Govinda I ruled from A. D. 690 until 710. *The Rāshṭrakūṭas and their Times*. pp. 27-28 (Poona, 1934) Bhandarkar wrote that king Kakka I was a patron of the Vedic religion. This statement seems to have been based on one of the Dāśāvatāra inscriptions found at Elūra (*Archaeological Survey of Western India*, No. 10, pp. 92-96). If so, then the king Kakka mentioned by the Jaina author of the *Kathākośa* could not, have been King Kakka I. See Bhandarkar's *History of the Dekhan*, p. 194. (*Gazeteer of the Bombay Presidency*, I. P. II Bombay, 1896).

He was the last of the Rāṣtrakūṭas of Mānyakhēṭa. He was overthrown by the Western Cālukya king Tailapa Deva in A. D. 973-74, and also by the Śilahāra king Aparājita[1].

We may now turn to the other two monarchs mentioned in the *Kathākośa*. These were Arikesari and Mammaṇa. The following is related about king Arikesarin in the *Kathākośa*, while dealing with Devadharma and Devaśarma. These two sons of a Brahman named Bhīma, afflicted with poverty, wandered from town to town, village to village, and country to country till "at last (they) reached the town of Jayapura. In it dwelt a king of the name of Arikesarin, who had a daughter named Madnāvalī . "[2]

The name Arikesarin was borne by three rulers—two of whom belonged to the Cālukya dynasty and the third to the Śilahāra royal House. About the two former we have some details in the great Kannaḍa author Ādi Pampa's famous work *Bhārata* (also known as *Vikramārjunavijaya*). This work was written in A. D. 941. In it we are told that the Cālukya king Yuddhamalla, the lord of *Sapādalakṣa*, had a son named Arikesarin (I) whose sons were Narasimha and Bhadradeva. Narasimha's son was Dugdhamalla whose son was Baddega whose son was Yuddhamalla (II). The son of this was named was Narasimha (II) who by his queen Jākavve had a son named Arikesarin (II), who was the patron of the poet Ādi Pampa.[3] We have therefore, one definite date for king Arikesarin II, *viz.*, A. D. 941.

The third Arikesarin known to Karnāṭaka history was the northern Śilahāra king of that name. He ruled over the whole of

1. Fleet, *ibid.* pp. 306-7, 385, 424, 426, 430 ; Rice, *Mysore & Coorg from the Inscriptions* 72.

2. *Kathakośa*, pp. 8–9.

3. Narasimhacharya, *Karnāṭaka Kavicharite*, I p. 31, (Rev.-ed. Bangalore, 1924). See also Bhandarkar, *Op. cit.* p. 212, Fleet, *Op. cit*, *p.* 380, *n* (6). But Fleet commits an error when he makes Arikesarin II the son of Yuddhamalla II by the latter's queen Candrānanā.

Konkan in A. D. 1017 ; and his kingdom seemed to have comprised also a 1400 Province the capital of which was called Puri[1].

Which of these three Arikesarins does the author of the *Kathākośa* refer to in the passage cited above ? It is probably the last named king of the Śilahāra family. This supposition is based on the fact that the author of the work mentions another member of the same northern branch of the Śilahāra family in a later context.

Now this other member of the same northern branch of the Śilahara family is king Mammaṇa, who is mentioned on two occasions in the *Kathākośa*. When king Nala went to worship the sage Davadanti, the latter relates that in Jambudvīpa in the land of Bharata, near the mountain named Aṣṭapāda was a city called Sangara. In it there was a king named Mammaṇa. [illegible] had a wife named Vīramati. After narrating the story in connection with this monarch, the author of the *Kathākośa* relates that the soul of Mammaṇa was born in this very land of Bharata in a country named Rahulī in the city of Potana, as the son of Dhammillāsa, a cowherd, and Reṇukā, his wife[2]. The king Mammaṇa referred to here was no other than king Mummuṇi, or Māmvāṇi, a *Mahāmaṇḍaleśvara* of the northern Śilahara family, who [illegible]ed in A. D. 1059-60. Fleet identified him with the ruler of Koṅkaṇadvipa, who according to the Guḍikaṭṭi inscription, was slain by the Kādamba king Jayakeśin I.[3] We may note by the way that the city of Potana mentioned in the above context seems to have been the ancient city of Paudanapura, or Pdana, about which we have given a few details elsewhere[4].

1. Fleet, *ibid*, pp. 538-9, 542. See also George Moraes. *Kadambakula*, pp. 173-4 (Bombay, 1931).

2. *Kathāko a*, pp. 228-29.

3. Fleet, *Op. cit.*, pp. 539, 543, 567. Moraes calls him Mummiri. *Op. cit.*, pp. 175-176. See also Altekar, *The Silahr ras of Western India* in the *Indian Culture*, II No. 3, p. 410.

4. *Cf.* Saletore, *Mediaeval Jainism*, pp. 110, 185-6, 229. (Bombay, 1938).

The three kings mentioned in the *Kathākośa*, therefore, may be assigned to the following ages:

King Kakka (II)	A. D. 973
King Arikesarin	A. D. 1017
King Mammaṇa	A. D. 1059

Now since the latest among the above rulers is king Mammaṇa, and since he is mentioned in the *Kathākośa* it may not be unreasonable to conclude that that work may have been composed after the last quarter of the eleventh century A. D.[1]

1. The *Kathakośa* also mentions other monarchs whose identification I do not propose to discuss in this paper. I may observe in this connection that the author of this work, who speaks of these kings and cities of Karnāṭaka, seems to have been very well acquainted with that country.

B. A. S.

THE DATE OF JAMBŪDVĪPA PRAJNAPTI SAMGRAHA.

BY

Prof. S. Shrikaṇṭha Sastri, M.A.,

Prof. A. N. Upādhye has brought to the notice of scholars a manuscript of the *Jambūdvīpa Prajñapati Sangraha* of Padmanandi.[1] Padmanandin was the disciple of Balanandin who was the disciple of Vīranandin. He also studied under Śrīvijaya (Ṛṣi Vijaya). Padmanandin's contemporary was Śrīnandin, the disciple of Sakalacandra who was the disciple of a Māghanandin. Padmanandin wrote the work at Vārānagra in the Pāriyātra country when a Sati (Śānti) Bhūpāla was ruling. From these facts we can make out :—

Vīranandin ... Māghanandin.
Balanandin...Śrīvijaya ... Sakala Candra.
King Śanti of Bārānagara. } Padmanandin ... Śrīnandin,

The inscriptions and the Jaina Paṭṭāvaḷis mention several pontiffs belonging to different Gaṇas, Gacchas, and Vaḷis with similar names. Thus Padmanandin was one of the names of Kuṇḍkunda.[2] A second Padmanandin (or Puspanandin) was the contemporary of Aukaḷaṁka and Prabhāchandra (the author of *Prameya Kamala Mārtāṇḍa* and *Nyāya Kumuda Candrōdaya.*) A third Padmanandin surnamed Aviddha Karṇa was the disciple of Traikālayōgi and the guru of Kulabhūṣaṇa.[3] A fourth Pādmanandin was the disciple of Śubhakīrti and the guru of Māghanandin.[4] Another Padmanandin was the disciple of Śubhacandra (Adhyātmi.[5]) A sixth Padmanandin was the disciple of Prabhā Candra II (1070 A. D.) the disciple of a Māghanandin of the Krāṇur Gaṇa.[6]

---

1. *I. H. Q. Winternitz Comm. No. I, June* 1938.
2. *Sr. Bel* 57-505 *E. C.* II. *I.A.* 1891.
3. *Sr. Bel.* 64, *E. C.* II.
4. *Sr. Bel.* 50.
5. *Sr. Bel* (50) (53).
6. Shi 4, *E.. C.* VII

Similarly one Māghanandin was the successor of Gupti Gupta and the predecessor of Kuṇḍa Kunda.[1] Another Māghanandin was the guru of Prabhāchandra (1070 A. D.) of the Krāṇūr Gaṇa.[2] A third Māghanandin was the pontiff of the Sāvānta Basadi of Kollapura and was the guru of Śubhacandra Traividya.[3] A fourth Māghanandin of Dēśigaṇa, Pustāka gaccha lived in 1143 A. D.[4]

There are also several Viranandins. Viranāndin the author of *Candra Prabha Carita* was the disciple of Abhayanandin, the disciple of Guṇanandin. Since he is mentioned by Vādirāja,[5], he is earlier than 1025 A.D. Two inscriptions mention Balāka pinchha, Guṇandin Dēvēndra, Kaladhautanandin, (Madana Śamkara), Viranandin, (Gollācārya) Traikālayōgi, Abhayanandin, Soma deva, Sakala Candra and Mēghacandra who died in 1115 A. D. After Mēghacandra, Prabhācandra Subhakīrti and Bālacandra (died 27th September 1145 A. D.) are mentioned.[6] In the Vāṇada Vaḷi of the Pustaka Gaccha, Dēṣi Gāṇa we have a Viranandin whose disciple Padma Prabha died in 1232 A. D.[7] Another inscription mentions Viranandin, Mēghacandra, Rāma candra, Maladhāri (author of *Guru Pancaka Smrti*), his disciple Śubhacandra who died on 21st August (?) 1313 A. D.[8] His disciples were Mādhavacandra and Padmanandin. Another Viranandin belonged to the Balātkāra Gana, and he is placed in Vikrama Samvat 531, (473 A. D)[9] One Viranandin was the author of *Acāra Sāra* and the disciple of Mēghacandra Traividya.[10] This Viranandin's disciple was Ananta Kīrti of Koḷanūr. Again another Viranandin was the disciple of Śrutakirtī, the disciple of Vāsupūjya, the disciple of Subhakirti.[11] One Viranandin is the pupil of Mahēndrakirti. *Sr Bl.* (127 E. C. II.)

There are several Sakalacandras. To the Dēśi Gaṇa Pustaka Gaccha belonged Traikālayōgi; his disciple Abhayanandin; his

1. *Pākṣika Pratikramana Kriyā*, I,A. XXIV.
2. *Ark*, 99 *E C. V.* 3. *Sr Bel* 64, *E. C. II.* 4. *E. I. III* ; *I.A. XXIII* ;

५ चंद्र प्रभाभिसंबद्धा स्स पुष्ट ानः िय ।
कुमुद्वतीव नोधत्ते भारती वी ः.न्दि रः ॥

Par van lhacarita.

6. *Sr. Bel.* (50). 7. *Reportorie.* 8. *Sr. Bel.* 65 *E. C. II.*
9. *I. A.* XXIII, XXIV. 10. *Reperloire de Ep D Jaina* 11. *Ibid.*.

disciple Sakalacandra; his disciple Mēghacandra Traividya (1115A.D.) his disciple Prabhācandra (1121 1145 A.D).[1] One Sakalacandra had a disciple Divākaranandin of Humca who was the contemporary of Vira Sāntara (1050—1062 A. D.)[2] In the Krāṇūr Gaṇa, Tintriṇī Gaccha we have Padmanandin, Rāmanandin, his disciple Municandra. His diciples were the Kannaḍa author Guṇavarma II and Kulabhūṣaṇa Traividya. Kulabhūṣaṇa's disciple was Sakalacandra whose disciple was Bālacandra (probably the guru of the wife of the Kannaḍa poet Janna) in c. 1198, A. D.[3] Another Sakala Candra of Balahāri gana and Aḍḍakali gachha lived in the time of Amma II.[4] The another Sakala candra was the disciple of Vāsupūjya (1383 A. D.)

As regards Sri Vijaya, one is supposed to be the author of Nṛpatunga's *Kaviraja Mārga*. He may be the same as Śrivijaya mentioned in a grant of Yuvarāja Māra Simha in Ś 719 (797 A. D. and in the grant of Prabhūtavarṣa Govinda III to the Udāragaṇa at Manne in Ś 724 (802 A. D.)[5] Another Śrīvijaya Paṇḍita Pārijāta or Śrī Bhaṭṭāraka was the disciple of Kanaka sēna (Hema Sēna) of the Arungaḷānvaya of Draviḍa Samgha. His disciple was Ajitasēna Vādibhasimha whose disciple Malliṣēṇa Maladhāri died in 1128 A. D.[6] This Śrīvijaya was the *Sadharma* of Vādirāja and Dayāpāla Paṇḍita (C.1080 A.D.)

As regards the ruler Śanti, there are several alternatives. He might be Raṭṭa Śāntivarma, the subordinate of Tailapa II and the disciple of a Prabhācandra who was the disciple of Bāhubali, in 980 A. D.[7] Or Nāḷprabhu Śāntivarma the patron of Guṇavarma II, the disciple of Municandra and the subordinate of Kārtavīrya IV) (1202—1220 A. D.) and his son Lakṣmīdēva (1229 A. D)[8]

1. *Sr. Bel.* 127 *E. C. II.* 2. *Nv.* 58 *E, C. VIII.*
3. *J. B. B. R. A. S. X. I.A.* XXIII. 4. *E. I.* VII.
5. *Nel* 60, 61. *E. C.* XI. Therefore Srivijaya can never be Samanta bhadra.
6. 56 T. E. C. II ; *E.I, III.* 7. I. A. XXIV.
8. *J. B. B. R. A. S.* X, I. A. XXIII.

If Śānti stands for Sāntara, there is Trailokgamalla Vīra Santara II ruling Śāntalige 1050 in 1063 A. D. Another Vīrasantār Jagadēva was under Kālacūrya Bijjala and ruled Santaḷige from 1145 to 1164 A. D. A third Vīra Sāntara (Santeya) ruled between 1190 – 1194. A Vikrama Sāntara was the disciple of Ajitasēna Vādibha Simha of Arunguḷānvaya in 1087 A. D.)[1]

As regards Vārānagara where Padmanandin wrote his work, it might be identified with Bārakūr or Barha Kanyāpura.

Śrīvijaya who was well versed in Parmāgama and was a teacher of Padmanandin can be identified with the colleague of Vādirāja, who is said to have praised him. The Śravaṇa Beḷagola Inscription [2] says—

गंगावनीश्वर*शिरोमणि बद्ध संध्या
रागोल्लस च्चारू लखेन्दु लक्ष्मीः ।
श्री शब्द पूर्व विजयांत विनूत नामा
धीमान मानुष गुणाऽस्ततमः प्रमांशुः
न्नूर्णी । स्तुतोहि सखवादि श्रीवादिराजदेवेन ।
यद्विद्यातपसो प्रशस्तमुभयं श्रीहेमसेनेमुनौ ।
प्रगासी त्सुचिराभियोग बलतो नीतं परामुन्नतिं ।
प्रायः श्रीविजये तदेतदखिलं तत्पीठिकायांस्थिते
संक्रान्तं कथमन्यथा नतिच्चिरात् विद्व दुर्गोद्धलपथः ॥

Therefore Śrivijaya's date may be fixed as C 1020 A. D. Vīranandi is perhaps the same as the author of *Chandraprabha Carita* and earlier than Vādirāja who praises him. The ruler Śānti is Vīra Sāntara II (1050-1062 A. D.) Sakala Candra therefore identical with Sakala candra whose disciple Divākaranāndin was the contemporary of Vīra Santara at Humca. Nagar 58 mentions Vīra Sāntara whose subordinate Pattṇa Swami Nokka Seṭṭi built Paṭṭaṇa swami Jinālaya in Ś 984, Śubhakṛt Kārtika Suddha. 5 (?,) Sunday. This inscription mentions Sakalacandra Paṇḍita and Divākaranandi Siddhānta Ratnākara Dēva. Perhaps Śrīnandin was another disciple. Therefore the date of this work may be fixed as c. 1050 A. D.

1. *Nagar* 40. E. C VIII.

2. *E. I.* III p. 189. The Epitaph of Mallisena E. C. II 567.



An Unusual Form of a Jain Goddess.

BY

H. D. SANKALIA, M.A., LL.B., Ph. D. (Lond.)

The figure which is here discussed and illustrated is now exhibited in the collection of the Jain Bronzes in the Museum of the Indian Historical Research Institute, St Xavier's College, Bombay. It is of Bronze (or brass ?) and measures 4·7″×2·7″. It is of a a female, who is seated in *lalitāsana*, on a slender *padma-āsana* under a canopy of seven hooded cobra. The figure has four arms and in each of its hands is a cobra with its hood raised up. It wears a crown (its type cannot be made out) which seems to be tied round with a fillet or a chain with a jewel in the centre; necklaces (*māla*) of disc-like objects; longer necklaces (*hāra*) and circular earrings (*Kuṇḍala*); armlets and wristlets (Kaṅkaṇa or Gujarati bangali) and a longer garment reaching up to the knee. Behind the figure is a *prabhāvali* [2]—surmounted by a three stepped *kalaśa* and resting on a rectangular stand (all cast in one piece).

The vehicle (*vāhana*) associated with the figure is also shown, peeping out from behind the right leg of the figure, and taking a long stride. What it is, is difficult to make out, but seems to be a lion.

---

1. See Plate. I am grateful to Rev. H. Heras, S. J., for kindly allowing me to photograph this figure and publish it.

2. Coomaraswami, *Catalogue of the Indian Collection in the Museum of Fine Arts, Boston* (1923) pp. 105 and 108 calls it a " *Toraṇa* " and the ornament surmounting it a " *Caitya*." In this particular case the back portion may be a '*toraṇa*," but the ornament surmounting it is undoubtedly a *Kalaśa*, and asl I have said elsewhere, it is usually found on the images in Jain Temples from Gujarat. Most probably this *Kalaśa*-type ornament is a result of the evolution of the Umbrella marks found on Jain sculptures, which getting mixed up with the architectural ornament *Kalaśa* took this shape. The proper term for this ornament is perhaps " a conventionalized *chatra* (umbrella)."

What can this figure be? The inscription on the back [1] of the *prabhāvali*[2] does not help us much. From its contents[3] it may be said that the image is perhaps a *gotradevī* (family goddess) and was prepared by a Jain *Śrāvaka* (lay devotee) for establishing *(pratiṣṭhāpanārtha)* it in a Jain temple or most probably in his own house.[4]

Now, Jain iconography—both Digambara[5] as well as Śvetāmbara[6] does endow two if its *Tīrthaṅkaras* and a few *yakṣiṇīs* (attendant goddesses of the former) with a serpent hood, and some of the latter are also endowed with serpents in their hands.

---

1. (Reading from the lower right end) सं (2 more letters hidden by soldering but must be वत्) (१५?)५२ वर्षे भाप शुदि १ गोतमगोत्रे reading now the letters between the apex formed by the last line and the line on the opposite side of the *prabh vati)* मांडंण (reading now from the upper end of the opposite or the left side) मेदपाट ज्ञाता ती) य जो पयोपट जे स (further 3 or 4 letters hidden by soldering); (reading now on the base of the *prabh vati)* रद् गोत्रदेवी (and further on the base of the *āana)* तारिणी। In the year (15?) 52 (V. S.) Bhadrapada (?) Sudi 1, a family goddess, Tārinī (?) (was installed) (by a ay devotee) or (of ?) Mānḍaṇa of Madapāṭa caste (*i.e.*, of Mānḍaṇa in Mewar ?) born in *Gotama Gotra*. Muni Sukhsāgarji tells me that it is a custom among the Jains of Jaisalmer to keep a family goddess (*Kuladevī*) in every home.

2. From its sides and also from either side of the *Kalaśa* come out small wavy, flame-like decorations which seem to be characteristic of the Jain bronzes from Gujarat and Northern India.

3. A number of such inscriptions occur on Jain "Bronzes" in the collection of the Indian Historical Research Museum, St. Xavier's College, Bombay, *e.g.*, on an image of Bahuputrikā (?) installed by Gaṇaratnasūri, the place name Māṇḍaṇa is mentioned; whereas Gautama *Gotra* and a place called Medataṭa are mentioned in Jain Inscriptions of the 16th century from Jaisalmer, Rājputana. See Nahar, *Jain Inscriptions*, Part III, Inscriptions Nos. 2464 and 2468 respectively.

4. This is suggested not only by the words *gotra*, *jñātīya* etc., which occur in Jain dedicatory inscriptions of this period (C. A. D. 1000—1500), but by the palalography of the inscription also.

5. See Burgess, *Digambara Jaina Iconography*, pp 4—5; pls. II—IV.

6. Thakkura 'Feru,' *Vāstusāra Prakaraṇa*. (Tr. into Hindi by Pandit Bhagwanlal Jain, *Jain Vividha Granthamālā*, Jaipur, A. D. 1936). pp. 147—162

In Digambara iconography six *yakṣiṇī's* are associated with serpents: 1. Vajraśṛṁkhalā, attendant to Abhinandana (No. 4); 2. Vairotī attendant to Vimalanātha (No. 13); 3. Ajitā,[1] attendant to Ara (No. 18); 4. Bahurūpiṇī, attendant to Munisuvrata (No. 20); 5. Kuṣmāṇḍinī, attendant to Neminātha (No. 22); [2] 6. Padmāvatī, attendant to Pārśvanātha (No. 23).'

Except Padmāvatī, none of these *yakṣinīs* is shown with a serpent-hood; while not one of them is shown to hold a serpent in all the 4 hands. At most some of them bear serpents in two hands, *viz.*, Ajitā and Vairoti, whereas Vajraśṛṁkhalā, a serpent in one hand only, whereas Vairoṭi, Bahurūpiṇī and Padmavatī[3] have a snake as a *Vāhana.*

The Śvetāmbara yakṣiṇis associated with serpents are. Kālikā,[5] attendant to Abhinandana (No. 4); 2. Vinitā (Vijayā),[6] attendant to Vimala Jina (No. 13.); 3. Padmāvatī,[7] attendant to Pārśvanātha (No. 23.), of these only Padmāvatī has a *vāhana* and a hood of serpent. Others hold a serpent in one hand only.

Our serpent goddess (?), therefore differs from all those Digambara and Śvetāmbara *Yakṣiṇis*, who are associated with a serpent in some way or other.

We have therefore, to remain satisfied with the conclusion that our figure seems to be an unusual form of a Jain *Yakṣiṇī*, probably a combination of the Digambara form of Padmāvatī and Vairoṭī as the figure has a canopy of a serpent hood (*nāgaphaṇa*) and serpents in all the four hands.

1. In *Ibid.*, p. 168-18, The name given is Tārāvatī or Kālī.

2. In *Ibid.*, p. 168-22, she is also called Āmrā or Aṁbā-devī.

3. According to *Āśādhara Pratisthakalpa* she has a *Kamalāsana* and a *vāhana* of Kukkuṭa serpent. Ref. cited by *Thakkura, op. cit.*, p. 168-23.

4. For their iconographical description and sketches see Thakkura, *op. cit., pp. 147—162.*

5. *Ibid.*, p. 150. 6. *Ibid.*, p. 155. 7. *Ibid.*, pp. 161-62.

Outside Jain iconography even this figure seems to be unique. The goddess Manasa, whose figures of the 10th 12th centuries are found from Bengal and who is still worshipped there, has a seven-or at times five hooded canopy ; sits in *lalitāsana* or *padmāsana* pose, and holds a serpent in one hand (or according to one text and some figures, in two hands also) ;[1] but never is she represented or described as bearing serpents in all the four hands.

Our figure is also different from the Buddhist serpent goddess, Janguli. She has four arms, and has a symbol of a serpent, but only one of the hands bears a serpent[2].

In South India a serpent goddess, called Mañchāmmā is worshipped[3]. Unfortunately neither her iconographical description nor her illustration is published, so a comparison with her is not possible.[4]

1. See Bhattasali, *Iconography of Buddhist And Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum,* pp. 226-27 ; pls. LXXII (*b*) LXXIII (*a*).

2. See Bhattacharyya, *Buddhist Iconography,* pp. 78-80, pl XXVII (*c*) ; Foucher, *Iconographie Bouddhique.* Vol. II, pp. 67-68 ; Bhattasali, *op. cit.,* pp. 221-222.

3. Referred to by Bhattasali, *op. cit.,* p. 221.

4. In conexion with this serpent goddess, it is interesting to remember (not with a view to drawing any inference) a snake goddess of prehistoric times —the one found from the Palce of Minos at Knossos, in Creti. She holds a snake each in her two outstretched hands, while a lion is seated on her tiara. In another represention of hers, on a seal impression she stands beside a lion. See Evans. The *Palace* of *Minos,* Vol. I (1921), pp. 504-05.

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. IV No. II, page 61.

THE HISTORICAL PERIOD.

Preface.—The earlier portion of the "Jaina Chronology" already published in these pages only deal with the important events of the Jaina Samgha as described in the Jaina Purāṇas, which viewing from the modern historical point of view simply seem tentative. But as tradition and a right belief of an School of Thought, we have no right to ignore them. Who knows in the light of future discoveries they might turn out to be a real history. No doubt such has been the case with the personalities of the last three Tîrthankaras—I mean Ariṣṭa Nemi, Pārśva and Mahāvîra, who were regarded mere mythical personages by the earlier writers of the Indian History. But the new discoveries, recently made in the Valley of Sind, Kathiawad and elsewhere and the Literary evidence as well, proves that the above named Jaina Tîrthankaras were real personages and it supports also, the claim of the Jainas for the remote antiquity of their religion.[1] In the following pages an attempt is made to collect, express and arrange in chronological order all the important facts about the history of the Jaina Samgha.

"The Historical Period" of our "Chronology" thus begins with Ariṣṭa Nemi, the 22nd. Tîrthankara, who was a cousin and a contemporary of Kṛaṣṇa of the Mahābhārat fame. Since Kṛaṣṇa is regarded as an historical person, there is no reason why we should deny the same privilege to the Jaina Tîrthankara. Dr. Fuherer, on the strength of his sound knowledge about the Jaina Antiquities of Mathurā, had already declared that Nemināth, the 22nd. Jaina Tîrthankara was surely an historical person since Kṛaṣṇa has not been regarded

---

1. Introduction to the Jaina Sūtras, (S. B. E.) pt. II and Lord Mahāvīra and other Teachers of His Time, (Delhi).

as a mythical individual.[2] Dr. Barnett[3] and others[4] have followed him to support this view and now under the light of a newly discovered Copper-plate grant from Kathiāwād,[5] which belong to Emperor Nebachandnezzar I (circa 1140 D. C.) or II (Circa 600 B C.) of Babylon and which as deciphered by Dr. Pran Nath, mentions Nemi, the Lord of Mt. Raivata (Girnar), the historicity of the Jaina Tirthankara is proved beyond doubt. How could it be ventured now as to pass Tirthankara Ariṣṭa Nemi as a shadowy person, while he was treated in fact as a real person by ancient people.

It is not only the case with Tīrthankara Ariṣṭa Nemi, but there is available sound evidence which vouchsafe the Jaina tradition of all the 24 Tīrthankaras. It is clear from the literary—Jain and non-Jain both—as well as epigraphical evidence that the first Preacher of Jainism in this cycle of Time was Śrī Ṛṣabha.[6] The ancient antiquities of Dhārāsiva (Osmanabad).[7] Dhank (Kathiawad),[8] Mathura[9] and Udayagiri-Khandagiri in Orissa,[10] support the Jaina Tradition in as much as the sculptures found in them represent the Jain Tirthankara in more than one number and bear the images of even Ṛṣabha, Ajita, Śānti, Nemi and Pārśva as well. Consequently we find the Jaina tradition to hold good and so we cannot be justified in regarding the Jaina belief of 24 Tīrthankaras as myth only. Hence we are right in beginning the Historical period of the Jaina history with the 22nd Tīrthankara.

2. Epigraphia Indica, Vol. I, p. 389 and Vol. II, pp. 206-207.

3. Ancient Mid-Indian Kṣatriya Tribes, Vol. I, Foreword, p. IV.

4. *Nagendranath Vasu*, Harivaṁśapurāṇa, Intro, p. 6.

5. The Times of India, 19th March 1935, p. 9.

6. The Jaina Antiquary, Vol. I pp. 19—23.

7. Prof. Hirālāl Jain has pointed out the antiquity of Dhārāśiva Jaina Caves and the Sculptures in them belonging to the age of Pārśvanātha, the 22nd Tīrthankara in his Introduction to the "Karakandu—Cariya" (Karanja Series).

8. Journal of the Royal Asiatic Society, July 1938, pp. 426—430.

9. *Smith* Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura p. 12 ff.

10. Bengal, Behar and Orissa Jaina Smārka, pp. 94—96.

In my this humble attempt though it has been my endeavour throughout as to make it as comprehensive as possible and I have tried to tabulate each and every important event in the history of the Jaina Sangha; yet I fear, I have not been quite successful. The learned reader might find important gaps in it of course, but as single-handed I am and even not well-equipped with the all required materials in a Research work, I hope, they will take pity on my shortcomings and oblige me by filling up the anticipated gaps. However in assigning dates to every event, I have adopted the dates as given in the Jaina tradition; but at the same time I have spared no pains to mention other dates which has been arrived at through an independent enquiry. Moreover I have not confined myself to the Jaina texts and limits only in tabulating the events in my 'Chronology', but have freely used the general literature on Indian research and antiquity. I hope, my this humble dissertation will prove useful to the future Jain historians, who may care to compile an exhaustive history of the Jaina Church and the Jaina literature, which is a great desiredatum and need of the community. May that day dawn soon-in the very near future?

I know of course that there are a certain problem in the history of the Jaina Church, viz., the date of the Nirvāṇa of Mahāvîra, Faith of Chāṇakya and that of Aśoka, the chronological order and importance of the Paṭṭāvalis etc., which require a thorough investigation and an scholarly discussion; but I am afraid, that is beyond the scope and shape of the present dissertation and so I have refrained myself to touch them. However I shall try to handle these problems elsewhere.

EVENTS OF THE HISTORICAL PERIOD.

No.	Period & Date.	Event.
1	Bhādrapada Śukla Dvādasī.	Kraṣṇa born at Mathurā and was taken away to Brandāvana, where he was reared up by Yaśodā, the wife of cowherd Sunanda. (Hari, XXXV, 19—28.)
2	...	Kraṣṇa and Balarāma came to Mathurā with other Yādvas and destroyed Kaṃsa, the ruling chief of that place and installed Ugrasena on the throne of Mathurā. (Hari, XXXVI, 42—45.)
3	......	Jarāsindhu, the monarch of Magadha, having heard about the death of his son-in-law Kaṃsa at the hands of Kṛaṣṇa sent his sons with a great army against him but they were all defeated. *Ibid* & Uttarapurāṇa, Parva 71.
4	Śrāvaṇa Śukla ṣaṣṭi.	After five lac years since Naminūth attained Nirvāna Ariṣṭa-Nemi, the 22nd Tīrthaṁkara born at Śūrīpura, His parents being King Samudravijaya, the chief of the Daśārha —Yādava Kṣatriyas and queen Śivā. (*Ibid.*)

To be Continued.

NOTE ON DEVAṆUPPIYA.

BY

Kalipada Mitra, M.A., B.L.

Devāṇuppiya is interpreted by Dr. P. L. Vaidya in his editions (e.g., *Uvāsagadasāo, Antagaḍadasāo, Nirayāvaliyāo*) as "*devānām-priya*, or beloved of the gods (used as a term of courteous address)." Pandit Hargovind Das Sheth in his *Pāiasaddamahaṇṇavo* gives its Sanskrit equivalent *devānupriya* with the meanings, "भद्र, महाशय, महानुभाव, सरलप्रकृति".

Devānampriya is familiar to students of the edicts of Asoka, whose title it is. It has got many variants—*devānampriyo* Piyadasi rājā (Girnar Edict VIII), *devanampriyo* (Sāhbāzgarhi VIII), *devana priye* (Mānsehrā VIII), *devānampiye* (Kalsi, Dhauli, Jaugad), *devānaṃ-piyo, devana-priyo, devānā-piye*, etc. Vincent Smith suggested "Sacred Majesty" for it. The ground for such an assumption seems to be that whereas in Sāhbāzgarhi, Mānsehrā and Kalsi edicts (VIII) we read *devana (ṃ) priya*, or *devānaṃ piya*, the corresponding expressions in Girnar, Dhauli and Jaugad edicts (VIII) are *rājāno, lājane*. But this title was not confined to Asoka, it seems to have been used by his predecessors and successors. In the cave dedications of Asoka's grandson Dasaratha (see Woolner's *Asoka Text and Glossary*, Pt. I p. 52) we read "Vahiyak (ā) Kubhā Dasalathena *devānaṃ piyenā* ānaṃ taliyam," (in B. and C. the same expressions; only the names of the cave are different, *viz.*, Gopikā and Vaḍathikā). Tissa, the contemporary king of Ceylon had also this title.[1] It will therefore appear that *devānaṃ priya* was a title of kings and

1. Bhandarkar—*Asoka*, p. 7; also used of other Ceylon Kings, *viz.*, Vaṅkanāsika-Tissa, Gajabāhuka-gāminī, and Mahallaka-Nāga.

V. Smith—*Asoka*, p. 211.

Dr. R. K. Mokerji—*Asoka q. v.*

princes.[1] Then it, and its optional form *devapriyah* was used as a term of high honour. "Patañjali includes it in *bhavad-ādi* words used for auspicious address."[2]

" Bana uses this as a term of honour. Even in *Śukla Yajurveda* the term in changed order (*priyaṃ devānaṃ*) is used in a good sense. But in later classical Sanskrit works the meaning deteriorated and was taken as a synonym for " *mūrkha* 'a dunce, a fool'." [3]

Pāṇini made a *sūtra, Ṣaṣṭhyā ākrośe* (VI 3—21) meaning that the genitive case ending in a compound is not dropped, if the compounded form implies reproach, censure or insult. But he did not mention *devānāṃ priyah,* nor did he foresee that such a word would be used in good or bad sense. Kātyāyana made *vārtikas* to modify Pāṇini's *sūtras* in order to accommodate the growing Sanskrit language. So when in his time the expression was treated as an honorific term, Kātyāyana said that the form *Devānāṃ-priyah* was an exception to Pāṇini's *sūtra Ṣaṣṭhyā ākrośe* and no censure or insult was implied there. So Patañjali regards this term as honorific when he uses such sentences as *prāptijño Devānāṃ priyo na tviṣṭijñah* and *tatrabhavān dīrghāyuh Devānāṃ priyah āyuṣmāniti.* So Vāmana-Jayāditya in *Kāśikāvṛtti* and Jain scholar Hemchandra in *Śabdānu-śāsana* regard the term *Devānāṃ priya* as an epithet of honour. Ramchandra (c. A. D. 1350) in the *Prakriyā Kaumudī* and Bhaṭṭoji-dīkṣita (*c.* A. D. 1600) in his *Siddhānta Kaumudī* modified the exceptional vārttika '*Devānāṃpriya iti ca*' by adding *mūrkhe* to it.

In Jain literature the sense of 'a fool' which was a very late importation would evidently be absent in *devāṇuppiya,* but it is also evident that the intense honorific implication of earlier times has

---

1. Bhandarkar—*Asoka,* pp. 7, 8, " Devānāṃpriya was thus an auspicious mode of address or chonorific characterisation, before the Christian era and was used probably to indicate the belief that the rulers were under the protection of the gods (*devas*)."

2. Woolner—*Asoka Text and Glossary* Pt. II, p. 95. See Patañjali's comment on Pāṇini sūtra II, 4, 56 and V. 3, 14.

3. *The Eighth All-India Oriental Conference,* Mysore, pp. 740ff.

been considerably diluted in, if it has not altogether evaporated from, the word The sense of *tatrabhavān* seems to have been retained in some passages where *devāṇuppiya* as a third person is used as a courteous form for second person ; e.g.

(*a*) jahā ṇaṃ devāṇuppiyāṇaṃ antie bahave Uggā Bhogā jāva pavvaiyā ..(said of Mahāvīra).

(*b*) A Śavara Chief after enjoying pleasures at court asks leave of a king to return. The king says, " As your honour likes " (*Samarāicca—kahā*, p. 800)—" annayā ca vinnatto anena rāyā. deva, gacchāmi. rāiṇā bhaṇiyaṃ, jaṃ rocai devāṇuppiyassa."

But otherwise it was no more than a common polite form of address, such as ' Sir ', ' my good man', without any special honorific significance. It could be applied to everybody—male or female. A god addressing another god would call him *devāṇuppiya*.

A blind man and his friend address each other as *devāṇuppiya* : "Taye naṃ se jāiandhe purise tam mahayā jaṇasaddaṃ jāva sunettā taṃ purisaṃ evaṃ vayāsī, ' kiṃ ṇaṃ, devāṇuppiya, ajja Miyaggāme nayare indamahe i vā jāva niggacchai ?"[1] ...

Ikkāi, the district officer, addresses his servants as *devāṇuppiyā* and they address the crowd as *devāṇuppiyā*[1].

Tetaliputta (in *Nāyādhamma-kahā*) addresses his wife Poṭṭila and Subbayā Ajjā (the Venerable Superioress) as *devāṇuppiya.* King Śreṇika similarly addresses Queen Dhāriṇī and the soothsayer, and they reciprocate. A *pubba-saṅgatiya deva* is addressed as *devāṇuppiya*.

In *Supāsanāhacariaṃ* two *indasāmāniyā devā* (gods in the Saudharma heaven) perceiving the signs of *cyavana* and wishing to know their impending *bhava* go to a *kevalī* who addresses them :

... ...

Jahā bho *devāṇupiya* ! tubbhe caviūṇa devalogāo.

Saṅgāmasuraraṇṇo devīe Candalehāe .....

---

1. Dr. P. L. Vaidya's Vivāgasuyaṃ, pp. 5, 10.

Even when one is in anger and threatens somebody, he addresses him as *devāṇuppiya*. The manner of expression lends it a sarcastic and contemptuous flavour so as to signify, "Sirrah." (cf. Shakespeare), "Now Sir," "Mind you, Sir" and so forth. In the second lecture of *Uvāsagadasāo* a false god (*māyī micchādiṭṭhi*) assumes the shape of a hideous *piśāca* and attempts to make the householder Kāmadeva give up his good conduct, his *vrata* etc.

".. āsuratte ruṭṭe kuvie caṇḍikkie Kāmadevaṃ samaṇovāsayaṃ evaṃ vayāsī, "ho bho Kāmadevā samaṇovāsayā, appatthiyapatthiyā, durantapantalakkhaṇā, hīṇapuṇṇacāuddasiyā···no khalu kappai tava, *devāṇuppiyā*, jam sīlāiṃ vayāiṃ veramaṇāiṃ ...taṃ jai ṇaṃ tumaṃ ajja sīlāiṃ na chaḍḍasi no bhañjesi, to te ahaṃ ajja asinā khaṇḍā-khaṇḍiṃ karemi, jahā ṇaṃ tumaṃ, devāṇuppiyā, aṭṭaduhaṭṭavasaṭṭe akāle ceva jīviyāyo vavarovijjasi."

THE JAINA SIDDHĀNTA BHĀSKARA.

(*Gist of our Hindi Portion Vol. IV ; No. II .)*

pp. 59—64. Pt. Jugal Kishor Mukhtar has corrected some views of Pt. Hiralal, which he expressed in his article entitled "Bhagwān Puṣpadanta and Pūjyapāda Swāmi," published in the J. S. B. (IV 4).

pp. 65—66. A short biography of Daṇḍanāyaka Bharat, the patron of Mahā-Kavi Puṣpadanta has been given.

pp. 67—72. Br. Sītalprasādjī has compared the Jaina philosophy with that of the Greek Philosopher Aristotle and have shown that how near the latter philosophy comes to former one.

pp. 73—77. Hindi translation of the "Jaina References in the Dhammapada" published in the "Indian Historica Quarterly" Vol. III, pt. 3.

pp. 78—83. B. Ayodhyāprasad Goyaliya has written a cursory history of India under the Ghulām Kings since: 1206 A. D. to 1290 A. D.

pp. 84—91. B. Kamta Prasad Jain have collected and given references about Kāmpilya from the Jaina and non-Jaina literature and have described its present condition and situation. It is identified with the modern village Kampil in the Fatehgarh district of United Provinces.

pp. 92—100. Pt. K. Bhujabali Shastri have reviewed the Kannada "Gommaṭeśvara,—carite" of Kavi Candrama.

pp. 101—102. The Jaina paintings of Sittanavasala has been described by Mr. Sureshchandra Jain B.A.

K. P. Jain.

The Jaina Bibliography.

Prākṛta, Ardhamāgadhi, etc. :—

1. *Mahā-Purāṇa* of Puṣpadanta ; (*Apabhraṃsa*), edited by Prof. W. Schubring ; Hansische Universität, Hamburg (Germany.)

2. *Praśasti-Saṅgraha* (Sanskrit)—A collection of colophons etc. of Jain works, ed. by Amritlal Maganlal Shāh, Ahmedabad.

3. *Nyāa-Kumuda-Candra* of Prabhācandra (Sanskrit) edited with notes etc., by Mahendra Kumāra Nyāyaśāstrī : Introduction by Kailash Chandra Śāstri. (Manik Chandra Digambara Jain Granthamālā, Bombay).

4. *Rayaṇasāra*—of Kundakundācārya (Prākṛta) Śrī Digambara Jain Pustakālya, Sūrat.

5. *Lāṭi-Saṃhitā* of Rāyamalla (Sanskrit) edited with Hindi translation by Pt. Lālāram Śāstri, Surat.

English :—

1. *Medi eval Jainism* by Prof. B. A. Saletore, M. A., Ph. D.—The Karanāṭaka Printing Works, Bombay.

Hindi, Gujarātī, Marāthī, etc. :—

1. *Śrīmad-Rājacandra*—(Hindi) by Pt. Jagdisha Chandra Śastrī, M.A., Śri Rāyachandra Jain Granthamālā, Bombay..

2. *Jina-Śāsana-Rahsya* (Hindi) by Pt. Mānikchandra Nyāyacarya ; Jain Mitra Mandala Delhi.

3. *Jaina-Grahasta* (*Urdu*)—by Digambardas Jain, Saharanpur.

4. *Bhārata-ka-Adi-Samrāta* (*Hindi*) by Swami Karmānanda, Sahāranpur.

Select Contents of Oriental Journals.

1. *Indian Culture.*—(IV, 4) April 1938:—

   pp. 512—516.—*The Antiquity of Jainism in South India*—by K. P. Jain, M. R. A. S.

2. *Journal of the Royal Asiatic Society London,*—July 1938:—

   pp. 426—430.—*The Earliest Jain Sculptures in Kāthiāwār*—by H. D. Sankalia. M. A., Ph. D.

3. *Indian Historical Quarterly, (XIV. 2), June 1938*:—

   pp. 275—279.—*Sanskrit works on the Game Chess* by Chintaharan Chakravarti, M.A.

   pp. 327—330.—*Mohenjo-Dara and the Aryans*—by Dr. E. J. Thomas, M. A., D. Litt.

   pp. 388—391.—*Jambudvipa—prajñapti—Saṃgraha of Padmanandi*—by A. N. Upadhye, M.A.

4. *Quarterly Journal of the Mythic Society,*—Vol. XXIX No. 1, July 1938:—

   pp. 29—38.—*The Chronology of the Eastern Chālukyas*—by K. S. Vidyanathun, B.A.

   pp. 66—71.—*A Review of the Ganga—Pallava Problem*—by S. V. Viswanatha, B.A.

5. *Lāṭi-Saṃhita* of Rāyamallara (Sanskrit) edited with Hindi translation by Pt. Lālaram Śāstri, Surat.

English:—

1. *Mediaeval Jainism* by Prof. B. A Saletore, M.A., Ph. D.—The Karanāṭaka Printing Works, Bombay.

Hindi, Gujarāti, Marāṭhi etc.

1. *Śrimad-Rājacandra* (Hindi) by Pt. Jagdisha Chandr Śāstri, M.A. Śri Rāyachandra Jain Granthamālā, Bombay.
2. *Jina—Śāsana—Rahsya*—(Hindi) by Pt. Mānikchandra Nyāyācarya ; Jain Mitra Mandala Delhi.
3. *Jain—Grahasta* (Urdu) by Digambardas Jain, Saharanpur.
4. *Bharata-Kā-Adi-Samrāta* (Hindi) by Swami Karmānanda, Sahāranpu.

RULES.

1. The Jaina Antiquary and Jaina Siddhanta Bhaskara is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*,. in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause cf Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित (मू० कम कर दिया गया है)	...	२।)
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	प्रतिमा-लेख-संग्रह	...	॥)
(४)	जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण	...	१)
(५)	,, २य तथा ३य सम्मिलित किरणें	...	१।)
(६)	,, २य भाग की चारों किरणें	...	४)
(७)	,, ३य ,, ,,	...	४)
(८)	,, ४र्थ ,, ,,	...	४)
(८)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची (यह अर्ध मूल्य है)	...	॥)
(९)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	॥।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ५ किरण ४

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IV. NO. IV.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

MARCH 1939.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर और जैनएन्टीक्वेरी, अङ्गरेजी-हिन्दी-मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर; जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से जैन-तत्व के केवल उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

'भास्कर' की विशेष सूचना

'जैनसिद्धान्त-भास्कर' की इस चौथी किरण से पाँचवा वर्ष समाप्त होता है। छठे वर्ष की पहली किरण नियमानुसार वी० पी० पो० द्वारा ग्राहकों की सेवा में भेजी जायगी। यदि सहृदय ग्राहक अपना वार्षिक मूल्य ४) मनिआर्डर-द्वारा भेजने की कृपा करते तो उनके सात आने पैसे बच जाते। आशा है कि सभी ग्राहक इस बात पर अवश्य ध्यान देंगे।

जिन्हें आगामी वर्ष से ग्राहक रहना मंजूर न हो वे पहले ही तीन पैसे खर्च कर इस बात की सूचना 'भास्कर' औफिस को अवश्य दे दें। अन्यथा इस धार्मिक संस्था के व्यर्थ के सात आने पैसे नुकसान जायेंगे। खेद की बात है कि कई धनी-मानी ग्राहक भी पहले सूचित न करके वी० पी० पो० लौटा कर 'भास्कर' जैसे धार्मिक पत्र की अर्थहानि के एकमात्र कारण बन जाते हैं।

बड़े हर्ष की बात है कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय बनता जा रहा है। इसी का परिणाम है कि पाश्चात्य विद्वान् भी इसे बड़े प्रेम से अपनाते जा रहे हैं। 'भास्कर' का एकमात्र उद्देश्य सर्वत्र जैनसाहित्य, इतिहास, धर्म एवं पुरातत्त्व आदि का प्रचार करना है। जैन संसार के इस एकमात्र ऐतिहासिक पत्र 'भास्कर' को अपने गौरव की वस्तु समझ कर इसकी ग्राहक संख्या बढ़ाने की सभी ग्राहक चेष्टा करेंगे यह मेरी दृढ़ धारणा है।

मैनेजर
'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा।

भारत में ४)   विदेश में ४॥)   एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९५

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ५ फाल्गुन किरण ४

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९५

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

॥ जिनाय नमः ॥

अनेकान्त

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ५ | मार्च १९३९ । फाल्गुन वीर नि० सं० २४६५ | किरण ४

हमारे तीर्थक्षेत्र

(लेखक—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी और
प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल० एल० बी०)

प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के इतिहास में उस के तीर्थ-स्थानों का एक विशेष स्थान रहत है। जैन-सम्प्रदाय के सैकड़ों तीर्थ-स्थान हैं परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं उनके विषय में इतिहास की दृष्टि से अभी तक विचार ही नहीं किया गया है और यदि किया गया है तो बहुत ही कम। परन्तु यह निश्चित है कि तीर्थों के सम्बन्ध में पूरी-पूरी छानबीन किये बिना जैनधर्म का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा।

जैनधर्म के मुख्य सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर हैं। इन दोनों के ही तीर्थ-स्थान हैं। उनमें बहुत से ऐसे हैं जिन्हें दोनों ही एक ही स्थान में मानते पूजते हैं और बहुत से ऐसे भी हैं जिन्हें या तो दिगम्बरी ही मानते पूजते हैं या केवल श्वेताम्बरी अथवा एक सम्प्रदाय एक

स्थान में मानता है और दूसरा दूसरे स्थान में। यह अभिन्नता और भिन्नता एक इतिहासज्ञ के लिए दोनों सम्प्रदायों की अभिन्नता और भिन्नता के समयों का निर्णय करने में बहुत सहायक हो सकती है। किसी प्रान्त या प्रदेश में एक सम्प्रदाय के तीर्थ अधिक हैं और किसी में दूसरे के। इससे उन प्रान्तों में उन तीर्थों की स्थापना के समय की या उससे बाद की सम्प्रदाय-विशेष की बहुलता या प्रबलता का अनुमान भी किया जा सकता है। प्राचीन तीर्थ कौन-कौन थे और पीछे कौन-कौन कब-कब स्थापित हुए और किस भावना की प्रबलता के कारण हुए, यह जानना भी इतिहासज्ञ के लिए बहुत उपयोगी है।

बहुत से तीर्थ-स्थान एक समय बहुत प्रसिद्ध थे परन्तु इस समय उनका पता भी नहीं है, कि क्या हुए और जहाँ कुछ भी न था या एकाध मन्दिर ही था वहाँ बहुत से नये मन्दिर निर्माण हो गये हैं और पिछले सौ-दो-सौ वरसों में तो वे स्थान मन्दिरों और मूर्तियों से पाट दिये गये हैं। उनको प्राचीन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध करने के भी प्रयत्न किये गये हैं। यह भी इतिहास की एक महत्त्व की सामग्री है।

चरण-चिह्नों की पूजा, स्तूप-पूजा, मूर्ति-पूजा और दोनों का क्रम-विकास तथा मूर्ति-शिल्प और स्थापत्य-कला के वृद्धि-ह्रास की जानकारी के लिए भी तीर्थ-क्षेत्र अत्यन्त सहायक हैं।

जैन-समाज की पिछली शताब्दियों की मनोवृत्ति और कला-प्रेम का उत्कर्षापकर्ष भी इन तीर्थों के इतिहास में छुपा हुआ है।

इस समय दिगम्बर-सम्प्रदाय में तीर्थक्षेत्रों के दो ही भेद किये जाते हैं। एक तो सिद्ध-क्षेत्र जहाँ से तीर्थङ्कर या दूसरे महात्मा सिद्धपद या निर्वाण को प्राप्त हुए हैं और दूसरे अतिशय क्षेत्र, जो किसी मूर्ति या तत्रस्थ देवता के किसी अतिशय के कारण बन गये हैं या जहाँ मन्दिरों की बहुलता के कारण दर्शनार्थी अधिक जाने लगे हैं।

प्राकृत निर्वाण-भक्ति के दो खंड हैं एक निर्वाणकांड और दूसरा अतिशयक्षेत्रकांड। इन्हीं दो खंडों के कारण ही शायद उक्त मान्यता का प्रचार हुआ है।

निर्वाण-भक्ति (संस्कृत) के टीकाकार तीर्थङ्करों की निर्वाणभूमि और अन्येषां (औरोंकी) निर्वाणभूमि कह कर सिद्धक्षेत्रों के भी एक प्रकार से दो भेद करते हैं।

तीर्थङ्करों की गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान भूमियाँ भी तीर्थक्षेत्रों में गिनी जाती हैं और गिनी जानी चाहिए; पर वे उक्त दो भेदों में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकतीं।

जहाँ तक हम जानते हैं – श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र भेद नहीं माने जाते। विविध-तीर्थकल्प में इस तरह का भेद-विधान नहीं मिलता।

प्राचीन तीर्थस्थान वास्तव में कहाँ थे या कहाँ होने चाहिए और अब वे किन स्थानों में माने जा रहे हैं, केवल इसी दृष्टि से हम यह लेख लिख रहे हैं। गत जून महीने में इस

लेख के लेखकों ने अपना अवकाश का समय श्रीगजपन्थ-क्षेत्र पर व्यतीत किया था और वहाँ से माँगी-तुङ्गी क्षेत्र की भी यात्रा की थी। उसी समय इस लेख को लिखने की प्रेरणा हुई और इसका कच्चा रूप वहीं तैयार किया गया।

यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि केवल इतिहास-दृष्टि से ही यह लेख लिखा गया है, श्रद्धालुओं की श्रद्धा-भक्ति में किसी प्रकार का अन्तराय डालने के अभिप्राय से नहीं।

इसमें जो अनुमान किये गये हैं, या निर्णय दिये गये हैं वे अन्तिम नहीं हैं। उनमें भूल होने की भी संभावना है। उनके विरुद्ध पुष्ट प्रमाण मिलने पर लेखक अपने विचारों को बदलने के लिए हर-समय तैयार हैं। इस विषय में छानबीन करने की भी अभी काफी गुंजाइश है। ऐसी बहुत सी सामग्री होगी, जो अभी तक अप्रकाशित पड़ी है और जिसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जा सका है।

दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय में इस समय केवल दो ही छोटी-छोटी पुस्तकें उपलब्ध हैं जो तीर्थक्षेत्रों के सम्बन्ध में यत्किंचित्, सो भी अस्पष्ट और अधूरी, सूचनायें देती हैं और उन्हीं को मुख्य मानकर यह लेख लिखा गया है। पहली है प्राकृत निर्वाणकांड और दूसरी संस्कृत निर्वाणभक्ति। पहली में केवल १९ और दूसरी में ३२ पद्य हैं।

दूसरी पुस्तक श्रीप्रभाचंद्राचार्य के क्रियाकलाप में संगृहीत है और उस पर उनकी साधारण सी टीका भी है। उनके कथनानुसार इसके कर्त्ता पूज्यपाद स्वामी हैं यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया है*। कुन्दकुन्द की जितनी रचनायें उपलब्ध हैं वे सब प्राकृत में हैं तथा पूज्यपाद की संस्कृत में और चूंकि दोनों बहुमान्य आचार्य हैं, शायद इसीलिए तमाम भक्तियों का दोनों में बँटवारा कर दिया गया है, परंतु यह कुछ जँचता-सा नहीं है। इसे मानने के लिए कुछ और भी प्रमाण मिलने चाहिए।

पं० आशाधर का भी एक क्रिया-कलाप नाम का ग्रन्थ है और उसमें उन्होंने भी पूर्वोक्त क्रियाकलाप की अधिकांश भक्तियाँ संगृहीत की हैं परंतु उन्होंने उनके कर्त्ताओं के संबंध में इस तरह की कोई बात नहीं लिखी है।

श्री प्रभाचंद्र ने अपने क्रियाकलाप में प्राकृत निर्वाणकाण्ड का संग्रह नहीं किया है परंतु पं० आशाधर ने उसके (निर्वाणकाण्ड के) प्रारंभ की पाँच गाथायें ही दी हैं। शेष गाथायें क्यों छोड़ दी गई, यह समझ में नहीं आया। बम्बई के 'ऐलक पन्नालाल-सरस्वती-भवन'

---

*सिद्धभक्ति की टीका के अन्त में श्री प्रभाचंद्र ने इस प्रकार लिखा है—"संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।" अर्थात् संस्कृत की सारी-भक्तियाँ पूज्यपादस्वामिकृत हैं और प्राकृत की कुन्दकुन्दाचार्यकृत।

कीप्रति देखकर यह बात लिखी जा रही है जो बहुत अशुद्ध है। संभव है लेखक के प्रमाद से शेष गाथायें छूट गई हों।

निर्वाणभक्ति और निर्वाणकांड इन दोनों के ही ठीक समय-निर्णय की जरूरत है। अन्य ग्रंथों में यदि कहीं इनके उद्धरण मिल जायँ तो इस पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। फिर भी यह निश्चित है कि ये दोनों पुस्तकें पं० आशाधर जी के पहले की हैं और वे विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अंत में हुए हैं। अर्थात् कम से कम छः सौ वर्ष पहले की तो ये हैं ही—पर इन दोनों में कुछ अधिक समता नहीं है। दोनों ही जुदा-जुदा ढङ्ग से लिखी गई हैं। निर्वाणकाण्ड में तो तीर्थों का उल्लेखमात्र करके और कहीं-कहीं उनका स्थान-निर्देश करके, वहाँ से मुक्ति प्राप्त करनेवालों को नमस्कार किया गया है और निर्वाणभक्ति में पहले बीस पद्यों में केवल भगवान् महावीर के पाँचों कल्याणों का वर्णन किया गया है और फिर आगे के बारह पद्यों में कैलास, चंपापुर, गिरनार, पावापुर, सम्मेदशिखर, शत्रुञ्जय आदि का उल्लेख करके कुछ दूसरे निर्वाण-स्थानों का नाममात्र दे दिया है। पहले के २० पद्यों को पढ़ कर तो मालूम होता है कि वे एक स्वतन्त्र स्तोत्र के पद्य हैं जिनके अन्त में यह पद्य है—

"इत्येवं भगवति वर्द्धमानचन्द्रे यः स्तोत्रं पठति सुसन्ध्ययोर्द्वयोर्हि।
सोऽनन्तपरमसुखं नृदेवलोके भुक्त्वान्ते शिवपदमक्षयं प्रयाति।"

इन दो पुस्तकों के सिवाय तीर्थक्षेत्रों की खोज में सहायता देनेवाली और कोई स्वतन्त्र रचना हमारे देखने में नहीं आई। हाँ, कथा-साहित्य से कुछ बातें संगृहीत की जा सकती हैं। श्वेताम्बर-साहित्य में अवश्य ही विविध तीर्थकल्प, तीर्थमाला, विविधप्रबन्ध आदि अनेक साधन हैं।

दोनों भक्तियों के अष्टापद (कैलास), चम्पा, ऊर्जयन्त (गिरनार) और शत्रुञ्जय, ऐसे तीर्थ हैं जिनके विषय में कोई मतभेद नहीं है* और दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय इन्हें मानते हैं। अतएव इनके विषय में यह कहा जा सकता है कि ये सबसे प्राचीन हैं और शायद तब से हैं जब जैनशासन अविभक्त था, उसमें भेद नहीं हुए थे।

पावापुर भी दोनों सम्प्रदायों को मान्य है और एक ही स्थान में माना जाता है। फिर भी कुछ इतिहासज्ञ उक्त स्थान के विषय में सन्देह करते हैं। बौद्धधर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार गोरखपुर जिले का पपउर (पापापुर) गाँव ही पावापुर है, जो पडरोना के पास है और कसया से १२ मील उत्तर-पूर्व को है। कसया गोरखपुर से

* श्रीयतिवृषभाचार्य की 'तिलोयपण्णत्ति' में क्षेत्र-मंगल का उदाहरण देते हुए पावा-नगरी, उज्जयंत और चम्पा तीन नामों का उल्लेख करके आदि शब्द दे दिया है—"एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतचम्पादी।"

१७ मील पूर्व में है। मल्ल लोगों के गण-तन्त्र का संस्थागार (सभा-भवन) इसी पावानगर में था। एक बार बुद्ध भगवान् पावाके आम्रवन में ठहरे थे। जब वे बीमार हो गये, तब वहाँ से कसया या कुसीनारा को चल पड़े और इसलिए उस बारह मील के अन्तर को उन्होंने रास्ते में २५ जगह बैठ-उठ कर मध्याह्न से सन्ध्याकाल तक पार किया।

कल्पसूत्र में लिखा है कि जिस रात्रि को महावीर भगवान् का निर्वाण हुआ उस रात को नव मल्ल और नव लिच्छवि इस तरह अट्ठारह गण-राजाओं ने प्रोषधोपवास किया और उनके धर्मोपदेश के अभाव में दीपक जला कर प्रकाश किया। इससे भी अनुमान होता है कि मल्लों के गण-तन्त्र के समीप ही भगवान् का निर्वाण हुआ होगा। डा: जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों को भी वर्तमान पावापुरी के ठीक होने में सन्देह है।

मालूम नहीं वर्तमान पावापुरी में उसकी प्राचीनता को प्रकट करनेवाले कोई चिह्न लेखादि हैं या नहीं और यदि हैं तो वे कितने प्राचीन हैं। यद्यपि इसकी संभावना बहुत कम है। क्योंकि प्राचीनता की रक्षा करने में जैन-समाज उतना ही असावधान रहा है जितना नवीन निर्माण करने में कटिबद्ध। फिर भी इस सम्बन्ध में खोज की जानी चाहिए। पपउर के आसपास भी खोज की आवश्यकता है।

गजपन्थ, तुङ्गी, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुंथुगिरि, सिद्धवरकूट, बड़वानी आदि तीर्थ ऐसे हैं जिन्हें केवल दिगम्बर सम्प्रदाय ही मानता पूजता है और इसी तरह फलवर्द्धि (फलोधी), अर्बुदाद्रि, शङ्खपुर-पार्श्व, स्तम्भ आदि ऐसे तीर्थ हैं जिन्हें दिगम्बर-सम्प्रदाय नहीं मानता और न उसके साहित्य में इसका कोई उल्लेख मिलता है।

निर्वाणकाण्ड के तारउर, पावागढ़, पावागिरि, कुन्थुगिरि, बड़वानी आदि तीर्थों का नामोल्लेख संस्कृत निर्वाणभक्ति में भी नहीं है और निर्वाणभक्ति के सह्याद्रि, विंध्याद्रि,* हिमवत्, वृषदीपक निर्वाणकाण्ड में दिखलाई नहीं देते।

इससे अनुमान होता है कि ये दोनों भक्तियाँ पृथक् कालों की रचनायें हैं और संभव है कि इनके कर्ताओं के लिए एक दूसरे की रचना अपरिचित रही हो।

अब हम प्रत्येक तीर्थ के विषय में खोज की दृष्टि से प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे—केवल कैलास, गिरनार आदि सर्वमान्य तीर्थों को ही छोड़ देंगे।

अतिशय क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी विचार करना है, जो एक दूसरे लेख में किया जायगा।

---

* निर्वाणकाण्ड की कुछ प्रतियों में १९ वीं गाथा के बाद नीचे लिखी गाथा अधिक मिलती है जिसमें विंध्याचल का उल्लेख है—

विंध्याचलम्मि रण्णे मेहणादो इंदजयसहियो।
मेघव(उ?)रणाम तित्थं(?) णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

तारउर

बरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥ ३ ॥

निर्वाणकाण्ड की इस तीसरी गाथा में* इस स्थान से वरांग, सागरदत्त, वरदत्तादि साढ़े तीन करोड़ मुनियों का निर्वाण लिखा है। मुद्रित पुस्तकों में 'तारवरणयरे' पाठ है परन्तु हमारी समझ में 'तारउरणियडे' (तारापुरनिकटे) होना चाहिए। 'तारउर' तारापुर का अपभ्रंश है। सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपालप्रतिबोध' नामक ग्रन्थ में 'आर्यखपुटाचार्य-कथा' दी है। उक्त कथा में इसे ताराउर (तारापुर) ही लिखा है—

तारादू बुद्धदेवीइ मंदिरं तेण कारियं पुव्वं।
आसन्नगिरम्मि तओ भण्णइ ताराउरं ति इमो ॥
तेणेव तत्थ पच्छा भवणं सिद्धाइयाइ कारवियं।
तं पुणकालवसेणं दिगंबरेहिं परिग्गहियं ॥
तत्थ ममाएसेणं अजियजिणिंदस्स मंदिरं तुंगं।
दंडाहिव अभएणं जसदेवसुएण निम्मवियं ॥

अर्थात् वच्छराज ने पहले पहाड़ के निकट बौद्धों की तारादेवी का मंदिर बनवाया था, इसीलिए उसे तारापुर कहते हैं। इसके बाद उसी वच्छराज ने फिर मंदिर बनवाया जो कालवश दिगम्बरियों ने ले लिया। वहीं पर मेरे (कुमारपाल के आदेश से अजितनाथ का ऊँचा मंदिर यशोदेव के पुत्र दण्डाधिप अभयदेव ने निर्माण किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तारंगा में जो विशाल श्वेताम्बर मंदिर कुमारपाल महाराज का बनवाया हुआ मौजूद है, यह उसीका उल्लेख है।

तारापुर का तारउर से तारंगा नाम कैसे बन गया, यह समझ में नहीं आता। संभव है यह तारागाँव से अपभ्रष्ट हुआ हो। इस स्थान से वरांगादि का मोक्ष जाना लिखा है। परंतु वर्द्धमान भट्टारक के वरांग-चरित के अनुसार तो वरांग मुक्त नहीं हुए बल्कि सर्वार्थसिद्धि को गये हैं! इसके सिवाय उक्त चरित में उनके देहत्याग के स्थान का नाम तारंगा या तारपुर नहीं लिखा है। उन्हों ने आनर्तपुर नगर बसाया था, वहाँ विशाल जिनालय बनवा कर प्रतिष्ठा कराई थी और फिर वहीं वरदत्त गणधर के समीप दीक्षा

* निर्वाणकाण्ड की गाथाओं के नम्बर सब प्रतियों में एक से नहीं हैं, कहीं-कहीं गड़बड़ भी है, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में प्रकाशित 'कुमारपाल-प्रतिबोध' पृष्ठ ४४३।

ले कर तपस्या की थी। श्रीजटासिंहनन्दी के वराङ्गचरित्र के अनुसार भी वराङ्ग वहीं पर तपस्या कर के सर्वार्थसिद्धि को गये हैं। भागवत पुराण के अनुसार द्वारका आनर्त्त देश में ही थी और उसकी राजधानी आनर्तपुर का वर्तमान तारंगा से कोई मेल नहीं खाता।

संस्कृत निर्वाणभक्ति में भी तारापुर या तारङ्गा का नाम नहीं है।

यहाँ दो दिगम्बर-मंदिर हैं जिन में से एक संवत १६११ का है और दूसरा १९२३ का है।

पावागिरि

रामसुआ विण्णिजणा लाडनरिंदाण अट्ठकोडीओ।
पावाए गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥५॥

अर्थात् पावा के गिरिशिखर से राम के दो पुत्र और लाट-नरेंद्र आदि पाँच करोड़ मुनियों को मोक्ष प्राप्त हुआ।

इस समय बड़ोदा से २८ मील की दूरी पर चाँपानेर के पास का पावागढ़ उक्त पावागिरि माना और पूजा जाता है।

यह पावागढ़ वास्तव में एक बहुत विशाल पहाड़ी किला है जिसका प्राचीन शिलालेखों में 'पावकगढ़' नाम से उल्लेख मिलता है। यह पहले तोमरवंशी राजाओं के अधिकार में था। चारण कवि चंद ने अपने पृथ्वीराजरासा में इस पाक गढ़ का अधिपति रामगौड़ तोमर को लिखा है। उसके पीछे यह सन १४८३ में मुसलमानों के अधिकार में आया। उनके समय में भी यह प्रसिद्ध किला गिना जाता था।

यहाँ पहाड़ के ऊपर आठ-दस मन्दिरों के खण्डहर पड़े हुए हैं जिनमें से तीन-चार का कुछ समय पहले जीर्णोद्धार किया गया है। इन मन्दिरों में जो प्रतिमायें हैं उन में सबसे प्राचीन प्रतिमा माघ सुदी ७ सोमवार वि० सं० १६४२ को भट्टारक वादिभूषण के उपदेश से प्रतिष्ठित हुई है। १६४५, १६६४ और १६६९ की भी प्रतिमायें हैं † परंतु प्रतिमा-लेखों से अथवा और किसी प्राचीन लेख से इस स्थान का सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता।

पावागढ़ के नीचे चाँपानेर शहर के खण्डहर पड़े हुए हैं। किसी समय यह बड़ा भारी नगर था।

श्री रविषेणाचार्यकृत पद्मचरित के अनुसार रामचंद्र के पुत्र लव-कुश ने अयोध्या में ही दीक्षा ली थी; परंतु इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि उनका निर्वाण पावागिरि से हुआ था। अन्य किसी कथा-ग्रन्थ में भी इसका स्पष्ट निर्देश देखने में नहीं आया।

† दिगम्बर-जैन डिरैक्टरी के अनुसार पाँचवें फाटक के बाद छठे के बाहर भीत पर एक पद्मासन-प्रतिमा डेढ़ फीट ऊँची उत्कीर्ण है, जिस पर संवत् ११३४ लिखा है।

पावागिरि (द्वितीय)

पावागिरिवरसिहरे सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो ।
चलणाणईतडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१३॥

इस गाथा में एक दूसरे पावागिरि का निर्देश है जो चलना नदी के तट पर था और जहाँ से सुवर्णभद्रादि चार मुनियों को मोक्ष हुआ था। संस्कृत निर्वाणभक्ति में न तो उक्त चलना नदी का नाम है और न पावागिरि का, सिर्फ लिखा है—'नद्यास्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः ।' अर्थात् नदी के तट से कर्मशत्रु को जीतनेवाले सुवर्णभद्र का मोक्ष हुआ।

अभी तक इस दूसरे पावागिरि का कोई पता नहीं था; परन्तु अब कुछ धनिकों और पण्डितों ने मिल कर इन्दौर के पास 'ऊन' नामक स्थान को पावागिरि बना डाला है और वहाँ धर्मशाला मन्दिर आदि निर्माण कराके बाकायदा तीर्थ स्थापित कर दिया है। पिछले समय में तीर्थ किस तरह निर्माण होते रहे हैं, मानो उसका यह एक ताजा उदाहरण है।

'महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष' के अनुसार ऊन में एक जैन-मंदिर बारहवीं सदी का है। उसमें धार के परमार राजा का शिलालेख है। परन्तु जब तक किसी प्राचीन लेख में उक्त स्थान का नाम 'पावागिरि' लिखा हुआ नहीं मिलता, तब तक ऊन के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह एक प्राचीन स्थान है और वहाँ किसी समय जैनों ने बड़े-बड़े मन्दिर बनवाकर अपना वैभव और धर्म-प्रेम प्रकट किया था।

एक बात और है। निर्वाणकाण्ड की बहुत-सी प्रतियों में यह गाथा ही नहीं है। पं० पन्नालालजी सोनी ने अपने सम्पादित किये हुए 'क्रियाकलाप' में इस गाथा पर टिप्पण दिया है कि 'गाथेयं पुस्तकान्तरे नास्ति ।' यहाँ के 'ऐलक पन्नालाल-सरस्वती-भवन' के गुटका नं० $\frac{१५५६}{ज}$ में जो निर्वाणकाण्ड है, उसमें भी यह नहीं है। यह गुटका कम से कम दो सौ वर्ष का पुराना जरूर होगा। संभव है यह गाथा प्रक्षिप्त ही हो। किसी लेखक ने अन्यत्र का पाठ टिप्पण में लिख लिया हो और पीछे वह मूल में शामिल हो गया हो।

इन दो पावाओं के विषय में विचार करते समय हमारा ध्यान बुन्देलखण्ड के दो अतिशय क्षेत्रों की तरफ जाता है। जिन में से एक तो टीकमगढ़ (ओरछा स्टेट) से तीन मील दूर है और जिसे 'पपौरा' कहते हैं। वहाँ बारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के बने हुए ८२ विशाल मन्दिर हैं। विक्रम संवत् १२०२ की चंदेल राजा मदनवर्मदेव के समय की दो प्रतिमायें हैं। इस स्थान से दो मील पर 'उर' नाम की एक नदी है और रमन्ना (रमण्यारण्यक) नामका बहुत घना जङ्गल मन्दिरों के कोट से ही लगा हुआ है। यह पपौरा या पपौर पापापुर या पपउर से मेल खाता है। दूसरा अतिशयक्षेत्र 'पवाजी' कहलाता है,

जो ता .बहेट (ललितपुर और झांसी के बीच) से ५ मील उत्तर की ओर है। वहाँ भी एक मौहिरे में बारहवीं शताब्दी की प्रतिमायें हैं। यह मौहिरा एक पहाड़ी के मूल में है और और आस-पास अनेक पहाड़ियाँ हैं। क्षेत्र से आध मील के फासिले पर 'पवा' नामक गाँव भी है और एक विशाल सरोवर। बेतवा (वेत्रवती नदी भी कोई डेढ़ मील पर है। यह 'पवा' नाम भी पावाके बहुत निकट है।

पं० आशाधरजी ने अपने क्रियाकलाप में निर्वाणकाण्ड की जो गाथायें दी हैं उनमें 'पावाए गिरिसिहरे' पाठ है। उससे भास होता है कि 'पावा' गाँव का नाम होगा और उसी के पास का कोई गिरि-शिखर मोक्षस्थान होगा।

पर यह तो एक कल्पना है। ढूँढ़-खोज करनेवालोंको दिशासूचन-भर के लिये लिख दी है। पवा की कल्पना टीकमगढ़ (झांसी) के पं० ठाकुरदासजी जैन बी० ए० से पूछताछ करते समय अचानक ही ध्यान में आ गई।

गजपन्थ

सत्तेव य बलभद्दा जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
गजपंथे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥७॥*

इस गाथा में गजपंथगिरि से सात बलभद्र और यादव राजादि आठ करोड़ मुनियों का मोक्षगमन बतलाया है। गाथा का एक और अधिक प्रचलित पाठ है 'संते जे बलभद्दा' जिससे सात की संख्या का बोध नहीं होता। दो बलभद्र, अर्थात् रामचन्द्र और बलदेव (कृष्ण के भ्राता) का तो यह निर्वाणस्थल है नहीं। क्योंकि जैसा कि आगे बतलाया है, उत्तरपुराण के अनुसार रामचंद्र का निर्वाण सम्मेदशिखर से हुआ है और बलदेव का मोक्ष हुआ ही नहीं है, वे महेन्द्र-स्वर्ग को गये हैं। और अन्य सात बलभद्र कहाँ से मुक्त हुए हैं उत्तरपुराण से इसका कोई पता नहीं चलता। उसमें बलभद्रों के वैराग्य और दीक्षा के वर्णन तो दिये हैं, परन्तु मोक्षस्थानों के निर्देश का अभाव है। ग्रन्थान्तरों से भी इसका कुछ पता नहीं चलता। और यह निर्वाणकाण्ड में भी नहीं बतलाया कि गजपंथ कहाँ था।

वर्तमान गजपंथ नासिक के निकट मसरूल गाँव के पास की एक छोटी सी पहाड़ी पर माना और पूजा जाता है; परंतु इस क्षेत्र का इतिहास विक्रम संवत् १९३९ से ही प्रारंभ होता है जब कि इसे नागौर (मारवाड़) के भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति ने स्थापित किया था। उन्होंने मसरूल गाँव में आकर वहाँ के पाटील (मालगुजार) से कहा कि मैं इस पास की पहाड़ी पर जैनतीर्थ बनाऊँगा और तुम्हारे इस गाँव में धर्मशाला। इसके लिए मुझे जगह चाहिए। गाँव का पाटील

* पं० पन्नालालजी सोनीद्वारा सम्पादित क्रियाकलाप' में यह गाथा तीसरे नम्बर पर दी हुई है।

उस समय उपस्थित नहीं था, उसके लड़के थे। उनसे जगह का सौदा तय नहीं हुआ तब भट्टारक जी अपने परिकर के साथ दूसरे गाँव चले गये जो म्हसरूल से पास ही है और जिसके निकट एक दूसरी पहाड़ी है। उस पहाड़ी में भी कुछ गुफायें और मूर्तियाँ हैं, इसलिए उन्हें अगत्या वहीं तीर्थस्थापन करने का विचार करना पड़ा। इधर जब वृद्ध पाटील अपने घर आया और उसने सब वृत्तान्त सुना तब लड़कों से अप्रसन्न हुआ और बोला तुमने गलती की। जैनी लोग बड़े मालदार हैं, यहाँ धर्मशाला, मंदिर बनने से हमलोगों को और बस्ती वालों को बहुत लाभ होगा। आखिर वह तत्काल ही अपनी गाड़ी जोत कर उस गाँव को चल दिया और भट्टारक जी से मिला। उसने मनामुनू कर सौदा पक्का कर दिया और उन्हें वापस लौटा लाया।

इसके बाद भट्टारक जी ने धर्मशाला बनवाई और संवत् १९४२ में शोलापुर सेठ नानचंद फतेहचंद जी ने उनकी प्रेरणा से मंदिर-निर्माण कराया जिसकी प्रतिष्ठा १९४३ में की गई।

इस लेख के लेखकों में से एक (नाथूराम प्रेमी) लगभग २५ वर्ष पहले म्हसरूल में लगभग दो महीने लगातार रहा था और उक्त वृद्ध पाटील से प्रायः हररोज ही मिलता था। पाटील ने स्वयं अपने मुँह से यह इतिहास कहा था।

गजपंथ की पहाड़ी पर जो गुफायें और प्रतिमायें थीं उनका तो अब धनी भक्तों द्वारा इतना रूपान्तर हो गया है कि प्राचीनता का कोई चिह्न भी वहाँ बाकी नहीं रहा है। परंतु उस समय भी यहाँ कोई ऐसा लेख या चिह्न नहीं था जिससे यह विश्वास किया जा सके कि १९३९ के पहले कभी इसका नाम गजपंथ रहा होगा।

दिगम्बर-जैनडिरेक्टरी में जो सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी, इस क्षेत्र का कुछ वर्णन दिया है। उसमें यहाँ की प्राचीनता का कोई उल्लेख नहीं है, अन्त में सिर्फ इतना लिखा है कि "यहाँ एक खंडित शिलालेख मिला है। जिसका सारांश यह है—'संवत् १४४१ में हंसराज-माता गोदी बाई ने माणिक स्वामी के दर्शन कर के अपना जन्म सफल किया।'

यह शिलालेख कहाँ है और इसका मूलरूप क्या है, यह जानने का अब कोई उपाय नहीं है। परंतु यह एक बड़ा अद्भुत उल्लेख है। क्योंकि निजामस्टेट में (अलेर स्टेशन से ४ मील) जो कुल्पाक नाम का तीर्थ है, वहाँ के मूल नायक की प्रतिमा माणिक्य स्वामी के नाम से प्रख्यात है। श्रीजिनप्रभसूरि के (वि० सं० १३६४—८९) विविध तीर्थकल्प में 'कोल्पाक-माणिक्यदेवतीर्थ-कल्प' नाम का जो कल्प है, उसमें इस तीर्थ का और माणिक्य-स्वामी की आश्चर्यजनक मूर्ति का विस्तृत वर्णन दिया है।

इसी तरह ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन बम्बई के एक गुटके में (नं० ११५६ ख) एक विना शीर्षक की रचना है। जिसमें १७ पद्य हैं, जो भट्टारक धर्मभूषण के विविध शिष्यों के बनाये हुए हैं और जिनके अन्त में प्रायः बनाने वाले शिष्य का नाम दिया हुआ है। उसमें भी कुल्पाक क्षेत्र के माणिक स्वामी का वर्णन है।

देस तिलंगममझार, सार कुलुपाक्ष सुजानो।
मानिकस्वामी देव, आदि जिनबिंब बखानो॥
चक्रपती भरतेस, तासकर मुद्रिक प्रतिमा।
पूजी रावणराय, काज(ल ?) दुस्सम युग-महिमा॥
जलनिधि माशाति (?) तदा, संकरराय सपनज लहा।
निज भुवने जिन आनि ने, तीनिकाल पूजे तहा॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि माणिकस्वामी की मूर्ति उक्त कुल्पाक तीर्थ की ही मूर्ति है। इसलिए उक्त लेख के संबंध में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि गजपंथ में ही माणिक्य स्वामी के दर्शन कर के गोदी बाई ने जन्म सफल किया था; तब यही कल्पना की जा सकती है कि उक्त शिलालेख किसी तरह किसी के द्वारा कुल्पाक से यहाँ लाया गया होगा जिसका अब पता नहीं है। माणिक्यस्वामी का तीर्थ अब भी है और वहाँ के अनेक पुराने शिलालेखों में उसका उल्लेख भी है।

म्हसरूल के मंदिर में 'गजपंथाचल-मण्डलपूजा' नाम की एक हस्तलिखित पुस्तक है। उसे पढ़कर तो यह करीब-करीब निश्चय हो जाता है कि भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति ही इस तीर्थ के स्रष्टा और विधाता हैं। उक्त पुस्तक के अन्त की नीचे लिखी हुई प्रशस्ति पढ़िए—

हेमकीर्तिमुनेः पट्टे क्षेमेन्द्रादियशाः प्रभुः।
तस्याज्ञया विरचितं गजपंथसुपूजनं ॥२१
विदुषा शिवजिद्रक्तनामधेयेन मोहन—
प्रेम्णा यात्राप्रासद्ध्यर्थं चैकाह्निरचितं चिरं ॥२२॥
जीयादिदं पूजनं च विश्वभूषणवद्ध्रुवं।
तस्यानुसारतो ह्ययं न च बुद्धिकृतं त्विदं ॥२३ इत्याशीर्वादः

इति नागोरपट्टविराजमानश्रीभट्टारकक्षेमेन्द्रकीर्तिविरचितं गजपंथमंडलपूजनविधानं समाप्तं।
संवत् १९३९ माघशुक्लपंचमी सोमवासरे कोपरग्रामप्रतिष्ठायां समाप्तमिदं।"

अर्थात् हेमकीर्ति के पट्ट के उत्तराधिकारी भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति की आज्ञा से यह गजपंथ-पूजन रचा गया। इसे पं० शिवजालाल ने, मोहन के प्रेम से, यात्रा की प्रसिद्धि के लिए—अर्थात् लोग इस तीर्थ को जान जायँ और यात्रा को आने लगें—केवल एक दिन में बनाया।

यह पूजन विश्व-भूषण के समान चिरंजीवी हो। यह उन्हीं की आज्ञा के अनुसार है, इसमें अपनी बुद्धि का कुछ नहीं है।

इस तरह इसके कर्त्ता पं० शिवजीलाल हैं; परंतु चूँकि वे तो आज्ञाकारी मात्र थे, इसलिए अन्त में यह भी लिख गये कि यह भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति-विरचित है! भट्टारक जी को भी इससे संतोष हो गया होगा!

कोपरगाँव (जिला अहमदनगर) की प्रतिष्ठा के अवसर पर सं० १९३९ में भट्टारक जी ने पण्डित जी को बुलवाया होगा और उसी समय उनसे यह काम करा लिया होगा। पं० शिवजीलाल जयपुर के भट्टारकानुयायी पण्डित थे। उनका स्वर्गवास हुए बहुत अधिक वर्ष नहीं हुए हैं। उन्होंने संस्कृत और भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। चर्चासंग्रह, तेरहपंथ-खण्डन, रत्नकरंड की वचनिका आदि उनके मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें तेरहपंथ की खूब खबर ली गई है। भगवती-आराधना की एक संस्कृत टीका भी उनकी उपलब्ध है।*

उक्त प्रशस्ति का 'विश्वभूषणवत्' पद श्लिष्ट मालूम होता है। शायद इसमें सोनागिरि की गद्दी के भट्टारक विश्वभूषण का संकेत हो जो जगद्भूषण के शिष्य थे और संवत् १७२२ के लगभग मौजूद थे। ग्रन्थ-सूचियों में उनके 'मांगीतुङ्गी-पूजन-विधान' का नाम मिलता है। शायद यह मण्डल-विधान उसी के ढङ्ग पर उसी के अनुसार बनाया गया हो। पूरा निश्चय तो माँगीतुङ्गी-पूजन के मिलने पर ही हो सकता है।

उक्त 'गजपंथ-मंडल-विधान' में मंडल में दस कटना बनाने की विधि है जिसके अनुसार आठ करोड़ मुनि दस हिस्सों में लाखों-हजारों की संख्या में बाँट दिये गये हैं और इस तरह उक्त प्रत्येक विभक्त संख्या के पहले एक-एक मुनि का नाम देकर सब को अर्घ्य दिया गया है। जैसे—

ॐ ह्रीं बारहलक्ष तेतीस हजार मुनिसहित कनककीर्तिमुनि मोक्षपदं प्राप्तायार्घ्यं।

ओं ह्रीं द्वादशलक्ष गुणतीसहजार मुनिसहित धर्मकीर्तिमुनि मोक्षपदप्राप्तायार्घ्यम्॥

परंतु प्रत्येक अर्घ्य के साथ दिये हुए इन महासेन, हेमसेन, देवसेन, धर्मकीर्ति, कनककीर्ति, मेरुकीर्ति आदि नामों से साफ मालूम होता है कि वे सब कल्पित या मनगढ़ंत हैं।

---

* अनन्तकीर्ति-ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'भगवती-आराधना' की विस्तृत भूमिका में इस टीका की प्रशस्ति दी गई है।

† जैनसिद्धान्तभास्कर वर्ष २, किरण १ के प्रतिमालेख-संग्रह में एक 'सम्यग्दर्शनयंत्र' का उल्लेख है जो संवत् १७२२ का विश्वभूषण की आम्नाय के एक गृहस्थ का दिया हुआ है और मैनपुरी के मन्दिर की अजितनाथ की प्रतिमा सं० १६८८ में जगद्भूषण भट्टारक-द्वारा प्रतिष्ठित है।

इस तरह के सेन-कीर्त्यन्त नाम पिछली भट्टारक-परम्परा में ही अधिक रहे हैं, ये प्राचीन नाम नहीं हैं। इसके सिवाय इस मंडल-विधान के अतिरिक्त और किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में गजपंथ से मुक्ति पानेवाले उक्त मुनियों के नाम प्राप्त नहीं होते हैं।

भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति के पहले की किसी भी पुस्तक में वर्तमान गजपंथ का उल्लेख अभी तक देखने में नहीं आया। इसके पहले का गजपंथ का कोई पूजन-पाठ भी उपलब्ध नहीं है।

वि० सं० १७४६ में श्रीशिवविजय के शिष्य शीलविजय नाम के श्वेताम्बर साधु ने दक्षिण देश की तीर्थयात्रा की थी जिसका वर्णन उन्होंने अपनी 'तीर्थमाला' में किया है।* दक्षिण देश के प्रायः सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तीर्थों की यात्रा को वे गये थे और उनका स्वयं आंखों देखा वर्णन उक्त पुस्तक में है। श्रवण-बेल्गोल, मूडबिद्री आदि से लौटते हुए वे कचनेर, दौलताबाद, देवगिरि, एलोरा, अहमदनगर और फिर नासिक, त्र्यम्बक और तुङ्गीगिरि का वर्णन करते हैं और जो तीर्थ दिगम्बर हैं उन्हें दिगम्बर ही लिखते हैं। वे नासिक और तुंगीगिरि का वर्णन कर के भी गजपंथ की चर्चा कोई नहीं करते, तब यही अनुमान करना पड़ता है कि कम से कम सं० १७४६ तक तो इस तीर्थ का निर्माण नहीं हुआ था।

तुंगीगिरि

रामो सुग्गीव हणुउ गवयगवक्खो य णीलमहाणीलो।
णवणवदीकोडीओ तुंगीगिरिणिव्वुदे वंदे ॥ १ ॥

अर्थात् राम, हनुमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील आदि निन्यानवे कोटि मुनि तुङ्गीगिरि से मोक्ष गये। संस्कृत निर्वाणभक्ति में लिखा है 'तुंग्यां तु संगरहितो बलभद्रनामा' इसमें तुङ्गीगिरि से केवल बलभद्र के मुक्त होने का उल्लेख किया है।

वर्तमान क्षेत्र मांगीतुङ्गी गजपंथ (नासिक) से लगभग अस्सी मील पर है। वहाँ पास ही पास दो पर्वत-शिखर हैं। उनमें से एक का नाम माँगी और दूसरे का तुङ्गी संभवतः इस कारण पड़ा है कि तुङ्गी अधिक ऊँचा (तुङ्ग) है और दूसरा माँगी उसके पीछे मराठी में 'मांगे' का अर्थ पीछे होता है।

माँगी-शिखर की गुफाओं में कोई साढ़े तीन सौ प्रतिमायें तथा चरण हैं और तुङ्गी में लगभग तीस। यहाँ एक विशेषता यह देखी गई कि अनेक प्रतिमायें साधुओं की हैं जिनके साथ पीछी और कमंडलु भी हैं और पास ही शिलाओं पर उन साधुओं के नाम भी लिखे हुए हैं। माँगी के एक शिलालेख में वि० सं० १४४३ स्पष्ट पढ़ा जाता है। अन्य सब लेख इसके पीछे के हैं। पर माँगी या तुङ्गी नाम किसी भी पुराने लेख में नहीं पढ़ा गया।

* देखो श्री विजयधर्मसूरि सम्पादित "प्राचीन तीर्थमालासंग्रह" प्रथम भाग पृष्ठ ११३-१२१।

माँगीगिरि अपेक्षाकृत अधिक विस्तीर्ण है और उसमें मूर्तियाँ और शिलालेख भी बहुत है; परंतु उसका नाम निर्वाणकाण्ड या अतिशयक्षेत्रकाण्ड आदि में कहीं नहीं देखा गया। राम-हनुमान की तपस्या का सूचक कोई चिह्न या लेखादि भी उस पर नहीं पाया जाता। पर दोनों पर्वतों के मध्य में एक स्थान बतलाया जाता है कि वहाँ बलभद्र ने कृष्ण का दाह-संस्कार किया था। पर यह कथन निर्वाणकाण्ड से विरुद्ध जाता है। उसके अनुसार तो यहाँ राम (बलभद्र) का मोक्ष-स्थान सिद्ध होता है जब कि यादव बलभद्र तो गजपंथ से निर्वाण-प्राप्त हुए हैं।

यद्यपि यह स्थान पाँच सौ वर्ष से भी अधिक पुराना है परन्तु 'तुङ्गी गिरि' नाम से और फिर 'माँगीतुङ्गी' के नाम से इसकी प्रसिद्धि कबसे हुई, यह निश्चयपूवक नहीं कहा जा सकता। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है शीलविजयजी के समय में संवत् १७४६ में यह तुङ्गीगिरि नामसे प्रसिद्ध था। भट्टारक विश्वभूषण की पूजा का नाम यदि मांगीतुंगी-पूजन हो, तो कहना होगा कि संवत १७२२ के लगभग इसे माँगीतुङ्गी भी कहने लगे थे।

एक अद्भुत बात यह है कि पं० आशाधर अपने त्रिषष्टिस्मृति-शास्त्र में राम, हनुमान आदि का मोक्ष-स्थान सम्मेदशिखर मानते हैं—

साकेतमेतत्सिद्धार्थवने श्रित्वा बलस्तपः।
शिवगुप्तजिनात्सिद्धः सम्मेदेऽणुमदादियुक् ॥ ८० ॥

अर्थात् बल (रामचन्द्र) अयोध्या गये और शिवगुप्त जिनसे दीक्षा लेकर तप करके हनुमानादि के सहित सम्मेदशिखर से सिद्ध हुए।

इसी तरह रविषेणाचार्य अपने पद्मचरित में भी हनुमान का मोक्ष या निर्वाणगिरि सम्मेदशिखर से मानते हैं।

निर्दग्धमोहनिचयो जैनेन्द्रं प्राप्य पुष्कलं ज्ञाननिधिम्।
निर्वाणगिरावसिधच्छ्रीशैलः श्रमणसत्तमः पुरुपरविः ॥

—पर्व १३, ४५

उत्तरपुराण के अनुसार भी सुग्रीव, हनुमान आदि पाँच सौ राजाओं के साथ रामचन्द्र ने सम्मेदसिखर से मोक्ष प्राप्त किया है।

बम्बई के 'ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन' में एक गुटका है उसमें द्विज विश्वनाथ की एक रचना है जिसमें १३ छप्पय छन्द हैं, पर उसका नाम कुछ नहीं लिखा। उसमें गिरनार शत्रुञ्जय, मगसी-मंडन पार्श्वनाथ, अन्तरीक्ष, चम्पापुरी पावापुरी, हस्तिनापुर, पैठन-मुनिसुव्रत, कुण्डलगिरि, पाली-शांतिजिन, गोपाचल (ग्वालियर) का वर्णन करके अन्तिम

तेरहवें छप्पय में इस प्रकार लिखा है—

तुङ्गीगिरिकें माहिं सकल असुरासुर जाणे,
शास्त्र सकल सिद्धांत नाम बलभद्र बखाने।
सिद्धा बहु मुणिराज जाइ सिववनिता परम्या,
रोग-सोग-संताप-कष्ट आपद सहु वाम्या॥
बलभद्रदेवनें पूजवा, सकल संघ वंदो बली।
द्विज विश्वनाथ इयम उच्चरे, भजो भाव मन वच कली॥ १३॥

इस में भी माँगी-तुंगी नहीं केवल तुङ्गीगिरि नाम है। द्विज विश्वनाथको ठीक समय मालूम नहीं हो सका पर वे बहुत पुराने नहीं है। किसी भट्टारक के शिष्य थे।

श्रमणगिरि या ऋष्यद्रि

अंगानंगकुमारा विक्खायपंचद्धकोडिरिसिसहिया।
सवणगिरिमथत्यत्थे* णिव्वाणगया णमो तेसिं॥९॥

अर्थात् श्रमणगिरि के मस्तक से अंग-अनंगकुमार आदि साढ़े पाँच करोड़ विख्यात मुनियों को निर्वाण हुआ।

श्रमणगिरि के अपभ्रंश क्रमशः श्रवन, सवन, सोन, सोनागिरि हो जाते हैं, इसलिए साधारण समझ यह हो गई है कि दतिया स्टेट का वर्तमान सोनागिरि ही सिद्धक्षेत्र श्रमणगिरि है। परन्तु इस विषय में सन्देह करने की काफी गुंजाइश है।

निर्वाणभक्ति का नवाँ पद्य इस प्रकार है—

द्रोणीमति प्रवरकुण्डलमेढके च
वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्यद्रिके † च विपुलाद्रिबलाहके च
विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च॥

इसके 'ऋष्यद्रिके' का अर्थ टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्र ने 'श्रमणगिरौ'‡ किया है। अर्थात् इसके अनुसार भी श्रमणगिरि सिद्ध क्षेत्र है। परन्तु वैभार, बलाहक, विपुलाचल के साथ उल्लेख होने से यह खयाल आता है कि कहीं यह श्रमणगिरि भी वैभार आदि पाँच पर्वतों में

* 'सवणागिरिवरसिहरे' भी पाठ मिलता है।

† ऐ० प० स० भवन के एक गुटके में 'ऋष्यद्रिके' के स्थान पर 'रुप्याद्रि के' पाठ दिया है, जो बिल्कुल अद्भुत है। श्रमण सोना बनते-बनते चाँदी बन गया!

‡ देखो पं० पन्नालालजी सोनी-द्वारा सम्पादित 'क्रियाकलाप' पृष्ठ २२६।

से एक न हो। पाठक जानते हैं कि राजगृह के पास पाँच पर्वत हैं जिनके नाम क्रमशः वैभार, विपुल, उदय, रत्न और श्रमणगिरि हैं।

दिगम्बर जैनडिरेक्टरी में यही पाँच नाम दिये हुए हैं परन्तु कहीं-कहीं श्रमणगिरि को सुवर्णगिरि या सोनागिरि भी लिख दिया है और इसका कारण श्रमण के अपभ्रंश-रूप की और सुवर्ण के अपभ्रंश की प्राय: समानता है।

श्रीविजयसागर साधु की संवत् १६६४ में लिखी हुई तीर्थमाला में सुवर्णगिरि और संवत् १५६५ की पं० हंससोम-रचित 'पूर्वदेशीय चैत्यपरिपाटी' में सोवनगिरि लिखा हुआ है।*

श्रीयतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ति' में विपुल, वैभार आदि के साथ ऋषिशैल का उल्लेख है—

'सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि (णियडम्मि ?)
विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥६४॥
चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो† दाहिणाए वैभारो।
णदूरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा" ॥६५॥

षट्खंडागम की वीरसेनस्वामिकृत धवलाटीका में भी पंच-पहाड़ियों का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है—

"पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे
णाणादुमसमाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे।
महावीरेण अत्थो कहियो भवियलोयस्स ॥"

उक्त उल्लेख के पश्चात् उक्त ग्रन्थ में 'अत्रोपयोगिनौ श्लोकौ' कह कर निम्न लिखित दो और भी प्राचीन श्लोक उद्धृत किये हैं जो इन पहाड़ियों के नामों (ऋषिगिरि, वैभार, विपुल, चन्द्र और पाण्डु) के सिवाय उनकी दिशाओं और आकार के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डालते हैं। ये ही श्लोक जयधवला में भी आये हैं—

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र ॥
धनुराकारश्चंद्रो वारुण-वायव्य-सामदिक्षु ततः ॥
वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृत्ताः ॥

श्रीजिनसेनकृत हरिवंशपुराण के तृतीय सर्ग में इन पहाड़ियों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः।
दिग्गजेंद्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥ ५३ ॥

---

* देखो श्रीविजयधर्मसूरि-सम्पादित 'प्राचीनतीर्थमाला-संग्रह' (प्रथम भाग) पृष्ठ ९ और १७।

† जैनसिद्धान्तभास्कर में प्रकाशित 'तिलोयपण्णत्ति' में 'छिरिसेलो' पाठ छप गया है, जो भ्रम है।

वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः ।
दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥ ५४ ॥
सव्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः ।
शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥ ५५ ॥

इस उल्लेख में चन्द्र के स्थान में बलाहक लिखा है।

महाभारत में भी इन पाँच पर्वतोंका उल्लेख है। परन्तु नामों में कुछ अन्तर पड़ गया है—वैहार (वैभार) बराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक।

इनमें का बराह और निर्वाणभक्ति तथा हरिवंश का बलाहक (बराहक) एक ही है और ऋषिगिरि तो श्रमणगिरि है ही।

बौद्धों के 'चूलदुक्खक्खन्धसुत्त'* में राजगृह के समीप की ऋषिगिरि की कालशिला का वर्णन आया है जहाँ बहुत से निग्गंठ साधु तपस्या की तीव्र वेदना सह रहे थे। अतएव बौद्धों के अनुसार भी राजगृह के समीप ऋषिगिरि था जहाँ निर्ग्रन्थ मुनि तपस्या करते थे और उसी का अपर नाम श्रमणगिरि है।

इन सब उल्लेखों को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि राजगृह के समीप के पाँच पर्वतों में से ही एक श्रमणगिरि होना चाहिए, वर्तमान सोनागिरि नहीं।

वर्तमान सोनागिरि तीर्थ बहुत प्राचीन नहीं जान पड़ता। सिद्धक्षेत्र के रूप में तो इसकी प्रसिद्धि बहुत आधुनिक काल की मालूम होती है। इस समय वहाँ ७०—८० मन्दिरों का समूह है जिनमें सारा पर्वत ढँक गया है। परन्तु दो चार को छोड़कर शेष सब सौ-सवा सौ वर्ष के भीतर के ही बने हुए हैं। वहाँ प्राचीन मूर्तियों का प्रायः अभाव है और शिल्प-कला की दृष्टि से तो शायद एक भी मूर्ति ऐसी नहीं है जो कुछ महत्त्व रखती हो।

वहाँ का मुख्य मन्दिर श्रीचन्द्रप्रभ भगवान् का है (अनंगकुमार का नहीं)। उसका जीर्णोद्धार वि० सं० १८८३ में मथुरा के सेठ लखमीचन्द जी द्वारा हुआ था। इसमें एक शिलालेख भी लगा दिया गया है जो किसी जीर्ण मन्दिर के शिलालेख का सारांश बतलाया गया है। उसकी नकल हम यहाँ देते हैं—

मन्दिरसह राजत भये, चंद्रनाथ जिन ईस।
पोशसुदी पूनम दिना, तीन-सतक-पैंतीस ॥
मूलसंघ अर गण करो (हो), बलात्कार समुझाय।
श्रवणसेन अरु दूसरे, कनकसेन दुइ भाय ॥
बीजक अक्षर बांच के, कियो सु निश्चय राय।
और लिख्यो तो बहुत सो नहिं परयो लखाय ॥

* देखो त्रिपटकाचार्य श्रीराहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित 'बुद्धचर्या' पृष्ठ २३०।

द्वादश-सतक बहुतरा, पुन्यी जीवनसार।
पारसनाथ-चरण तरें, तासौ विदी (धी) विचार॥

इसमें बतलाया गया है कि संवत् ३३५ पौष सुदी १५ का उक्त जीर्ण शिलालेख था और उसमें मूलसंघ बलात्कारगण के श्रवणसेन-कनकसेन, दो भाइयों का उल्लेख था। परन्तु जब तक उक्त मूललेख की प्राप्ति न हो तब तक उसके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता और यह बात तो बिल्कुल ही समझ में नहीं आती कि जीर्णोद्धार कराने वालों ने उस इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु को सुरक्षित क्यों नहीं रक्खा और आखिर वह शिलालेख गया कहाँ? नये लेख के साथ वह भी तो सुरक्षित रह सकता था।

मूल लेख में जो मूलसंघ और बलात्कारगण का उल्लेख बतलाया जाता है उससे उसके संवत् ३३५ के होने का पूरा सन्देह है। क्योंकि विक्रम की चौथी शताब्दी में बलात्कारगण का अस्तित्व ही नहीं था। इसके सिवाय चौथी शताब्दी की लिपि इतनी दुष्पाठ्य है कि जीर्णोद्धार करने वालों के द्वारा वह पढ़ी ही नहीं जा सकती थी।

हमारा अनुमान है कि मूललेख में संवत् सं० १३३५ होगा जो अस्पष्टता के कारण या टूटा होने के कारण सं० ३३५ पढ़ लिया गया है। और लेख पूरा नहीं पढ़ा गया, इसे तो उक्त सारांश लिखने वाले ने भी स्वीकार किया है।

तेरहवीं-चौदहवीं की मूर्तियाँ और मन्दिर सोनागिरि के आसपास के प्रान्त में और भी अनेक मिले हैं। उक्त सारांश में ही पार्श्वनाथ के पदतल के एक लेख का समय सं० १२१२ दिया है। श्रमणसेन और कनकसेन नाम प्रतिष्ठाकारक मुनियों के मालूम होते हैं।

यह जानने का कोई साधन नहीं है कि तेरहवीं शताब्दी में इस स्थान को श्रमणगिरि कहते थे या नहीं और जब तक ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिल जाता तब तक इस क्षेत्र का श्रमणगिरि होना और निर्वाण-क्षेत्र होना संशयास्पद ही है।

यह बात भी नोट करने लायक है कि सोनागिरि के आस-पास देवगढ़, खजराहा, आदि स्थान बहुत प्राचीन हैं और देवगढ़ में तो गुप्तकाल तक के लेख मौजूद हैं, शिल्पकला भी वहाँ की अपूर्व है जब कि सोनागिरि में यह कुछ भी नहीं है। प्राचीनता का एक भी निदर्शन वहाँ प्राप्य नहीं।

सोनागिरि गोपाचल (ग्वालियर) के भट्टारक का एक शाखा-पीठ है जो गोपाचल-पीठ की स्थापना के बाद का है। अतः इस शाखा-पीठ की स्थापना के लगभग ही इस तीर्थ की नींव डाली गई होगी।

रेवा-तट के तीर्थ

दहमुहरायस्स सुआ कोडा पंचद्धमुणिवरे सहिया।
रेवाउहयम्मि[1] तीरे णिव्वाण गया णमो तेसिं॥
रेवाणइए तीरे[2] पच्छिमभायम्मि[3] सिद्धवरकूटे
दो चक्की दह कप्पे आहुट्ठयकोडिणिव्वुदे वंदे॥
रेवा[4]तडम्मि तीरे संभवनाथस्स केवलुप्पत्ती।
आहुट्ठयकोडीओ निव्वाण गया णमो तेसिं॥

रेवा या नर्मदा नदी अमरकंटक से लेकर खंभात की खाड़ी तक १७०० मील लम्बी है। जब तक स्थानों का ठीक ठीक निर्देश न मिले तब तक उसके तट के तीर्थ कहाँ-कहाँ थे इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। पहली गाथा में रेवा के दोनों किनारों से साढ़े-पाँच कोटि मुनियों का निर्वाण होना लिखा है जिसमें दशमुख राजा (रावण) के पुत्र प्रधान थे और दूसरी गाथा में रेवा के पच्छिम (या दक्षिण) भाग के सिद्धवरकूट से दो चक्रवर्ती और दश कन्दर्प या कामदेवों का सिद्ध होना बतलाया है। इसमें भी स्थान का निर्देश नहीं है कि वह कहाँ था, सिर्फ स्थान का नाम भर दिया है।

किसी किसी प्रति में (सब में नहीं) रेवा तट पर संभवनाथ तीर्थङ्कर को केवल ज्ञान की उत्पत्ति बतलाई है और उनके साथ भी साढ़े-तीन कोटि मुनियों का निर्वाण बतलाया है।

संस्कृत निर्वाणभक्ति में इन निर्वाण-स्थलों का जिक्र नहीं है परन्तु चूंकि विन्ध्याचल रेवा के किनारे-किनारे बहुत दूरतक चला गया है और उसमें 'विन्ध्ये' पद दिया है इसलिए इनका अन्तर्भाव अवश्य हो सकता है।

प्रारम्भिक गाथा में दशमुख राजा के पुत्रों के नाम नहीं हैं कि वे कौन-कौन थे। इंद्रजीत और कुम्भकर्ण का निर्वाण तो आगे की एक गाथा में 'चूलगिरि' से बतलाया गया है।

दूसरी गाथा में निर्दिष्ट किया हुआ 'सिद्धवरकूट' इस समय बड़वाह (इन्दौर) से ६ मील की दूरी पर माना पूजा जा रहा है और गजपन्थ के समान इसकी स्थापना का इतिहास भी बहुत पुराना नहीं है। इसके स्रष्टा और विधाता भी एक भट्टारक थे, जिनका नाम महेंद्रकीर्ति

१ किसी किसी प्रति में 'रेवाउहयतडग्गे' पाठ है।

२ 'रेवातडम्मि तीरे' भी पाठ मिलता है।

३ श्रीपन्नालाल सरस्वती-भवन के गुटके में 'दक्खिणभायम्मि' पाठ है।

४ यह गाथा उक्त सरस्वतीभवन के गुटके में है। क्रियाकलापके सम्पादक ने भी इसको टिप्पण में दिया है।

था और जो इन्दौर को गद्दी के अधिकारी थे। उन्होंने ओंकारेश्वर के मौज राजा को प्रसन्न करके उससे जमीन प्राप्त की और संवत् १९५० के लगभग इस क्षेत्र को नींव डाली। इस लेख के एक लेखक को (नाथूराम प्रेमी को) स्मरण है कि उस समय अजमेर से निकलनेवाले जैन-प्रभाकर पत्र में—जिसके सम्पादक शायद छोगालालजी बिलाला थे—यह प्रकाशित हुआ था कि नर्मदा की धारा के हट जाने से ओंकारेश्वर के पास पुराने मंदिरों के कुछ अवशेष निकल आये हैं और यह अनुमान किया गया है कि यहीं निर्वाणकाण्ड का सिद्धवरकूट था। सबसे पहले इन्दौर के सेठ भूरजी सूरजमल मोदी ने माघ सुदी १५ सं० १९५१ में एक मन्दिर का जीर्णोद्धार कराके उसकी प्रतिष्ठा कराई। उस के बाद अन्य दो मंदिरों का भो जीर्णोद्धार हुआ और धर्मशालायें आदि बनाई गईं।

मंदिर अवश्य जीर्ण-शीर्ण थे परन्तु जिस स्थान पर थे वह सिद्धवरकूट ही है, इसका और कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

संवत् १७४६ में तीर्थयात्रा को निकलनेवाले श्रीशीलविजयजी ने अपनी 'तीर्थमाला' में नर्मदा के पास के तमाम जैन-अजैन तीर्थों का वर्णन लिखा है। पहले शैवों के मान्धाता का वर्णन कर के—जो वर्तमान सिद्धवरकूट से बहुत ही पास है—वे खंडवा और बुरहानपुर की तरफ चले जाते हैं, खंडवा के दिगम्बर जैनों का वर्णन करते हैं परन्तु इस क्षेत्र का जिक्र तक नहीं करते। इससे मालूम होता है कि उस समय इस तीर्थ का अस्तित्व न था।

संस्कृत निर्वाणभक्ति में भी इस तीर्थ का नाम नहीं है।

चूलगिरि

वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे।
इंदजियकुंभयण्णो णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

अर्थात् बड़वानी नगर से दक्षिण की ओर चूलगिरि-शिखर से इन्द्रजीत-कुंभकर्णादि मुनि मोक्ष गये।

वर्तमान में बड़वानी नगर मऊ स्टेशन से लगभग ९० मील है और एक छोटी सी रियासत का राजधानी है। दि० जैन डिरैक्टरी के अनुसार चूलगिरि में २२ मन्दिर हैं। मन्दिरों के जीर्णोद्धार का समय वि० सं० १२२३—१३८० और १५८० हैं। प्रतिष्ठाचार्यों के नाम नन्दकीर्ति और रामचन्द्र हैं। एक अत्यन्त विशाल प्रतिमा के कारण इस तीर्थ को 'बावन-गजा' कहने लगे हैं।

दि० जैन डिरैक्टरी में लिखा है कि 'बड़वानी' नाम पुराना नहीं है। लगभग ४०० वर्ष पहले इसका नाम सिद्धनगर था; पीछे किसी समय बड़वानी हुआ होगा। वहाँ की

रंगाराकी बावड़ी के एक लेख से ऐसा मालूम होता है। परन्तु हमारी समझ में बड़वानी नाम चार सौ वर्ष से तो अधिक पुराना है। क्योंकि निर्वाणकाण्ड की रचना का ठीक समय निश्चित न होने पर भी वह छह-सात सौ वर्ष से कम पुराना तो हो ही नहीं सकता है। हाँ, संभव है कि सिद्धनगर बड़वानी के ही आसपास कहीं हो और वहीं सिद्धवर कूट भी रहा हो।

श्रीरविषेणाचार्य के पद्मचरित्र के ७८वें पर्व में यह तो लिखा है कि इन्द्रजीत-मेघनाद आदि ने लंका में ही दीक्षा ली थी परन्तु उसमें निर्वाण-स्थान का उल्लेख नहीं है। उत्तरपुराण में भी इन्द्रजीत आदि का मोक्ष-स्थान नहीं बतलाया है परन्तु सुग्रीव, हनुमान, विभीषण आदि के साथ रामचन्द्र का निर्वाणस्थल सम्मेदशिखर लिखा है। यदि 'आदि' शब्द से इन्द्रजीत आदि का भी ग्रहण किया जाय तो फिर उनका मुक्ति-स्थान सम्मेदशिखर होना चाहिए।

द्रोणगिरि

फलहोडीवरगामे पच्छिमभायम्मि दोणगिरिसिहरे।
गुरुदत्ताइमुणिंदा णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥*

अर्थात् फलहोडी ग्राम के पश्चिम भाग में जो द्रोणगिरि-शिखर है उसपर से गुरुदत्तादि मुनि मोक्ष को गये।

इस समय बुन्देलखण्ड की विजावर रियासत के सेंदपा गाँव के समीप का पर्वत द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र माना जाता है। सेंदपा ग्राम में एक मन्दिर और द्रोणगिरि पर २४ मन्दिर हैं। मूलनायक आदिनाथ की प्रतिमा संवत् १५४९ की प्रतिष्ठा की हुई है। शेष मन्दिर और प्रतिमायें आधुनिक हैं। पास में कोई फलहोडी नाम का ग्राम नहीं है और न कोई ऐसा प्राचीन लेख ही है जिसमें द्रोणगिरि का उल्लेख हो।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध तीर्थ जोधपुर रियासत में मेड़ता के पास फलहोडी या फलोधी नाम का है जिसका वर्णन श्रीजिनप्रभ सूरि के विविध तीर्थकल्प में (वि० १३६४-८९) इस प्रकार किया गया है—"अत्थि सवालक्खदेसे मेडतयनगरसमीवठिओ वीरभवणाइ-नाणाविहदेवालयाहिरामो फलवद्धीनामगामे तत्थ फलवद्धिनामाधिज्जाए देवीए भवणमुत्तुंगसिहरं चिट्ठइ।" सन्देह होता है कि कहीं उक्त फलोधी ही किसी समय दिगम्बरतीर्थ न रहा हो।

---

* श्रीपन्नालाल-सरस्वती-भवन के गुटके में यह गाथा नहीं है।

मेढगिरि

अचलपुरवरणयरे ईसाणे भाए मेढगिरिसिहरे।
आहुट्टयकोडीओ णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

अर्थात् अचलपुर नगर के ईशान भाग में मेढगिरि-शिखर से साढ़े-तीन करोड़ मुनियों का मोक्ष हुआ। मेढगिरि मेध्यगिरि का अपभ्रंश मालूम होता है। मेध्य शब्द का अर्थ पवित्र है। बौद्धधर्म के 'उपालिसुत्त' (बुद्धचर्या पृष्ठ ४४९) में दण्डकारण्य, कलिंगारण्य, मेध्यारण्य और मातंगारण्य का उल्लेख आया है। आश्चर्य नहीं जो मेध्यारण्य और मेढगिरि एक ही हों।

संस्कृत निर्वाण-भक्ति में 'प्रवरकुण्डलमेढ्रके च' पाठ है और उसकी टीका में श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने खुलासा किया है 'प्रवरकुण्डले प्रवरमेढ्रके च।'

इस समय बराड़ के एलचपुर से १२ मील पर जो 'मुक्तागिरि' है, वही सिद्धक्षेत्र मेढगिरि बतलाया जाता है। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि मेढगिरि का मुक्तागिरि नाम कैसे हो गया। न तो इन दोनों नामों में कोई उच्चारण-साम्य है और न अर्थ-साम्य।

रा० ब० डाक्टर हीरालाल के 'लिस्ट आफ इंस्क्रिप्शन्स इन सी० पी० एण्ड बरार' में मुक्तागिरि के लेखों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वहाँ ४८ मन्दिर हैं जिनमें कोई ८५ मूर्तियाँ हैं। उनमें से अनेकों पर संवत् हैं जिनसे वे सन १४८८ (सं० १५४५) से लगाकर १८९३ (सं० १९५०) तक की सिद्ध होती हैं।

अमरावती से खरपी नामक गाँव तक पक्की सड़क गई है और वहाँ से लगभग तीन मील मुक्तागिरि है। इस खरपी गाँव में कारंजा के भट्टारक पद्मनन्दी की समाधि है जिनका समय वि० सं० १८७६ है। दि० जैन डिरैक्टरी के अनुसार कारंजा की गद्दी पर—जो मान्यखेट की गद्दी की शाखा थी—३६ भट्टारक हो चुके हैं। संवत् १४०० के लगभग यह गद्दी स्थापित हुई थी। मुक्तागिरि के प्राप्त लेखों में कोई भी वि० सं० १५४० के पहले का नहीं है। संभव है, कारंजा में पट्ट स्थापित न होने के बाद ही इस क्षेत्र की प्रसिद्धि की गई हो और अचलपुर (एलचपुर) के ईशानकोण में इस स्थान की स्थिति होने से ही निर्वाणकांड के अनुसार इसे मेढ्रगिरि समझ लिया गया हो।

अचलापुर या अचलपुर एलचपुर ही है, इसका सबसे पुष्ट प्रमाण यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में इस वर्णव्यत्यय के लिए एक सूत्र की ही रचना की है—'अचलपुरे चलोः' अचलपुरे चकार-लकारयोर्व्यत्ययो भवति अलचपुरं॥२, ११८। हेमचन्द्र के समय में जो अलचपुर कहा जाता था, वही अब एलचपुर कहा जाने लगा है।

डा० हीरालाल के कथनानुसार तीवरखेड में एक ताम्रपट मिला है जो अचलपुर में लिखा गया था। उस में राष्ट्रकूट राजाओं का उल्लेख है और वह शक संवत् ५५३ (वि० सं० ६८८) का है। इससे मालूम होता है कि बहुत प्राचीनकाल से एलचपुर अचलपुर नाम से विख्यात है।

कुन्थु-गिरि

वंसत्थलम्मि णयरे पच्छिममायम्मि कुंथुगिरिसिहरे।
कुलदेशभूषणमुणी णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

अर्थात् वंशस्थलपुर के पास पश्चिम की ओर के कुंथुगिरि के शिखर से कुलभूषण और देशभूषण मुनिका निर्वाण हुआ।

निर्वाणभक्ति में इसका नाम नहीं आया है। 'वंसत्थलम्मि णयरे' और 'वंसत्थलवर-णियरे' दो पाठ मिलते हैं परन्तु हमारी समझ में 'वंसत्थलउरणियडे (वंशस्थलपुर-निकटे) पाठ होना चाहिए। श्रीरविषेणाचार्य के पद्मचरित (पर्व ४०) में वहाँ के राजा को वंशस्थल-पुरेश कहा है—

वंशस्थलपुरेशश्च महाचित्तः सुरप्रभः।
सलक्ष्मणं सपत्नीकं पद्मनाभमपूजयत् ॥२॥

इसी तरह पर्व ३९ में कहा है—

नानाजनोपभोग्येषु देशेषु नहितेक्षणौ।
धारौ क्रमेण सम्प्राप्तौ पुरं वंशस्थलद्युतिं ॥९॥

उक्त वंशस्थलपुर के पास ही बाँसों का जङ्गल था जिसका नाम वंशधर था। देखिए पर्व ३९—

अपश्यतां च तस्यान्ते वंशजालातिसंकटं।
नगं वंशधराभिख्यं भित्त्वेव भुवमुद्गतं॥ ११॥
छायया तुङ्गशृङ्गाणां यः सन्ध्यामिव संततं।
दधाति निर्झराणां च हसतीव च शीकरैः॥ १२॥

इसी वंशधर या वंशगिरि पर्वत पर रामचन्द्र ने जिनेन्द्र के सहस्रों चैत्य बनवाये—

तत्र वंशगिरौ राजं (?) रामेण जगदिन्दुना
निर्मापितानि चैत्यानि जिनेशानां सहस्रशः॥ २७॥

इस से मालूम होता है कि वंशस्थलपुर के समीप वंशगिरि पर चैत्य और चैत्यालय बने थे और यहीं पर कुलभूषण-देशभूषण का मोक्ष बतलाया है। ऐसी दशा में वंशगिरि ही कुन्थुगिरि होगा। यद्यपि पद्मपुराण में उसे कुन्थुगिरि कहीं नहीं कहा है।

पद्मचरित में आगे चल कर चालिसवें पर्व में लिखा है कि राम के द्वारा चैत्य बनने से इस तुङ्ग पर्वत का नाम रामगिरि प्रसिद्ध हुआ है—

रामेण यस्मात्परमाणि तस्मिन् जैनानि वेश्मानि विधापितानि।
निर्नष्टवंशाद्रिवचः स तस्माद्रविप्रभो रामगिरिः प्रसिद्धः ॥ ४५ ॥

वंशस्थलपुर में रहते रहते ऊब जाने से रामचन्द्र लक्ष्मण से आगे कहीं चल कर स्थान बना कर रहने को कहते हैं। इस प्रसंग में कहा है—

नद्याः कर्णरवायास्तु परतो रोमहर्षणं।
श्रूयते दण्डकारण्यं दुर्गमं क्षितिचारिभिः ॥ ४० ॥

अर्थात् कर्णरवा नदी के आगे सुनते हैं कि रोमांचित करनेवाला दण्डकारण्य है जो भूमि-गोचरियों के लिए दुर्गम है।

रामगिरि से चल कर दक्षिणांभोधि देखा और जानकी के कारण कोस-कोस चल कर दोनों भाई कर्णरवा नदी पर पहुँचे।

इस सब वर्णन से कुन्थुगिरि इस समय जहाँ माना जाता है वहाँ नहीं होना चाहिए। क्योंकि वर्तमान कुन्थुगिरि के आगे दण्डकारण्य नहीं हो सकता।

पद्मपुराण के उक्त रामगिरि का वर्णन हरिवंशपुराण के भी ४६ वें सर्ग में है—

विश्रम्य तत्र ते सौम्या दिनानि कतिचित्सुखं।
याताः क्रमेण पुन्नागविषयं कौशलाभिधं ॥ १७ ॥
स्थित्वा तत्रापि सौख्येन मासान्कतिपयानपि।
प्राप्ता रामगिरिं प्राग् यो रामलक्ष्मणसेवितः ॥ १८ ॥
चैत्यालया जिनेन्द्राणां यत्र चन्द्रार्कभासुराः।
कारिता रामदेवेन संभाति शतशो गिरौ ॥ १९ ॥

अर्थात् वहाँ कुछ दिन आराम से रह कर वे पुरुषश्रेष्ठ (पांडव) कौशल देश में पहुँचे और वहाँ भी कुछ महीने रह कर रामगिरि गये जो पूर्वकाल में रामलक्ष्मण-द्वारा सेवित था और जहाँ पर्वत पर रामचन्द्र ने सैकड़ों चैत्यालय बनवाये थे।

यह कौशल दक्षिण कौशल या महाकौशल होगा जो गोदावरी और महानदी के बीच पूर्व की ओर है। आधुनिक छत्तीसगढ़ महाकौशल में ही है। रामचन्द्र भी चित्रकूट से चल कर इसी महाकौशल में आये होंगे। इसके आगे ही दंडकारण्य शुरू होता है।

चीनी यात्री हुएनत्सांग कलिंग की राजधानी से तीन सौ मील चल कर कौशल राज में पहुँचा था। उसने इस राज्य का घेरा एक हजार मील बताया है। इसके उत्तर में उज्जैन,

पश्चिम में महाराष्ट्र, दक्षिण में आन्ध्र और कलिंग और पूर्व में उड़ीसा था। अर्थात् तापी नदी-तट के बुरहानपुर, गोदावरी के नांदेड, छत्तीसगढ़ के रतनपुर और महानदी के उद्गम-स्थान नवगढ़ तक इस देश की सीमा रही होगी।

हमारे अनुमान से कालिदास के मेघदूत का रामगिरि ही यह रामगिरि होगा। इसके आगे दण्डकारण्य का होना ठीक जान पड़ता है। कर्णरवा नदी शायद महानदी हो।

छत्तीसगढ़ के सरगुजा स्टेट का रामगढ़ ही कालिदास का रामगिरि माना जाता है। यह लक्ष्मणपुर गाँव से १२ मील है। इस टेकरी पर कई गुफायें हैं और बड़े-बड़े पत्थरों से बनाये हुए मन्दिरों के अवशेष हैं। एक गुफा में दोहजार वर्ष पहले के प्राचीन चित्र भी हैं।

इन सब बातों के प्रकाश में हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि कुलभूषण-देशभूषण मुनिका मोक्षस्थान या तो यही रामगढ़ है या इसके आस पास ही कहीं महाकौशल में ही होगा।

इस समय कुंथलगिरि निजाम स्टेट में है और बार्सी टाउन रेलवे स्टेशन से लगभग २१ मील दूर है। यहाँ पर मुनियों के चरणमन्दिर के सहित दस मन्दिर हैं। दिगम्बर जैन-डिरेक्टरी के अनुसार ये दसों मंदिर वि० सं० १९३१ के बाद के बने हुए हैं। देशभूषण-कुलभूषण के मंदिर के विषय में लिखा है कि इस प्राचीन मंदिर का जीर्णोद्धार ईडर के भट्टारक कनककीर्ति ने सं० १९३२ में कराया था। प्राचीन मंदिर के या मूलनायक की प्रतिमा के लेखादिका कोई उल्लेख नहीं है।

कोटिशिला

जसहररायस्स सुआ पंचसया कलिंगदेसम्मि।
कोडिसिलाए कोडिमुणी णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

अर्थात् यशोधर राजा के पाँच सौ पुत्र और दूसरे एक करोड़ मुनि कोटिशिला पर से मुक्त हुए। यह कोटिशिला-तीर्थ कलिंग देश में है।

परंतु जिनप्रभसूरि ने अपने विविधतीर्थकल्प में उसे मगध देश में बतलाया है—

इह भरतखित्तमज्झे तित्थं मगहासु अत्थि कोडिसिला।
अज्ज वि जं पूइज्जइ चारण-सुर-असुर-जक्खेहिं॥ २॥

—कोटिशिलाकल्प

जिनप्रभ सूरि ने पूर्वाचार्यों को कुछ गाथायें भी इस तीर्थ के सम्बन्ध में उद्धृत की हैं जिन में से एक यह है—

जोअणपिहुलायामा दसन्नपव्वयसमीवि कोडिसिला।
जिणछक्कतित्थसिद्धा तत्थ अणेगाउ मुणिकोडी॥ १५॥

अर्थात् एक योजन विस्तारवाली कोटिशिला है और वह दशार्ण पर्वत के समीप है। वहाँ छह तीर्थंकरों के तीर्थों में अनेक करोड़ मुनिसिद्ध हुए हैं। एक और उद्धृत गाथा यह भी है—

छत्ते सिरम्मि गीवावच्छे उअरे कडीइ ऊरूसु।
जाणू कहमवि जाणू नीया स वासुदेवेण ॥ १८ ॥

अर्थात् उक्त शिला को वासुदेव (कृष्ण) ने किसी तरह जानु तक उठाई। इसके पहले के नारायणों ने उसे छत्र के समान बिल्कुल ऊपर तक, सिर तक, गर्दन तक, छाती तक, हृदय तक, कटि तक, ऊरु तक और जानु तक उठाई था।

हरिवंशपुराण के ५३ वें सर्ग में भी कोटिशिला के उठाने का वर्णन है और उसका विस्तार एक योजन लम्बा और एक योजन चौड़ा बतलाया है। पहले त्रिपृष्ठ नारायण ने बाँहों से उठा कर ऊपर फेंक दी थी, द्विपृष्ठ ने मूर्द्धांतक, स्वयंभुवने कंठतक, पुरुषोत्तम ने छातीतक, पुरुषसिंह ने हृदयतक, पुण्डरीक ने कटितक, दत्तक ने जंघातक, लक्ष्मण ने घुटनोंतक और अब अन्तिम नारायण कृष्ण ने चार अंगुल उठाई।

पद्मपुराण के अड़तालिसवें पर्व में भी कोटिशिला का और उसका लक्ष्मण-द्वारा उठाये जाने का वर्णन है।

परन्तु इन दोनों ही ग्रन्थों में वह कहाँ थी इसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है।

तीर्थकल्प के कर्त्ता उसे मगध में बतलाते हैं परन्तु पूर्वाचार्यों की जिन गाथाओं को वे उद्धृत करते हैं उनमें दशार्ण पर्वत के समीप बतलाया है। दशार्ण मालवे का ही एक भाग था जिसमें से दशार्ण या धसान नदी बहती है और जिसकी राजधानी विदिशा या भेलसा थी। कालिदास ने मेघदूत में मेघ को उत्तर की ओर जाने का मार्ग बतलाते हुए कहा है कि नर्मदा और विन्ध्य के उस ओर दशार्ण देश मिलेगा जिसकी राजधानी वेत्रवती (बेतवा) के किनारे विदिशा है। अभी तक दशार्ण देश और दशार्ण नदी के उल्लेख तो बहुत मिले हैं परन्तु दशार्ण पर्वत का नहीं मिला। संभव है, दशार्ण नदी जिस पर्वत से निकलती है उसी का नाम दशार्ण पर्वत होगा।

निर्वाणकाण्ड में कोटिशिला कलिंग देश में बतलाई है। कलिंग और मगध का सामंजस्य तो इस तरह से हो सकता है कि उस समय (अशोक के बाद) कलिंग मगध के अधिकार में होने के कारण मगध में ही गिन लिया जा सकता है।

महानदी, गोदावरी और पूर्वीघाट तथा समुद्र के बीच के प्रदेश का नाम कलिंग था यह उड़ीसा के दक्षिण में था।

बौद्धों के 'चूल-दुक्खक्खन्ध सुत्त' * में राजगृह के समीप ऋषिगिरि की कालशिला का वर्णन आता है जहाँ बहुत से निर्ग्रन्थ साधु तपस्या की तीव्र कटु-वेदना सहन कर रहे थे। संभव है, तीव्र वेदना के कारण बौद्धों ने कोटिशिला को ही कालशिला कह दिया हो और यदि यह ठीक हो तो जिनप्रभ सूरि का मगध में कोटिशिला तीर्थ का बतलाना भी ठीक हो सकता है। ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी गंजाम जिले के मालती पर्वत को कोटिशिला बतलाते हैं,† परन्तु इसके लिए कोई विशेष आधार उनके पास नहीं है। गंजाम (मद्रास) कलिंग में नहीं हो सकता।

यह आश्चर्य है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों द्वारा इस समय किसी भी स्थान में यह सिद्ध क्षेत्र स्थापित नहीं है।

रेसिन्दी-गिरि

पासस्स समवसरणे सहिया वरदत्त मुणिवरा पंच।
रिस्सिंदे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

अर्थात् पार्श्वनाथ के समवसरण में वरदत्तादि पांच मुनियों का मोक्ष हुआ। परन्तु रेसिन्दगिरि कहाँ था, इसका कोई निर्देश नहीं है।

उत्तरपुराण, पार्श्वनाथ-चरित आदि दिगम्बर कथा-ग्रन्थों में तो पार्श्वनाथ के समवसरण का रेसिन्दी गिरि में होने का कोई उल्लेख नहीं है और न वरदत्तादि मुनियों के मोक्ष जाने का पं० पन्नालालजी सोनी द्वारा सम्पादित क्रियाकलाप में इस गाथा की पहली पंक्ति इस प्रकार दी है—

'पासस्स समवसरणे गुरुदत्तवरदत्तपंचरिसिपमुहा'

परन्तु यह पाठ संशयास्पद है। क्योंकि इसके पहले गुरुदत्तादि का मोक्षस्थल द्रोणगिरि बतलाया जा चुका है। परन्तु साथ ही यह प्रश्न भी तो उठता है कि यों तो वरदत्त का मोक्ष-स्थान भी 'तारउर' में कह दिया गया है। संभव है एक ही नाम के दो मुनिराज रहे हों।

उक्त गाथा की दूसरी पंक्ति क्रियाकलाप के पाठ में इस तरह है—

गिरिसिंदे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं।

अर्थात् गिरीशेन्द्र के शिखर से। बंबई के गुटके में भी यही पाठ दिया है। यद्यपि अन्यत्र प्रचलित पाठ 'रिस्सिंदे' ही है। फिर भी यदि यह ठीक हो तो यह हिमालय का पर्यायवाची हो सकता है। संस्कृत निर्वाणभक्ति में 'सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे' कह कर हिमवत् पर्वत को मोक्षस्थान माना है।

* देखो 'बुद्धचर्या' पृ० २३०।
† 'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक' पृष्ठ १०—१३।

अब 'रिस्सिन्दे' पाठ पर विचार करना चाहिए। संभवतः शुद्ध पाठ 'रिस्सद्दि' होगा जो 'ऋष्यद्रि' का प्राकृत-रूप है। परन्तु इसे श्रमणगिरि का पर्यायवाची कहना कठिन है।

इस समय नैनागिर क्षेत्र को रेसिन्दीगिरि बतलाया जाता है। यह स्थान सागर जिले की ईशान-सीमा के पास पन्ना रियासत में है।

नैनागिर रेसिन्दीगिरि कैसे बन गया, यह समझ में नहीं आता।

दिगम्बर जैन डिरैक्टरी के अनुसार पर्वत पर २५ और तलटी में ६ मन्दिर हैं। पर्वत पर मुख्य मन्दिर श्रेयान्सनाथ का है, जो संवत् १७०८ का बना बतलाया गया है और उसका जीर्णोद्धार संवत् १९२१ में हुआ है। शेष सब मन्दिर १८४२ के बाद के बने हुए हैं। इन मन्दिरों में या बाहर कोई ऐसा पुराना लेख नहीं है जिससे इस के रेसिन्दीगिरि होने की पुष्टि होती हो—वहाँ की सभी रचना—सभी सृष्टि पिछले सौ डेढ़-सौ वर्षों की है।

भैया भगवती दास जी ने निर्वाणकाण्ड का संवत् १७४१ में भाषानुवाद किया था। उसमें उन्नीसवीं गाथा का अनुवाद इस प्रकार है—

समवसरन श्रीपास जिनंद, रेसंदीगिरि नैनानंद।

कहीं इस रेसंदीगिरि के विशेषण 'नैनानन्द' के कारण ही तो नैनागिर रेसन्दीगिरि नहीं बना दिया गया है?

पहले कहीं लिखा जा चुका है कि निर्वाणभक्ति की टीका में 'ऋष्यद्रि' का अर्थ 'श्रमणगिरि' किया है और श्रमणगिरि पंच-पर्वतों में से एक है, तब फिर यह ऋष्यद्रि और कौन-सा है?

इस का उत्तर तो इस समय हम नहीं दे सकते; परन्तु नैनागिर तो वह नहीं है, यह प्रायः निश्चित है।

इस लेख में पाठकों ने देखा होगा कि निर्वाणकांड में जिन स्थानों से जिन मुनियों का मोक्ष जाना लिखा है, दूसरे ग्रन्थों में कहीं-कहीं वह नहीं लिखा या विरुद्ध लिखा है। इस विषय में यह सूचित कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि बहुत पहले से ही ग्रन्थकर्त्ता आचार्यों में कथा-सम्बन्धी मत-भेद रहा है। उदाहरण के तौर पर पद्मपुराण का रामचरित और उत्तर-पुराण का रामचरित उपस्थित किया जा सकता है। हरिवंश के नेमिचरित और उत्तरपुराण के नेमिचरित में भी अन्तर है। ऐसी दशा में निर्वाणकाण्ड के विषय में यही कहा जा सकता है कि उसके कर्त्ता उक्त दो परम्पराओं में से किसी एक के माननेवाले होंगे और यह भी संभव है कि उक्त दो के सिवाय और भी कोई परम्परा रही हो जिस का अनुसरण उन्होंने किया हो।

निर्वाणकांड के साथ किसी-किसी प्रति में अतिशयक्षेत्र-कांड भी मिलता है। उसके विषय में भी कुछ विचार करने की इच्छा थी परन्तु लेख बहुत बढ़ गया है, इसलिए अब तो उसे आगे के लिए ही छोड़ना उचीत प्रतीत होता है।

परिशिष्ट

इस लेख को समाप्त कर चुकने के बाद बम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन में हमें 'तीर्थार्चन-चन्द्रिका' नाम का ग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह 'श्रीवादिमत्तमातंगमर्दन-जिनवाणी-विलासिनी-भुजंगम-नायक कविकुल-तिलक गुणभद्राचार्य' का बनाया हुआ है और संस्कृतवृत्तों में है। इसमें तीन उच्छ्वास और १७३ पद्य हैं। पहले उच्छ्वास में विपुलाचल पर उपस्थित होकर राजा श्रेणिक का तीर्थों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का वर्णन है, दूसरे में तीर्थों का और तीसरे में तीर्थार्चा के माहात्म्य का। दूसरे उच्छ्वास में तीर्थङ्करों के गर्भ-जन्म, दीक्षा, तप और निर्वाण-कल्याण के स्थानों के नाम-निर्देश-भर हैं और कोई बात ऐसी नहीं है जिससे वे स्थान कहाँ थे, इस का कोई पता लग सके।

दूसरे उच्छ्वास में शायद निर्वाणभक्ति का अनुसरण करते हुए निर्वाण क्षेत्र इस प्रकार बतलाये हैं—

> सम्मेदशिखरं शत्रुंजयो गजपथस्तथा।
> तुंगीगिरिर्द्रोणगिरिर्हिमवत्सह्यपर्वतौ ॥५२॥
> ऋष्यद्रिकौ विन्ध्यगिरिपाना (?) पोदनपत्तने।
> विपुलाद्रिश्चूलगिरिः गिरिसिद्धाद्रिकूटकम् ॥५३॥
> पृथुसारो मेढ्काख्यो गिरिः स्वर्णगिरिस्तथा।
> ऊर्जयन्तस्तारवरं कैलासो वृषदीपकम् ॥५४॥
> वैभारपर्वतश्चम्पापुरी दण्डात्मकस्तथा।
> मोक्षतीर्थान्यमून्यत्र जिनानामात्मयोगिनाम् ॥५५॥

ग्रंथकर्त्ता ने न तो कोई रचना-समय दिया है और न अपनी गुरुपरम्परादि का ही उल्लेख किया है। ग्रन्थ की प्रतिलिपि पं० शंकरलाल चौबे ने वि० सं० १९८५ में की है, परन्तु जिस प्रति से की है वह कब की लिखी हुई है इसका कोई निर्देश नहीं किया है। इसलिए ग्रंथकर्त्ता का समय अज्ञात ही रह जाता है। इस में एक बड़े मजे की बात देखो। दूसरे उच्छ्वास में भगवान् राजा श्रेणिक को लक्ष्य कर उनके तीर्थसम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते-देते एक जगह कह बैठते हैं—

> इत्यादीनि च कैवल्य-ज्ञानकल्याणसंश्रयाः।
> अथोत्तरपुराणेऽन्यन्मदुक्ते पश्य विस्तरं ॥५०॥

अतः परं नराधीश विद्धि निर्वाण-संश्रयान्
यानधिष्ठाय जिनपाः मुक्तिलक्ष्मीस्वयंवृताः ॥५१॥

अर्थात् हे राजन, ज्ञानकल्याण के इत्यादि (ऊपर कहे हुए) तीर्थ हैं। इनके सिवाय अन्य जो हैं उन्हें मेरे कहे हुए उत्तरपुराण में विस्तार से देख लो! भगवान् शायद यह भूल जाते हैं कि उत्तरपुराण मुझ से लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद रचा जानेवाला है। ग्रंथकर्त्ता भी शायद इस धुन में रचना-प्रसंग भूल बैठे हैं कि उन्हें श्रद्धालु पाठकों पर यह प्रभाव डालना है कि मैं वही गुणभद्र हूँ जो उत्तरपुराण के कर्त्ता हैं। परन्तु ग्रन्थ की बिल्कुल तीसरे दर्जे की रचना स्पष्ट बतला रही है कि भगवज्जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य की रचना के गुणों की उस में गन्ध भी नहीं है। और यह 'अष्टादशभाषावारविलासिनी-भुजंग' के अनुकरण पर अपने आप पसन्द कर लिया गया और अपने नाम के साथ जोड़ा हुआ टाइटल 'जिनवाणीविलासिनी-भुजंगम' तो बहुत ही भद्दा और अश्लील है। जिनवाणी को विलासिनी बतला कर उसका जार बनना बड़ी भारी हिमाकत है।

गंग-राजवंश और जैनधर्म

(लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, साहित्यमनीषी)

दक्षिण भारत के प्राचीन और प्रमुख राजवंशों में गंग-राजवंश का नाम उल्लेखनीय है। आन्ध्रवंश के शक्तिहीन होने पर गंगवंश के राजाओं ने दक्षिण भारत की राजनीति में उमरूप से भाग लिया था। ये आधुनिक मैसूर देश पर शासन करते थे और उन्हें इक्ष्वाकुवंशी काण्वायन गोत्री क्षत्रिय कहा गया है।

गंग-वंश की उत्पत्ति।

यद्यपि गंगवंश की उत्पत्ति के विषय में कई किम्वदन्तियां प्रचलित हैं, किन्तु उन सब से यह स्पष्ट है कि मूल में इस वंश के आदिपुरुष उत्तरीय भारत के निवासी थे। शिवमोग्गा तालुक़ के एक शिलालेख से विदित है कि अयोध्या में आदि तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेव के इक्ष्वाकुवंश में महाराज हरिश्चन्द्र हुए थे, जिनके पुत्र भरत थे। भरत की रानी का नाम विजयमहादेवी था। जब वह गर्भवती थीं तब उन्हें गंगा में स्नान करने की इच्छा हुई। तदनुसार उन्होंने स्नान किया और बाद में उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम गंगदत्त रक्खा गया। इन्हीं गंगदत्त की सन्तान 'गंग-वंश' के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिस समय तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि इस धरातल को अपने अस्तित्व से पवित्र कर रहे थे, उस समय गंगवंश में राजा विष्णुगुप्त अहिच्छत्रपुर में राज्य कर रहे थे। उन्होंने तीर्थङ्कर नेमि के निर्वाण-कल्याणक के सुअवसर पर 'इन्द्रध्वज-पूजोत्सव' रचाया था। उनकी रानी पृथ्वीमती थीं, जिनसे उनके दो पुत्र भगदत्त और श्रीदत्त नामक हुये। विष्णुगुप्त ने अपना राज्य इन दोनों भाइयों में बाँट दिया। भगदत्त को कलिङ्गदेश का राज्य मिला, जहां वह शासनाधिकारी हुआ। उसकी संतान 'कलिङ्ग-गंग' अथवा 'पूर्वीय गंग' नाम से प्रसिद्ध हुई। श्रीदत्त को अहिच्छत्रपुर का प्राचीन राज्य और इंद्र-द्वारा भेंट किया गया ऐरावत हाथी मिला। जब तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ तो इस राजा ने खूब आनन्दोत्सव मनाया और श्रावकव्रत धारण किये। श्रीदत्त की धर्मनिष्ठा को देख कर इंद्र ने प्रसन्नतापूर्वक उसे पांच दिव्य आभूषण भेंट किये। उपरांत कालांतर में इस वंश में राजा कम्प हुये, जिनके पुत्र का नाम पद्मनाभ था। पद्मनाभ के दो पुत्र ददिग और माधव नाम के थे। जिस समय पद्मनाभ अहिच्छत्र में शासन कर रहे थे उस समय उज्जैन के राजा महीपाल ने उन पर आक्रमण कर दिया। पद्मनाभ ने उस राजा की सेना से मोर्चा लेना अपनी शक्ति से बाहर समझा; इसलिये

उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को राजचिह्नों सहित विदेश भेज दिया। वे दोनों भाई घूमते हुये दक्षिण भारत के पेरूर नामक स्थान पर पहुंचे। वहां उन्होंने जिनचैत्यालय में जाकर जिनेंद्रपूजा की और श्रीसिंहनन्द्याचार्य जी के दर्शन कर के उन्हें नमस्कार किया। आचार्य महाराज ने दोनों भाइयों को अपना शिष्य बनाया। इन दोनों भाइयों ने इन जैनाचार्य की सहायता से गंगराज्य की स्थापना की।*

यूनानी लेखकों का वर्णन।

गंगवंश के पूर्वज दक्षिण के निवासी नहीं थे, इस बात का समर्थन यूनानी लेखकों के वर्णन से भी होता है। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से ईस्वी दूसरी शताब्दी तक के यूनानी लेखकों ने उनके विषय में लिखा है कि वह एक गांगेय जाति के (Gangaridai) लोग थे, जो नन्द, मौर्यादि के राज्यकाल में गंगा के डेल्टा और बंगाल-बिहार देश के एक भाग में बसते थे। उनकी राजधानी 'गंगे' (Gange) कहलाती थी, जो गंगा के किनारे व्यापार का एक केन्द्र था। उन्हीं के निकट गंगा के पूर्वीय तट पर 'प्राची' (Prasii) जाति के लोग रहते थे।† यूनानियों का यह वर्णन कलिंग के गंगों से लागू होता है; परन्तु इससे यह भी ध्वनित होता है कि वह कलिंग की ओर गंगा के मध्यवर्ती प्रदेश में आये थे। गंगों की प्राचीन राजधानी अहिच्छत्रपुर संयुक्त प्रान्तगत बरेली जिले का अहिच्छत्र प्रतीत नहीं होता। वह महाकौशल देश में कहीं पर होना चाहिये, जहाँ अयोध्या के राजा प्राचीन काल में आ बसे थे।

गंगवंश-संस्थापक और उनके गुरु।

अब यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारतीय गंग-राजाओं के पूर्वज गंगानदप्रदेशवासी इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे, जिनकी सन्तति में हुये दो नर-शार्दूल दक्षिण भारत में राजसंस्थापक हुये। उनके नाम ददिग और माधव थे। पहले हम लिख चुके हैं कि पेरूर नामक स्थान पर पहुंच कर इन दोनों भाइयों ने श्रीसिंहनन्द्याचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया था। पेरूर जैनधर्म का केन्द्र स्थान था, जहां पर एक जैन मंदिर और जैन संघ विद्यमान था; श्रीसिंहनंद्याचार्य उस संघ-समुद्र के लिये पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य थे (जिनसमय-सुधाम्भोधि-संपूर्णचंद्रम) उपर्युक्त शिलालेख में उनके विषय में लिखा है कि वह समस्तविद्यापारावार-पारग उत्तमक्षमा-

* इपीग्रेफिया कर्नाटिका, भा० ७, पृष्ठ ४—९ गंगों के अन्य प्राचीन शिलालेखों में तीर्थङ्करों की पूजा करने आदिविषयक वर्णन नहीं मिलता; यद्यपि उनसे भी उनका इक्ष्वाकुवंशी होना स्पष्ट है।

† Proceedings & Trans: of the 8th. All India Oriental Conference, Mysore, pp. 574-575.

विदशाकुशलधर्मरत, चारित्रभद्रधन, विनेयजनानंद, चतुस्समुद्रमुद्रितयशःप्रकाश, सकलसावद्यदूर, काणूर्गणाम्बरसहस्रकिरण, द्वादशविधतपोनुष्ठाननिष्ठित और गंगराज्यसंवर्द्धक थे।* अनन्य साक्षी से प्रकट है कि वह श्रीमूलसंघ, कोण्डकुन्दान्वय, काणूर्गण और मेषपाषाण गच्छ से सम्बद्ध और दक्षिणदेशवासी, गंगराज-वंश-वर्द्धक एवं श्रीमूलसंघ के नाथ थे। (दक्षिणदेशवासिगंगमहीमांडलिककुल-समुद्धरणः श्रीमूलसंघनाथो) एक शिलालेख में उन्हें देशीगण और कोण्डकुन्दान्वय का रत्न लिखा है। उनके विषय में 'गोम्मटसार' की एक प्राचीन टीका में लिखा है कि श्रीसिंहनंदी की आशिष को प्राप्त कर के गंगराजवंश खूब फला-फूला था।† गर्ज यह कि सिंहनंद्याचार्य अपने समय के एक महान् और लोकमान्य महापुरुष थे, जिनकी सहायता से माधव गंगराज्य की स्थापना कर सके थे।

सिंहनंद्याचार्य ने दद्दिग और माधव को सर्व विद्याओं में पारङ्गत कर दिया था और पद्मावती देवी से उनके लिए एक वरदान प्राप्त किया था। उन्होंने उन राजकुमारों को एक तलवार भी भेंट की थी। माधव ने जयकार के साथ वह तलवार हाथ में ली और अपना पौरुष प्रकट करने के लिए उसके एक वार से उस शिलास्तंभ के दो टुकड़े कर डाले, जो उनके धर्म और राज्य की वृद्धि में बाधक हो रहा था। प्रो० सालेतोर का मत है कि यह शिलास्तंभ कोई सामान्य पाषाण नहीं था वल्कि वह सम्राट् अशोक का शिलालेख होना चाहिये, क्योंकि उसी का अस्तित्व उन राजकुमारों के उत्कर्ष में बाधक हो सकता था।‡ उस शिलालेख का दो टुकड़ों में तोड़ा जाना देख कर सिंहनंदी स्वामी ने वचारा कि यह शुभ-शकुन है। उन्होंने 'कर्णिकार कलिकाओं' का मुकुट बना कर उनके शीश पर रख दिया तथा अपनी मोरपिच्छिका ध्वजरूप में उन्हें भेंट की। साथ ही आचार्य महाराज ने उन भाइयों को प्रतिज्ञा करा के यह आदेश दिया "यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करोगे, यदि तुम जैनशासन के प्रतिकूल जाओगे, यदि तुम पर-स्त्री-लम्पट होवोगे, यदि तुम मद्य-मांस भक्षण करोगे, यदि तुम दान नहीं करोगे और यदि तुम रणाङ्गण से पीठ दिखाकर भागोगे तो निश्चय तुम्हारा कुल नाश को प्राप्त होगा।" इस आदेश को दोनों भाइयों ने शिरोधार्य किया। उस समय मैसूर में जैनियों की संख्या अधिक थी और उनके गुरु भी श्रीसिंहनन्दी आचार्य थे। इसलिये अनुमान होता है कि गुरु-आज्ञा मान कर के जनता ने दद्दिग और माधव को अपना राजा स्वीकार किया। उस समय से कुवलाल में राजधानी स्थापित कर के गङ्गवाड़ी ९६००० प्रदेश पर वह शासन करने लगे। उन्होंने निर्दोष जिनेन्द्र भगवान् को

* मद्रास और मैसूर प्रांत के प्राचीन जैनस्मारक, पृष्ठ २९७—२९८

† Mediaeval Jainism. pp. 13-14.

‡ मेडियवल जैनिज्म, पृष्ठ १५-१६

अपना आप्त—देव और जिनमत को अपना धर्म मानकर के निर्भीकतापूर्वक राजदंड को ग्रहण किया। तब उनके राज्य की सीमायें इस प्रकार थीं—उत्तर में उसका विस्तार मरंडले तक था, पूर्व दिशा में वह तोंडैमंडलम् तक फैला हुआ था, पश्चिम में चेर राज्य की निकटवर्ती समुद्र था और दक्षिण में वह कोङ्गु देश तक विस्तृत था। गर्ज़ यह कि आधुनिक मैसूर का अधिकांश भाग गंगवाड़ी राज्य में अन्तर्भुक्त था। गङ्गराजाओं का राजचिह्न 'मदगजेन्द्र-लाञ्छन' (मत्त हाथी) और उनकी ध्वजा 'पिञ्छध्वज' थी; जिसमें नाना प्रकार के फूल अङ्कित थे। दक्षिण के राजवंशों में गङ्गवंश के राजा प्रधान रीति से जैनधर्म के भक्त थे। प्राचीन जैनाचार्यों का हमेशः यह ध्यान रहा था कि वे प्रजा के साथ-साथ राजा को भी जैनधर्म्म में दीक्षित कर लेते थे—इस प्रकार उस समय जैनधर्म को राष्ट्रधर्म्म होने का गौरव प्राप्त था और वह न केवल धार्मिक क्षेत्र में बल्कि देश की राजनीति में विशेषरूप से शक्तिशाली हो रहा था। जैनधर्माभ्युदय की कुंजी जैनाचार्यों की यह राजकीय प्रवृत्ति थी!

गंगवंश के राजा और जैनधर्म्म।

गङ्गवंश की उत्पत्ति और राजविस्तार को कथा को लिखकर हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं, अर्थात् गङ्ग-राजाओं का जैनधर्म के प्रति कैसा व्यवहार था? उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट है कि गङ्गवंश मूलतः जैनधर्म्मभुक्त था। उसके प्रायः सबही राजा जैनधर्मानुयायी थे। बीच के विष्णुगोप आदि जिन गङ्गराजाओं ने वैष्णवधर्म्म को आदर दिया था, वे भी जैनधर्म के प्रति उदार भाव रखते थे। निम्नलिखित पंक्तियों में हमें गङ्ग-राजाओं के उन कार्यों का दिग्दर्शन कराना इष्ट है जो उन्होंने जैनधर्माभ्युदय के लिये किये थे।

अच्छा तो, पहले ही गङ्गराज्य-संस्थापक दद्दिग ने जैनधर्म की उन्नति के लिये जो काम किया, वह ज़रा देखिये। उस समय जैनाचार्य मंदिरों की स्थापना करा के उन्हें जैनधर्म-प्रचार का केन्द्र बना देते थे। मंदिर केवल भक्तजनों की पूजा के स्थान ही नहीं थे, बल्कि उनके भीतर से जैनधर्म का विस्तार होता था। प्रत्येक मंदिर के साथ उसका एक आचार्य होता था, जो सदैव धर्मोत्कर्ष का ध्यान रखता था। इसलिये ही देश के प्रायः प्रत्येक प्रमुख स्थान पर जैनमंदिर निर्माण कराये गये थे। निस्सन्देह वे मंदिर धर्म, साहित्य, संस्कृति और सात्विक शक्ति के प्रचारक पवित्र स्थान थे। दद्दिग ने, जो कोङ्गुणिवर्म्म नाम से भी प्रसिद्ध थे, मंडलि नामक प्रमुख स्थान पर एक ऐसा ही भव्य जिनालय निर्माण कराया था। वह लकड़ी से बनाया गया था और इसलिये शिल्पकला का एक नमूना अनुमान किया जाता था।

दद्दिग के पश्चात् उनका पुत्र किरिय (लघु) माधव राजा हुआ, जिसका उत्तराधिकारी

उसका पुत्र हरिवर्मा हुआ। यह राजा जैनधर्म के भक्त थे। हरिवर्मा का उत्तराधिकारी विष्णुगोप हुआ, जिसने जैनमत को तिलांजलि देकर वैष्णवमत धारण किया था। विष्णुगोप के पश्चात् उनका नाती तदंगल माधव राजा हुआ। यद्यपि वह त्र्यम्बकदेव का उपासक था, परन्तु जैनधर्म के प्रति उसके भाव उदार थे।[१] उसने पेरव्वोल नामक ग्राम में अवस्थित जैनमंदिर के लिये आचार्य वीरदेव के उपदेश से कुमारपुर नाम का गांव प्रदान किया था। तदंगल माधव को पुत्र और उत्तराधिकारी अविनीत एक महान् शासक था। वह स्वयं जैनधर्मानुयायी था और उसके पश्चात् गंगवंश के सब ही राजा जैनधर्म-भुक्त रहे थे। जैनाचार्य विजयकीर्ति राजा अविनीत के गुरु थे। उनके उपदेश को पाकर अविनीत ने राजसिंहासन पर बैठते ही उरनूर और पेरूर के जिन मंदिरों के लिये दान दिया था।[२] एक शिलालेख में उनकी अटूट जिनभक्ति को प्रदर्शित करते हुये लिखा है कि उनके हृदय में महान् जिनेन्द्र के चरण अचलमेरु के समान स्थिर थे।[३] अपने राज्यकाल के आरम्भ और अन्त में उन्होंने जैनियों को दान दिये थे—पुन्नाड की जैनवस्तियों पर वह विशेष सदय हुये थे।

अविनीत का पुत्र दुर्विनीत उनके बाद राजा हुआ, जो दक्षिण भारत के राजाओं में एक महान् शासक था। वह जैनधर्म का परम भक्त था और उसने कोगली नामक स्थान पर 'चेन्न-पार्श्व-बस्ति' नामक जिनालय निर्माण कराया था।[४] राइस सा० के मतानुसार दुर्विनीत के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यपाद थे। दुर्विनीत ने उनके पदचिह्नों पर चलने को प्रयत्न किया था। इसीलिये वह 'कन्नड़-कवि' भी कहे गये हैं।[५]

मुष्कर (मोक्कर) दुर्विनीत के पुत्र थे, जो उनके बाद राजसिंहासन पर विराजमान हुए। बेल्लारी के निकट उन्होंने 'मोक्कर-वसदि' नामक जिनालय निर्माण कराया था।[६]

श्रीविक्रम यद्यपि मुष्कर के पश्चात् राजा हुए, परन्तु उनके विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता। उनके दो पुत्र भूविक्रम और शिवमार नामक थे, जो क्रमशः उनके पश्चात् राजा हुए।[७] शिवमार ने श्रीचन्द्रसेनाचार्य को जिनमन्दिर के लिए एक गांव प्रदान किया था।[८]

शिवमार का उत्तराधिकारी उनका पोता श्रीपुरुष मुत्तरस हुआ। वह जैनधर्म का परम भक्त था। उसने निर्गुण्ड देश में अवस्थित पोण्णलि नामक ग्राम 'लोकतिलक' जिनालय

१ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० ३, खंड २, पृष्ठ ४०—४३

२ मेडियवल जैनिज्म, पृष्ठ १७—१८।

३ पूर्व० पृष्ठ ९३। ४ पूर्व० पृष्ठ ५३। ५ सं० जै० इ० पृष्ठ ४६।

६ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० ३ खंड २ पृष्ठ ४७। ७ पूर्व०, ४८—४९।

८ मेडियवलजैनिज्म, पृष्ट २४।

को भेंट किया था। इस जिनालय को कंडाच्चि नामक राजमहिला ने निर्माण कराया था, जो पल्लवाधिराज की पुत्री और निर्गुण्ड देश के राजा परमगूल की रानी थी। श्रीपुरुष की धर्मनिष्ठा की छाप उनके शिवमार, सहगोत और दुग्गमारनामक पुत्रों पर भी पड़ी थी। उनके पश्चात् शिवमार द्वि० राज्याधिकारी हुए थे। वह अपने पिता की भांति ही जैनधर्म के संरक्षक थे। श्रवणबेलगोल के छोटे पर्वत पर उन्होंने एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। उनका छोटा भाई दुग्गमार भी जैनधर्म का भक्त था, जिसने एक जैनमन्दिर के लिये दान दिया था।[१] शिवमार के गुरु श्रीतोरणाचार्य और उनके शिष्य पुष्पसेन थे।

शिवमार के राजत्व में गंगवंश पर राष्ट्रकूटवंशी राजाओं के कारण अनेक आपत्तियां आई थीं। गंगराजाओं को उनका स्वामित्व स्वीकार करना पड़ा था। गंगवंश दो भागों में विभक्त हो गया था। दूसरी शाखा में दिन्दिग नामका राजा, जिसका अपर नाम पृथ्वीपति था, जैनधर्म का महान् संरक्षक था। उसने श्रवण-बेलगोल में कटवप्रपर्वत पर जैनाचार्य अरिष्टनेमि का निर्वाण (समाधिमरण) अपनी रानी कम्पिलासहित देखा था।[२] उपरान्त भुजवल गंगपेरम्माडि वर्म्म देव ने जैनाचार्य मुनिचंद्र का शिष्यत्व स्वीकार किया था। उन्हों ने जैनधर्म के लिये अनेक कार्य किये थे। मंडलि १००० प्रदेश के ऐडेतोरे नामक स्थान के जैनमंदिर का उन्होंने जीर्णोद्धार कराकर उसका नाम 'पट्टद-बस्ति' रक्खा था और उसके लिए कई गांव भेंट किये थे। यह वही मंदिर था जिसे गंगराज्य के संस्थापक ददिग और माधव ने बनवाया था। भुजवल के पुत्र नन्निय गंग श्रीप्रभाचंद्र सिद्धांतदेव के शिष्य थे। उन्होंने मंडलि के उपर्युक्त मंदिर को पाषाण का बनवा कर उसके लिये भूमि दान दिया। उन्होंने धर्मोत्कर्ष के लिये पच्चीस जिनचैत्यालय निर्माण कराये थे।[३]

गंगवंश की मूल शाखा में उपरांत राजमल्ल के पुत्र नीतिमार्ग ऐरेयगङ्ग उल्लेखनीय राजा हुए। वह जैनधर्मानुयायी राठौर राजा अमोघवर्ष और श्रीजिनसेनाचार्य के समसामयिक थे। कूडलूर के शिलालेख में नीतिमार्ग को श्रीपरमपूज्य अर्हद्भट्टारक के चरण-कमलों का भ्रमर लिखा है। निस्सन्देह जैनधर्म के वह परम भक्त थे और सल्लेखना-व्रत-द्वारा उन्होंने सद्गति को प्राप्त किया था। उनके द्वितीय पुत्र भूतुगेन्द्र गुणदुत्तरंग को उसी शिलालेख में एक 'परम जैन' लिखा है।

राजमल्ल सत्यवाक्य (द्वितीय) नीतिमार्ग के पश्चात् राजा हुए। उन्होंने जैनों को दान दिये थे। उनके पश्चात् उनका भतीजा एरेयप्प नीतिमार्ग द्वितीय राजा हुआ था;

१ पूर्व० पृष्ठ २४—२५।

२ सं० जैन इतिहास, भा० ३, खंड २, पृष्ठ ५८।

३ मेडियवल जैनिज्म पृ० ९१—९२।

जिसने मुडहल्लि और तोरेमवु के जैनमन्दिरों के लिये दान दिया था। एरेयप्प के पुत्र नरसिंह देवने भी कुछ समय तक गङ्गराज्य का शासनभार संभाला था, जिनके बाद उनका छोटा भाई राजमल्ल तृतीय गंगराजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राठौर राजा कन्नर ने असमय में ही राजमल्ल को जीवनलीला समाप्त करके उसके भाई बुटुग को राजा घोषित किया था। बुटुग ने अपने को एक प्रभावशाली शासनकर्ता प्रमाणित किया था। जैनधर्म के वह परमभक्त थे—जैनमन्दिरों के लिये उन्होंने दान दिये थे। जैनसिद्धान्त के वह महापण्डित थे। परवादियों से शास्त्रार्थ करने में उन्हें रस आता था। कुडलूर के दानपत्र से प्रकट है कि एक बौद्धवादी से वाद करके उन्होंने उसके एकान्त मत की धज्जियाँ उड़ा दी थीं। वह बड़े धर्मात्मा थे। जब उनकी विदुषी बहन पम्बब्बे का समाधि-मरण सन् ९७१ ई० में तीस वर्ष तक दीर्घ तपस्या करने के बाद हुआ, तो उनके दिल को इस वियोग से गहरी ठेस पहुँची; परन्तु वह विचक्षण-बुद्धि थे—वस्तुस्थिति को जान कर वह अपने कर्तव्य का पालन करते थे। उनका पुत्र मरुल था, जो अपने पिता की भांति ही जिनेन्द्र भक्त था। लेखों में उन्हें 'जिनपद-भ्रमर' लिखा है। उनके पश्चात् मरुल के सौतेले भाई मारसिंह राज्याधिकारी हुये।[1] गंगवंश के यह एक महान् शासक थे। इन्होंने मारसिंह गुत्तियगंग, नोलम्बकुलान्तक के नाम से सन् ९६१ से ९७४ ई० तक राज्य किया था। जैन-धर्म के यह एक महान् स्तंभ थे। श्रवणबेलोलस्थ कूगेब्रह्मदेवस्तम्भ के लेख में मारसिंह के पुण्यकार्यों का विशद वर्णन अङ्कित है। उसमें मारसिंह की विजयों का बखान करके लिखा है कि उन्होंने जैनधर्म का उद्योत किया था—कई स्थानों पर उन्होंने दर्शनीय जिनमंदिर और मानस्तंभ निर्माण कराये थे।[2] कुडलूर के दानपत्र से प्रकट है कि 'मारसिंह को पराया-हित साधने में आनन्द आता थी, वह परधन और पर-स्त्री त्यागी थे; सज्जनों की अपकीर्ति सुनने के लिये वह बहरे थे; साधुओं और ब्राह्मणों को दान देने के लिये वह सदा तत्पर रहते थे; एवं शरणागतों को वह अभय करते थे।' दयाधर्म और साहित्य से उन्हें गहरा अनुराग था। वह स्वयं एक उच्चकोटि के विद्वान् थे। नागवर्म और केशिराज सदृश कवियों ने उनकी प्रतिभा को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया था। जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों में मारसिंह एक भौंरे के समान लीन थे; जिनेन्द्र भगवान् के नित्य होते हुए अभिषेक-जल से उन्होंने अपने पाप-मल को धो डाला था और गुरुओं की वह निरन्तर विनय किया करते थे। शंखवस्ति लक्ष्मेश्वर के लेख में मारसिंह की उपमा एक रत्नकलश से दी है, जिससे निरन्तर जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक किया जाता हो।[3] शंखवस्ति जिनालय

१ संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग ३, खंड २, पृष्ठ ५९—७३।
२ मेडियवल जैनिज्म पृष्ठ २६। ३ सं० जैन इ०, भा० ३, खंड २, पृष्ठ ७२—७६

के लिये उन्होंने आचार्य एकदेव के शिष्य आचार्य जयदेव को पुलिगेरे ग्राम में भूमिदान दिया था। वादीघंघल भट्ट नामक जैन विद्वान् को उन्होंने वगियूर नामक ग्राम भेंट किया था। वह ब्राह्मण श्रीधरभट्ट के पुत्र थे। नृप मारसिंह के वह श्रुत-गुरु थे। एक प्रकाण्ड वैयाकरण के रूप में वह प्रख्यात थे और उन्होंने स्वयं एक निर्दोष व्याकरण रचा था।[१] मारसिंह के धर्मगुरु श्रीअजितसेनाचार्य थे, जिनके पादमूल में अपना अन्त समय निकट आया जानकर उन्होंने सल्लेखना-व्रत ग्रहण करके अपनी गौरवशाली ऐहिक-लीला समाप्त की थी।[२]

मारसिंह का उत्तराधिकारी उनका पुत्र राजमल्ल चतुर्थ हुआ जो गंगवाड़ी के जैन मुनियों में बहुत प्रसिद्ध थे। उनके धर्मगुरु मूलसंघी द्रविलान्वयी श्रीवज्रपाणि पण्डित थे। जिनधर्म-रूपी समुद्र के लिये वह पूर्णचन्द्र थे।[३] उनके सेनापति वीरवर चामुण्डराय थे, जिन्होंने श्रवणबेल्गोल में जगद्विख्यात गोम्मटदेव की विशालकाय मूर्ति निर्माण कराई थी। चामुण्डराय के इस धर्मकार्य से प्रसन्न होकर राचमल्ल ने उन्हें 'राय' की पदवी और मूर्ति की पूजा के लिये भूमि भेंट की थी।

राजमल्ल के बाद उनका भाई रक्कस-गंग राजा हुआ। रक्कसगंग के उद्योग से इस जैनधर्म का प्रकाश दिगन्तव्यापी हुआ था। उन्होंने अपनी राजधानी तलकाड में एक जिनमंदिर निर्माण कराया था, वेलूर में एक विशाल सरोवर पक्का कराया था और कई स्थानों के मंदिरों को दान दिया था।[४] वह जैनाचार्य अनन्तवीर्य सिद्धांतदेव के शिष्य थे। उनके छोटे भाई कलि-गंग भी जैनधर्म के संरक्षक थे।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गङ्गवंश के प्रायः सब ही राजाओं ने जैनधर्मोत्कर्ष के लिये सतत उद्योग किया था; जिसके परिणामस्वरूप जैनधर्म गङ्गवाड़ी में खूब ही चमका था।

राजमहिलाओं के पवित्र कार्य।

यही नहीं कि गङ्गवंश के राजा ही जैनधर्म के संरक्षक और भक्त रहे हों, बल्कि उस वंश की राजमहिलायें भी धर्मोत्कर्ष में उनसे पीछे नहीं रही थीं। गङ्ग-राजनीति में यह बात खास थी कि रानी राजा के सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती थीं—वह मंदिरों की व्यवस्था करतीं, नये मंदिर और तालाब बनवातीं एवं धर्मकार्यों के लिये दान की व्यवस्था करती थीं।[६] यही वजह है कि गङ्गरानियों के धर्मकार्यों का पृथक् उल्लेख नहीं मिलता—वह अपने

१ मेडियवल जैनिज्म, पृष्ठ २७-२८।

२ सं० जैन इ०, भा० ३, खंड २, पृष्ठ ७५। ३ मेडि० जैनि, पृष्ठ २९, व ९३।

४ सं० जैन इ०, भा० ३, खंड २, पृष्ठ ८६—८७। ५ मेडि० जैनि०, पृष्ठ ९३।

६ सं० जैन इ०, ३।२ पृष्ठ ९१।

पतियों के प्रत्येक धर्मकार्य को सम्पन्न करने में समभाग लेती थीं। गङ्गवंश की राजकुमारियों में गङ्गराजा बुट्टग की बहन पम्बव्वे का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वह देशीगण की आर्यिका नाणव्वे कन्ति की शिष्या थीं और उन्होंने स्वयं पंचमहाव्रतों का पालन किया था।※ दूसरी उल्लेखनीय राजकुमारी रक्कसगंग की पौत्री चत्तलदेवी थीं। उन्होंने पोम्बुच्चपुर में 'पंचकूट जिनालय' निर्माण कराया था।※ उपरांत गङ्गवाड़ी के शासक गंगवंशी राजा भुजबल गंग हेम्माडि मान्धातभूप (सन ११११२) हुये। उनकी पट्टरानी गंग महादेवी अपनी दानशीलता के लिये प्रसिद्ध थीं। जैनधर्म की वह आश्रयदाता कही गई हैं। उनकी सहपत्नी (सौत) बाचदेवी भी जैनधर्म की भक्त थीं—उन्होंने बन्निकेरे नामक स्थान पर एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। उनके गुरु देशीगण के आचार्य श्रीशुभचंद्रदेव थे। उनके पति, गंगमहादेवी और प्रमुख राजकर्मचारियों ने उक्त जिनालय के लिये बूदनगरे नामक ग्राम भेंट किया था।†

सामन्तगण जैनधर्म भक्त।

गंगराजाओं के सामंतगण भी जैनधर्म-भक्त थे। उपर्युक्त भुजबलगङ्ग स्वयं जैनधर्मानुयायी थे, जिन्होंने कुन्तलपुर में एक भव्य जिनालय बनवाया था। उनके गुरु मूलसंघ, काणूर्गण, मेषपाषाण गच्छ के आचार्य प्रभाचंद्र सिद्धांतदेव थे। सन् ११११२ ई० में उनके पुत्र सत्यगंग ने कुरुली तीर्थ में 'गंगजिनालय' निर्माण कराया था, जिसके लिये उन्होंने अपने गुरु माधवचंद्रदेव को दान भी दिया था।†

गंगराजा श्रीपुरुष के अनुकूलवर्ती स्वयं उन्हीं के वंशगत सामंत नागवर्मा थे, जिनका कुल 'पसिण्डि-गंग-वंश' के नाम से प्रसिद्ध था। नागवर्मा जैनधर्म के प्रमुख आश्रयदाता थे। उन्होंने तोल्ल नामक ग्राम में अवस्थित जिनचैत्यालय को मलवल्लि ग्राम भेंट किया था।‡

गंगराजाओं की तरह उनके सामन्तों के परामर्शदाता और राजनीति-शिक्षक जैन गुरु ही थे। उदाहरणतः मूलसंघ, एरेगित्तूरगण और पुलिकल गच्छ के कीर्तिनंद्याचार्य के शिष्य विमलचंद्राचार्य निर्गुंड युवराज दुण्डु के राजगुरु थे।‡

सारांशतः गंगराजाओं के समय में प्रायः सब ही शासक, राजकुमार, सामन्त और राजमहिलायें जैनधर्म-प्रभावना के लिये कटिबद्ध थे। प्रत्येक प्रमुख स्थान पर जिनमंदिर निर्माण कराकर वह जैनाचार्यों को इतना काफी दान देते थे कि वे आचार्यगण उन मंदिरों

※ मेडि० जैनि, पृष्ठ १५७ व १५९।

† मेडियवल जैनिज्म, पृष्ठ १६०—१६१।

‡ उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ८७—८८।

से स्थायीरूप में धर्मप्रवाह की धारा बहने देते थे। साहित्य और संस्कृति की उन्नति तथा लोक का कल्याण भी उन मंदिरों से खूब होता था—उनकी सत्रशालाओं और दानशालाओं से निरंतर अभय-ज्ञान-भैषज्य-आहार दान बंटता रहता था! गंगवाड़ी के अधिवासी इसीलिये 'भव्य' कहलाते थे! ज़रा विचारिये तो पाठक, आज भी कोई ऐसा जैनमंदिर है? जैनमंदिर बनाने की लालसा तो आधुनिक जैन सेठों को आवश्यकता न होते हुए भी बेढब है; परंतु उनकी समुचित व्यवस्था करने का ध्यान ज़रा भी नहीं है! उन्हें उपर्युक्त विवरण से शिक्षा लेनी चाहिये। धन्य थे वे गंग राजा और सामन्त, गंग-रानी और राजकुमारी जिन्होंने धर्मोद्योत और लोककल्याण के लिये सतत उद्योग किया! कौन नहीं उनका स्मरण गर्व के साथ करेगा? उन्होंने अपना और पराया आत्म कल्याण करने में कुछ उठा न रक्खा था!

दि० जैनग्रन्थों की एक बृहत् सूची

[लेखक—श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री न्यायतीर्थ]

श्रीमान् ब्र० शीतलप्रसाद जी ने इस वर्ष अपना चतुर्मास मुलतान नगर में किया था। वहां से आप डेरा गाजीखाँ भी गये थे। वहां के मन्दिर में आप को दि० जैनग्रन्थों की छोटी-बड़ी कई सूचियां मिलीं और आप उन्हें अपने साथ लेते आये। प्रवास में जब आप बनारस आये तो वे सूचियां स्याद्वादविद्यालय के न्यायाध्यापक पं० महेन्द्रकुमार जी ने आप से ले लीं और अब वे विद्यालय के सरस्वती-भवन में सुरक्षित हैं। उन सूचियों को देखने से पता चलता है कि दि० जैन साहित्य कितना विपुल था और जैनाचार्यों और उनके उत्तराधिकारी शास्त्रकारों ने उसे समृद्ध बनाने के लिये कितना त्याग और तपस्या की थी। किन्तु अपनी लापरवाही और अज्ञानता से हमने उनके परिश्रम को धूल में मिला दिया और जिनवाणी के प्रति उसकी असंख्यातवां भाग भी कार्यशीलता प्रकट नहीं की, जितनी जिनबिम्बों के प्रति करते आते हैं। उसी उदासीनता का यह कुफल है कि बहुत सा साहित्य नष्ट हो चुका और बहुत सा नष्ट होने के अभिमुख है, किन्तु अभी तक भी किसी उदार व्यक्ति या संस्था का ध्यान उस ओर नहीं गया है। यद्यपि समाज में कई शास्त्रभवन और सरस्वती-भवन हैं किन्तु वे सब उपलब्धसाहित्य की ही रक्षा करते आये हैं, उनमें से किसी ने भी अनुपलब्ध ग्रन्थों का उद्धार करने की दिशा में कोई सत्प्रयत्न नहीं किया; जिसकी आज अत्यन्त आवश्यकता है। अस्तु,

उपलब्ध सूचियों की संख्या ४ है। उन में एक मुद्रित है। सभी का आकार व्यापारियों की बही के ऐसा है। उनमें एक सूची बहुत बड़ी है और वही प्रधान भी है। शेष सूचियां छोटी-छोटी हैं और उनमें अधिकांश ग्रन्थों के नाम परस्पर में पुनरुक्त हैं। बृहत् सूची के प्रारम्भ में, जो हस्त-लिखित है, कुछ दोहे लिखे हुए हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

"पुणया सहर समीप है फलटन नगर सुवास।
दुलीचन्द श्रावकजू वासी तहां का खास ॥ १ ॥
त्याग लियो है जनम तैं जैनधरम के काज।
परघर भोजन करनतैं जानत सकल समाज ॥ २ ॥
देश-देश तैं सोधि कै जिन-शासन के नाम।
तथा ग्रन्थकरतान के संमित नाम अरु ग्राम ॥ ३ ॥

जमा किये एकत्र सब यादि पत्र के माहि।
च्यारू ही अनुयोग के ग्रन्थ इकट्ठे पांहि ॥ ४ ॥
शासन संस्कृत प्राकृति टीका-संजुत शुद्ध।
देशमयी भाषा बनी जुदी जुदी अवरुद्ध ॥ ५ ॥
सो सब ही सारै मिलै जयपुर-मध्य नवीन।
शारद के भण्डार में सो हमरे आधीन ॥ ६ ॥
जिस श्रावककूं चाहिये धरमातम लिख भेजु।
चिट्ठी-द्वारा डाँक मैं नाम ग्रन्थ घर जेजु ॥ ७ ॥
गुन्नीसै छब्बीस मंझार माघ शुक्ल पाँचै निरधार।
सकल शास्त्र जिनमत के सार याद दास्त कीनी तैयार ॥ ८ ॥"

इनमें बताया है कि "पूना शहर के समीप फलटन नाम का नगर है। वहाँ दुलीचन्द नाम के एक श्रावक रहते थे। उन्होंने जन्म से ही त्याग धारण कर लिया था। उन्होंने जगह जगह घूम कर जैन शास्त्र और उनके कर्ताओं की एक सूची नाम और ग्राम-सहित तैयार की थी। और चारों ही अनुयोगों के संस्कृत-प्राकृत और भाषा के शास्त्र इकट्ठे किये थे, जो जयपुर में मिलते हैं और हमारे अधीन हैं। जिस धर्मात्मा भाई को जरूरत हो पत्र लिख कर मंगालें।" यह यादी सम्वत् १९२६ माघ शुक्ला पंचमी को तैयार हुई। मुद्रित सूची के, जिसमें वचनिका शास्त्रोंके नाम दिये हैं, प्रारम्भ में भी ये ही दोहे मुद्रित हैं। चौपाई से पहले केवल एक दोहा उसमें अधिक है, जो इस प्रकार है—

"प्रमाणीक जे ग्रन्थ हैं जैन धरम के मूल।
तिनकी संख्या जानिये जिनवाणी अनुकूल ॥ ८ ॥"

जयपुर में आज भी बाबा दुलीचन्द्र जी का शास्त्रभाण्डार बहुत प्रसिद्ध है और उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मौजूद हैं। इन दोहों से पता चलता है कि ये सूचियाँ तैयार करके सब जगह के भाइयों को भेजी गई थीं और सर्व-साधारण के लिये यह घोषणा की गई थी कि जिस भाई को किसी शास्त्र की जरूरत हो वह एक पत्र लिख कर डाल दे, उसे घर बैठे शास्त्र मिल जायेगा। इस उदार घोषणा को पढ़ कर हृदय हर्ष से गद्गद हो जाता है। और जब यह स्मरण आता है कि यह घोषणा उस समय की है जब शास्त्र आज की तरह छप-छप कर नहीं बिकते थे और इसलिये शास्त्रदान बड़ा व्यय-साध्य था, तब तो उन उदार दानियों के प्रति हमारा मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है। सच है, ऐसे-ऐसे उदार पुरुष यदि शास्त्र-भाण्डारों के अध्यक्ष न होते तो क्या उस समय जिनवाणी का इतना प्रचार रह सकता था। आज के शास्त्र-भाण्डारों के लोभी अध्यक्षों को इस उदार घोषणा से

शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। बृहत् सूची में विषयवार ग्रन्थकर्ता का नाम देकर उनके रचित ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

सिद्धान्त-ग्रन्थ

वीरसेन स्वामि-कृत—'जयधवल', धवल[1] (७२०००), पंचसंग्रह, सिद्धान्त-सार प्राकृत।

पद्मनन्दी स्वामी कुण्डलपुर[2] का रचित—चूलिका-सिद्धान्त, जिसका नाम व्याख्यावृत्ति है, प्रमाण १२०० है।

देवसेन-विरचित—महाधवल सिद्धान्त (४००००)?

उच्चारणाचार्यकृत—सूत्रांकवृत्ति १२००० जिसका दूसरा नाम उच्चारणसूत्र है।

वृषभमुनि-कृत[3]—चूरणीसिद्धान्त, मूल गाथा १८० गुणधरजी-कृत, जिसकी वृत्ति ६००० है संस्कृत।

भूतबलिस्वामि-कृत—षट्खंड पाहुड सिद्धान्त-सूत्र है, इनकी टीका[4] पुष्पदन्तजी-कृत ३०००० है।

कुन्दकुन्द[5] स्वामि-कृत—समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड।

---

१ लिखा है कि—'जयधवल सिद्धान्त बीस हजार वीरसेन स्वामी रच्या, फेर अधूरा रच्या, तदि याका चेला जयसेन जी (जिनसेन जी होना चाहिये) चालीस हजार रच्या. तदि साठ हजार पूरण भया'।

२ यह कुन्दकुन्द स्वामी ही जान पड़ते हैं, क्योंकि वे कोण्डकुन्दपुर के वासी थे और उनका एक नाम पद्मनन्दी भी था। तथा इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार के अनुसार उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी थी।

३ ये यतिवृषभाचार्य जान पड़ते हैं। उन्होंने गुणधराचार्य के सूत्रों पर चूर्णिसूत्र रचे थे, और उनसे उच्चारणाचार्य ने अध्ययन कर के चूर्णिसूत्रों पर वृत्तिसूत्र लिखे थे।

४ यह लिखना गलत है।

५ कुन्दकुन्द के समयसार पर अमृतचन्द्र, पं० रायमल्ल भट्टारक पुण्यकीर्ति या प्रभ-कीर्ति, मल्लिषेणाचार्य और प्रभाचन्द्र की टीका बतलाई है। प्रवचनसार पर अमृतचन्द्र, रायमल्ल, सुमतिकीर्ति, मल्लिषेणाचार्य और प्रभाचन्द्र को टीका लिखी है। पंचास्तिकाय पर उक्त टीका-कारों के साथ-साथ भट्टारक ज्ञानभूषण ने भी एक टीका बनाई है। अष्टपाहुड पर भट्टारक छोटे प्रभाचन्द्र की भी एक टीका है। यह भट्टारक प्रभाचन्द्र संभवतः वे ही हैं, जिन्हें भावत्रिभङ्गी की प्रशस्ति में सारत्रय अर्थात् समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसार के ज्ञाता लिखा है। (देखो भावसंग्रहादि, माणिक० ग्र० बम्बई की प्रस्तावना)।

योगेन्द्रदेव—परमात्मप्रकाश, योगसार, अध्यात्मसंदोह ।

देवसेन स्वामि-कृत—ज्ञानसार, भावसंग्रह, दर्शनसार (सब प्राकृत में हैं) ।

पद्मनन्दी[1] स्वामी—चरणसार प्राकृत ।

विजयकुमार स्वामी—अर्थानुशासन ।

अजितसागर[2]—षट्खंडभूपद्धति—सिद्धान्तशिरोमणि ।

नेमिचन्द्र स्वामी – गोमट्टसार, त्रिलोकसार, द्रव्यसंग्रह,[3] लब्धिसार, क्षपणासार ।

गुणभद्र स्वामी—भावसंग्रह ।

त्रैविद्य मुनि—सिद्धान्तशिरोमणि ।

अभयचन्द्र[4]—कर्मप्रकृति-रहस्य ।

अनन्तनन्दी—दर्शनसार ।

समन्तभद्र—विजय धवल टीका (मूडबिद्री में है) ?

जिनमुनि[6]—प्राकृत त्रिभंगी ।

सागरसेन सिद्धान्त[7]—त्रिलोकसार छोटा. टीका सहस्रकीर्ति ।

---

१ संभवतः यह श्रीकुन्दकुन्द स्वामी का ही नामान्तर है और उन्हीं के चारित्रप्राभृत का चरणसार के नाम से उल्लेख कर दिया प्रतीत होता है ।

२ अजित ब्रह्मचारी नाम के एक विद्वान् की कल्याणालोयणा नामक प्राकृत रचना मा० ग्र० बम्बई से प्रकाशित सिद्धान्तसारादि-संग्रह में प्रकाशित हुई है। शायद ये दोनों एक ही व्यक्ति हों।

३ द्रव्यसंग्रह पर पं० रायमल्ल, योगेन्द्रदेव, ब्रह्मदेव, भ० प्रभाचन्द्र और मल्लिषेणाचार्य की टीका बतलाई है ।

४ श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४७ में मेघचन्द्र नाम के एक मुनि को 'त्रैविद्य-रत्नाकर' 'त्रैविद्यचूडामणिः', आदि विशेषणों से अभिहित किया है, और लिखा है कि 'त्रैविद्यदेव' के नाम से विद्वानों में उनकी ख्याति थी, तथा वे 'सैद्धान्तिकेश्वर-शिखामणि' थे । अतः संभव है कि ये मेघचन्द्र ही त्रैविद्य मुनि हों ।

५ गोम्मटसार की वृत्ति के रचयिता का नाम भी अभयचन्द्र है। संभवतः वे ही कर्मप्रकृति-रहस्य के भी कर्ता हों ।

६ इस नाम के कई ग्रन्थकार हुए हैं, एक जिनचन्द्र आचार्य सिद्धान्तसार (मा० ग्र० बम्बई) के कर्ता हैं। आश्चर्य नहीं, जो ये ही प्राकृतत्रिभंगी के भी कर्ता हों ।

७ पुष्पदंतकृत उत्तरपुराण के प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण के अन्त में लिखा है कि प्रभाचंद्र ने सागरसेन सैद्धांतिक से परिज्ञात कर के इस टिप्पण को रचा, शायद यही सागरसेन सैद्धांतिक छोटे त्रिलोकसार के रचयिता हों ।

वामदेव पण्डित—भावसंग्रह संस्कृत, तत्त्वार्थसार, त्रैलोकदीपक।

वासवसेन गृहस्थकृत वासवठाणा प्राकृत,

पण्डित[1] अमितगति काष्ठासंघी—जम्बूप्रज्ञप्ति-सार्द्ध द्वयप्रज्ञप्ति।

भट्टारक सकलकीर्ति—सिद्धान्तसार (सं०), तत्त्वार्थसार-दीपक।

ब्रह्मदेव[2]—तत्त्वदीपक, ज्ञानदीपक।

पं० मेधावी—तत्त्वसार, त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति ?

देवेन्द्रसेन को बृहद् आराधनासार सं०। नागसेन[3] का लघु आराधनासार सं०। भ० छोटा शुभचन्द्र[4] का तत्त्वार्थसार सं०। देवसेन का आराधनासार गाथा, व्याख्याप्रज्ञप्ति प्राकृत, ज्ञातकृतांग (?), सप्तभंगी, व्याख्याप्रज्ञप्ति। जिनसेनाचार्यकृत चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणास्थान। उमास्वामिकृत कर्मप्रकृति मूल ?, अष्टकर्मदहन।

न्याय के कुछ ग्रन्थ

तत्त्वार्थसूत्र की टीकाएं[5]—गन्धहस्ती महाभाष्य समन्तभद्रकृत, श्लोक वार्तिक, राज-वार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, सिद्धिभूपद्धति पिहितास्रवस्वामि-कृत, तत्त्वप्रकाशिका (योगेन्द्रदेव), सिद्धिभूपद्धति (वीरसेन स्वामी), तात्पर्यवृत्ति (अभयनन्दि), टीका लक्ष्मीदेवगृहस्थ-कृत, टीका श्रुतसागर-कृत, टीका भ० पहला प्रभाचन्द्र-कृत, टीका विबुधसेन-कृत, टीका तत्त्वप्रकाशिका (दूसरा प्रभाचन्द्र), टीका सुखबोधिनी (दूसरा श्रुतसागर), टीका देवीदास-कृत, टीका[5] भास्करनन्दि मुनि, टीका कर्नाटकी (भट्टा० दिवाकर), टीका सुखबोधिनी रविनन्दिकृत,

प्रभाचन्द्र[6]—वादिकौशिकमार्तण्ड, प्रमाणदीपक, राजमार्तण्ड, अर्थप्रकाश।

---

१ यह सामायिक पाठ (सं०) के रचयिता प्रसिद्ध आचार्य अमितगति जान पड़ते हैं।

२ संभवतः यह द्रव्यसंग्रह की टीका के कर्ता ब्रह्मदेव ही हैं।

३ आश्चर्य नहीं तत्त्वानुशासन (मा० ग्र० बंबई) के रचयिता नागसेन और यह नागसेन एक ही व्यक्ति हों।

४ भट्टारक सकलकीर्ति की परंपरा में शुभचंद्र नाम के एक विद्वान् भट्टारक हो गये हैं जो स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका के रचयिता हैं। उनका बनाया पाण्डवपुराण भी है। उसकी प्रशस्ति में उन्होंने स्वरचित ग्रन्थों की तालिका दी है। किन्तु इसमें तत्त्वार्थसार नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है। संभवतः उनसे पृथक्करण करने के लिये ही इन शुभचंद्र के साथ छोटा विशेषण लगाया गया है।

५ इसकी एक प्रति मद्रास की ओरियन्टल लायब्रेरी में है, ऐसा 'सिद्धांतसारादि' की प्रस्तावना में लिखा है।

६ प्रमेयकमलमार्तण्ड के रचयिता।

विद्यानन्द—विद्यानन्दमहोदय, प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय, तर्कपरीक्षा।

प्रभादेव—प्रमितिवाद, युक्तिवाद, अन्यासिवाद, तर्कवाद, नयवाद।

वीरसेनस्वामि कृत प्रमाणनौका, कुमुदचन्द्र[1] का षट्दर्शनसमुच्चय बड़ा, वादिसिंह-कृत[2] प्रमाण-नौका और तर्कदीपिका, वादिराजकृत वादमञ्जरी, भट्टारक कुमारनन्दिकृत[3] न्याय-विषय, माणिक्यनन्दी के परीक्षामुखसूत्र की टीकाएं—प्रमेयचन्द्रिका (अनन्तवीर्य), न्यायमणिदीपिका (अजितसेनाचार्य) प्रमाण ८०००, रत्नमालादीपिका (पण्डिताचार्य), प्रमेयकण्ठिका (शान्तिषेण[4]), प्रमेयरत्नालङ्कार।

कुछ उपदेशी शास्त्र

तत्वानुशासन (समन्तभद्र) प्रमाण १०००, ज्ञानविलास (आशाधर), शिक्षानुशासन (पं० लक्ष्मण), पं० श्रीचन्द्र-कृत प्राकृत रत्नकरण्ड, उत्सवपद्धति (ब्र० अजित), धर्मपरीक्षा सं० और प्रा० (हरिषेण[5])।

यति-आचार

क्रियासार प्राकृत (भद्रबाहु), क्रियासंग्रह (विजयकुञर स्वामी), यत्याचार प्राकृत (भ० वसुनन्दी)।

श्रावकाचार

इसमें ३१ श्रावकाचारों के नाम दिये हैं। जिनमें कुछ के कर्ताओं के नाम इस प्रकार हैं—

वादिसिंह, योगेन्द्रदेव, अभयदेव, वामदेव, विश्वबोध इत्यादि।

काव्यग्रन्थों में धर्मशर्माभ्युदय पर यशःकीर्त्ति[6] की, चन्द्रप्रभकाव्य और नेमिनिर्वाणकाव्य

१ यह कुमुदचंद्र शायद वे ही हों जिनके साथ श्वेताम्बर देवसूरि के शास्त्रार्थ करने की चर्चा श्वेताम्बर-साहित्य में पाई जाती है।

२ यह वादी-सिंह वही जान पड़ते हैं, जिनका स्मरण वादिराज ने अपने पार्श्वनाथ-चरित में किया है।

३ यह कुमारनन्दी संभवतः वही प्रसिद्ध तार्किक हैं जिनके वचनों को विद्यानंद स्वामी ने अपनी प्रमाणपरीक्षा में 'तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः' कर के उद्धृत किया है।

४ आश्चर्य नहीं जो यह शांतिषेण वहीं हों जिनके लिये अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला की रचना की थी।

५ यह हरिषेण कथाकोशकार ही जान पड़ते हैं।

६ कर्नाटक-कवि-चरिते में यशःकीर्ति को धर्मशर्माभ्युदय की 'सन्देहध्वान्तदीपिका' नामक टीका का रचयिता लिखा है। देखो अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ८३।

पर प्रभाचन्द्र भट्टारक प्रथम की टीका लिखी है, तथा पं० जगन्नाथ कविकृत, जो संभवतः रसगङ्गाधर के रचयिता ब्राह्मण विद्वान् थे, चतुर्विंशतिसंधान का भी नाम लिखा है। सुभाषित शास्त्रों में योगेन्द्रदेव का सुभाषितरत्न, भट्टारक शुभचन्द्र छोटा का सुभाषितार्णव और सुभाषितरत्नावली का नाम लिखा है।

साहित्यशास्त्र में तीन ग्रन्थों के नाम दिये हैं—साहित्य-दीपक, साहित्य-रत्नाकर और साहित्य-रत्नमाला।

संग्रह-शास्त्रों में जिनसेनकृत सारसंग्रह संस्कृत और गुणभद्रकृत टिप्पण-ग्रन्थ का नाम है।

निमित्तशास्त्र में भी कुमारनन्दिकृत कुमार-संहिता, निमित्तदीपक आदि अनेक नाम हैं।

व्याकरणशास्त्र में अनेक टीकाग्रन्थों का संकलन किया है, जिनमें जैनेन्द्रसूत्र और शाकटायन की प्रचलित टीकाओं के सिवाय सोमदेवकृत मध्यजैनेन्द्रव्याकरण, विजयप्रभकृत प्रक्रियाबद्ध जैनेन्द्र आदि अनेक नाम हैं। समन्तभद्र द्वितीय-कृत चिन्तामणि व्याकरण-टिप्पण का भी नाम है।

कोशग्रन्थों में नागदेवकृत शारदी नाम-माला, हैमी-नाम-माला (जो संभवतः हेमचंद्राचार्य की है), अभिधानचिन्तामणि आदि अनेक नाम हैं।

छन्दःशास्त्र में आशाधरकृत वृत्तप्रकाश ग्रन्थ का नाम लिखा है।

अलङ्कारशास्त्र में जिनसेन स्वामिकृत बुद्धिप्रकाश ग्रन्थ का नाम लिखा है।

शकुनशास्त्र में शकुनदीपक, स्वप्नशास्त्र में स्वप्नदीपक, शिल्पशास्त्र में वीरनन्दिकृत शिल्पसंहिता का नाम दिया है।

वैद्यकशास्त्र में पूज्यपाद, पद्मसेन आदि अनेक ग्रन्थकारों के निघण्टु और कुन्दकुन्दकृत प्राकृत वैद्यगाह्य (प्रमाण ४०००) का नाम लिखा है। उग्राचार्य के भी कई ग्रन्थ बतलाये हैं।

ज्योतिषशास्त्र में ज्योतिषपाल, केवलज्ञानहोरा (प्रमाण १००००), चन्द्रोन्मील (प्रश्न करने का) आदि कई ग्रन्थों के नाम दिये हैं।

पुराणग्रन्थों में महासेनकृत महापुराण, अरुणमणि पण्डितकृत अजितपुराण, तेजपालकृत प्राकृत संभवपुराण, पं० दामोदर, शुभचन्द्र भट्टारक और अशक कविकृत चन्द्रप्रभपुराण, नागदेवकृत शीतलपुराण, भ० सुरेन्द्रकीर्तिकृत श्रेयांसनाथ पुराण, ब्र० कृष्णदासकृत विमलपुराण, वासवसेनकृत अनन्तपुराण, आदि प्रायः चौबीसों पुराणों का उल्लेख किया है। चरित-ग्रन्थों में अनेक चरितों के नाम दिये हैं और एक-एक चरित को कई-कई कवियों ने रचा है। जैसे श्रीपालचरित की रचना ६ कवियों ने भिन्न-भिन्न की है। कई

कवियों ने पाण्डवपुराण रचे हैं। यशोधरचरित और करकण्डुचरित भी अनेक हैं। कथाकोशों में एक कथाकोश सिंहनन्दिकृत भी है तथा एक कुलसेनकृत प्राकृत कथाकोश भी बतलाया है।

इसके बाद स्तोत्र-पूजा-पाठ आदि का नम्बर आता है। स्तोत्रों में पं० हस्तमल्ल (हस्तिमल्ल) कृत एक संजीवनस्तोत्र का भी नाम है। एक नेमिस्तवन का भी नाम है जो दो अक्षरों में ही बनाया गया है। संहिताविभाग में अनेक संहिताग्रन्थों के नाम दिये हैं। कथाओं में व्रत वगैरह की अनेक कथाएं संकलित हैं तथा अनेक व्रतकथाकोशों के नाम दिये हैं। इसके बाद, पूजा-पाठों और उद्यापन-पाठों की एक लम्बी तालिका है। व्रतोद्यापनों के सम्बन्ध का इतना साहित्य अन्यत्र कहीं सङ्कलित नहीं देखा गया। अन्त में मंत्र-शास्त्र और शान्ति-विधान-शास्त्रों के साथ यह विस्तृत सूची समाप्त हो जाती है।

इस सूची को तैयार करने में जनश्रुति से भी यथेष्ट सहायता ली गई जान पड़ती है। फिर भी ग्रन्थों की खोज करने पर बहुत से नये ग्रन्थ प्रकाश में, आ सकते हैं ऐसा इससे पता चलता है। इस सूची से अन्य भी कई बातों पर प्रकाश पड़ता है, वे ये हैं कि रायमल्ल भी एक टीकाकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। उन्होंने कितने ही ग्रन्थों पर टीकाएं रची हैं। यह रायमल्ल लाटीसंहिता के रचयिता ही प्रतीत होते हैं। तथा कई ग्रन्थों पर अनेक टीकाएं होने का पता चलता है। भगवती-आराधना पर विजयोदया नाम की जो टीका प्रकाश में आई है, इसमें उसे श्वेताम्बर बतलाया है। सिद्धांतग्रन्थों में व्याख्याप्रज्ञप्ति वगैरह एक-दो अङ्ग-ग्रन्थों के भी नाम दे दिये हैं। यह तो हुआ वृहत् सूची का परिचय। इसके साथ की सूचियों में एक छोटी सूची बड़े महत्त्व की है, उसमें जयपुर वगैरह में होनेवाले प्रायः सभी भाषाकारों का नाम उनके थोड़े से परिचय के साथ दिया है और उनके द्वारा रचे गये शास्त्रों की तालिका भी दी है। संक्षेप में उनका परिचय निम्न प्रकार है।

भाषाकार विद्वानों की सूची

इस सूची के प्रारम्भ में ही लिखा है—"यादद्दास्त शास्त्र जिन-जिन पुरुषों ने बनाये, ताके नाम के खाते लिखाते। सं० १९३५ भादवा बदि १० शुक्रवारनै सहारनपुर में लिखा।" लिखकर इसे काट दिया गया है। परन्तु वह पढ़ा जाता है।

१ टोडरमल जी खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—इनके रचे ग्रन्थों की संख्या ७ है। उसमें परुषार्थसिद्ध्युपाय वचनिका भी है। उसके आगे लिखा है—'सं० १८२७

मगसिर सुदी २ शनिवार को पूरी दौलतराम काशलीवाल ने करी।' इससे पता चलता है कि यह भी अधूरी ही रह गई थी।

२ जयचन्द जी छावड़ा खण्डेलवाल श्रावक जयपुर का—इनके रचे ग्रन्थों की संख्या ग्यारह है। अन्तिम ग्रन्थ सं० १८७० कार्तिक वदी १२ को रचागया है, और आदि ग्रन्थ सं० १८६१ में।

३ दौलतराम काशलीवाल, आनंदराम का बेटा, खण्डेलवाल श्रावक, प्रथम वसावा का, फिर जयपुर आये—इनके ग्रन्थों की संख्या ९ है, जिनमें पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की वचनिका भी है, उसके आगे लिखा है—'अधूरी थी सो इनने पूरी करी।' इन्होंने सं० १७७७ से १८२६ तक अपनी रचनाएं की हैं।

४ रायमल्ल जी त्यागी श्रावक जयपुर का—दो ग्रन्थ बनाये जिनमें एक ज्ञानानंद-निजरसनिरभर श्रावकाचार भी है।

५ नंदलाल जी छावड़ा तथा ऋषभदास जी निगोत्या श्रावक जयपुर के—मूलाचार वचनिका सं० १८८८

६ मनालाल जी सांगा का पाटणी खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—चारित्रसार वचनिका सं० १८७१

७ वधीचंद जी वज खंडेलवाल श्रावक जयपुर का – तत्त्वार्थबोध भाषा, बुधजनसतसई, आदि ४ ग्रन्थ बनाये। सं० १८९२ में बुधजनविलास बनाया और १८७९ में तत्त्वार्थबोध भाषा।

८ सरूप जी बिलाला खंडेवाल श्रावक जयपुर का—इनकी रचनाओं की संख्या १३ है जिनमें पूजा-पाठ ही अधिक हैं। इन्होंने चौपाई छन्द में त्रिलोकसार की रचना भी की है। इनकी रचनाएं सं० १८९२ से १९१९ तक की हैं।

९ सदासुखजी काशलीवाल खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—इनके ग्रन्थों की संख्या ८ है, जिनमें अर्थप्रकाशिका और सूत्रजीकी लघु वचनिका भी है। इन्होंने भगवती-आराधना वचनिका सं० १९०८ में और नित्यनेमपूजा वचनिका से १९२१ में बनाई थी।

१० नाथूलाल दोशी खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—इनके ग्रन्थों की संख्या १० है, जिनमें से परमात्मप्रकाश वचनिका की रचना सं० १९११ में और रत्नत्रय-जयमाला वचनिका की रचना सं० १९२४ में हुई थी।

११ उदयचंद जी लहवाड्या खंडेलवाल जयपुर का—रत्नकरंड-श्रावकाचार वचनिका।

१२ जोरीलाल मनालाल खिंदूका खंडेलवाल श्रावक जयपुर के—पद्मनंदि-पचीसी वचनिका सं० १९१५।

१३ पारसदास निगोत्या खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—इनके ग्रन्थों की संख्या तीन है, जिनमें एक पारस-विलास भी है। ज्ञानसूर्योदय नाटक वचनिका की सं० १९१७ में और सारचौबीसी वचनिका की १९१८ में रचना की।

१४ सेवाराम साह खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—इन्होंने सं० १८५४ में चौबीस महाराज-पूजा भाषा बनाई।

१५ सरबसुख राय जयपुर का—इन्होंने सं० १८६६ में समवशरण-पूजा भाषा बनाई।

१६ ताराचन्द जयपुर का—तीस चौबीसी-पूजा भाषा लघु।

१७ बखतराम चमराज का बेटा प्रथम चाटसू था बहुरि जयपुर में आय ग्रन्थ बनाया—सं० १८२१ में मिथ्यात्व मं(खं)डन भाषा वचनिका।

१८ नेमिचंद पाटणी खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—भाषा पूजाएं तीन, सं० १८८० से १९२१ तक में।

१९ संपतराम—सं० १८५४ में ज्ञानसूर्योदय नाटक भाषा बनाया।

२० पण्डित केशरी सिंह जयपुर का—सं० १८७३ में वर्द्धमानपुराण वचनिका बनाई।

२१ पण्डित स्योजी लाल जयपुर का—इन्होंने सं० १९२३ में दर्शनसार की वचनिका की तथा उमास्वामि-कृत श्रावकाचार की वचनिका भी बनाई। सूची में उमास्वामी के आगे 'दूसरा भेषी' लिखा है। जो इस बात को सूचित करता है कि यह श्रावकाचार उन्हीं उमास्वामी का नहीं है जिन्होंने तत्वार्थसूत्र बनाया है। इससे सूची बनानेवाले की सावधानता का पता चलता है।

२२ चैनजी लुहाड्या श्रावक जयपुर का—अकृत्रिम चैत्यालय-पूजा भाषा।

२३ पन्नालाल दूनीवाला श्रावक खण्डेलवाल जयपुर का—इनके ग्रन्थों की संख्या ६ है।

२४ पं० फतहलाल जयपुरवाला—इन्होंने राजवार्तिक वचनिका, दशावतार नाटक की वचनिका आदि ५ ग्रन्थ बनाये हैं।

२५ पन्नालाल चौधरी पांड्या गोत्र खंडेलवाल श्रावक जयपुर का—सूची में इनके ग्रन्थों की संख्या ४६ दी है किन्तु मध्य में नं० २२ से ३० तक के नौ अङ्क खाली हैं। शायद सूची के निर्माता को किसी स्थान से इनके ग्रंथों की संख्या का क्रमवार पता लगा होगा और बीच के अङ्क पढ़े न गये हों या और कुछ कारण हो। इन की रचनाएं सं० १९३० से प्रारम्भ होती हैं। उनमें स्तोत्रों, चरित्रों की वचनिका की बहुतायत है। इन्होंने दशभक्ति सुभाषितार्णव और सद्भाषितावली की भी वचनिका की है।

इस प्रकार जयपुर के भाषाकार विद्वानों की संख्या सूची में २५ दी है। अब अन्य स्थानों के भाषाकार विद्वानों की तालिका दी जाती है—

१ डालूराम अगरवाला माधोराजपुरा जिला जयपुर—इनके ग्रंथों की संख्या १३ है जिनमें भाषा-पूजाएँ ही अधिक हैं। रचनाकाल सं० १८६० से १८८२ तक है।

२ खुशालचंद श्रावक खंडेलवाल गोत काला, बेटा सुंदरलाल कामा, प्रथम सांगानेर के वासी फिर जिहानाबाद में जयसिंहपुरा में ग्रन्थ बनाये—ग्रन्थ-संख्या ६ है। रचनाकाल सं० १७८० से १७९९ तक है। रचनाओं में पुराणों की वचनिका इत्यादि हैं।

३ जोधराज गोदी का खंडेलवाल, अमरसिंह का बेटा, सांगानेर-वासी—इन्होंने प्रीतिंकरचरित्र भाषा, सम्यक्त्वकौमुदी प्राकृत की भाषा आदि ६ ग्रन्थ लिखे हैं। रचना-काल सं० १७२१ से।

४ ब्रह्मरायमल्ल—इन्होंने सं० १६१६ में हनुमानचरित्र भाषा और १६६३ में भविष्यदत्तचरित्र भाषा बनाया।

५ किसनसिंह, बेटा देवीचन्द का, पाटणी खंडेलवाल श्रावक, प्रथमबार बाडहारी के पास रामपुरा गांव है तहां रहे, फिर सांगानेर आय के शास्त्र बनाये—सं० १७७३ में रात्रिभोजन-कथा और सं० १७८५ में भद्रबाहु-चरित्र भाषा बनाया।

६ मनोहरदास सांगानेरवाला—धर्मपरीक्षा भाषा।

७ पण्डित हीरानंद जहानाबाद के वासी—पञ्चास्तिकाय भाषा, सं० १७१८।

८ बखतराम गोधा खंडेलवाल श्रावक चंपावती गांव का, जिला जयपुर—धर्मबुद्धि की कथा।

९ दीपचंद—इनके अनुभव-प्रकाश, ज्ञानदर्पण और चिद्‌विलास वचनिका ये तीन ग्रन्थ हैं, जो आमेर तथा सांगानेर में बनाये गये हैं।

१० बनारसीदास श्रावक श्रीमाल प्रथम जौनपुर के वासी, फिर आगरे में आय के ग्रन्थ बनाये। इन्होंने सं० १६९३ में समयसारनाटक भाषा, १६९८ में बनारसी-पद्धति और सं० १७०१ में बनारसीविलास भाषा बनाया।

११ द्यानतराय अगरवाले श्रावक आगरा के—इन्होंने सं० १७८० में द्यानत-विलास बनाया—सूची में लिखा है कि इनकी सूम की कथा छन्दोबद्ध भरतपुर में है।

१२ जगतराय अगरवाले श्रावक आगरा के—इन्होंने १७२२ में पद्मनंदि-पचीसी भाषा बनाई।

१३ भगौतीदास ओसवाल श्रावक, बेटा लालजी का, गोत कटारिया आगरा के—सं० १७३२ में चेतनचरित्र और सं० १७५५ में ब्रह्मविलास बनाया।

१४ विनोदीलाल बेटा दरिगहमल का, गर्ग गोत, अगरवाला वासी हजारपुर (दिल्ली) के—नौरंगशाह के राज्यकाल में दिल्ली में सं० १७४७ में भक्तामर की कथा और सं० १७४९ में सम्यक्त्वकौमुदी भाषा बनाई।

१५ भूधरदास अगरवाला श्रावक आगरा का—सं० १८०१ में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय वचनिका, सं० १८०६ में चरचासमाधान, सं० १८०९ में पार्श्वनाथपुराण भाषा आदि ६ ग्रन्थ बनाये हैं।

१६ परमल्ल गोबरगड के वासी ग्रन्थ आगरा में बनाये—श्रीपालचरित और श्रेणिकचरित।

१७ हेमराज—सं० १७०९ में प्रवचनसार वचनिका और सं० १७२४ में नयचक्र वचनिका बनाई।

१८ नथमल बिलाला, बेटा सोभागचंद का खंडेलवाल भरतपुर का—सं० १८२२ में जिनगुणविलास, सं० १८२३ में सिद्धांतसार भाषा, सं० १८३४ में नागकुमारचरित आदि ५ ग्रन्थ बनाये।

१९ फकीरचन्द तथा नथमल भरतपुर—सं० १८२१ में समवशरण-मंगल भाषा बनाया

२० ताराचंद, तिलोकचंद, लखमीचंद फतहपुर (आगरा)—सं० १७२८ में ज्ञानार्णव भाषा बनाया।

२१ जिनदास पण्डित—मथुरा में सं० १६४२ में जम्बूचरित्र भाषा बनाया।

२२ सुखलाल काशलीवाल कामा का—सुखविलास।

२३ देवीदास गोधा खंडेलवाल बसवा का—भेलसा में सं० १८४४ में सिद्धांतसार वचनिका लिखी।

२४ नवलराम खंडेवाल बसवा का—सं० १८२५ में वर्द्धमानपुराण भाषा बनाया।

२५ पण्डित लालचंद, प्रथम सांगानेर के वासी, फिर बयाना में ग्रन्थ बनाये सूची में इनके १२ ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने सं० १८७० में काशी में भेलुपुरा में अकृत्रिम चैत्यालय-पूजा और सं० १८२७ में हीरापुर में वरांगचरित भाषा बनाया।

२६ मन्नालाल बैनाड़ा खंडेलवाल दिल्ली का—सं० १९१६ में प्रद्युम्नचरित वचनिका लिखी।

२७ बखतावरलाल रतनलाल अगरवाला दिल्लीवाला—इनकी बनाई ६ पुस्तकें हैं, जिनमें चन्द्रप्रभपुराण भाषा और नेमिनाथपुराण भाषा भी है। रचनाकाल सं० १८९२ से सं० १९०९ तक है।

२८ सिद्दलाल रेवाड़ी का—सं० १८४२ में शिखरविलास बनाया।

२९ हरगुलाल अगरवाल श्रावक खतौली का—सं० १९०६ में सज्जनचित्तवल्लभ वचनिका लिखी।

३० काशीदास जगतराय तथा टेकचंद अगरवाले श्रावक पानीपत के—सं० १७२२ में सम्यक्त्वकौमुदी भाषा बनाई।

३१ ऊमरीलाल अमरावतीवाला—समेदशिखर-पूजा भाषा।

३२ हरकिसन ईसागढ़वाला—सं० १८८० में पंचल्याणक-पूजा भाषा बनाई।

३३ बदली चंदेरीवाला—समाधिशतक भाषा।

३४ वृंदावन जी, धर्मचंद का बेटा, अगरवाले, प्रथम वारागाव-गंगा के किनारे रहे, फिर बनारस में आये ग्रन्थ बनाये—इनके ग्रन्थों की संख्या ६ है, जिनमें छन्दशास्त्र भाषा भी है। इन्होंने सं० १८६३ में प्रवचनसार भाषा छन्दोबद्ध बनाया था।

३५ जीवराज खण्डेलवाल श्रावक बड़नगर का—सं० १७६२ में परमात्मप्रकाश वचनिका बनाई।

३६ भट्टारक विजयकीर्ति अजमेरवाला—सं० १८२७ में श्रेणिक-चरित्र भाषा बनाया।

३७ शिरोमणी दास, पं० गंगादास के शिष्य, शिरोहुणी नगर के वासी—सं० १७३२ में धर्मसार बनाया।

३८ सेवाराम रजपूत देवलिया प्रतापगढ़ (मालवा) का—सं० १८३४ में शांतिनाथ-पुराण बनाया।

३९ सुन्दरलाल लमेचू श्रावक भदावरगांव अटेर का—इन्दौर में सिंदूरप्रकरण वचनिका बनाई।

४० भारामल्ल खरौआ भिंडवाला—दर्शनकथा आदि चार कथाएं बनाईं।

४१ विलासराय इटावा का—पद्मनंदिपचीसी वचनिका और सं० १८६७ में नयचक्र वचनिका बनाई।

४२ गुलाबराय मोतीराम—सं० १८४१ में शिखरविलास भाषा बनाया।

४३ छत्रपतजी पद्मावती पोरवार कोल के वासी—इन्होंने सं० १९०७ से १९२२ तक मनमोदन-पचासिका भाषा, उद्यमप्रकाश आदि ४ ग्रन्थ रचे।

४४ टेकचंद जी भदरपूर—इनके ११ ग्रन्थ हैं, जिनमें बहुत भाग पूजाओं का है। इन्होंने सं० १८३७ में सूत्र जी की वचनिका और सं० १८३८ में सुदृष्टितरङ्गिणी बनाई।

४५ भागचंद जी ओसवाल ईसागढ़ के, फिर लसकर आकर ग्रन्थ बनाये – इनके ग्रन्थों की संख्या आठ है। इन्होंने सं० १९०० में ज्ञानसूर्योदय नाटक की वचनिका और सं० १९१३ में प्रमाणपरीक्षा की वचनिका की।

४६ खड्गसेन खण्डेलवाल गोत पापडीवाल, बागड़देश में नारनौल नगर में रहे, फिर आगरे आय ग्रन्थ बनाये—सं० १७१३ में त्रिलोकदर्पण और ज्ञानदर्पण बनाये।

४७ छोटालाल जैसवाल, बनारस में—सूत्र जी भाषा छन्दोबद्ध आदि तीन ग्रन्थ बनाये।

४८ किसनचन्द, बेटा कल्याणसिंह संगही का, खंडेलवाल पाटणी गोत्र, रामपुर के वासी—सं० १७८४ में क्रियाकोश भाषा बनाया।

४९ देवीसिंह छावड़ा नरवरगांव का—सं० १७९६ में उपदेश-सिद्धांत-रत्नमाला बनाई।

५० गारवदास गांव फफोहूँ का—सं० १५८१ में यशोधरचरित भाषा बनाया।

५१ जिनहरख, गांव पाटण का बसवा—सं० १७२४ में श्रेणिकचरित्र भाषा बनाया।

५२ बुलाकीदास—सं० १७३७ में प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार भाषा और सं० १७५४ में पाण्डव-पुराण भाषा बनाया।

५३ चम्पाराम हूमड़ श्रावक झालरापाटन का—इनके ४ ग्रन्थ हैं, इन्होंने सं० १९१६ में गोतमपरीक्षा बनाई। चरचासागर की वचनिका भी इन्हींने बनाई है।

५४ रामचन्द्र खण्डेलवाल दिल्ली का—दो पूजाग्रन्थ बनाये।

५५ हीरालाल अगरवाल बड़ौद का (बड़ौत [मेरठ])—चन्द्रप्रभ-पुराण भाषा।

५६ मनरंग, पल्लीवाल श्रावक, गोत्र काश्यप, गच्छ गिरा ? बलात्कारगण मूलसंघ, गांव कन्नोज—सं० १८७० में चौबीस महाराज-पूजा और सं० १८८० में नेमचन्द्रिका भाषा बनाई।

५७ अमरचंद लुहाड्या खण्डेलवाल—सं० १८९१ में चौबीसपूजा और सं० १९२५ में बीस तीर्थंकर-पूजा बनाई।

५८ भैरुलाल अगरवाल बनारस का—सं० १९१० में पंचकल्याणक-पूजा बनाई।

५९ नन्दलाल—तीस चौबीस-पूजा भाषा लघु समुच्चय।

६० गोकुल श्रावक गोलापुरा—सुकुमाल-चरित्र वचनिका।

६१ रायमल्ल दूसरा—समयसार वचनिका।

६२ खेतसि—जम्बूचरित्र भाषा।

६३ रामचंद खुसालचंद—सं० १७९४ में सद्भाषितावली बनाई।

६४ मकरंद—सूत्र जी की वचनिका।

६५ परवत—द्रव्यसंग्रह और समाधितंत्र की वचनिका।

६६ अखय श्रीमाल—चरचा का ग्रन्थ।

६७ पण्डित जयवंत—सूत्र जी की वचनिका।

६८ राजाराम—धन्यकुमारचरित्र भाषा।

६९ मानसिंह भगौतीदास—सं० १८३१ में द्रव्यसंग्रह भाषा बनाई।

७० हरिराय—हरिवंशपुराण।

७१ देवीदास गोलालारे, टीकमगढ़ से ५ कोस पर डिगौड़ा गाँव के वासी—इन्होंने परमानन्दविलास, प्रवचनसार भाषा छन्दोबद्ध और सं० १८२१ में चौबीस-पूजा बनाई।

७२ रायमल्ल तीसरा—भविष्यदत्त-चरित्र और सीता-चरित्र।

७३ नंदराम—सं० १९०४ में योगसार वचनिका बनाई।

७४ असुरराम—समवशरण-पूजा।

७५ कमलनयन—समवशरणपूजा।

७६ थानसिंह—सं० १८४७ में सुबुद्धि-प्रकाश बनाया।

७७ पं० धर्मदास—सं० १५७८ में श्रावकाचार बनाया।

७८ रामचन्द्र—सं० १७७३ में सीताचरित्र बनायो।

७९ विश्वभूषण—सं० १७३८ में जिनदत्तचरित्र भाषा बनाया।

८० मनराखनलाल डेउडिया परवार सागडटोरी वरनगर दूसरा नाम जामसा—सं० १८८४ में सुधारससार भाषा बनाया।

८१ जिनेन्द्रभूषण भट्टारक इटावा—सं० १८४१ में चन्द्रप्रभपुराण छन्दोबद्ध बनाया।

८२ गोपीलाल परवार मउरानीपुर (सागर) के—नागकुमारचरित्र इत्यादि तीन ग्रन्थ।

८३ प्यारे लाल—सद्भाषितावली छन्दोबद्ध।

इस प्रकार इस सूची में जयपुर के वासी पचीस और अन्य स्थानों के वासी ८३ भाषाकार विद्वानों की तालिका दी गई है। इस तालिका से पता चलता है कि जिस खण्डेलवाल जाति में आज इने-गिने विद्वान् हैं, उसमें ही किसी समय विद्वानों का अच्छा जमाव था। जाति के हिसाब से सबसे अधिक भाषाकार खण्डेलवाल जाति में हुए हैं, उससे दूसरा नम्बर अग्रवाल जाति का है। इसी तरह क्षेत्र के हिसाब से प्रथम नम्बर जयपुर का है और दूसरा आगरा का। उक्त भाषाशास्त्रों में से अभीतक अनेकों ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आये हैं। प्रवचनसार भाषा छन्दोबद्ध, सूत्र जी भाषा छन्दोबद्ध, आदि ग्रन्थों को खोज कर प्रकाशित करना चाहिये। कविवर बनारसीदास जी की बनारसी-पद्धति भी प्रकाश में आनी चाहिये। संस्कृत और भाषा के ग्रन्थकारों ने जैनधर्म का महान् उपकार किया है। उनके परिश्रम के बल पर ही आज संसार में जैनधर्म जीवित है और तब तक जीवित रहेगा, जबतक उनकी रचना संसार में वर्तमान रहेगी। किन्तु जैनधर्म के अनुयायी अपने उन महान् उपकारी ग्रन्थकारों के प्रति जरा सी भी सच्ची श्रद्धा प्रकट नहीं करते। सचमुच जिनवाणी माता के प्रति उनके पुत्रों ने वही वर्ताव कर रखा है जो विमाता के साथ किया जाता है। यदि ऐसा न होता तो क्या जिनमन्दिरों की प्रतिष्ठा में पानी की तरह पैसा बहानेवाले जैन अपनी माता की दुर्दशा देखकर भी अनदेखी कर सकते थे? अब भी समय है, और आवश्यकता है, ऐसे नररत्नों की जो जिन के साथ जिनवाणी के भी उद्धार का बीड़ा उठा कर कार्यक्षेत्र में जुटे।

वेणूरु

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण]

वेणूरु मूडबिद्री से ११ मील दूरी पर पूर्व दिशा में फल्गुनी नदी के तट पर अवस्थित है। इस समय यहां की जन-संख्या बहुत कम है। पर एक समय यह अजिल राजवंश की राजधानी ही रही। तौळव देश में राज्य-शासन करनेवाले प्रसिद्ध जैन राजवंशों में से वेणूरु में राज्य करनेवाला यह अजिलवंश भी एक है। गोम्मटेश्वर की विशाल एवं मनोमुग्ध प्रतिमा से पूरब की ओर विद्यमान विशाल मैदान में राजमहल का भग्नावशेष आज भी दृष्टिगोचर होता है। किंवदंती है कि यह महल बड़ा ही विशाल एवं चित्ताकर्षक बना हुआ था। आज भी वेणूरु तथा इसके आस-पास वर्तमान जैनियों के सुंदर एवं बहुमूल्य देवालय, मानस्तंभ आदि प्राचीन स्मारक यहां के पूर्व के औन्नत्य को व्यक्त कर रहे हैं। उपलब्ध अजिल-वंश के इतिहास से पता लगता है कि इसने ई० सन् ११५४ से १७८६ तक अर्थात् लगभग ६३२ वर्ष राज्य किया था। यों तो इस समय भी यह वंश मौजूद है और आज भी इसे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से कुछ वर्षाशन मिल रहा है।*

अस्तु, इस समय वेणूर में विशाल कायवाली गोम्मटेश्वर की मूर्ति एवं यहां के कतिपय जैन मंदिर ही दर्शनीय तथा उल्लेखनीय प्राचीन स्मारक हैं। इन स्मारकों में श्रीशान्तीश्वर बसदि—मंदिर ही सर्व प्राचीन है। यह मंदिर आज से ४४९ वर्ष पूर्व बना था। इस मंदिर के आंगन में मंदिर के ठीक दक्षिण एवं वामपार्श्व में दो मंदिर और हैं। दक्षिण पार्श्वस्थित मंदिर का नाम 'तीर्थङ्कर बसदि' है। इसका द्वार—दरवाजा शिलानिर्मित है। कलामर्मज्ञों का कहना है कि इस मंदिर में खुदे हुए चित्रों में खुदाई की जो सूक्ष्मता नज़र आती है वह दक्षिण कन्नड जिला के अन्य किसी भी मंदिर की खुदाई में दृष्टिगत नहीं होती। मंदिर के अन्दर चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमायें विराजमान हैं। बीच में विद्यमान शांतीश्वर चैत्यालय भी पूरा शिलामय और अवलोकनीय है। साथ ही साथ इस मंदिर के प्राकार के बाहर सामने वर्तमान मानस्तंभ भी बहुत सुन्दर है।

अब लीजिए गोम्मटेश्वर-मूर्ति को। यह विशाल प्रतिमा उत्तराभिमुख हो खड्गासन स्थित है। "सिर के बाल घुंघराले, कान बड़े और लम्बे, वक्षस्थल चौड़ा, विशाल-बाहु नीचे को लटकते हुए एवं कटि किंचित् क्षीण है। मुख पर अपूर्व कांति और अगाध

* इस वंश के विशेष परिचय के लिये देखें—'Jaina Antiquary', Vol. II, No. 2, 3.

शांति है। घुटनों से कुछ ऊपर तक बमीठें दिखाये गये हैं जिनसे सर्प निकल रहे हैं। दोनों पैरों और बाहुओं से माधवीलता लिपट रही है। इस पर भी मुख पर अटल ध्यान-मुद्रा विराजमान है। मूर्ति क्या है मानो तपस्या का अवतार ही है। दृश्य बड़ा ही भव्य और प्रभावोत्पादक है। सिंहासन प्रफुल्ल कमल के आकार पर बनाया गया है। निःसंदेह मूर्तिकार ने अपने इस अपूर्व प्रयास में काफी सफलता प्राप्त की है।" दक्षिण भारत में स्थित श्रीगोम्मटेश्वर संबंधी तीन विशालकाय मूर्तियों में यह मूर्ति सब से छोटी है। निर्माण-काल की दृष्टि से भी सब से पीछे की है। श्रवण-बेळगोळ एवं कार्कळ के समान यह प्रतिमा पहाड़ पर विराजमान नहीं है। बल्कि एक ऊंचे टीले पर नदी के तट पर स्थापित है। स्थान रमणीय है, इसमें कोई शक नहीं है। मूर्ति के चारो ओर एक सुन्दर प्राकार भी बना हुआ है। इसके भीतर पहुंचते ही ध्वजस्तंभ एवं शिला-निर्मित एक विशाल मुखमंडप मिलते हैं। इस पर चढ़ने की जो सोपान-पंक्ति है उसके दोनों ओर शिला-निर्मित दो सुन्दर हाथी दृष्टिगोचर होते हैं। उक्त मण्डप के सामने प्रवेशद्वार को छोड़ कर शिलामय आवरण है। इसी के सामने अनति दूर में गोम्मटेश्वर की पूर्वोक्त यह दिव्य-मूर्ति विराजमान है। यह मूर्ति करीब ३५ फीट उन्नत है। कार्कळ की मूर्ति से यह मूर्ति कुछ अधिक सुन्दर जान पड़ती है। गोम्मटेश्वर का यह बिम्ब ई० सन् १६०४ अर्थात् आज से लगभग ३३४ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था। बल्कि प्रतिष्ठा-संबंधी एक विचित्र घटना सुनने योग्य है।

वेणूर में संस्थापित इस गोम्मटेश्वर मूर्ति के संस्थापक चतुर्थ वीर तिम्मण्ण अजिल (ई० सन् १५५०—१६१०) जिस समय इस भव्य मूर्ति की स्थापना के शुभोद्योग में लगे हुए थे उस समय कार्कळ के भैररस वंश के तत्कालीन शासक इम्मडि भैरव राय ने वीर तिम्मण्ण अजिल के पास यह सन्देश कह भेजा कि वह मूर्तिस्थापना-संबंधी कार्य को रोक दे और मूर्ति को अपनी राजधानी—कार्कळ में सुरक्षित पहुंचा दे। इस आदेश का लक्ष्य यह ही रहा कि कार्कळ के समान वेणूर में भी बाहुबली की मूर्ति स्थापित होने से कार्कळ का महत्व घट जायगा। पर इस अनुचित आदेश को पालने के लिये अजिल तैयार नहीं हुए। अन्त में दोनों में तुमुल युद्ध हुआ और इसमें वीर तिम्मण्ण अजिल को ही समुचित जय प्राप्त हुई। वास्तव में एक धार्मिक मंगल कार्य को इस प्रकार रोक देना भैरव राय के लिये शोभा की बात नहीं थी। यह वीर तिम्मण्ण अजिल बड़े ही प्रतापी शासक रहे। इनके शासन-काल में वेणूर भी सर्वोच्च दशा को पहुंच गया था। गोम्मटेश्वर मूर्ति के दक्षिण

पार्श्व में स्थित संस्कृत शिलालेख* से ज्ञात होता है कि चामुण्डवंशज† तिम्मराज ने श्रवण-बेळ्गोळ के तत्कालीन मठाधीश गुरु चारुकीर्ति के आज्ञानुसार शक १५२५ (सन् १६०४) में इसे स्थापित किया था। तौळव देश या वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला में उस समय भी आजकल के समान मूडबिद्री एवं कार्कळ दोनों स्थानों में मठाधीश मौजूद होते हुए इस शुभ कार्य के लिये सुदूरवर्ती श्रवणबेळ्गोळ से चारुकीर्ति जी के बुलाने का रहस्य कुछ अवश्य होना चाहिये।

गोम्मटेश्वर मूर्ति के सामने के दरवाजे के दोनों पार्श्व में छोटे छोटे दो मन्दिर और हैं। ये दोनों उक्त तिम्मरण अजिल की दो रानियों के द्वारा बनवाये गये हैं। क्रमशः इनमें पूर्व दिशा स्थित मन्दिर में चन्द्रनाथ स्वामी की एवं पश्चिम दिशास्थित मंदिर में शान्तिनाथ स्वामी की मूर्ति विराजमान हैं। इन मन्दिरों को बगल में वर्तमान दो शिलालेखों में संस्थापिकाओं के नाम, प्रतिष्ठा-समय, प्रदत्त दान आदि का स्पष्ट उल्लेख है। अब केवल एक मन्दिर रह गया। यह गोम्मटेश्वर मूर्ति के पीछे, सड़क के सामने उपस्थित श्रीपार्श्वनाथ मन्दिर। अभी हाल ही में मूड़बिद्री के वर्तमान मठाधीश श्रीचारुकीर्ति जी ने हजारों रुपये खर्च कर इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया है।

वास्तव में मठ का द्रव्य ऐसे ऐसे धर्मायतनों की रक्षा आदि सामयिक एवं आवश्यक धार्मिक कामों में लगना ही सदुपयोग कहा जा सकता है। इसके उपलक्ष में श्रद्धेय भट्टारक जी अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं।

अस्तु, यह केवल वेणूर के परिचय की एक रूपरेखा है। इस पर विशेष प्रकाश डालने से एक बड़ी पोथी हो तैयार हो सकती है। किसी सावकाश अन्वेषणप्रेमी विद्वान् को इस पर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

---

* श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥१॥
शाकवर्षव्यतीतेषु विषयाक्षिशरेन्दुषु।
वर्तमाने शोभकृति वत्सरे फाल्गुनाख्यके ॥२॥
मासेऽथ शुक्लपक्षेद्वदशम्यां गुरुपुष्यके।
सुलग्ने मिथुने देशिगणाम्बरदिनेशातुः ॥३॥
बेल्गुलाख्यपुरीपट्टक्षीराम्बुधिनिशापतेः।
चारुकीर्त्तिमुनेर्दिव्यवाक्यादेनूरपत्तने ॥४॥
श्रीरायकुवरस्याथ जामाता तत्सहोदरी।
पाण्ड्यकाख्यमहादेव्याःसुपुत्रः पाण्ड्यभूपतेः ॥५॥
अनुजस्तिम्मराजाख्यश्चामुण्डान्वयभूषकः।
अस्थापयत् प्रतिष्ठाप्य भुजबल्याख्यकं जिनम् ॥६॥

† यह चामुण्डवंश श्रवणबेलगोल में श्रीगोम्मटेश्वर की लोकविख्यात विशालकाय मूर्त्ति के संस्थापक, वीरमार्त्तण्डादि अनेकोपाधिविशिष्ट चामुण्डराय का नहीं है। देखें—'Jaina Antiquary' Vol. II, No. 2—3.

'जैन-ऐण्टीक्वेरी' के लेख।

(भाग ४ खंड ३)

पृष्ठ ६९—७६ प्रो० चक्रवर्ती ने तामिल-साहित्य के विषय में लिखा है कि प्राचीनतम तामिल-साहित्य में जैनियों का प्रभाव स्पष्ट है। उसमें जैनों की प्राकृत भाषा का तथा उनके सल्लेखना व्रत का 'वड्क्किरुत्तल' नाम से उल्लेख है। तामिल भाषा में जैनियों की रचनायें भी अपूर्व हैं। तामिल भाषा का प्रख्यात व्याकरण-ग्रंथ 'तोल्काप्पियम्' एक जैनी की ही रचना अनुमान की जाती है। कवि पनम्पारनार ने लिखा है कि ऐन्द्र व्याकरण के नियमों से ओतप्रोत तोल्काप्पियम् पाण्ड्य-संगम् में पढ़ा गया था और अदङ्कोट्टाशान् ने उसे मान्य ठहराया था। इस व्याकरण के रचयिता तोल्कप्पियर को उन्होंने एक महान् और प्रसिद्ध 'पडिमयोन्' अर्थात् तपस्वी लिखा है। जैनयोगियों के लिये 'प्रतिमा-योग' एक खास चीज है और कतिपय जैनयोगी 'प्रधान योगधारी' कहे गये हैं। अतः वैयपुरी पिल्लै जैसे विद्वान् उन्हें जैनधर्मानुयायी प्रकट करते हैं। तोल्काप्पियम् में जैनसिद्धान्तानुसार ही जीवों के एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादि भेद निरूपित हैं। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि तोल्कप्पियर जैनसिद्धांत के ज्ञाता थे। साहित्य की व्याख्या करते हुये उसके मूल भाग को उन्होंने कर्मों से मुक्त हुए 'ज्ञान के स्वामी' द्वारा प्रकाशित किया गया लिखा है। जैनपरम्परा की यही मान्यता है। जो लोग तोल्कप्पियर के जैनत्व में संशय करते हैं, उन्होंने कोई पुष्ट कारण अपने मत के समर्थन में उपस्थित नहीं किया है। वह संस्कृत भाषा के विज्ञाता थे*। तामिल का यह व्याकरण तीन भागों—स्वर-व्यंजन, शब्द और अर्थ में विभक्त है, जबकि संस्कृत व्याकरण में पहले के दो भाग ही होते हैं। तीसरे भाग में व्याकरण के अतिरिक्त रति और संग्राम-विषयक विवरण भी है, जिससे प्राचीन द्राविड़ इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इस व्याकरण की पांच टीकायें उपलब्ध हैं। इसमें शक नहीं कि यह व्याकरण तामिल भाषा का एक अति प्राचीन ग्रन्थ है; परन्तु इसकी रचना के समय से पहले का तामिल साहित्य भी होना चाहिये, जो अब अनुपलब्ध है। उपलब्ध प्राचीन तामिल साहित्य ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी से ईस्वी सातवीं शताब्दी तक का है।

तामिल काव्य-साहित्य से नैतिक चारित्र-विषयक साहित्य प्राचीन है और उस में जैनाचार्यों का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। कुरल और नालडियार नामक दो महान् नीति-

---

* कहा जाता है कि संस्कृत-भाषा के ऐंद्र व्याकरण से जैनियों का सम्पर्क था। यदि यह है ठीक तो तोल्कप्पियर का आधार ग्रंथ भी जैन प्रतीत होता है।

—का० प्र०

ग्रन्थ जैनाचार्यों की रचनायें हैं। कुरल का स्थान तामिल साहित्य में महान् है और उसकी प्रसिद्धि भी खूब है। इसमें अहिंसाधर्म को खासा प्रतिपादित किया गया है। तामिल देशवासी इसे अपना 'वेद' कह कर पुकारते हैं और हर-कोई इसे अपनी सम्प्रदाय की रचना बताता है। जैनी इसे एलाचार्य जिनका दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था, उनकी रचना बताते हैं। कुरल की आन्तरिक रचना एवं बाह्य साक्षी इस मत की पोषक है। परन्तु पाण्ड्य राजा के जैनधर्मविमुख होने पर जैनेतर लोगों में उनके प्रति ऐसी द्वेषपूर्ण धारणायें घर कर गईं कि आज तक मदुरा के शैवमंदिर की दीवालों पर जैनियों को कोल्हू में पेलने के चित्र बने हुए हैं और इस घटना को लक्ष्य कर उत्सव भी मनाये जाते हैं। ऐसी हालत में भला यह कैसे स्वीकार किया जाता है कि कुरल एक जैनाचार्य की रचना है? इसकी रचना से तिरुवल्लुवर का सम्बन्ध एक आधुनिक लेख की सूझ का परिणाम है, जो विश्वसनीय नहीं है। परन्तु मजा यह है कि तिरुवल्लुवर के भक्तजनों ने उन्हें देवता मान कर उनके मंदिर भी बनवा डाले हैं। ऐसे लोगों के निकट से ऐतिहासिक तत्त्व को पा लेना असंभव है।

पृष्ठ ७७—८० प्रो० सालेत्तोर ने 'कथाकोप' ग्रन्थ में (जो लन्दन से सन् १८९५ में छपा था) कक्क, अरिकेसरी और मम्मण नामक राजाओं का उल्लेख पाकर उन्हें क्रमशः राठौर राजा कक्क द्वितीय (सन् ९७३), शिलाहारवंशी राजा अरिकेसरी (सन् १०१७) और उसी वंश का राजा मम्मण सन् (१०५९) अनुमान किया है। साथ ही कथाकोष का रचनाकाल ११ वीं शताब्दी का अन्तिम पाद बतलाया है।

पृष्ठ ८१—८४, प्रो० श्रीकण्ठ शास्त्री ने जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-संग्रह' का रचना-काल विविध प्रमाणों के आधार से सन् १०५० ई० निश्चित किया है।

पृष्ठ ८५ ८८, प्रो० हँसमुख संकलिया ने उस धातुमयी जैनमूर्ति का सचित्र वर्णन उपस्थित किया है जो सेंटजेवियर कालिज बम्बई के संग्रहालय में है और किसी देवी की है।

पृष्ठ ८९—९२, कामताप्रसाद ने 'जैनकाल-गणना' में ऐतिहासिक-काल की गणना प्रारम्भ करते हुए प्राक्कथन में भगवान् नेमिनाथजी की ऐतिहासिकता को प्रकट किया है।

पृष्ठ ९३—९६, प्रो० कालीपद मित्रा ने शब्द 'देवणुप्पिय' (देवानां प्रियः) के विविध प्रयोग पर प्रकाश डाला है। पहले इसका प्रयोग सम्माननीय समझा जाता था। उपरान्त काल में मूर्ख के लिए इसका प्रयोग होने लगा।

—कामताप्रसाद जैन

साहित्य-समालोचना

ज्योतिप्रसाद

(१)

लेखक—माईदयाल जैन, बी० ए०, बी० टी०; प्रकाशक—लाला जौहरी मल जैन, सराफ, दरीबाकला, देहली; भाषा—हिन्दी; पृष्ठ संख्या—१६८; मूल्य—आठ आने; मुद्रण समय—वीर सं० २४६४।

इसमें विद्वान् लेखक ने स्वर्गीय कवि ज्योतिप्रसाद जैन का जीवन चरित्र, लेखांश एवं कवितायें संग्रह किया है। कवि ज्योतिप्रसाद जी जैन समाज में एक अच्छे लेखक, कवि, पत्रसम्पादक एवं समाज-सेवक समझे गये हैं। इनके चरित्र में एकपत्नीव्रतादि कुछ विशिष्ट गुण वास्तवमें अनुकरणीय है। इसमें कोई संदेह नहीं हैं कि सहनशीलता आपका प्रधान अस्त्र था जिसके बल से सातवर्ष की अल्प आयुमें ही पितृहीन होने पर भी [illegible] निर्धन ज्योति बाबू ने अपने को ऐसा समाज प्रख्यात बनाया। कई संस्थाओं से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। आप प्रायः प्रत्येक आन्दोलन में किसी न किसी रूपमें अवश्य भाग लेते थे। आपका कौटुम्बिक जीवन प्रायः आजीवन चिन्तामय ही रहा। फिरभी आपने सदा धैर्य को नहीं छोड़ा। यों तो आपकी कई रचनायें हैं, पर वे सबके सब स्थायी साहित्य में स्थान नहीं पा सकते हैं। हाँ, कुछ अवश्य उल्लेखनीय हैं। आप एक मिलनसार भावुक व्यक्ति थ। देवबन्द के बाबू अमरनाथ वकील के कथनानुसार लोगों के दुःख-दर्द में शरीक होना आपकी स्वाभाविक बात थी। यह बात बिल्कुल ठीक है; क्योंकि एकबार देहली में मैं भी सांप काटने के शक में उनसे प्रगाढ़ सहानुभूति एवं सहायता का भुक्तभोगी हो चुका हूं।

लेखक ने इसको तयार करने में काफी परिश्रम किया है। इस चरित्र की खास बात यह है कि इसमें चरित्र नायक के गुण और दोष दोनों का खाका खींचा गया है। पर पुस्तक में कुछ ऐसो अशुद्धियाँ रह गयी हैं, जो बहुत खटकती हैं। जैसे—परचार (प्रचार) निसन्देह (निस्सन्देह), निस्वार्थ (निःस्वार्थ), स्मर्ण (स्मरण), दुरा अवस्था (दुरवस्था) प्राय (प्रायः) प्रकट (प्रकट), कलम (कलम), अह्लाद (आह्लाद), वैशनव (वैष्णव) आदि। संभव है कि 'हिन्दुस्तानी' के प्रचलित आन्दोलन की छाप इन शब्दों पर पड़ी हो। पुस्तक पठनीय है।

सन्मति-पुस्तक-माला कलकत्ते की तीन पुस्तिकायें

गृहदेवियों के प्रति हमारा कर्त्तव्य

[२]

लेखक—श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद जैन, बी० ए; मूल्य—प्रचार; पृष्ठसंख्या—१७।

इस छोटी सी रचना में विद्वान् लेखक ने विधवा-विवाह का अच्छा खण्डन किया है। लेखनशैली चित्ताकर्षक एवं सयुक्तिक है। इस विषय पर लिखने की बहुत कुछ गंजायश है, फिर भी लेखक का यह शुभ प्रयत्न प्रशंसनीय हो नहीं, प्रत्युत अनुकरणीय है। हाँ, एक बात है कि मान्य लेखक के द्वारा किये गये खण्डनात्मक आक्षेपों से कहीं अधिक आक्षेप विपक्षियों के द्वारा किये जाते हैं। अतः इस विषय की एक प्रामाणिक वृहदाकार पुस्तक की नितान्त आवश्यकता है। जो कुछ हो समाज के समक्ष ऐसी ऐसी पुस्तकों का आना सर्वथा समुचित है। रचना सुन्दर एवं उपादेय है। इसके उपलक्ष में प्रकाशक तथा लेखक दोनों धन्यवाद के पात्र हैं।

पुनर्विवाह

[३]

लेखक—श्रीयुत राजेन्द्र प्रसाद जैन, बी० ए०; मूल्य—पठन-पाठन; पृष्ठ संख्या १२।

'गृह देवियों के प्रति हमारा कर्त्तव्य' के लेखक श्रीयुत राजेन्द्र प्रसाद जी ही इसके भी लेखक हैं। यों तो पुस्तक के नाम से पुनर्विवाह का इसमें मण्डन है या खण्डन बिना पढ़े पाठकों को ज्ञात नहीं हो सकता। पुस्तकगत विषय नाममात्र से ही अवगत हो जाय ऐसा ही नाम प्रणेताको पुस्तक का रखना चाहिये। पूर्व कृति के समान इसमें भी प्रश्नोत्तर के रूप में पुनर्विवाह का निरसन किया गया है। इसमें अपनी पहली रचना में नहीं आये हुए कुछ आक्षेपों पर लेखक ने प्रकाश डाला है। दोनों का विषय एक है। विषय की गंभीरता एवं रचना-शैली आदि पर अपना मत मैं ऊपर प्रकट कर ही चुका हूं। अतः उनका यहाँ फिर से दुहराना पिष्टपेषण-मात्र है। इन पुस्तकों को मँगा एवं मनन कर सब किसी को अवश्य लाभ उठाना चाहिये।

मां

[४]

लेखक—श्रीयुत धन्यकुमार जैन; मूल्य दो आने; पृष्ठ संख्या—३९।

यह कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ के 'विसर्जन' के आधार पर लिखी हुई एक छोटी सी नाटिका है। इसमें पशुबलि की दयनीयता का बड़ा ही आकर्षक चित्र अंकित किया है। बलिदान के पक्षपातियों को इसके पढ़ने से खासी नसीहत मिल सकती है। इस बीसवी शताब्दी में ऐसा अन्ध विश्वास अब कहाँ टिक सकता है? इसी अन्ध विश्वास की निमूंलता का यह परिणामस्वरूप कालिका के एकान्त भक्त बंगीय महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का हृदयोद्गार है। नाटिका के पात्रादि की यहाँ चर्चा करना अनावश्यक है। क्योंकि इसके मूल लेखक रवि बाबू एक ख्यातिप्राप्त असाधारण अन्तर्राष्ट्रीय कवि हैं। मातृभाषा बंगला की बात तो दरकिनार रहे—विदेशी अंग्रेजी भाषा की इनकी कविता भी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। बड़े-बड़े पाश्चात्य साहित्यक विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से इनकी कविता की प्रशंसा कर इनका साहित्यिक लोहा मानते हैं।

अब रहा इसका हिन्दीरूप। इसके लेखक धन्यकुमार जैन भी प्रसिद्ध हिन्दी लेखकों में हैं। हिन्दी संसार में इनका अच्छा आदर है। साथही साथ यह रवि बाबू के दर्जनों ग्रन्थों के सफल अनुवादक भी हैं। सारांशतया यह पुस्तक सर्वोपादेय है। इसको अधिक संख्यामें प्रचार कर जैनियों को अपने प्रमुख अहिंसा-सिद्धान्त का निदर्शन संसार के समक्ष उपस्थित करना चाहिये।

—के० भुजबली शास्त्री

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये.

पदाणं भवणाणं एक्कस्सि मेलिदाए परिमाणं।
बाहत्तरि लक्खाणि कोडीउ सत्तमेत्ताउ ॥१२॥

७७२०००००।

। भवणसंखा गदा।

दससु कलेसुं पुहपुहदोद्दो इंदा हवंति णियमेण।
ते एक्कस्सि मेलिदा वीस विराजंति भूदीहिं ॥१३॥

। इंदपमाणं सम्मत्तं।

पढमो हु चमरणामो इंदो वइरोयणो त्ति बिदिओ य।
भूदाणंदो धरणाणंदो वेणू य वेणुदारीया ॥१४॥
पुण्णवसिट्ठजलप्पहजलकंता तह य घोसमहघोसा।
हरिसेणो हरिकंतो अमिदगदी अमिदवाहणग्गिसिही ॥१५॥
अग्गीवाहणणामो वेलंबपभंजणाभिधाणा य।
पदे असुरप्पहुदिसुकुलेसु दोद्दो कमेण देविंदा ॥१६॥

। इंदाण णाम सम्मत्ता।

दक्खिणइंदा चमरो भूदाणंदो य वेणुपुण्णा य।
जलपहघोसाहरिसेणामिदगदीअग्गिसिहिवेलंबा ॥१७॥
वइरो अणो य धरणाणंदो तह वेणुदारअवसिट्ठा।
जलकंतमहाघोसा हरिकंता अमिदअग्गिवाहणया ॥१८॥
तह य पहंजणणामो उत्तरइंदा हवंति इह पदे।
अणिमादिगुणेजुत्ता मणिकुंडलमंडियकवोला ॥१९॥

। दक्खिणउत्तरइंदा गदा।

चउतीसं चउदालं अट्ठतीसं हवंति लक्खाणि।
चालीसं छट्ठाणे तत्तो पण्णास लक्खाणि ॥२०॥
तीसं चालं चउतीसं छसु वि ठाण छत्तीसं।
छत्तालं चरिमम्मि य इंदाणं भवणलक्खाणि ॥२१॥

३४००००० । ४४००००० । ३८००००० । ४०००००० ।
४०००००० । ४०००००० । ४०००००० । ४०००००० ।
४०००००० । ५०००००० । ३०००००० । ४०००००० ।
३४००००० । ३६००००० । ३६००००० । ३६००००० ।
३६००००० । ३६००००० । ३६००००० । ४६००००० ।

भवणा भवणपुराणिं आवासा असुराण होदि तिविहाणा ।
रयणप्पहाए भवणा दीवसमुद्दाण उवरि भवणपुरा ॥२२॥
दहसेलदुमादीणं रम्माणं उवरि होंति आवासा ।
णागादीणं केसिं तियणिलया भवणमेक्कमसुराणं ॥२३॥

। भवणवण्णणा सम्मत्ता ।

अप्पमहड्ढियमज्झिमभावणदेवाण होंति भवणाणि ।
दुगबादालसहस्सा लक्खमदो दोखिदीयगंताउ ॥२४॥

२००० । ४२००० । १००००० ।

अप्पमहड्ढियमज्झिमभावणदेवाण णिवासखेत्तवित्थारो ।
समचउरस्सा भवणा वज्जमयंदारछज्जिया[1] सव्वे ॥२५॥
बहलंते तिसयाणिं संखासंखेज्जजोयणावासे ।
संखेज्जरुंदभवणेसु भवणदेवा वसंति संखेज्जा ॥२६॥
संखातीदासेयं छत्तीस सुरा य होदि संखेज्जा ।
भवणसरूवाए दो वित्थारा होइ[2] जाणिज्जो ॥२७॥

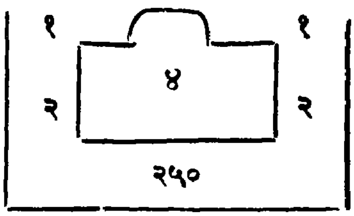
। भवणवण्णणं सम्मत्ता[3] ।

तेसिं चउसु दिसासु जिणदिट्ठपमाणजोयणे गंता ।
मज्झम्मि दिव्ववेदी पुहपुहवेट्ठे दि एक्केक्का ॥२८॥
दो कोसा उच्छेहो वेदीणामकट्टिमाणं सव्वाणं ।
पंचसयाणिं दंडावासो वररयणछण्णाणं ॥२९॥
गोउरदारजुदाउ उवरिम्मि जिणिंदगेहसहिदाउ ।
भवणासुररक्खिदाउ वेदीणं[4] तेसु सोहंति ॥३०॥
तंबाहिरे असोयंसत्तच्छदचंपचूदवणा पुण्णा ।
णियणामातरुजुत्ता चेट्ठंति चेत्ततरुसहिदा ॥३१॥
चेत्तदुमं तलरुंदं दोणिण सया जोयणाणि पण्णासा ।
चत्तारो मज्झम्मि य अंते कोसद्धमुच्छेहो ॥३२॥
छट्ठो भूमुहरुंदो चउजोयणउच्छिदाणि पीढाणि ।
पीढोवरि बहुमज्झे रम्मा चेट्ठंति चेत्तदुमा ॥३३॥

६ । २ । ४ ।

1 SB वज्झियो ; 2 AB होय ; 3 सम्मत्तं (?); 4 AB वेदाए ।

पत्तेक्कं रुक्खाणं अवगाढकोसमेक्कमुद्दिट्ठं ।
जोयणखंदुच्छेहो साहादीहत्तणं च चत्तारी ॥३४॥
को १ । जो ४ ।



विविहवररयणसाहा विचित्तकुसुमोवसोभिदा सव्वे ।
वरमरगयवरपत्ता दिव्वतरू ते विरायंति ॥३५॥
विविहंकुरुचेचइया विविहफला विविहरयणपरिणामा ।
छत्तादिछत्तजुदा घंटाजालादिरमणिज्जा ॥३६॥
आदिणिहणेण हीणा पुढविमया सव्वभवणचेत्तदुमा ।
जीहूप्पतिआयाणं होंति णिमित्ताणि ते णिआयामा ॥३७॥
चेत्ततरूणं मूले पत्तेक्कं चउदिसासु पंचेव ।
चेट्ठंति जिणप्पडिमा पलियंकठिया सुरेहि महणिज्जा ॥३८॥
चउतोरणाभिरामा अट्ठमहामंगलेहि सोहिल्ला ।
वररयणणिम्मिदेहिं माणत्थंभेहि अइरम्मा ॥३९॥

। वेदीवण्णणा गदा ।

वेदीणं बहुमज्झे जोयणसयमुच्छिदा महाकूडा ।
वेत्तासणसंठाणा रयणमया होंति सव्वट्ठा ॥४०॥
ताणं मूले उवरिं समंतदो होंति दिव्ववेदीउ ।
पुव्विल्लवेदियाणं सारिच्छं वण्णणं सव्वं ॥४१॥
वेदीणब्भंतरए वणसंडा वरविचित्ततरुणियरा ।
पुक्खरिणीहि समग्गा तप्परदो दिव्ववेदीउ ॥४२॥

। कूडा गदा ।

कूडोवरि पत्तेक्कं जिणवरभवणं हवेदि एक्केक्कं ।
वररयणकंचणमयं विचित्तविण्णासरमणिज्जं ॥४३॥
चउगोउरा तिसाला वीहिंपरिमाणथंभणवथूहा ।
णवधयचेत्तखिदीउ सव्वेसुं जिणणिकेदेसुं ॥४४॥

णंदादितिमेहलपीढं पुव्वाणि धम्मविभवाणि।
चउवणमज्झेसु ठिदा चेत्ततरू तेसु सोहंति ॥४५॥
हरिकरिवसहखगाहवइसिहीससिरविहंसपउमचक्कधरा ।
एक्केक्कमट्ठजुदसयमेक्केक्कमट्ठसयखुल्ला ॥४६॥
वंदणाभिसेयणच्चणसंगीआलोयमंडवेहिं जुदा ।
कीडणगुणणगिहेहिं विसालवरपट्टसालेहिं ॥४७॥
सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण सणक्कुमारजक्खाणं ।
रूवाणि अट्ठमंगलदेवच्छाणि जिणणिकेदेसुं ॥४८॥
भिंगारकलसदप्पणधयचामरछत्तवीयणसुपइट्ठा ।
इय अट्ठमंगलाणिं पत्तेक्कं अडअहियसयं ॥४९॥
दिप्पंतरयणदीवा जिणभवणा पंचवण्णरयणमया ।
गोसीरमलयचंदणकालागरुधूवगंधड्ढा ॥५०॥
भंभामुइंगमद्दलजयघंटाकंसतालतिवलीणं ।
दुंदुहिपडहादीणं सद्देहिं णिच्चहलबोला ॥५१॥
सिंहासणादिसहिदा चामरकरणागजक्खमिहुणजुदा ।
णाणाविहरयणमया जिणपडिमा तेसु भवणेसु ॥५२॥
बाहत्तरि लक्खाणिं कोडीउ सत्त जिणणिकेदाणिं ।
आदिणिहणुज्झिदाणिं भवणसमाइं विराजंति ॥५३॥
७७२०००००।

सम्मत्तरयणजुत्ता णिब्भरभत्तीय णिच्चमच्चंति ।
कम्मक्खवणणिमित्तं देवा जिणणाहपडिमाउ ॥५४॥
कुलदेवा इदि मण्णिय अण्णेहिं बोहिया बहुपयारं ।
मिच्छाइट्ठी णिच्चं पूजंति जिणंदपडिमाउ ॥५५॥
। जिणभवणा गदा ।
कूडाण समंतादो[1] पासादा होंति भवणदेवाणं ।
णाणाविविहविण्णासं वरकंचणणियरमया ॥५६॥
सत्तट्ठणवदसादियविचित्तभूमिहिं भूसिदा सव्वे ।
लंबंतरयणमाला दिप्पंतमणिप्पदीयकंतिल्ला ॥५७॥
जम्माभिसेयभूसणमेहुणओलगमंतसालाइं ।
विविहाहिं रमणिज्जा मणितोरणसुंदरदुवारा ॥५८॥

1 AB समत्तादो।

सामेया गब्भकदलीचित्तासणणालयादिगिहजुत्ता ।
कंचणपायारजुदा विसालवलहीविराजमाणा य ॥५९॥
धुव्वंतधयवडाया पोक्खरणीवाविकूडसंडाइं ।
सव्वे कीडणजुत्ता णाणावरमत्तवारणोपेता ॥६०॥
मणहरजालकवाडा णाणाविहसालभंजिका बहुला ।
आदिणिहणेण हीणा किं बहुणा ते णिरुवमाणेया ॥६१॥
चउपासाणिं तेसुं विचित्तरूवाणि आसणाणि च ।
वररयणविरचिदाणं सयणाणि हवंति दव्वाणं ॥६२॥

। पासादणदा ।

पक्केक्कसिं इंदे परिवारसुरा हवंति दस पदे ।
पडिइंदा तेत्तीसं तिदसा सामाणियदिसाइंदा ॥६३॥
तणुरक्खा तिप्परिसा सत्ताणीया पइण्णगभियोगा ।
किब्बिसया इदि कमसो पत्रणिणदा इंदपरिवारा ॥६४॥
इंदा रायसरिच्छा जुवरायसमा हुवंति पडिइंदा ।
पुत्तणिहा तेत्तीसा तिदसा सामाणिया कलत्तसमा ॥६५॥
चत्तारि लोयपाला सावंता होंति तंतवालाणं ।
तणुरक्खाण समाणासरीरं वा सुरा सव्वे ॥६६॥
बाहिरमज्झब्भंतरतंडयसरिसा हवंति तिप्परिसा ।
सेणोवमायणीया पइण्णया पुरिजणसरिच्छा ॥६७॥
परिवारसमाणा ते अभियोगसुरा हवंति किब्बिसया ।
पाणोवमाणधारी[1] देवाणमिंदस्स णादव्वं ॥६८॥
इंदसमा पडिइंदा तेत्तीस सुरा हवंति तेत्तीसं ।
चमरादीइंदाणं पुहपुहसामाणिया इमे दे वा ॥६९॥
चउसट्ठि सहस्साणिं कट्ठी छप्पण्णा चमरतिदयम्मि ।
पण्णास सहस्साणिं पत्तेक्कं होंति सेसेसु ॥७०॥

६४००० । ६०००० । ५६००० । ५०००० ॥ १७ ॥

पत्तेकइंदयाणं सोमो यमवरुणधणदणामा य[2] ।
पुव्वादिलोयपाला हवंति चत्तारि चत्तारी ॥७१॥

---

1 S धारी ; 2 B णायाम ।

छप्पण्णसहस्साधियबेलक्खा होंति चमरतणुरक्खा।
चालसहस्सब्भहिया बे लक्खा बिदियइंदम्मि ॥७२॥
चउवीससहस्साधियलक्खदुगं तदियतणुरक्खा।
सेसेसुं पत्तेक्कं णादव्वा दोण्णि लक्खाणि ॥७३॥

२५६००० । २४०००० । २२४००० ।
सेसे । १७ । २००००० ।

अडवीसं छव्वीसं छच्च सहस्साणि चमरतिदयंमि।
आदिमपरिसाए सुरा सेसे पत्तेक्कचउसहस्साणि ॥७४॥

२८००० । २६००० । ६००० ।
सेसे । १७ । ४००० ।

तीसं अट्ठावीसं अट्ठ सहस्साणि चमरतिदयंमि।
मज्झिमपरिसाए सुरा सेसेसुं छस्सहस्साणि ॥७५॥

३०००० । २८००० । ८००० । १७ । ६००० ।

बत्तीसं तीसं दस होंति सहस्साणि चमरतिदयंमि।
बाहिरपरिसाए सुरा अट्ठ सहस्साणि सेसेसु ॥७६॥

३२००० । ३०००० । १०००० ।
सेसे । १७ । ८००० ।

सत्ताणीयं होंति हु पत्तेक्कं सत्त सत्त लक्खजुदा।
पढमं ससमाणसमा तद्दुगुणा चरमकक्खंतं ॥७७॥
असुरंमि महिसतुरगा रहकरिणो तह पदातिगंधव्वो।
णच्चणया[1] पदाणं महत्तपत्थं

॥ ७ ॥

महत्तरी एक्का ॥७८॥
णावा गरुडगइंदा मयरुट्टा खग्गिसीहसिविकस्सा।
णागादीणं पढमाणीया बिदियाय[2] असुरं वा ॥७९॥
गच्छसमे गुणयारे परप्परं गुणिय रूवपरिहीणो।
एक्कोणगुणविहत्ते गुणिदे वयणेण गुणगणिदं ॥८०॥

1 A णच्चरया ; 2 बिदियाए (?).।

एकासीदी लक्खा अडवीससहस्ससंजुदा चमरे।
होंति हु महसाणीया पुहपुहतुरयादिया वि तंमेत्ता ॥८१॥
८१२८००० ।
तिट्ठाणे सुण्णाणिं छण्णवअडछक्कपंचअंककमे।
चमरिंदस्स य मिलिदा सत्ताणीया हवंति इमे ॥८२॥
५६९८६००० ।
छाहत्तरि लक्खाणिं वीससहस्साणि होंति महिसाणं[1] ।
वइरोयणंमि इंदे पुहपुहतुरगादिणो वि तम्मेत्ता ॥८३॥
७६२०००० ।
चउठाणेसुं सुण्णा चउत्तितिपंचकपढमोलाए।
वइरोयणस्स मिलिदा सत्ताणीया इमे होंति ॥८४॥
५३३४०००० ।
एक्कत्तरि लक्खाणिं णावाउ होंति बारससहस्सा ।
भूदाणंदे पुहपुहउरगप्पहुदीणि तंमेत्ता ॥८५॥
७११२००० ।
तिट्ठाणे सुण्णाणि चउक्कअट्ठसत्तणवचउक्ककमे ।
सत्ताणीया मिलिदे भूदाणंदस्स णायव्वा ॥८६॥
४९७८४००० ।
तेसट्ठी लक्खाइं पण्णास सहस्सयाणि पत्तेक्कं ।
सेसेसुं इंदेसुं पढमाणीयाण परिमाणं ॥८७॥
६३५०००० ।
चवट्ठाणेसुं सुण्णा पंच य तिट्ठाणए चउक्काणिं ।
अंककमे सेसाणं सत्ताणीयाणि परिमाणं ॥८८॥
४४४५०००० ।
होंति पइण्णय[2]पहुदी जेत्तियमेत्ता य सयलइंदेसुं ।
तप्परिमाणपरूणाउवएसो णत्थि कालवसा ॥८९॥
किण्हा रयणा सुमेघा देवीणामा सुकंदअभिधाणा ।
णिरुवमरूवधराउ चमरे पंचग्गमहिसीउ ॥९०॥
अग्गमहिसीणं ससमं अट्ठसहस्साणि होंति पत्तेक्कं ।
परिवारा देवीउ चालसहस्साणि संमिलिदा ॥९१॥
८०००४०००० ।

1 S महिसाणिं; 2 AB पयण्णय।

चमरग्गिममहिसीणं अट्ठसहस्सा विकुव्वणा संति ।
पत्तेक्कं अप्पसमं णिरुवमलावण्णरूवेहिं ॥९२॥
सोलससहस्समेत्ता वल्लहियाउ हवंति चमरस्स ।
छप्पण्णसहस्साणिं संमिलिदे सव्वदेवीउ ॥९३॥

१६००० । ५६००० ।

पउमापउमसिरीउ कणयमालमहपउमा ।
अग्गमहीसीउ बिदिए विक्किरियापहुदि पुव्वं व ॥९४॥
पण अग्गमहिसियाउ पत्तेक्कं वल्लभा दससहस्सा ।
णागिंदाणं विक्किरियापहुदि होंदि पुव्वं व ॥९५॥

५ । १०००० । ४०००० । ५०००० ।

चत्तारिं सहस्सा णं वल्लहियाउ हवंति पत्तेक्कं ।
गरुणिंदाणं[1] सेसं पुव्वं पिव एत्थ वत्तव्वं ॥९६॥

५ । ४००० । ४०००० । ४४००० ।

सेसाणं इंदाणं पत्तेक्कं पंच अग्गमहिसीउ ।
एदेसु छस्सहस्सा सममं परिवारदेवीउ ॥९७॥

५ । ६००० । ३०००० ।

देविंदप्पहुदीणं देवीणं वारविव्वणा[2] संति ।
छस्सहस्सं च समं पत्तेक्कं विविहरूवेहिं ॥९८॥
पुहपुहसेसिंदाणं वल्लभिया होंति दो सहस्साणि ।
बत्तीस सहस्साणिं संमिलिदे सव्वदेवीउ ॥९९॥

२००० । ३२००० ।

पडिइंदादिचउण्हं वल्लहियाणं तहेव देवीणं ।
सव्वं विउव्वणादिं णियणियइंदाण सारिच्छं ॥१००॥
सव्वेसुं इंदेसुं तणुरक्खसुराण होंति देवीउ ।
पत्तेक्कं सयमेत्ताणि रूवमलावण्णवालाउ ॥१०१॥
अड्ढाइज्जसयाणिं देवीउ दुवे सया दिवड्ढसयं ।
आदिममज्झिमबाहिरपरिसासु होंति चमरस्स ॥१०२॥

२५० । २०० । १५० ।

1 गरुलिंदाणं (?); 2 विउव्वणा (?) ।

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ८७ पंक्ति ६)—

यंत्रं सद्दशधर्मलक्षणयुतं ख्यातं जगन्मङ्गलम्
विद्वल्लोकसमर्चितं सुशरणं संसारविध्वंसकम्।
जीवन्मुक्तिसुखप्रदं निरुपमं क्षान्त्यादिशब्दोज्ज्वलम्
भक्त्याहूय सुपीठिकोपरि तले संस्थाप्य वाराधये ॥ १ ॥
जलगन्धसदक्षतकुसुमैश्चरुप्रदीपैः सुधूपफलनिकरैः।
संपूजयामि यंत्रं क्षान्त्यादिपदांकितं भक्त्या ॥ २ ॥
गंगाद्युद्भवनीरेण कंजोत्पलसुगन्धिना।
क्षान्त्यादिपदसंयुक्तं यंत्रं प्रक्षालयाम्यहम् ॥ ३ ॥
नारिकेलोदकैः स्वच्छैः सर्वहृत्तापहारिभिः।
क्षान्त्यादिपदसंशोभि यंत्रं संस्नापये मुदा ॥ ४ ॥
कदलीकृतपीयूषैर्धवलेक्षुरसैः शुभैः।
क्षान्त्यादिपदसंशोभि यंत्रं संस्नापये मुदा ॥ ५ ॥
सन्तप्तकनकद्रावसंकाशैः पुष्कलैर्घृतैः।
क्षान्त्यादिपदसंशोभि यंत्रं संस्नापये मुदा ॥ ६ ॥
पयोभिः पूर्णिमाचन्द्रचन्द्रिकाविशदैरलम्
क्षान्त्यादिपदसंशोभि यन्त्रं संस्नापये मुदा ॥ ७ ॥
संतानिकांचितैः स्निग्धैर्दधिभिः सारगन्धिभिः
क्षान्त्यादिपदसंशोभि यंत्रं संस्नापये मुदा ॥ ८ ॥
कुम्भैश्चातुष्टयैः शुद्धैः स्रग्मालारंजिताननैः।
स्नापये यंत्रममलं क्षान्त्यादिपदभूषितम् ॥ ९ ॥
वासनाप्रकृतिगन्धबन्धुरैर्वारिभिर्मलगणापनोदिभिः।
क्षान्तिमुख्यपदराजिरंजितं स्नापये प्रविपुलं गुरुयंत्रम् ॥ १० ॥
मध्येकर्णिकमम्बुजस्य गुरवः पंचापि पंक्त्यंकिते
यस्य श्रीदलके क्षमादिपदयुक्धर्माः सुधर्मप्रदाः
तिष्ठन्ते मुनिराजवृन्दमहितं चूर्णांश्चितं पञ्चभिः
तद्यन्त्रं परिपूर्णलक्षणयुतं भक्त्या समाराधये ॥ ११ ॥

× × ×

अन्तिम भाग :—

बलात्कारगणाम्भोजभास्करस्य महाद्युतेः ।
श्रीमद्देवेन्द्रकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणेः ॥ १ ॥
शिष्येण ज्ञातशास्त्रार्थस्वरूपेण सुधीमता ।
जिनेन्द्रचरणद्वंतस्मरणाधीनचेतसा ॥ २ ॥
वर्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना ।
कथितं दशभक्त्यादिशासनं भव्यसौख्यदम् ॥ ३ ॥
शाके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे श्रीप्लवे
सिंहश्रावणिके प्रभाकरशिवे कृष्णाष्टमीवासरे ।
रोहिण्यां दशभक्तिपूर्वकमहाशास्त्रं पदार्थोज्ज्वलम्
विद्यानन्दमुनिस्तुतं व्यरचयत् सद्वर्धमानो मुनिः ॥ ४ ॥
विद्वत्कवीन्द्रमुनिभूपतिसज्जनानां यावत्समस्ति रसना पुरुषोत्तमानाम् ।
श्रीवर्द्धमानमुनिराजकृतिः कृतार्था तिष्ठत्वरं जगति तावदनंगशक्तिः ॥५॥
शलाकापुरुषान्वन्दे सर्वकर्ममहीभवान् ।
विद्यानन्दपदाधीशान् कृष्णादेवेन्द्रवन्दितान् ॥ ६ ॥
जैनाः श्रीवसुधेश्वरा नयविदोऽमात्याः सदा सज्जनाः
विद्वांसः कवयो जयन्तु गमकाः सद्वादिनः श्रावकाः ।
विप्राः श्रीमुनिवल्लभाः श्रुतगुणाचारा मनोजेषवः
कान्ताः पुत्रसमन्विता जिनगृहा बिम्बाश्च निर्मापिताः ॥ ७ ॥
वर्धमानगुणाधारं शब्दार्थालंकृतिस्फुटम् ।
महाशास्त्रमिदं पूतं पठतां मङ्गलं सदा ॥ ८ ॥
व्याख्यातृणां लेखकानां श्रोतृणां वृत्तधारिणाम् ।
दयादमविशिष्टानां गुणपक्षानुरागिणाम्
मुनिवृन्दारकाणां च प्रदेयान्मुक्तिसम्पदम् ॥ ९ ॥
वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना ।
लिखितं दशभक्त्यादिदर्शनं जनतार्थकृत् ॥ १० ॥

इस ग्रन्थ का नाम 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' है। इसके शुरू में सामायिकपूर्वक सिद्ध-भक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र एवं योगभक्ति आदि प्रसिद्ध दशभक्तियाँ अङ्कित हैं। ये भक्तियाँ मुनीन्द्र वर्द्धमान जी की अपनी रचना है। साहित्य की दृष्टि से भी रचना बुरी नहीं है। बल्कि कहीं-कहीं के पद्य बड़े ही श्रुति-मधुर हैं। हाँ, प्रति अशुद्ध होने से जहाँ-तहाँ क्षति

में शैथिल्य का भ्रम होना स्वाभाविक है। कुछ भी हो ग्रन्थकर्ता संस्कृतभाषा के मर्मज्ञ थे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सर्व-प्रथम स्थालीपुलाकन्याय से ग्रन्थगत विषयों पर एक बार सरसरी नजर डालना मैं आवश्यक समझता हूँ।

प्रस्तुत कृति में भक्तियों के अतिरिक्त स्तोत्र, पूजन, गुर्वावली आदि भक्त्यतिरिक्त विषय भी गर्भित हैं; इसीलिये ज्ञात होता है कि ग्रन्थकर्ता ने इसका नाम 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' रक्खा है। क्योंकि 'आदि' शब्द में बहुत बातों का समावेश हो जाता है। 'आचार्य-भक्ति' में प्रत्येक तीर्थङ्कर के गणधरों की संख्यादि भी कवि वर्द्धमान जी ने दे डाली है। साथ ही साथ इस 'आचार्यभक्ति' के अन्त में प्रतिपादित "वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना। आचार्यभक्तिः कथिता जिनसेनार्यसम्मता॥" इस पद्य से यह 'आचार्य-भक्ति' जिनसेनाचार्यसम्मत ज्ञात होती है। इसे जिनसेनकृत कृतियों से मिलान करने से यह बात स्पष्ट हो सकती है। 'निर्वाण-भक्ति' के अन्त में श्रीरामचन्द्रजीका सम्मेदशिखर से मुक्त होना वर्णित है। यह मत प्रचलित 'निर्वाण-काण्ड' के प्रतिकूल है। 'उत्तरपुराण' आदि ही इस मत का आधार मालूम होता है। 'चैत्यभक्ति' के प्रकरण में ग्रन्थ-रचयिता ने अकृत्रिम जिनालयों के सिवाय कृत्रिम जिनालयों में भल्लातकीपुर—गेरुसोप्पेस्थित श्रीपार्श्वनाथ, संगीतपुर—हाडुहल्लिस्थित श्रीचन्द्रप्रभ, भट्कलस्थ श्रीपार्श्वनाथ, वसुपुरस्थ श्रीआदिनाथ, वरांगस्थित श्रीनेमिनाथ, कार्कलस्थित श्रीगोम्मटेश्वर, वेणुपुर—मूडबिद्रीस्थित श्रीचन्द्रनाथ, श्रवणबेलगोलस्थ श्रीगोम्मटेश्वर, कनकाचलस्थ श्रीपार्श्वनाथ,* होय्सलवंशराजार्च्चित (विजय) पार्श्वनाथ और वर्द्धमान,† कोपणक्षेत्रस्थ (सागरदत्तपूजित-) श्रीचन्द्रप्रभ और (लक्ष्मेश्वरपुष्पतिदक्षिणावर्त्तशंखोत्थ-हेमदेवार्यसंस्तुत-) श्रीचन्द्रप्रभ आदि जिनमन्दिरों की स्तुति की है। एक जमाने में उल्लिखित गेरुसोप्पे, हाडुहल्लि, भट्कळ, कनकाचल या कनकगिरि और कोपण आदि स्थान अपने सर्वोच्च उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो जैनधर्म के केन्द्र एवं लीलाभूमि बने हुए थे। बल्कि उन दिनों गेरुसोप्पे, भट्कळ आदि कई स्थानों को जैनराजधानी के रूप में ही रहने का सौभाग्य प्राप्त था। इन क्षेत्रों में आज भी यत्र-तत्र लुप्त-प्राय प्राचीन जैनकीर्त्ति के स्मृति-चिह्न बिखरे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। वह जैनप्रतापादित्य का मध्याह्नकाल था। खैर, आज भी उक्त क्षेत्रों पर वर्द्धमान जी के द्वारा निर्दिष्ट उक्त जिनचैत्यालय प्रायः उन्हीं नामों से जीर्ण-शीर्ण दशा में वर्तमान हैं। गेरुसोप्पे, भट्कळ, हाडुहल्लि इन स्थानों के विशेष परिचय के लिये उत्तर कनाड जिला के गजेटियरों का अवलोकन करना चाहिये। कोपणक्षेत्रस्थ चन्द्रप्रभ या चन्द्रनाथ-जिनालय आज भी उसी नाम से विश्रुत है। बल्कि इसका उल्लेख Epigraphia Indica,

* इन्हें 'नागार्जुनप्रतिष्ठापित' एवं 'धर्मचन्द्रमुनिवन्दित' बतलाया है। यह नागार्जुन श्रीपूज्यपाद जी के भाँजे हों।

† ये संभवतः हलेबीडु या द्वारसमुद्र के मन्दिर हैं।

Part V, January 1931; P. 94 में प्रकाशित केळदिय सदाशिवनायक के एक ताम्र-शासन में भी मिलता है। उसका सारांश यों है—'इस (धर्म) के प्रतिकूल चलनेवाला जैनी बेलगोलस्थ गुम्मटनाथ, कोपणस्थ चन्द्रनाथ ऊर्जयन्तगिरिस्थ नेमिनाथ आदि जिनप्रतिमाओं को फोड़ने के पाप-भागी होंगे।'

अस्तु, अब पाठकों का ध्यान प्रस्तुत विषय पर आकृष्ट करता हूँ। कवि वर्द्धमान जी के द्वारा प्रस्तुत कृति के क्रमशः पृष्ठ ३५ एवं ५७ पर दिये गये निम्न लिखित कुछ पद्य अवश्य अवलोकनीय तथा विचारणीय हैं:—

"मार्तण्डशास्त्रमत्यद्भुतपरमतभित्त्वातमीमांसितं तद्-
भाष्यं भट्टाकलङ्कप्रकटितविभवं रामसेनीयमुद्धम्।
सूत्रं तत्वार्थसंज्ञं स्फुरति जिनकथाचारशास्त्रं त्रिलोक-
प्रज्ञप्तिर्मे हृदीद्धे तदिह बहिरहो यत्किमप्यस्तु किं मे॥"

× × ×

"अनन्त-जिननिर्वाणे मुनिसुव्रतजन्मनि॥
उपदेशश्च नास्माकं जिनसेनार्यशासने।
अमावास्याप्रराज्ञौ वानन्तजिज्जिननिर्वृतिः॥
संजाताप्यनगारकेवलिविभोः श्रीरामचन्द्रस्य वै
श्रीद्धफाल्गुनशुक्लपक्षविलसच्चातुर्दशीवासरे।
पूर्वाह्ने कुलशैलमस्तकमणौ सम्मेदगिर्यग्रको
शास्ता निर्वृतिरत्र लक्ष्मणमतेः सीतावनीश्रीपतेः॥"

आगे ५६ के पूर्व पृष्ठ से क्रमशः किसी-किसी की कुछ कृतियों का उल्लेख करते हुए वर्द्धमान जी ने भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र* पूज्यपाद, (जिनदत्तरायप्रणत-) सिद्धांतकीर्त्ति, वर्द्धमान† वासुपूज्यव्रती, (विष्णुवर्द्धनपूजित-) श्रीपाल, पात्रकेशरी, नेमिचन्द्र, (चामुण्डरायपादार्च्चितपादपद्मसैद्धान्तिकसार्वभौम-) माधवचन्द्र, (केशवार्यस्तुत्य-) अभयचन्द्र, जयकीर्त्ति, जिनचन्द्र, इन्द्रनन्दी, वसन्तकीर्त्ति, विशालकीर्त्ति, शुभकीर्त्ति, पद्मनन्दी, माघनन्दी, जटासिंहनन्दी, पद्मप्रभ, वसुनंदी, मेघचंद्र, वीरनंदी, धनञ्जय, वादिराज, धर्मभूषण, (विद्यानंदस्वामिसूनु-) सिंहकीर्त्ति,

*इन्हें अमोघवृत्तिन्यास के रचयिता लिखा है, परन्तु संभवतः न्यास के प्रणेता प्रभाचन्द्र इनसे भिन्न हैं। देखें—'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ'।

†इन्हें होय्सल राज्यसंस्थापक एवं उस राजवंश को व्रत और विद्या प्रदान करने वाला लिखा है।

मेघनन्दी, वर्द्धमान, प्रभाचन्द्र, अमरकीर्त्ति एवं विशालकीर्त्ति इन ग्रन्थकर्त्ताओं का स्मरण किया है। इसी प्रकरण में आगे भट्टारक सिंहकीर्त्ति, विशालकीर्त्ति, विद्यानंद, देवेन्द्रकीर्त्ति तथा अपनी बड़ी प्रशंसा की है। उन प्रशंसात्मक पद्यों में से कुछ पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं जिनसे कुछ ऐतिहासिक परिचय प्राप्त हो :—

"राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिलसदंघ्रिसरोजयुग्मः।
श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौड्यमुख्यः श्रीधर्मभूषणसुखी जयति क्षमाढ्यः॥
विद्यानन्दस्वामिनः सूनुवर्यः संजातः स सिंहकीर्त्तिव्रतीन्द्रः।
ख्यातः श्रीमान् पूर्णचारित्रगात्रो दानस्वर्भूधेनुमन्दारदेश्यः॥
बाभात्यश्वपतेर्दिनेशतनयो गंगाख्यदेशावृतः
श्रीमद्दिल्लिपुरेड्महम्मदसुरित्राणस्य माराकृतेः।
निर्जित्याशु सभावनौ जितगुरुबौद्धादि + + + + व्रजम्।
श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्तिमुनिराट् नाट्यैकविद्यागुरुः॥
विशालकीर्त्तिवादीन्द्रः परमागमकोविदः।
भट्टारको बलात्कारगणाधीशो महातपाः॥
सिकन्दरसुरित्राणप्राप्तसत्कारवैभवः।
महावादिजयोद्भूतयशोभूषितविष्टपः॥
श्रीविरूपाक्षरायस्य श्रीविद्यानगरेशिनः।
सभायां वादिसन्दोहं निर्जित्य जयपत्रकम्॥
स्वीकृत्य च महाप्रज्ञाबलेन बुधभूभुजैः।
मतं सरस्वतीमूलशासनं वा सदोज्ज्वलम्॥
देवप्पदण्डनाथस्य नगरे श्रीमदारगे।
प्रकाशितमहाजैनधर्मोऽभाद्भूसुरार्च्चितः॥
विशालकीर्त्तेः श्रीविद्यानन्दस्वामीतिशब्दितः।
अभवत्तनयः साधुर्मल्लिरायनृपार्च्चितः॥
आगमत्रयसर्वज्ञः कवित्वगुणभूषितः।
नानोपन्यासकुशलो वादिमेघमहामरुत्॥
स्वामिविद्यादिनन्दस्य भारतीभाललोचनम्।
सूनुर्देवेन्द्रकीर्त्यार्यो जातो भट्टारकाग्रणीः॥"

(पूर्व पृष्ठ ६१ से पूर्व पृष्ठ ६२)

"कावेरीसरिदम्बुवेष्टनलसच्छ्रीरंगसत्पत्तने
 लक्ष्मीवल्लभरंगनाथमहिते श्रीवीरपृथ्वीपतेः ।
आस्थाने विबुधव्रजं विजयवाग्वृत्तैर्विजित्यावनौ
 विद्यानन्दमुनीश्वरो विजयते साहित्यचूडामणिः ॥
सांख्यं संख्यात्तगन्धं कपिलकुलमलं हीनकापालिकालिम्
यौगं चोद्वेगवेगं कलयति बलिवैशेषिकं शोषिताङ्गम् ।
चार्वाकं खर्वगर्वं नृपसदसि सदा बुद्धमप्यप्रबुद्धम्
भाट्टं भ्रष्टं वितेने बुधवर भवतो वाग्वधूटी मुनीन्द्र ॥"
 (पर पृष्ठ ६६)

"वीरश्रीवरदेवरायनृपतेः सद्भागिनेयेन वै
 पद्मांबाकलगर्भवार्धिविधुना राजेन्द्रवन्द्यांघ्रिणा ।
श्रीमत्सालुवकृष्णदेवधरणीकान्तेन भक्त्यार्चितो-
 विद्यानन्दमुनीश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥

× × × ×

यो विद्यानगरीधुरीणविजयश्रीकृष्णरायप्रभो-
रास्थाने विदुषां गणं समजयत्पञ्चाननो वा गजम् ।
सद्वाग्भिर्नखरैरुदात्तविमलज्ञानाय तस्मै नमो-
विद्यानन्दसुधीश्वराय जगति प्रख्यातसत्कीर्तये ॥

× × ×

विद्यानन्दस्वामिनोऽभूत् सधर्मा विख्यातोऽयं नेमिचन्द्रो मुनीन्द्रः ।
भूतव्राताम्भोजवैकासकारी शास्त्राम्भोराशिसंवृद्धिकारी ॥
पोंबुच्चपार्श्वनाथस्य वसतीं श्रीत्रिभूमिकाम् ।
कृत्वा प्रतिष्ठां महतीं सन्तनोतिस्म भक्तितः ॥
विद्यानन्दस्वामिनः पुण्यमूर्तेर्जीयात्सूनुः श्रीविशालादिकीर्तिः ।
विद्वद्वन्द्यः सर्वशास्त्रावतारो मायद्वादीभेन्द्रसंघातसिंहः" ॥
 (पूर्व-पर पृष्ठ ६८)

"जीयादमरकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणिः ।
विशालकीर्तियोगीन्द्रसधर्मा शास्त्रकोविदः ॥
अमरकीर्तिमुनिर्विमलाशयः कुसुमचापमदाचलवज्रभृत् ।
जिनमतापहृतारितमाश्च यो जयति निर्मलधर्मगुणाश्रयः ॥

विद्यानन्दार्यतनयो भाति शास्त्रधुरन्धरः ।
वादिराजशिरोरत्नं विद्यानन्दमुनीश्वरः ॥
विशालकीर्त्तिमुनिराट्पट्टोदयमहीभृतः ।
देवेन्द्रकीर्त्तियोगीन्द्रो बालार्क इव भासते ॥
श्रीभैरवेन्द्रवंशाब्धिपाराध्यराजसमर्च्चितः ।
देवेन्द्रकीर्त्तियोगीन्द्रो विद्यानन्दमहोदयः ॥
देवेन्द्रकीर्त्तिः सिद्धार्थस्तद्भार्या प्रियकारिणी ।
धीमांस्तदुदितो वर्णी वर्द्धमानो न किं भवेत् ॥
वर्द्धमानो बुधाराध्यो नवमश्रावकाग्रणीः ।
शुद्धदृग्बोधचारित्रो जिनेनो जयतात् भुवि ॥
कर्णोत्तंसितपारिजातकलिकासौरभ्यसौवासिकी
भारत्याः शरदिन्दुनिःसृतसुधासारासनाधीसिनी ।
नृत्यद्धूर्जटिजाटकोटितटिनी कल्लोलसंलापिनी
जेजीयाद्भुवि वर्द्धमानसुखिनः शास्त्रार्थवाग्वैखरी ॥
निर्भग्नात्मनिबन्धनोपकरणो निर्वाणवांछान्वितो-
बाह्यार्थावगमाभिलापरहितो दूरीकृतात्कल्पनः ।
स्वच्छन्दस्ववशोपसाधितमना भद्रांगलक्ष्मापरम्
क्षित्यां मत्तमहाकरीव जयति श्रीवर्द्धमानो मुनिः ॥
ख्यातः श्रीवर्द्धमानोऽभाष्टीतसंसारविभ्रमः ।
ज्ञातानुयोगशास्त्रार्थो जातरूपादिनिस्पृहः ॥
भाति श्रीवर्द्धमानोऽसौ चूतशायकसूदनः ।
नूतसद्गुणसन्तानष्यूतचिद्भावनामतिः ॥
देवेन्द्रकीर्त्तियोगीन्द्रचरणाम्बुरुहद्वयम् ।
मन्मानसे सदा स्थेयात् विबुधभ्रमराश्रयम् ॥
देवेन्द्रकीर्त्तिमुनिराजपदाम्बुरेणुर्दारिद्र्यभूतनिवहस्य सदा बुधानाम् ।
उच्चाटनप्रवणचूर्णदशां समग्रां लक्ष्मीवशीकरणचूर्णदशां च याति "॥

× × × ×

"देवेन्द्रकीर्त्तिमुनिराजतनूभवेन श्रीवर्द्धमानमुनिना विदितानि भान्ति ।
पद्यानि सद्गुणयुतानि महोज्ज्वलानि विद्वत्कवीन्द्रगलकर्णविभूषणानि ॥
वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना ।
देवेन्द्रकीर्त्तिमहिता निर्मिता गुरुसन्ततिः ॥"

(पर पृष्ठ ६९ से-७१ पर पृष्ठ)

इसके आगे पर पृष्ठ ७१ पंक्ति ३ से फिर कन्नडभाषा में विद्यानन्द का स्तुति-रूप में स्मरण किया गया है। विद्यानन्द जी का यह स्तुतिरूप स्मरण वर्द्धमान जी के द्वारा लिखे गये नगरताल्लुक के ४६वें शिलालेखान्तर्गत स्तुति का ही प्रतिरूप है। बल्कि इस शिला-लेख के अन्यान्य पद्य भी यत्र-तत्र इस ग्रन्थ में उद्धृत किये गये हैं। उक्त स्तुतिरूप स्मरण में विद्यानंद ने नंजराय शहर के नंजिदेवराज, सातवेन्द्रराज केशरि-विक्रम, साळुवमल्लिराय, गुरुनृपाल, साळुवदेवराय, नगरिराज्य के राजा, बिळिगे के नरसिंहराज, कारकळ के भैरव-राज, नरसिंहकुमार कृष्णराज इन की सभाओं में और इसी प्रकार श्रीरंगपट्टण, बिदिरे, कोपण, बेळ्गोळ और गेरुसोप्पे में वादिजनों का पराजय किया था, इसी का उल्लेख है। स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का अनुमान है कि विद्यानन्द जी भल्लातकीपुर अर्थात् गेरुसोप्पे के रहनेवाले थे और इन्होंने कन्नड भाषा में 'काव्यसार' के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ रचा था, जिसका समर्थन नगरताल्लुक के उक्त शिलाशासनगत "अर्णववेष्टितवसुधा। कर्णो-पमगुरुनृपालनास्थानदोळें। कर्णाटदत्तकृतियं। वर्णिसि जसवडेदे वाग्मिविद्यानन्दा॥" इस पद्य से होता है। इस शिलालेख से यह भी अवगत होता है कि देवराय के भागिनेय एवं पद्माम्बापुत्र साळुव कृष्णदेवराय के द्वारा आप सम्मानित हुए थे। बल्कि एतद्विषयक पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका भी है। साथ ही साथ इस शिलालेख में इनकी वंश-परम्परा यों दी गयी है। विद्यानन्द, इनका पुत्र विशालकीर्त्ति, विशालकीर्त्ति का पुत्र देवेन्द्र-कीर्त्ति और इनके पुत्र वर्द्धमान। यही वर्द्धमान प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता हैं।

एक बात यह है कि आर० नरसिंहाचार्य जी ने विद्यानन्द का समय विजयनगर के शासक नरसिंह के पुत्र उसी नगरताल्लुक के शिलालेख में अङ्कित कृष्णदेवराय के काल के आधार पर ई० सन् १५३३ अनुमान किया है। परन्तु इसी प्रस्तुत ग्रन्थगत स्तुति में प्रतिपादित "शाके वह्निखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे शार्वरे। शुद्धश्रावणभाक्कृतान्त-धरणीतुग्मंदमेषे रवौ॥ कर्किस्थे सगुरौ जिनस्मरणतो वादीन्द्रवृन्दार्चितः। विद्यानन्द-मुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानंदकः॥" इस पद्य से शालिवाहन शक १४६३ ई० सन् १५४१ में विद्यानन्द का स्वर्गस्थ होना स्पष्ट सिद्ध होता है। अस्तु, इनके विषय में आगे कुछ विशेष प्रकाश डालना मुझे इष्ट है।।

आगे पर पृष्ठ ८० से पर पृष्ठ ८४ तक नन्दिसंघ के आचार्यों की नामावली यों दी गयी है:—

धरसेन, समन्तभद्र, आर्यसेन, अजितसेन, वीरसेन, जिनसेन, वादिराज, गुणभद्र*

*—इन्हें 'दशरथमुनिपति-तनय' लिखा है।

लोकसेन, आशाधर,[1] कमलभद्र[2], नरेन्द्रसेन, धर्मसेन, रविषेण, कनकसेन, दयापाल, रामसेन[3], माधवसेन, लक्ष्मीसेन[4], जयसेन, नागसेन, मतिसागर[5], रामसेन, सोमसेन। मुनीन्द्र वर्द्धमान जी ने अपने को भी इस नन्दिसंघ की परम्परा में बतलाया है। उल्लिखित गुर्वावली का अन्तिम पद्य यह है—"वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना। जिनश्रीनन्दिषेणोत्थमुन्यादिस्तवनं कृतम्" ॥ इस पद्य से कवि वर्द्धमान जी का यह अभिप्राय ज्ञात होता है कि नन्दिसंघ की उत्पत्ति नन्दिषेणसे हुई है। पर अन्यत्र माघनन्दी से मानी गयी है[6]।

आगे पूर्व पृष्ठ ९० के अन्त से ग्रन्थकर्त्ता ने भट्टाकलङ्क की वंश-परम्परा यों बतलायी है:—

कुन्दकुन्द, विजयकीर्त्ति, इनका पुत्र श्रुतकीर्त्ति,* श्रुतकीर्त्ति का पुत्र विजयकीर्त्ति, इनका पुत्र पद्मप्रभ, पद्मप्रभ का पुत्र भट्टाकलङ्क जिनका अपर नाम चन्द्रप्रभ देव भी विख्यात था। इसके बाद इन्हीं अकलङ्क, विजयकीर्त्ति आदि की स्तुति दी है। उनमें से कुछ इतिहासपरक पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं:–

"श्रीमन्मादनयेल्लुपक्षितिपतेः सत्पट्टदंतावलः
संवीक्ष्याशु परीत्यय मदभरो भक्त्या च बंकापुरे।
पद्मास्यः शममैयिवान जिनपतिध्यानैकतानोऽवनौ
स श्रीमानकलङ्कयोगितिलको रेजे नृपालार्चितः"॥

(पर पृष्ठ ९१)

"श्रीदेवरायनृपशेखरवन्द्यपादः स्याद्वादशास्त्रजनितामलहृत्प्रमोदः।
भट्टाकलङ्क मुनिपो जनसाधुवादो बाभाति भव्यजनताकृतसत्प्रसादः॥
तस्याकलङ्कदेवस्य सधर्माणः तपोगुणाः।
चन्द्रप्रभादिमुनयः संजातास्साधुवन्दिताः॥
श्रीचन्द्रप्रभदेवसेवनपरः शब्दाम्बुधिं गाहते
श्रीचन्द्रप्रभदेवसंस्तवरतः तर्कामृतं सेवते।

१—इन्हें 'चेलविसृष्टशरीर' (?) 'मालवपतिवन्द्य' एवं 'सूरि'(?) लिखा है। पर इनको मुनि एवं सूरि लिखना भ्रामक है।

२—इन्हें 'काशीपतिनत' लिखा है।

३—इन्हें योगशास्त्र का प्रणेता बतलाया है।

४—इन्हें पेनगोंडे के 'नरसिंहरायसेवित' लिखा है।

५—इन्हें मालवेन्द्र की सभा में बौद्धों को पराजित करनेवाला और 'पैगुद्वीपादिवन्द्यपादाम्भोज' लिखा है।

६—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग १, कि० ४।

* इन्हें 'त्रैविद्यचक्रेश्वर' एवं 'साल्वेन्द्रावनिपालपूजितपद' लिखा है।

श्रीचन्द्रप्रभदेवसन्नतिमतिः पूज्यत्वमालम्बते
श्रीचन्द्रप्रभदेवसंस्तुतिमतिः पुण्यव्रजे वर्तते ॥"

(पूर्व पृष्ठ ९२)

"स जयति जयकीर्त्तिर्जैनदेशीयमूर्त्तिर्-
जिनपदकजभृङ्गस्त्यक्तसंसारसंगः।
सुचरितयतिभद्रः सर्वविद्याब्धिचन्द्रः
सकलगुणसमुद्रः पुष्पकोदण्डरुद्रः ॥
भास्वद्भट्टकलं पुरं जिनगृहैर्विभ्राजितं बाहुना।
श्रीमत्सालुवदेवरायनृपतेर्भूनाभिजालेपिना।
नौद्रोर्णानिचिताब्धिमण्डितमिदं संरक्षितं संपदा
निर्धूतालकमंगजन्मनिलयं देशेऽभवत्तौलवे ॥
तत्र भट्टकले श्रीमानकलंकमुनीश्वरः।
अतिप्रद्रव्यसन्दोहराजीववनभास्करः ॥
शरत्कालमिवात्मानं क्षीणवर्षं विलोक्य च।
मतिं प्रायोपगमने कृतवान्वस्तुतत्त्ववित् ॥
सल्लेखनापरः पश्चाच्चतुःसंघसमन्ततः।
श्रीमत्पञ्चमहाशब्दं स्मरन्प्राणान् मुमोच सः ॥
शाके सप्तशराम्बुधीन्दुरुचिरे संवत्सरे श्रीजये
मासे चाश्विनसंज्ञके बुधयुते कृष्णाष्टमीवासरे।
पुष्यर्क्षे मिथुने जिनेन्द्रचरणध्यानावलम्बी ययौ
स श्रीमानकलंकदेवसुखिराड् नाकालयं धीरधीः ॥
तस्याकलंकस्य तनयो विनयान्वितः।
आसीद्विजयकीर्त्यार्यो जनमन्दारसन्निभः ॥
अकलंकसुखी(धी)शांघ्रिस्मृतिपावनमानसः।
जीयात् विमलकीर्त्यार्यः कृतधर्मप्रभावनः ॥
क्षयोपशमसम्पूर्णश्चारित्रोदारविग्रहः।
पाल्यकीर्त्तिर्मुनीर्जीयादकलंकपदप्रियः ॥
सतः श्रीपालकीर्त्याख्यमुनेर्ध्यानधनंजये।
प्रसूनासिर्महावीरो नित्यं कर्णायते तराम् ॥

वाग्देव्या हारयष्टिर्वा सद्वर्णा गुणोज्ज्वला ।
मुक्तामया सुवृत्ताभा चन्द्रमन्त्यार्थिका परा ॥
श्रीचन्द्रप्रभयोगिराजतनुजो देशीगणाग्रेसरः
प्रद्युम्नोद्धुरचापखण्डनपटुः सद्धर्मधौरेयकः ।
ध्यानध्वस्तसमस्तपापपटलः सद्भव्यकंजांशुमान्
भाति प्रोन्नतसंयमो विजयते श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः ॥
श्रीसंगीतपुराग्रभागतिलके निर्वाणभूभृत्वरम्
श्रीचैत्यालयमुद्धलक्षणयुतं योऽनन्तजित्स्वामिनः ।
पूजां नित्यमहोन्नतां च महतीं सम्यक् प्रतिष्ठां मुदा
शास्त्रोक्त्या व्यतनोत् स भाति जगति श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः ॥
ध्याने यस्य मतंगजा हरिकुलैः क्रीडन्ति वाजिव्रजाः
सन्नासैरिभसंकुलैर्विषधरा मण्डूकजालैर्भृशम् ।
पञ्चास्याश्च कुरङ्गशावनिचयैरेकेन्द्रियाः सत्फलैः
स क्षोणीश्वरपूजितो विजयते श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः ॥
श्रीरंगद्रंगमध्ये विबुधनृपसभाभूषिते भूसुराढ्ये
प्रोद्वृत्तं वादिवृन्दं जिनपतिवदनप्रोत्थवाणीबलेन ।
जित्वा साहित्यमूर्तिर्विपुलतरतपाः सन्ततं सत्कृपार्द्रः
श्रीमान् देशीगणेशो जयति विजयकीर्त्तिः कवीन्द्रद्रुमश्रीः ॥
वीरश्रीवरदेवरायनृपतिः साहित्यविद्यापतिः
संगीतामृतवार्धिवर्द्धनसुधासूतिर्जिनेज्यामतिः ।
जीवत्राणमुखव्रतादिसुरतिः श्रीपुष्पचापाकृतिः
शौर्यत्यागविवेकधैर्यवसतिर्विभाति भूमण्डले ॥
पातु श्रीवर्द्धमानो जिनपतिरनिशं दानशूरव्रताढ्यम्
विद्वत्कर्णावतंसीकृतगुणकुसुमं चार्थिनां पारिजातम् ।
शास्त्राचारककयोगीश्वरचरणसरोजातभृंगं स्मराभम्
नागण्णश्रेष्ठिनं श्रीजिनमुखनिरतं कुंमणश्रेष्ठिपुत्रम् ॥"

(पर पृष्ठ ९२ से पर पृष्ठ ९४)

आगे पूर्व पृष्ठ ९५ से कुन्दकुन्द, चारुकीर्त्ति* श्रुतकीर्त्ति†, विजयकीर्त्ति, अकलङ्क इस

*—इन्हें 'मन्त्रवादीश्वर' और 'बल्लालराय-विनुत' लिखा है ।

†—इन्हें 'देशीगणविभूषण' लिखा है ।

गुरुपरम्परा का फिर प्रशंसापरक स्मरण किया गया है। यहाँ भी अकलङ्क का अपरनाम 'चन्द्रप्रभ' दिया है।

इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ ग्रन्थ में पर्याप्त हैं। फिर भी इनमें इतिहास-सम्बन्धी जो तात्त्विक बातें हैं वे उपेक्षणीय नहीं हैं। इसी प्रकरण में पुनः उनके अर्थात् अकलङ्क के शिष्य नेमिचन्द्र की स्तुति अङ्कित है। इसमें इन्हें ऊर्जयन्त तीर्थाटन के द्वारा पुण्य-संचय करनेवाला भी लिखा है। पश्चात् अकलंक का निवास-स्थान एवं स्वर्गारोहण-समय आदि यों अङ्कित है:—

"चन्द्रप्रभसुखी(धी)शोऽयं गुरुराजार्चितक्रमः।
अतिष्ठत्तुलुदेशस्थसंगीतनगरे चिरम्॥
अन्येद्युरस्मिन्कायादौ निर्ममत्वं च भावयन्।
शुभाभिसंधिना चासूनत्यजत्परमार्थवित्॥
शाके पञ्चशराब्धिशीतगुमिते संवत्सरे नन्दने
मासे मार्गशिरे सकृष्णविधुजश्रीसप्तमीवासरे।
मध्याह्ने जिनपादसंस्मरणतः सल्लेखनासंयुतः
श्रीचन्द्रप्रभयोगिराट् प्रतिययौ नाकालयं शुद्धदृक्॥

बाद सालुवदेवराय के द्वारा सुशासित तोळवदेशान्तर्गत संगीतपुर एवं तत्रस्थ जैन श्रावकों की कवि वर्द्धमान जी ने बड़ी तारीफ की है। साथ ही साथ इस प्रकरण के अन्त में यह उल्लेख किया है कि शिष्य नेमिचन्द्र ने गुरुभक्ति से प्रेरित हो धार्मिक श्रावकों के द्वारा प्रदत्त द्रव्य से विशाल मण्डप में शिलालेखपूर्वक अकलंक के समाधिस्थान पर एक अत्यन्त मनोहर 'निषीधिका' भी बनवायी थी। इस प्रकरण का अन्तिम श्लोक यह है—
"वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना। कृताकलंकयोगीन्द्रचन्द्रप्रभगुरुस्तुतिः॥"

आगे पूर्व पृष्ठ ९८से काणूर्गण के मुनियों के नाम यों अंकित हैं:—कुन्दकुन्द, जटासिंहनन्दी, इन्द्रनन्दी, गुणचन्द्र, कनकचन्द्र, माधवचन्द्र[1], रामचन्द्र[2], मुनिचन्द्र, सकलचन्द्र. माधवचन्द्र, बालचन्द्र, महर्द्धिक मुनिचन्द्र[3], सकलकीर्त्ति[4], भानुकीर्त्ति[5], देवकीर्त्ति, इनके

१—कनकचन्द्र और माधवचन्द्र को गुणचन्द्र का पुत्र बतलाया है। साथ ही साथ यह भी लिखा है कि एक बार जयकेशरी राजा का मदोन्मत्त गजेन्द्र इन माधवचन्द्र जी को देखकर शांत हो गया था।

२—इन्हें 'जाबालिगपुरराजार्चितकाणूर्गणमुख्य' आदि अनेक विशेषणों द्वारा स्मरण किया है।

३—इन्हें 'चन्द्रगुप्तिपुराधीशचन्द्रगुप्तनृपार्चित' बतलाया है।

४—इन्हें गेरुसोप्पेनिवासी लिखा है। ५—इन्हें 'मुनिचन्द्रतनय' कहा है।

शिष्य अनन्तकीर्त्ति, धर्मकीर्त्ति, कल्याणकीर्त्ति, चन्द्रकीर्त्ति आदि। उक्त देवकीर्त्ति के पट्ट पर क्रमशः भानुमुनि, कनकचन्द्र, देवकीर्त्ति[1]। इस प्रकरण का अन्तिम पद्य निम्न लिखित है :—

"वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना।
काणूर्गणमुनीन्द्रोरुस्तवनं सत्प्रकीर्तितम्॥"

पश्चात् पूर्व पृष्ठ १०१ से नन्दिसंघ-बलात्कारगण की गुर्वावली निम्न प्रकार से दी गयी है :—

वर्द्धमान भट्टारक[2], पद्मनन्दी, श्रीधराचार्य, देवचन्द्र, कनकचन्द्र, नयकीर्त्ति, रविचन्द्रदेव, श्रुतकीर्त्तिदेव, वीरनन्दी, जिनचन्द्रदेव, भट्टारक वर्द्धमान, श्रीधर, वासुपूज्य, उदयचन्द्र, कुमुदचन्द्र, माघनन्दी, वर्द्धमान, माणिक्यनन्दी[3], गुणकीर्त्ति, गुणचन्द्र, अभयनन्दी, सकलचन्द्र, गण्डविमुक्त[4], त्रिभुवनचन्द्र, चन्द्रकीर्त्ति, श्रुतकीर्त्ति, वर्द्धमान, त्रैविद्यवासुपूज्य, कुमुदचन्द्र, नेमिचन्द्र, बालचन्द्रमुनिस्तुत भुवनचन्द्र। इसके बाद अन्त में बलात्कारगण के मुनियों की स्तुति वादी, वाग्मी, मन्त्रपटु, ग्रन्थरचयिता, राजसम्मानित, प्रखरतपस्वी आदि अनेकानेक विशेषण-द्वारा की गयी है। इस गुर्वावली का अन्तिम श्लोक यह है :—

"वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना।
नन्दिसंघमुनीन्द्राणां स्तवनं सत्प्रकीर्तितम्॥"

काणूर्गण-स्तवन के उपरांत ग्रन्थकर्त्ता ने दुर्जनों की निन्दा एवं सज्जनों की स्तुतिपूर्वक कुछ उपदेश दिया है। इसी प्रकरण में तौळव, केरळ, होय्सळ सिंहल आदि देशों की स्त्रियों का शृङ्गारात्मक वर्णन अवलोकनीय है; जिसे देखकर कामशास्त्र में वर्णित भिन्न भिन्न देश की स्त्रियों की रूप-रेखा-स्मृति-पथारूढ़ हो जाती है :—

"देहोऽलंकारहीनो विधुसमवदनं वीटिकारागशून्यम्
चालापः श्रोत्रवक्रो भ्रमरनिभकचः पुष्पसन्दोहदूरः।
नीवी सद्वस्त्रवर्जा परिमलरहिता कामकेलिश्च शय्या
वञ्चन्मञ्चादिरिक्ता प्रभवति नितरां तौलवीनां वधूनाम्॥
नित्यस्नानयुताः शिवार्चनपराः कामाङ्गनासन्निभाः
श्रीखण्डांशुकशोभिताङ्गरुचयः कर्णाढ्यमुक्ताफलाः।

१—इन्हें भानुकीर्त्ति के उत्तराधिकारी एवं 'केरलाधीश्वरपूजित' बतलाया है।
२—इन्हें 'होय्सलसन्मानराजार्चितपदाम्बुज' लिखा है।
३—इन्हें 'मालवेन्द्रप्रपूज्य' कहा है।
४—इन्हें 'मन्त्रवादि-पितामह' बतलाया है।

पादद्वन्द्वभुजाग्रहेमवलयाः संभोगसक्ताः सदा
पुंभावाभिनयाश्च केरलजनुष्कान्ता विभान्ति क्षितौ ॥
होय्सलदेशजातवनिताः कनकोज्ज्वलरत्नभूषणाः
वारिजलोचना निबिडपीनपयोधराश्चारुवक्षसः ।
सारमृदूक्तिहासपरिगर्भितमन्मथकेलिकोविदाः
भान्ति विचित्रनेत्ररुचिराः सुविलेपनवीटिकाप्रियाः ॥
द्वीपे सिंहलनाम्नि सागरतटाः सद्वृत्तमुक्ताफलाः
शैला निर्मलपद्मरागमणयोऽरण्यानि सेमानि च (?) ।
तद्देशोद्भवविश्ववामनयनाः श्रीपद्मिनीजातिजाः
राजन्ते महिपाः सदागतमताचारास्तदुत्पत्तिकाः ॥
शोभन्ते फलपल्लवैर्विटपिनः सत्येन भूवल्लभाः
तारुण्येन सुमालदेश्यवनिता मूलैर्गुणैरुत्तरैः ।
योगीन्द्राश्च परोपकारकरणैः सन्तो जनाः श्रावकैः
धर्माः श्रीजिनभाषिताः कविबुधैः शास्त्राणि पूतानि वै ॥"

(पर पृष्ठ १०९ से पूर्व पृष्ठ ११०)

आगे चन्दनषष्ठी-सम्बन्धी चन्द्रप्रभपूजन एवं जीवदयाष्टमी-संबंधी मुनिसुव्रतपूजन दिये गये हैं। मुनिसुव्रतपूजन के अंत में अङ्कित—"वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानंदार्यबंधुना। महाजीवदयाष्टम्यां निर्मितः पूजना-विधिः ॥" इस पद्य से इस ग्रन्थ में गर्भित भक्त्यतिरिक्त भिन्न-भिन्न स्तुतियाँ, गुर्वावलियाँ तथा पूजनादि वर्द्धमान जी की अन्यान्य समय की कृतियाँ हैं और ये सब संग्रहरूप में अमर रह जायँ इस ख्याल से एकत्रित कर दी गयी हैं—यों अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता। इसी से इसमें यत्र-तत्र पुनरुक्तियाँ एवं अप्राकरणिक का ख़याल हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

पूर्व पृष्ठ ११२ से पूर्व पृष्ठ ११५ तक जो विद्वत्स्तोत्र अङ्कित है उसमें निम्न लिखित विद्वानों की प्रशंसात्मक गाथायें हैं:—आशाधर, अभयचन्द्र[१], देवरस[२], हरिभद्र[३], ब्रह्मसूरि, नेमिचंद्र[४],

१—इन्हें 'सर्वोर्वीपतिपूजितांघ्रियुगल' लिखा है।

२—इन्हें 'धर्मशर्माभ्युदय' एवं 'राघवपाण्डवीय' के टिप्पणकार बतलाया है।

३—इन्हें 'न्यासतर्कविशारद, श्रुतकीर्त्यार्यपादपंकजषट्पद' कहा है।

४—इन्हें देवप्पार्य के पुत्र, अभयचन्द्र सूरि के निकट 'प्राधीतसद्दर्शन' और विजयावनीशतनयश्रीदेवरायार्चित' लिखा है।

जिनदेव, भेम्मडिभट्ट[1], गुम्मटदेव[2], पण्डितार्य[3] लोलक्खरस[4], आदप्पार्य[5], चन्द्रप्पार्य[6], कल्याणनाथ[7], धर्मशेखर[8], अभयचन्द्रसूरि[9], आदिनाथ[10], अध्यापक पार्श्वदेव,[11] उपाध्याय देवरस[12], गुम्मटदेव, अनन्तपण्डित[13], चौडरस[14], समन्तभद्र[15], मंत्री चेतरस[16], देवरस[17], इन्हीं का अनुज अनेकगुणगणालंकृत साळुवमल्लिराय के शास्त्रविद्यागुरु देवरससूरि, इनका पुत्र अनेकगुणमण्डित, साळुवदेवराय के आस्थान-भूषण, विद्यानन्द-शिष्य एवं साहित्यरत्नाकर बोम्मरस।

इस प्रकरण का अन्तिम पद्य यह है—"वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानंदार्यबंधुना। रचितं विदुषां स्तोत्रं सज्जनानामभीष्टदम्।"

पूर्व पृष्ठ ११५ की अन्तिम पंक्ति से पूर्व पृष्ठ १२४ तक इस में जो श्रावकों का स्तुति अङ्कित है, इस स्तुति में निम्न लिखित व्यक्तियों का सवात्सल्य स्मरण किया

१—इन्हें 'विजयावनीशतनयश्रीदेवराय' के ख्यातिप्राप्त आस्थानकवि बतलाया है।

२—इन्हें अभयचन्द्रसूरि के पुत्र लिखा है।

३—इन्हें 'पद्माम्बाभयचन्द्रसूरितनय' और 'नारसिंहनृपतिस्तुत्य' आदि विशेषण-द्वारा स्मरण किया है।

४ इन्हें 'तर्कशास्त्रप्रवीण' एवं 'उपाध्यायपदाधीशसूरिपुत्रसमन्वित' कहा है।

५ इन्हें 'जगद्वन्द्य, सुकुमारचरित्रेश, परवादिविदारक' लिखा है।

६ इन्हे 'आयुर्वेदविधानज्ञ' बतलाया है।

७ इन्हें 'नेमिचन्द्रतनय, संगीतकलाप्रवीण' आदि लिखा है।

८ इन्हें 'कल्याणनाथसहोदर, शब्दतर्कागमाभिज्ञ' कहा है।

९ इन्ह 'कल्याणनाथतनय, साल्वेन्द्रनृपास्थानप्राविष्कृतमहोदय' लिखा है।

१० इन्हें 'बुधस्तुत्य, वादिविजयी, मल्लिरायनृपस्वान्तसरोजातप्रभाकर' बतलाया है।

११ इन्हें 'अभिनंदनभट्टसूनु, बोम्मरसानुज' लिखा है।

१२ इन्हें 'नृपस्तुत्य' कहा है।

१३ इन्हें 'कविश्रीपतिमातुल' बतलाया है।

१४ इन्हें 'उपाध्यायतनुसंभव' लिखा है।

१५ इन्हें 'वेणुपुरभव्यजनार्चित, तौलवाधीशवन्द्यांघ्रिचन्द्रिमो' आदि लिखा है।

१६ इन्हें 'विद्यानंदमुनीन्द्रनिकटाधीतदर्शन, संगीतपुरसाल्वेन्द्रभूपालास्थानभूषण, पदवाक्य-प्रमाणज्ञ, वाद्यद्रिकुलिशायुध' आदि बतलाया है।

१७ इन्हें कवि और आगमका मर्मज्ञ लिखा है।

गया है :—

मंत्री जैतरस[1], मंत्री नागरस[2], मंत्री देवरस[3], दण्डनाथ बैचप[4], संकण्ण[5], मल्लप-नायक[6], बोमिश्रेष्ठी[7]।

आगे ग्रन्थ में अनेकगुण-मण्डित, स्मरनिभ, योगीन्द्रसेवापर, विद्यानन्दमहोदय, शुद्धाहारादिदाननिरत, मुक्तारत्नपरीक्षणोर्निपुण, विद्वत्कवीन्द्रद्रुम, साररत्नत्रयवेदी, परहिताचारमहाभागी, ज्ञानचारित्रनिलय, एवं सम्यक्त्वरत्नाकर, आदि विशेषणों से प्रशंसित वेणुपुरीय—मूडबिद्रीय भव्य-श्रावकों की रक्षा वहाँ के श्रीचन्द्रप्रभ एवं श्रीपार्श्वनाथ किया करें यों अपनी शुभकामना कवि वर्द्धमान जी ने दरसायी है। इसी प्रकरण में वहाँ की श्राविकाओं का भी गुणवर्णन किया गया है। बाद इसी प्रकार गेरुसोप्पे, भट्कळ एवं संगीतपुर के भव्यश्रावकों की भी पर्याप्त प्रशंसा की है।*

१—इन्हें 'प्रधानतिलक, देवरायप्रभुदुर्गाधीश्वरवन्दित, सम्यक्त्वचूडामणि, विप्रकुलाम्बरमणि, सर्वज्ञसेवापर, सद्दानपूजाधिक, नानाशास्त्रविचक्षण, सुकवितासीमन्तिनी-वल्लभ, सद्वृत्त, श्रुतकीर्तिदेवयतिराट्पादाब्जपुष्पन्धय आदि अनेक विशेषणों द्वारा स्मरण किया है।

२—इन्हें 'मन्त्रितिलक, सौजन्यरत्नाकर, सर्वज्ञपादद्वयीसेवायत्तमहोदय' लिखा है।

३—इन्हें 'कृतश्रीजिनमंदिर, सारत्रयसुधासिन्धुपारदृश्वा, विरुगपधरणीशपालनीय' बतलाया है।

४—इन्हें 'जिनचरणसरोजद्वैतपूजाहिराज, जनवृन्दप्राणरक्षामुकुन्द, श्रीदेवरायधरणीश्वरदत्तमान्य, सद्धर्मसाधितमहापरलोकसार्थ, कीर्तिपरिभूषितदिग्वधूटि' आदि कहा है।

५—इन्हें 'वीरश्रीविजयावनीशतनयश्रीदेवरायप्रभुश्रेष्ठिपदंगत, विख्यातदानाधिप, धर्मभूषणगुरुपदाम्बुजातद्वयीरोलम्ब, जिनवल्लभ' लिखा है।

६—इन्हें 'मल्लिकार्जुनरायमहामात्य, जिनपादार्चनासक्त' बताया है।

७—इन्हें 'श्रीरत्नराजविजयावनिपालमौलि, श्रीतौलवेश्वरनृपार्चितपादपीठ, श्रीवीरसेनमुनिपादनिधानदीप, विबुधव्रजकल्पभूज, विद्यानन्दव्रतिपतिपदाराधनासक्तचित्त, विद्वत्सेव्य, सकलभुवनख्यातकीर्ति, साहित्यज्ञ, जिनपतिमताचारवान्, चातुरंगप्रवीण' कहा है। साथ ही साथ इनके नामके पूर्व में 'टंकशाला' यह पद दिया गया है जिससे यह बात सिद्ध होती है कि यह बोमिश्रेष्ठी टकशाल के अध्यक्ष थे।

* इसके बाद एक श्लोक यों मिलता है जिसमें रेखांकित पद अवश्य विचारणीय हैं :—

"वीरश्रीन्द्रनरेन्द्रवंदितपदाः कुर्वन्तु भव्यावलेर्-
वाञ्छासिद्धिं दुगणाख्यनेत्ररचितश्रीचैत्यधामस्थिताः।
वीरराममणनायकेश्वरदास्तद्भागिनेयाग्रिम-
प्रोद्यच्छ्रीजिननायकस्तुतगुणास्तीर्थङ्करा मङ्गलम्॥"

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ५—वि० सं० १९९५ एवं वीर सं० २४६५

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४)　　विदेश में ४॥)　　एक प्रति का १।)

विषय-सूची

ग्रन्थमाला-विभाग

चित्र-सूची

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IV—1938.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
Babu Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 4. Foreign Rs. 4-8. Single Copy Rs. 1-4.

CONTENTS.

List of Illustrations.

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. IV. No. IV — ARRAH (INDIA) — March 1939.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. IV, No. III. page 76.

Turning from this digression to an examination of our work, we have to mention certain salient facts contained in the book itself. The book contains three great topics, 'Aram, Porul, Inbam' *i.e.*, 'Dharma, Artha and Kāma.' These three topics are so interpreted and expounded as to be in thorough conformity with the basic doctrine of Ahiṁsā. Hence it need not be emphasised that the terms here mean slightly different from what they imply in the ordinary Hindu religious works. Later Hindu religious systems, in as much as they are resting on the Vedic sacrificial ritualism, cannot completely throw overboard the practice of animal sacrifice enjoined in the Vedas. The term Dharma could mean, therefore, to them only Varṇāśrama-dharma based upon Vedic sacrifice. Only three Indian systems were opposed to this doctrine of Vedic sacrifice: Jaina Darśana, Sāṅkhya Darśana, Bauddha Darśana. Representatives of these three Darśanas were present in the Tamil land in the pre-revivalistic period. In the very

beginning of the work, in the chapter on Dharma, the author gives this as his own view that it is far better and more virtuous to abstain from killing and eating any animal than to perform 1000 sacrifices. This one single verse is enough to point out that the author would not have acquiesced in any form of such sacrificial ritualism. The verse is nothing more than the paraphrase of the Sanskrit words 'Ahiṁsā Paramo Dharmaḥ.' I was surprised to see this same verse quoted by a Śaivaite Tamil scholar to prove that the author had as his religion Vedic sacrificial ritualism.

In another section devoted to vegetarian food the author distinctly condemns the Bauddha principle of purchasing meat from the butcher. Buddhists who offer lip service to the doctrine of Ahiṁsā console themselves by saying that they are not to kill with their own hands but may purchase meat from slaughter-house. The author of the Kuraḷ in unmistakble terms points out that the butcher's trade thrives only because of the demand for meat. Butcher's interest is merely to make money and hence he adopts a particular trade determined by the principle of 'supply and demand.' Therefore the responsibility of killing animals for food is mainly on your head and not upon the butcher's. When there is such an open condemnation of animal sacrifice sanctioned by Vedic ritualism and the Buddhistic practice of eating meat by a convenient interpretation of the Ahiṁsā doctrine, it is clear by a process of elimination that the only religion that conforms to the principles enunciated in the book is the religion of Ahiṁsā as upheld by the Jainas. It is maintained by a well-known Tamil scholar living, that the work is a faithful translation of the Dharmaśāstra by Bodhāyana. Though very many Sanskrit words are found in this work and that from among the traditional doctrines some are also treated therein, still it would not be accurate to maintain that it is merely an echo of what appeared in the Sanskrit literature because many of these doctrines are re-interpreted and re-emphasised in the light of Ahiṁsā doctrine. It is enough to mention only two points. This Bodhāyana Dharma Śāstra, since it is based upon the traditional Varṇāśrama, keeps to the traditional four castes and their duties. According to this conception of Dharma, cultivation of the land is left to the last class of Śūdras and

would certainly be infra dig for the upper classes to have anything to do with agriculture. The author of Kuraḷ, on the other hand, probably because of the fact that he is one of the Veḷāḷa or the agricultural class of the land, placed agriculture first among the professions. For he says, " living par excellence is living by tilling the land and every other mode of life is parasitical and hence next to that of the tiller of the soil." It is too much to swallow that such a doctrine is borrowed from Sanskrit Dharma Śāstras. Another interesting fact mentioned in Dharma Śāstras is the mode of entertaining guests by the householders. Such an entertainment is always associated with killing a fat calf; the chapter on guests in Bodhāyana Dharma Śāstra gives a list of animals that ought to be killed for the purpose of entertaining guests. This is a necessary part of Dharma and violation of it will entail curse from the guests is the firm belief of those who accept Vedic ritualism as religion. A cursory glance at the corresponding chapter in the Kuraḷ will convince any reader that Dharma here means quite a different thing from what it means in the Dharma Śāstras of the Hindus. Hence we have to reject this suggestion that the work represents merely a translation of the Dharma Śāstras for the benefit of the Tamil reading public.

Turning to circumstantial evidence, we have to note the following facts. The Jaina commentator of the Tamil work called Neelakeśi freely quotes from this Kuraḷ; and whenever he quotes he introduces the quotation with the words " as is mentioned in our scripture." From this it is clear that the commentator considered this work as an important Jaina scripture in Tamil. Secondly, the same implication is found in a non-Jaina Tamil work called Prabodhacandrodaya. This Tamil work is evidently modelled after the Sanskrit drama Prabodhacandrodaya. This Tamil work is in Viruttam metre, consisting of four lines. It is also in the form of a drama where the representatives of the various religions are introduced on the stage. Each one is introduced while reciting a characteristic verse containing the essence of his religion. When the Jaina Sanyāsi appears on the stage, he is made to recite that particular verse from the Kuraḷ which praises the Ahiṁsā-doctrine that " not killing a single life for the purpose of eating is far better

than performing 1000 yāgas." It will not be far wrong to suggest that in the eyes of this dramatist the Kuraḷ was characteristically a Jaina work. Otherwise he would not have put this verse in the mouth 'Nigantavādi.' This much is enough. We may end this discussion by saying that this great ethical work is specially composed for the purpose of inculcating the principle of Ahiṁsā in all its multifarious aspects, probably by a great Jaina scholar of eminence about the first century of Christian era.

This great ethical work, which contains the essence of Tamil wisdom, consists of three parts and of 133 chapters. Each chapter contains 10 verses. Thus we have 1330 verses in the form of couplets. It has three or four important commentaries. Of these, one is by the great commentator Naccinārkkiniyar. It is supposed to be, according to the Jaina tradition, but is unfortunately lost to the world. The commentary that is popular at present is by one Parimēl-alagar and is certainly later than the Naccinārkkiniyar's, and it differs from the latter in the interpretation of many important points. Recently another commentary by Maṇakku-ḍavar was published. Students of Tamil literature entertain the hope of obtaining and publishig the commentary by the great Naccinārkkiniyar. But up to the present there has not been any trace of it.

The work is translated into almost all the European languages, the very good English translation being the work of Rev. G U. Pope. This great work together with the other work Nāladiyār, of which we shall speak presently, must have been important factors in shaping the character and ideals of the Tamil people. Speaking of these two ethical masterpieces, Dr. Pope writes as follows:—
"Yet pervading these verses there seems to me to be a strong sense of moral obligation, an earnest aspiration after righteousness, a fervent and unselfish charity and generally a loftiness of aim that are very impressive. I have felt sometimes as if there must be a blessing in store for a people that delight so utterly in compositions thus remarkably expressive of a hunger and thirst after righteousness.

They are the fore-most among the peoples of India, and the Kuraḷ and Nālaḍi have helped to make them so."

Let us turn our attention to the last mentioned work Nālaḍiyār. Kuraḷ and Nālaḍiyār serve as mutual commentaries and 'altogether throw a flood of light upon the whole ethical and social philosophy of the Tamil people.' Nālaḍiyār derives its name from the nature of the metre, just as Kuraḷ. Nālaḍiyār means a quatrain or 4 line Veṇbā metre, The work consists of 400 quatrains and is also called the Vēḷāḷar Vedam, the Bible of the cultivators. It is not the work of a single author. The tradition supposes that each verse is composed by a separate Jaina monk. The current tradition is briefly this. Once upon a time 8000 Jaina asceties driven by famine in the north migrated to the Pāṇḍyan country whose kings supported them. When the period of famine was over they wanted to return to their country, while the king desired to retain these scholars at his court. At last the ascetics resolved to depart secretly without the knowledge of the king. Thus they left in a body one night. In the next morning it was found that each had left on his seat a palm leaf containing a quatrain The king ordered them to be thrown into the river Vaigai, when it was found that some of the palm leaves were seen swimming up the river against the current and came to the bank. These were collected by the order of the king and this collection is known by the name Nālaḍiyār. We are not in a position to estimate the amount of historical truth contained in this tradition. If we rely on this tradition we havn to connect these 8000 Jaina ascetics with the followers of Bhadrabāhu who migrated to the south on account of the 12 years famine in Northern India; and this would place the composition of this work somewhere about 3rd century B.C. We cannot dogmatise upon it. All that we can say, with a certain amount of certainty is, that it is one of the earliest didactic works in the Tamil language and is probably of the same age or slightly earlier than the Kuraḷ. The 400 isolated stanzas are arranged according to a certain plan after the model of Kuraḷ. Each chapter consists of 10 stanzas. The first part on 'Aram,'—Dharma, consists of 13 chapters and 130 quatrains. The second section 'Poruḷ' contains 26 chapters and 260 quatrains; and

3rd chapter on 'love' contains 10 quatrains Thus 400 quatrains are arranged into 3 sections. This arrangement is attributed by one tradition to the Pāṇḍyan king, Ugraperuvaḷuti, and by another tradition to the Jaina scholar named Padumanār. Of the 18 didactic works in the Tamil language Kuraḷ and Nālaḍiyār are considered to be the most important. The moral principles enunciated in this work are accepted by all classes without any difference of caste or religion. The traditional course of Tamil study necessarily involves the study of these two works. None is entitled to be called a Tamil scholar unless he is thorough with these two great works.

On account of the word 'Muttaraiyar' which occurs in one or two quatrains it is contended by some scholars that the work must be brought down to this side of 8th century. They take their standard on the fact that this word 'Muttaraiyar' refers to a minor chief within the Pallava empire. This conclusion is entirely resting upon a meagre philological evidence of this single word There is no further evidence to connect this chieftain with the Jaina ascetics who were no doubt responsible for the composition of the quatrains. On the other hand, the word 'Muttaraiyar' may very well be interpreted as "King of pearls" referring to the Pāṇḍyan kings. It is a well-known fact of ancient history, that pearl-fishery was an important industry of the Pāṇḍyan country, and pearls were exported to foreign countries from the Pāṇḍyan ports. It is but fitting and natural that the Jaina Munis should pay a glowing compliment to their patron belonging to the Pāṇḍyan dynasty. There is another line of argument which tries to bring the age of this work to the later period of the Christian era. Scholars are of opinion that several stanzas in this work are but the echo of the Sanskrit work by Bhartṛhari. Bhartṛhari's Nītiśataka was composed about 650 A. D. and therefore Nālaḍiyār is supposed to be later than the 7th century A. D. This argument must also be rejected, because the Jaina scholars who are experts in both the languages, the Tamil and the Sanskrit, were probably acquainted with certain old Sanskrit sayings that were perhaps incorporated by Bhartṛhari in his work. Even if you maintain that the Jaina ascetics responsible for Nālaḍiyār

were probably members of the Drāviḍa Saṅgha presided over by Srī Kundakundācārya, the work could not be assigned to a period later than the first century A.'D. It is relevant to mention, in this connection, that quatrains from this Nāladiyar are found quoted in the well-known commentaries in Tamil language from very early times. Besides these two great works, several others (such as 'Aranericcāram' the essence of the way of virtue. 'Palamoli', Proverbs, Ēlāti etc.,) included in 18 didactic works probably owe their origin to Jaina authors. Of these we may notice a few in short.

1. Aranericcāram—"The essence of the way of virtue," is composed by a Jaina author by name Tirumunaippāḍiyār. He is said to have flourished in the last Saṅgam period. He describes in this great work five moral principles, associated with Jainism, though common to the other religions in the south. These principles go by the name of Pañcavratas, the five rules of conduct governing the householder as well as the ascetic These are Ahiṁsā (non-killing), Asteya (non-stealing), Satya (truth-speaking), Brahmacarya and Parimita Parigraha (avoiding unnecessary luxury and paraphernalia and limiting oneself to the bare necessities of life). These constitute the five-fold principles of ethical conduct, and they are enunciated in this work called Aranericcāram.

2. Paḷamoḷi or Proverbs - The author is a Jaina by name Muṇrunaiyār Araiyanār. It contains 400 quatrains of Veṇbā metre like Nālaḍiyār. It consists of valuable old sayings containing not merely principles of conduct, but also a good deal of worldly wisdom. It is assigned a third place in the enumeration of the 18 didactic works which begins with Kuṛaḷ and Nālaḍiyār.

3. Another work belonging to this group of 18 is "Tiṇaimālai Noorraimbatu" by Kaṇimēdaiyār. This Jaina author is also said to be one of the Saṅgam poets. This work treats of the principles of love and war and is quoted freely by the great commentators of the later age. Stanzas from this work are found quoted by Naccinārkkiniyar and others.

4. Another work of this group is 'Nānmaṇikkaḍigai', the solver of the four gems, by the Jaina author by name Vilambinathar. This is also in the Veṇbā metre well-known in the other works. Each stanza deals with four important moral principles like jewels; and hence the name Nānmaṇikkaḍigai.

5. Next Ēlāti, Cardamon and others. The name Ēlāti refers to the mixture of perfumes of Elā, (cardamon), Karpūram (Camphor), Erikarasu (the odorous wood), Candanam (Sandal), and Tēn (Honey). The name is given to this work because each quatrain is supposed to contain five or six such fragrant topics The work is of a Jaina origin, and the author's name is Kaṇimēdaiyār whose knowledge is appreciated by all. It is also one of the 18 lesser classics of Saṅgam literature. Nothing is known of the author except that he is said to be a disciple of Mākkāyanār, son of Tamiḷāśiriyar, a member of the Madurā Saṅgam. Though these works are usually included in the general group of the 18 minor classics, it should not be assumed that they all belong to the same century. They must be spread over several centuries; and the only thing that we may assert with a certain amount of certainty is, that they all belong to pre-revivalistic period of the Hindu religion in the south. Hence they must be assigned to the period before the 7th century A. D.

Continued.

Studies in the Vividha Tirtha Kalpa.

BY

Dr. B. C. Law, Ph. D., M.A., B L.

The Vividhatirtha kalpa, a Jain work, published by Bahadur Singh Singhi, is important and helpful in the study of Ancient Indian Geography. Some of the materials are new and interesting.

Kaparddi Yaka:

Pālittān is a town in Vālakya, where lived Kaparddi, the mayor of the place. He was a man of dissolute character, who drank life to the lees along with his wife. One day two sūris came to his house on the occasion of the festival of Śatruñjaya The rains had then set in. So they asked him for shelter which was granted on condition that they must not impart to him any religious instructions.

The Sūris stayed here for four months. On the eve of their departure, they wanted to teach him some moral lessons. But he declined, though he was agreeable to be taught some mantras. So they taught him the five paramesṭhi mantras and asked him to bow down before the Mount Śatruñjaya daily. As directed, he observed the five great mantras, and in due course, abstained from taking wine. Then sick of the world, he worshipped Adi Jinendra, in consequence whereof he died in peace. By virtue of the peculiar sanctity of the tīrtha, he was reborn as a Yakṣa named Kaparddi. His wife who died of starvation was also reborn as his elephant.

Kaparddi worshipped the guru of his former birth and said to him, "Lord! it is by your divine grace that I have succeeded in obtaining riddhi. Kindly instruct me what to do now." In reply, the guru said, "You will ever lord over this tīrtha and worship Yugādinātha. You will fulfil the desires of pilgrims and remove all obstacles in the may of saṁgha." The lord of the Yakṣas then went to the summit of Vimalagiri where he acted up to the advice of his guru.

Pārśvanātha in Śuddhadantī.

Śrīpadma, son of Daśaratha of Ayodhyā, used to worship the image of Pārśvanātha. But the adhiṣṭhāyaka gods, as they apprehended evil in the path of dharma, took the image to Śuddhadantī where it was kept concealed in the womb of the earth.

After a long time the teacher Vimala Sūri dug out the image which he installed in a caitya newly built by him. In course of time, the Turks broke the head of the image and threw it down on the ground.

One goat-keeper, while tending goats, saw the head fallen on the ground. He took it up and placed it on the broken fragment. Strange it is that it stuck to the body. The image is still being worshipped here.

Abhinandanadeva in Avantī.

The caitya of Abhinandanadeva, son of king Sambara, was in the village of Meda in Mālava. Once a host of Mleccha troops invaded the place and broke the temple along with the image of Abhinandanadeva. After many days a merchant named Vaijā came here from Dhāraḍa. He was a very pious man who would not eat anything until he finished worshipping the deity. The Medas showed him the broken figure of Abhinandanadeva. He began to worship it, and resolved not to take any meal until it became an unbroken entity. Then as per injunction received in a dream, he anointed the image with sandal paste, in consequence of which it became an unbroken whole. He installed it in an alter under the Pippala tree. Abhayakīrtti, Bhānukīrtti, Āmbā and Rājakula were the principal religious teachers of the place.

Saint Hāḷāka built here a beautiful caitya on the occasion of a son being born to him. A Meda named Mahaṇiya cut off one of his fingers before the Lord and got back a new one under his influence. Jayasiṁhadeva, king of Mālava, heard of the super-human power of tha Lord and worshipped him. This image-worship is still in vogue here.

Pratiṣṭhāna was a town in Mahārāṣṭra. In course of time, it was converted into a small village. Two brahmins, with their widowed sister, came here and took up their residence in a potter's house. One day the sister went to the Godāvarī to fetch water when Nāgarāja, captivated by her beauty, forcibly outraged her modesty in the form of a human being. Signs of pregnancy appeared, and the brothers left her in shame and distrust. In the fulness of time, however, she gave birth to a son adorned with all auspicious marks. The child was named Sātavāhana.

Pratiṣṭhānapura.

Vikramāditya was the then king of Avantī in Ujjain. He was informed by an astrologer that Sātavāhana would be the king of Pratiṣṭhānapattana. On hearing this, the king besieged the place, but was utterly defeated by Sātavāhana and fled away. Sātavāhana was crowned king in Pratiṣṭhānapura which again became a flourishing town. He conquered many territories between the Decean and the Tāpti, and introduced an era after his name. He embraced the cult of Jainism, constructed a large number of caityas and established the image of Mahālakṣmī on the bank of the Godāvarī.

Here was born Vāsupūjya, the twelfth Jina saint, who attained kevalajñāna and finally, nirvāṇa. Karakaṇḍu who was the ruler of this place installed the image ot Pārśvanātha in the tank of Kuṇḍa. Seeing the youth and old age of Mahāvṛṣabha, he became a Pratyeka Buddha, and in due course, attained perfection.

Campāpurī

Here Vīra Svāmī spent three nights during the rains with Priṣṭhācampā. Kuṇika, son of king Śreṇika, left Rājagṛha on the death of his father and made Campā his capital. Here reigned Karṇa. Śudarśana, a banker, attained salvation here by virtue of his enlightened character.

Here an image of Mahāvīra was made by Kumāranandī, a goldsmith of repute.

Here in the caitya of Pūrṇabhadra Vīrasvāmī promulgated that whoever would reach the Aṣṭāpada would attain perfection in that very birth.

Here Pālita, a worshipper of Śrī Vīra, attained perfection by acquiring supreme knowledge.

This city abounds with various kinds of gems. It is watered by the Ganges.

Pāṭaliputranagara.

On the death of his father, Kuṇika, Udāyi became the king of Campā. He was so much overwhelmed with grief that the ministers thought it proper to transfer his capital. Augurs were sent out for selecting a site suitable for the construction of a new city. They reached the bank of the Ganges where stood a Pāṭala tree. They saw a number of worms entering the mouth of a Nīlakaṇṭha bird that lived on that tree. This they thought to be an auspicious sign and a town was built at that very site. It was named Pāṭaliputra after the name of the Pāṭala tree. It was also called Kusumpura, as the tree was laden with many Kusumas (flowers). Udāyi built here a caitya of Śrī Nemi and became an advocate of Jainism.

Here reigned seven Nandas. The Nanda dynasty was overthrown by Cāṇakya, a shrewd Brahmin politician, who installed Candragupta Maurya on the throne. After the demise of Candragupta, Bindusāra, Aśoka and Kuṇāla adorned the throne of Pāṭaliputra.

Mūladeva, an expert in all branches of arts, and Acalasārthavāha, a rich man, lived in this place.

The Ganges flows by the city. To the north of it is a vast expanse of sand, where Kalki and the saṁgha headed by Pratipadācāryya were rescued from a deluge.

Here are five stūpas full of wealth, which were repeatedly attacked by the Sultan of Lakṣmaṇāvatī.

Here wandered Bhadravāhu, Mahāgiri, Suhasti and Vajrasvāmī. The great sage Sthūlabhadra observed here a religious vow of austerity lasting for four months during the rains.

Śrāvastī is an ancient important town, now known as Saheṭ-Maheṭh. Here is still to be seen a caitya adorned with the image of Śrī Sambhavanātha. At the gate of it is an Aśoka tree of crimson colour.

Śrāvastīnagarī.

Here is a Buddhist temple where kings, devoted to the Buddha, used to offer horses before the deties.

Here the Buddha made a brilliant display of his arts, and Lord Sambhava svāmī attained the bliss of Kevala jñāna.

Saint Kapila came to this town for the purpose of acquiring knowledge. In course of time, he became Svayaṁ Buddha, and attained perfection by ordaining five hundred thieves.

Lord Mahāvīra spent a night here during the rains and practised various forms of religious austerities.

Here Bhadra, son of king Jitaśatru, became an ascetic in course of his wanderings. He was taken for a thief by the royal officers who caught and persecuted him. In the long run, he attained perfection.

Vārāṇasī is town in Kāśī, watered by the Ganges. Two rivers, Varuṇā (Varṇā) and Asi, join the Ganges here ; hence it is named Vārāṇasī.

Vārāṇasīnagarī.

Here was born Supārśva who was initiated in the Sahasrāmravana and attained nirvāṇa in the Sammeta mountain.

Here were also born two Brahmin brothers, Jayaghoṣa and Vijayaghoṣa, who were versed in the four Vedas and experienced in the six Karmas. They took to asceticism and attained salvation.

Here lived an old merchant named Bhadrasena whose wife was Nandā and daughter, Nandaśrī. Nandaśrī retired from the world and received initiation at the hands of Gopālī Aryyā. Two ascetics,

Dharmaghoṣa and Dharmayaśā, spent the nights here during the rains.

King Hariścandra of Ayodhyā lived here for long with his wife, Sutārā and his son, Rohitāśva. The incidents of his life are very romantic. One day Indra, king of gods, spoke highly of his piety. Two gods, Candracūḍa and Maṇiprabha, disbelieving the statement, came down to the earth, one in the form of a wild boar. The boar began to cause ravages in the Vihāra of Śakrāvatāra when Hariścandra appeared on the scene and struck him wtth an arrow. But the boar vanished and a pregnant doe was found killed. To make atonement, the king sought the advice of his Kulapati (family preceptor) whose daughter, Vañcanā, was then lamenting the loss of the doe. Kulapati grew wild with the king who, to appease his wrath, proposed to present him with his entire kingdom and Vañcanā, with a lac of coins. The fiery sage accepted the offer of the kingdom and pressed the king for the promised amount from outside the kingdom. The king came to Kāśī, sold his wife and son to Brahmin and himself to a Caṇḍāla, and thus paid off the sum promised by him. Very soon a great pestilence broke out in the town. Sutārā who was thought to be a devil had to court punishment. Rohitāśva died by snake-bite. While the dead was brought to the cremation ground, Hariścandra demanded śulka (price of labour). Then there was a shower of flowers from heaven. Hariśchandra was reinstalled on the throne and a reign of cosmos followed.

Vārāṇasī is divided into four parts :—

(i) Devavārāṇasī. Here is the temple of Viśvanātha wherein are to be seen twenty-four Jina paṭṭas.

(ii) Rājadhānī Vārāṇasī—Here live the Yavanas now.

(iii) Madana Vārāṇasī and

(iv) Vijaya Vārāṇasī.

Here are many popular shrines. Near the Dantakhāta tank is the caitya of Pārśvanātha. Six miles away from this place is an elevated temple of Bodhisattva,

Śrī Mahāvīra Gaṇadhara.

Among the Gaṇadharas the most important are Indrabhūti, Agnibhūti, Vāyubhūti, Vijukta, Sudharmasvāmī, Maṇḍika, Mayūraputra Akampita, Acalabhrātā, Metaryya and Prabhāsa.

Indrabhūti, Agnibhuti and Vāyubhūti, sons of Vasubhuti and Prithivī, were born at Gobbara in Magadha. Vijukta, son of Ghanamitra and Varuṇī, and Sudharma, son of Dhammilla and Bhadrilā, were born at Kollāga. Maṇḍika, son of Dhanadeva and Vijayadevā, and Mayūraputra, son of Mayūra and Vijayadevā, were born at Moriya. Akampita, son of Deva and Jayantī, was born in Mithilā. Acalabhrātā, son of Vasu and Nandā, was born at Kośala. Metaryya, son of Datta and Varuṇadevā, was born at Tuṅgita in Vatsya. Prabhāsa, son of Vala and Atibhadrā, was born in Rājagṛha.

Indrabhūti led a household life for 50 years; Agnibhūti, 46 years; Vāyubhūti, 42 years; Vijukta, 50 years; Sudharma, 50 years; Maṇḍika, 53 years; Mayūraputra, 65 years; Akampita, 48 years; Acalabhrātā, 46 years; and Prabhāsa, 16 years.

Indrabhūti doubted animal life; Agnibhūti, Karma; Vāyubhuti, animal body; Viyukta, five elements; Sudharma, this life and the life beyond; Maṇḍika, salvation; Mayūraputra, gods; Akampita, hell; Acalabhrātā, virtue and vice; Metaryya, the other world; and Prabhāsa, nirvāṇa.

All these eleven Gaṇadharas were ordained in the town of Madhyama Pāvā. They were blessed with all sorts of labdhis (acquirements). Buddhi-labdhi is of eighteen kinds-kevala Jñāna, abhijñāna, etc., Kriyā—labdhi is of two kinds—Cāraṇatva and ākāśagāmitva.

Indrabhūti undertook Kevali-vihāra for 12 years; Agnibhūti, 16 years; Vāyubhūti and Viyukta, 18 years each; Sudharma, 8 years; Maṇḍika and Mayūraputra, 16 years each; Akampita, 21 years; Acalabhrātā, 14 years; Metaryya and Prabhāsa, 16 years each.

All these Gaṇadharas attained nirvāṇa in the Vaibhāra mountain in the city of Rājagṛha. Indrabhūti and Sudharma attained mokṣa after the demise of Mahāvīra, and all others, during the lifetime of the Lord.

Pārśvanātha in Kokā Vasati.

Abhayadeva Sūri, while roaming from one village to another, came to Anahillāpāṭaka and stayed outside the town. One day King Jayasiṁhadeva saw him clad in dirty dress. He worshipped him and called him by the name of Maladhārī.

The King took him to the town and gave him shelter near Ghṛtavasati. Here was born Hemacandra Sūri, a reputed author of some sacred books.

Sauvarṇika took a portion of land from a banker named Kokaya and built Kokāvasati Caitya wherein was installed the image of Pārśvanātha. In course of time, the image was broken by the King of Mālava. Later, it was rescued by Rāmadeva. It was remoulded and installed in a Caitya made by Devānanda Sūri.

Koṭiśilātīrtha.

Koṭiśilā is a tīrtha in Magadha. Cakrāyudha, the first Gaṇadhara, of Śāntinātha, fasted at this place, with the result that he attained Śivahood. Crores of saints practised penances here and attained perfection. In the Arajinavara tīrtha twelve crores of Śramaṇas attained perfection. In the Mallijina tīrtha six crores of riṣis obtained sidhi. Three crores of sādhus attained blessedness in the Munisuvyayajina tīrtha.

Vastupāla-Tejapāla.

Two ministers, Vastupāla and Tejapāla, lived at Maṇḍalī in Gurjara. Once they went on a pilgrimage to Śantruñjaya. On their way they came by a pitcher full of gold. With the permission of Anupamādevī, wife of Tejapāla, Vastupāla disbursed the whole amount in the tīrthas of Satruñjaya and Ujjayanta.

Mahanadevī, daughter of the king of Kānyakubja, inherited Gurjara from her father. On her death, she became the presiding

deity of the place and asked King Vīradhavala (in a dream) to appoint Vastupāla and Tejapāla as his ministers. Accordingly, the king entrusted them with the administration of Stambhatīrtha and Dhavalakka. Moreover, Tejapāla was authorised to domineer over the entire kingdom. They spent their days in performing acts of piety, *viz.*, observing the six systems of philosophy, making gifts founding sacred places and so on.

They installed a large number of Jina images, and constructed many posathaśālās, Brahmaśālās and Satraśālās. Five hundred Brahmins used to chant the Vedas and fifteen hundred Śramaṇas used to take food in their houses daily. Their fame extended as far as Śrīparvata on the south, Kedāra on the north, Prabhāsa on the west and Vārāṇasī on the east. They won laurels in sixty-one battles.

Ḍhiṅgpurī tirtha.

King Vimalayaśā had a son named Puṣpacūla and a daughter named Puṣpacūlā. Puṣpacūla was better known as Vaṅkacūla, since he was a mischief-monger. The king drove him out of town. So he, with his wife and sister, came to a village called Siṁhaguhā where he was given shelter and made chief of the village by the Bhillas

Once Susthitācāryya, while going on a pilgrimage to Aṣṭāpada, came over to this village As the rains set in, the sūris were permitted by Vaṅkacūla to stay there. They spent four months, and when they departed, they exhorted him (1) not to eat unknown fruits, (2) not to go to Paṭṭadevī (queen-consort), (3) not to eat the flesh of a crow and (4) to recede seven steps back at the time of hurting anyone.

On one occasion, Vaṅkacūla, while returning from a looting expedition, felt very hungry. His company ate the fruits of a kingpāka tree, but he did not. The result was that all excepting him died. When he reached home in the stillness of the night, he saw a man lying by his wife. Blinded by rage, he was ready to kill him with sword when the words of the Sūris flashed upon his mind. He receded seven steps back, and to his utter amazement,

saw his sister Puṣpacūlā in the dress of a man, lying on the bed of his wife.

Two riṣis, Dharmariṣi and Dharmadatta, spent the lent here. They asked him to build a caitya. Accordingly, he constructed a very beautiful caitya wherein was installed the image of Mahāvīra.

This place became a great tīrtha and gradually came to be a flourishing town known as Ḍhingpurī. The images of Mahāvīra and Pārśvanātha are still being worshipped here.

Nābheyadeva in Kuduṅgeśvara.

Śrī Vriddhavādisūri lived in the Vihāra of Śakunikā in the country of Lāṭa. He defeated Karṇātabhaṭṭa Divākara of the Deccan in course of an intricate debate and made him his disciple known by the name of Siddhasena Divākara who was taught the entire course of Āgamas, Once Divākara said that he would translate all the Āgamas into Sanskrit. This statement was taken to be a great offence, for which he was asked to make adequate expiation by observing in silence the vow of Pārāñcita for twelve years. Accordingly, he wandered about for twelve years in towns and villages, and came to the emple of Kuduṅgeśvara in Ujjain. He did not bow to the Lord, whereupon king Vikramāditya asked him the reason. He said that if he would bow, the image would split into two. The king was not inclined to believe. So he uttered hymns of the Lord, in consequence of which the image was broken into two and Lord Svayambhu appeared on the spot. The king dedicated a large number of villages to the Lord and the temple of Kuduṅgeśvara shone with the image of Riṣabhadeva.

Vyāghrī.

A tigress came to and stayed at the gate of Nābheya caitya at Satruñjaya. People, out of fear, ventured not to enter the temple. One Kṣatriya, however, approached her and gave her a piece of flesh. But she did not turn to it.

Another gentleman gave her food and drink. But she did not touch them. Then the people were led to believe that she was a

jātismara who was observing fast in that tīrtha. So, out of deep reverence, they began to worship her. She took to fast for seven days and went to heaven after the extirpation of her sins. In honour of her sacred memory, the people installed a marble statue of hers at the gate of the caitya.

Aṣṭāpadagiri.

Ayodhyā is a town, twelve yojanas long and nine yojanas broad, where were born Riṣabha, Ajita, Abhinandana, Sumati and Ananta. Twelve yojanas away from it is a beautiful mountain called Aṣṭāpada, eight yojanas in height. It is generally known as Kailāsa parvata or Dhavalgiri. On the summit of it, Riṣabha Svāmī attained nirvāṇa with ten thousand anagāras (ascetics). Here the gods erected three stūpas. Close by is a temple called Siṁhaniṣadyā covering a space of half a yojana. It is adorned with the images of Riṣabha, Ajita, Sabhava, Abhinandana, Sumati, Supārśva, Śītala, Sijjaṁsa, Vimala, Ananta, Dharma, Śānti, Kunthu, Ara, Nami, and Mahāvīra.

This mountain is inaccessible to humanity, as it is encircled by Aṣṭāpada bands. Hence it is named Aṣṭāpada.

Lord Vardhamāna said that whoever would ascend this mountain and worship the caitya would attain salvation. Lord Gotama ascended the mountain, worshipped the caitya and attained 'Puṇḍarika dhyāna' at the foot of the Aśoka tree.

Hastināpura tīrtha.

Hastī, son of king Kuru, lived at this place; hence it is named Hastināpura. Here were born three Jinas, Śānti, Kunthu and Ara, who were blessed with riddhi. Here were built four caityas, watered by Jāhnavī (Ganges). This place was inhabited by Sanatkumāra, Subhūma, Mahāpadma, and the five Pāṇḍavas. Viṣṇu is here the lord of Namuci. Here is a temple of Ambikādevī.

Kanyānaya Mahāvīra.

Bhaṭṭāraka Jinaprabha sūri, while at Daulatāvāda nagara, protected a number of caityas from molestation by the Turks.

Once Muhammad Sāhi fell between the horns of a dilemma in course of delivering judgment and required the help of his guru, Bhaṭṭāraka, who was then called for. When the latter came, he was received with due reverence. He installed thirteen images, and was given a beautiful house to live in with his saṁgha by the Sultan who called it Bhaṭṭāraka Sarāi (Inn). The guru preached the efficacy of Jainism in course of his wanderings. He rescued the tīrtha of Mathurā, and came to Hastināpura, where he installed the images of Sānti, Kunthu, Ara and Mahāvīra.

Padmāvatīdevī in Āmarakuṇḍa.

Amarakuṇḍa is a town in Andhra. Near by is a mountain, on which is to be seen a beautiful temple adorned with the images of Riṣabha and Sāntinātha. Here lived an ascetic (Digambara) named Meghacandra. Once in course of his wandering, he found not the religious book in his hand, and so, sent his disciple, Mādhavarāja, to bring the same. The latter, as he returned to the Vihāra, saw the strange figure of a woman who was none other than Goddess Padmāvatī. He was handsomely rewarded by her for his bravery, and after his return to Āmarkuṇḍa, built a magnificent temple for the installation of the image of the Goddess. This temple is still to be seen. It is rather dangerous to enter into it. So, the people worship the Goddess at the gate.

Māṇikyadeva in Kollapāka.

In ancient times Bharateśvara had built, in the town of Aṣṭāpada, the gemmed image of Riṣabha Svāmī for the good of the people. It was taken by the aviators to Mount Veaḍḍha whence it was shifted by saint Nārada to Indra in heaven, who became a staunch worshipper of it.

Rāvaṇa, king of Laṅkā, heard of the peculiar virtue of the image from saint Nārada. He worshipped Indra who, out of pleasure, gave it to him. Mandodarī, wife of Rāvaṇa, used to worship it during the three periods of the day. When Rāvaṇa abducted Sītā, the image appeared before Mandodarī in a dream and foretold that the death of Ravaṇa and the destruction of Laṅkā were near at hand.

Being very much angry, Mandodarī threw the image into the sea where the gods used to worship it.

Śaṅkara was a Jina king in the town of Kalyāṇa. Once during the outbreak of pestilence here, he was directed in a dream by Padmāvātī that if he would worship the image of Māṇikyadeva, good would befall him and his country. The king acted up to this direction and was favoured with the award of the image. He installed this image in the town of Kollapāka in the country of Tilaṅga, and dedicated twelve villages for the worship of the deity.

Pārśvanātha in Srīpura.

Māli and Sumāli were sent out for some business by the ten-necked one (Daśagrīva). Vaṭuka made a beautiful image of Pārśvanātha with the sacred sand of the place. They worshipped it and took their meal. Then Vaṭuka threw the image down into a tank where it was kept intact by the gods.

King Śrīpāla of Ciṅga Ulla nagara, who was ailing from leprosy, happened to come to this tank. Thirsty as he was, he washed his hands and feet, and drank water of this tank. In consequence of this, his leprosy was cured and he got a new physique. The queen saw in a dream the image of Pārśvanātha in the tank and asked the king to bring it home. The king did accordingly. He set up a town called Śrīpura after his name and built a caitya for the installation of the image.

Stambhanaka.

In the mountain of Ḍhaṅka Prince Raṇasiṁha had an exquisitely beautiful daughter named Bhopala, with whom Vāsuki fell in love and got a son named Nāgārjuna, by her. The father fed the son with the roots, leaves and fruits of some medicinal plants (sarba mahauṣadhi), by virtue of which the latter attained siddhi and was known as Siddhapuruṣa. Nāgārjuna became the Kalāguru of king Śālavāhana. He served Pālittayācāryya in Pālittayapura with a view to learning the art of flying in the sky. Once he saw his guru rising in the sky by applying an ointment to his feet. He tried to imitate the guru; but his attempts were baffled. Then after the direction of his guru, he

pounded 170 selected herbs, mixed them with six grains of rice and water, and made an ointment for his feet. This time he succeeded in soaring into the sky and was thus blessed with the attainment of siddhi.

Nāgārjuna stole the image of Pārśvanātha for the purpose of rasasiddhi and installed it on the bank of the Seḍī. Mahāsatī Candralekhā, wife of king Sālavāhana, rubbed rasa every night in front of the image. One day the queen told her two sons that Nāgārjuna was performing rasasidhi. At once they left the kingdom and came to Nāgārjuna with the object of taking rasa. Then they came to know that rasasidhi was complete, they killed Nāgārjuna by means of a sprout of Kuśa (darbhāṅkura). At the place where the rasa was checked (stambhita) grew up a town callen Stambanaka. In course of time, the entire body of the image excepting the face was buried in the womb of the earth.

Once Abhayadeva Sūri was afflicted with dysentry. He came to Stambhanakapura where was the image of Pārśvanātha in the midst of Khaṅkhara Palāśa. A cow used to come every day to this place and pour forth milk over the head of the image. Abhayadeva saw the image and worshipped it along with the saṁgha. A temple was built wherein was installed the image of Pārśvanātha.

Pārśvanātha in Phalavardhi.

Phalavardhi is a village in Sāvālakṣa, where was the temple of Goddess Phalavardhi. This temple, though once rich, is now no more. Two merchants, Dhandhala and Śivaṅkara, noted for their acts of piety, lived here with a number of cows. One cow belonging to Dhandhala did not give milk. The cowboy started an enquiry and saw that the cow poured forth her milk over an elevated spot every day. He showed it to his master (Dhandhala) who, too, saw in a dream the image of Pārśvanātha lying under the elevated spot. Then Dhandhala and Śivaṅkara dug out from the place the image of Pārśvanatha which they worshipped daily with great riddhi. Directed by a dream, they started the construction of a splendid caitya. When the agramaṇḍapa was done, they stopped further progress for want

of funds. Again, directed by a dream, they resumed work with the damm a (coin) they got every morning in front of the Lord. Thus five maṇḍapas and laghumaṇḍapas were constructed.

In 1181 Vikrama era Śrī Dharma Ghoṣa Sūrī installed in the caitya the image of Pārśvanātha. In course of time, the image was broken by Sultan Sāhābuddin. But as the Mleccha king and his troops suffered blindness along with blood-vomiting, the Sultan issued a mandate that no one should break the temple of the Lord. The broken image of Pārśvanātha is still to be seen. A great festival is held every year on the tenth day of the dark fortnight in the month of Pauṣ.

Ambikādevī.

Koṭīnāra is an important town in Saurāṣṭra, where lived a Brahmin named Soma, wellversed in the Vedas and Āgamas, who duly performed the six prescribed rites Ṣaṭ Karmaparāyaṇa). His wife was Ambinī who bore two sons, Siddha and Buddha.

Bhaṭṭa Soma invited a large number of Brahmins on the occasion of an obsequial ceremony in honour of his father. Some chanted the Vedas, some offered piṇḍas, some performed homa, and some worshipped Viśvadeva (Fire). Ambinī was preparing all sorts of dishes. The mother-in-law went to bathe when came a man to break his religious fast lasting for a month. Now returned the mother-in-law who saw that the daughter-in-law had fed a man before feeding the Brahmins on an auspicious day. She took the daughter-in-law to task and reported the matter to Somabhadra who, out of rage, drove his wife out of home. She left her husband's protection for some time. Then the mother-in-law asked Soma Bhaṭṭa to bring the daughter-in-law back, saying that she was a devoted wife. Seeing her husband coming, Ambinī jumped into a well. After her death she was reborn as Goddess Ambikā in consequence of her virtuous deeds. Soma Bhaṭṭa, too, jumped into the same well and died. He was reborn as a god and became her carrier in the form of a lion.

ŚRIVARDHADĒVA AND TUMBALŪRACARYA.

BY

(M. GOVIND PAI.)

In an inscription of 1129 A.C. on a pillar in Pārśvanātha Basadi at Śravaṇabeḷgoḷa[1], Śrīvardhadēva the author of the Jaina poem *cul(d)āmaṇi* is said to have been praised in a verse by the famous Saṁskṛit poet Daṇḍi :—

चूडामणिः कवीनां चूडामणिनामसेव्यकाव्यकविः ।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्त्तिमाहर्त्तुम् ॥
चूर्णित ॥ य एवमुपश्लोकितो दण्डिना ॥
जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः ।
श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीम् ॥

From the Kannada grammar *Śabdānuśasana* of Bhaṭṭākalaṁka (page 10 composed in 1604 A. C., we learn that *Cūḍāmaṇi* is a Kannaḍa commentary of 96000 verses on (the Jaina work) *Tattvārthamahā-Śastra* :—

न चैषा (कर्णाट) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी
तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवति-
सहस्र-प्रमिता ग्रन्थसंदर्भरूपस्य चूडा-
मण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्य अन्येषां
च.......... . ...बहूनां ग्रन्थानामपि भाषा-
कृतानामुपलभ्यमानत्वात् ।

From the following verses from *Śrutāvatāra* of Indranandi, as quoted in the *Karṇāṭaka Kavi-carite* (Vol. I, p. 8, fn. 2)—

अथ तुंबलूरनामाचार्योऽभूत्तुंबलूरसद्ग्रामे ।
षष्ठेन विना खंडेन सो(पि)ऽसिद्धान्तयोरुभयोः ॥
चतुराधिकाशीति सहस्रग्रंथरचनया युक्ताम् ।(?)
कर्णाटभाषयाकृतमहतीं चूडामणिं व्याख्याम् ॥
सप्तसहस्रग्रंथां षष्ठस्य च पंजिकां पुनरकार्षीत् ।

1. Epigraphia Cornatica II, SB 67, II. 40—43.

it appears that in case the reading of the 4th line is correct, *Cūḍāmaṇi* is a big Kannaḍa commentary in 84000 verses, apart from the *pañjikā* or analysis of the 6th section containing 7000 verses, and it was composed by Tumbalūrācārya, who was so called on account of his having been born in the village Tumbalūr. In that case Śrīvardhadēva and Tumbalūrācārya might well seem to be one and the same person.

But then there is the question of the number of verses in *Cūḍāmani*, which however can not well be easily brushed away. For while that number is 96000 according to Bhaṭṭākalamka, it is 84000, or even including the *pañjikā*, which can not well be mixed up with the *vyākhyā*, it is 91000, according to Indranandi, and the difference cannot be ignored.

It might however be justly surmised that in the long interval between Indranandi and Bhaṭṭākalanika, the work may have been added to by different hands and may have eventually swollen to 96000 verses by the beginning of the 17th century when the latter referred to it in his *Śabdānuśāsana*.

But Dēvacandra in his Kannaḍa *Rājāvalī-kathe* written in 1838 A.C., says that Tumbulūrācāryā's *Cūḍāmaṇi-vyākkyāna* contains 84000 verses—

तुंबुलूरुनामाचार्यर् पंबत्तुनाल्कुसासिर
ग्रंथकर्तृगळागि कर्णाटकभाषेयिं
चूडामणिव्याख्यानमं माडिदर् ।[1]

the *ācārya* named Tumbulūru became an author ot 84,000 verses (and) made *Cūḍāmaṇi-vyākhyāna* in Karṇāṭaka language, *i.e.*, Tumbulurācārya wrote *Cuḍāmaṇi-vyākhyāna* in Kannaḍa in 84000 verses.

It is thus sufficiently evident that *Cūḍāmaṇi* containing 96000 verses could hardly be the same as Tumbulūrācāraya's *Cūḍāmāṇi-vyākhyāna* in 84,000 verses (without taking into account the *pañjika* n 7000 verses). Consequently the compound *Cuḍāmaṇi-vyākhyāna*

1. Karṇāṭaka Kavi-carite Vol. I, p. 8.

here is an undoubted *tat-purusha* meaning a commentary upon *Cūḍamaṇi* (and not a *Karmadhāraya* meaning a commentary called *Cūḍāmaṇi*) so that Tumbulūrācārya would at once seem to be just a commentator, and not himself the author, of *Cūḍāmaṇi.*

The reading of the 4th line in the verses quoted above from *Srutāvatāra*—

कर्णाटभाषयाकृतमहतीं चूडामणिं व्याख्याम् ॥

would thus seem to be incorrect. Accordingly the final nasal of the penultimate word चूडामणिं will have to be dropped, and that word will have be read with the next, *i.e.*, the final, word व्याख्याम् as forming a compound, of course *tat-purusha*, when the line will read—

कर्णाटभाषयाकृतमहतीं चूडामणिव्याख्याम् ।

and mean Tumbalūrācarya 'made (wrote) in Kannaḍa a big commentary upon *Cūḍāmaṇi.*'

It thus follows that *Ś*rīvardhadēva is the author of *Cūḍāmaṇi*, which is a Kannaḍa commentary upon *Tattvārthamahā-Śastra* in 96,000 verses, and Tumbalūrācārya wrote a Kannaḍa commentary upon *Cūḍāmaṇi* in 84,000 verses with an additional *pañjikā* in 7000 verses, and they are thus entirely two different persons.

Now since Śrīvardhadēva is said to have been praised by Daṇḍi who is said to have flourished in circa 6th century A. C., *Cūḍāmaṇi* must have been written sometime before that century.

Among other great Jainācāryas, Tumbalūrācārya has been praised (as Tembuḷūrācārya, तुंबुळूराचार्यें) in the Kannaḍa prose-work *Cāvuṇḍarāya Purāṇa*[1] written in 978 A.C. by the famous Cāmuṇḍarāya (or Cāvuṇḍarāya), who was the minister and commander-in-chief under three Western Ganga kings, Mārasiṁha (962—973), Rājamalla 973—986) and Nītimārga (986—1003), and was also the installer of the great Gommaṭa Colossus at Śravaṇabeḷgoḷa. Tumbalūrācārya's commentary upon *Cuḍāmaṇi* must have been therefore composed sometime before the 10th century.

1. *Ibid*, pp. 8 ; 48.

Reviews of Books.

New Catalogue Catalogorum—(Provisional Fasciculus), University of Madras, Madras.

Dr. Aufrechts' monumental work on the subject no doubt, required a revision with a lot of additions, since the volume of manuscripts available now is vast. Hence the decision of the University of Madras to publish the new *Catalogues Catalogroum* is quite praiseworthy. The provisional fasciculus before us presents an elaborate and exhaustive handing of the subject and we congratulate its learned Editor MM. Dr. Kuppuswami Sastry for this success. The managers of the Jaina Śāstra Bhaṇḍāras should send catalogue of mss. in their respective Collections to the Editors.

Mediaeval Jainism—With special reference to the Vijayanagara Empire; by Dr. B. A. Saletore, M. A., Ph. D., D. Phil. The Karnatak Publishing House, Chira Bazar, Bombay 2. pp. x +426 with illustrations and fine get up. Price Rs. 5.

We congratulate Dr. Saletore on being able to publish for the first time a lively, inspiring and reliable volume on the account of mediaeval Jainism in South India. We are aware of the valuable works on the South Indian Jainism by Drs. Ramaswamy Aiyyar and Seshagiri Rau, but Dr. Saletore's work has its own charm. It is not a mere critical dissertation of a learned scholar, but it is moreover so interesting and so narrative that its perusal can impress even a pious heart. And we have no hesitation to endorse the statement of the Publishers that it is a book, " which for the first time does full justice to the glorious work which the Jaina monarchs and generals, men and women, priests and poets did in order to enrich the heritage of India. In reading this book one feels that the Jainas have after all come to their own in the history of the land."

No doubt, Dr. Saletore has substantiated his statements by quoting from a vast original epigraphical evidences and his treatment

of the subject is reliable. Yet we disagree with him in bringing Arhadbali Ācarya and thereby the division of the Mūlasangha in four sanghas to the ninth century A. D. It is a controversial point which requires a further investigation. We also, draw the attention of the learned author to the fact that the five *mahākalyāṇkas*, the eight mahāprātihāryas etc., are attributable to a Tirthankara only and not to an ordinary Jaina sage. Every learned Jain should purchase a copy of it and profit by its perusal.

K. P. Jain.

"THE JAINA SIDDHĀNTA BHASKARA."

(Gist of our Hindi portion Vol. V, No. 3).

pp. 117—128. Pt. K. Bhujabali Shastri have described the peculiarities of the Kanarese Jaina literature, naming a certain kings of Karanātaka who patronised Jain poets.

pp. 129—134. Pt. Hiralal Sāstrī have traced out some more commentaries of Śivakoṭi's 'Mūlārādhanā;' one of which was styled as 'Prākrata Tīkā' by Pt. Aśādhara.

pp. 135—145. Kamta Prasad Jain have given a birdseyeview of the situation of Jainism during the Muhammadan regime in India.

pp. 146—150. B. Ayodhya Prasad Goyaliya have further written a cursory history of India under the Khilji kings.

pp. 151—164. Pt. Pannālāl Sonī have described the canonical evolution of Ṣaṭakhanḍāgamasūtra and pointed out some misunderstandings of Pt. Jugalkishor Mukhtar.

K. P. Jain.

The Jaina Bibliography.

Prākṛta, Sanskṛit etc.

Harivaṁśapurāṇa of Puṣpadanta edited with Introduction by Dr Ludwig Alsdorf. pp. xii + 515, pls. 3. Hamburg: Friedrichsen, de Gruyter & Co., (1936).

Hindi, Gujarati etc.

Tattvasāra-ṭikā (Hindi) by Br. Sital Prasadji, published by the Jain mitra office, Chandawadi, Surat.

Jambuswāmi-Caritra of Kavi Rāyamalla, tr. into Hindi by Br. Sital Prasadji, published from the above.

Gomaṭeśvara (Kannad) by G. P. Rajratnam, Malleśvaram.

Mahavīrana matu Katha Svetambara Siddhanta) in Kannada by G. P. Rajratnam, Malleśvaram.

Uttara Hindustan māṃ Jainadharma (Gujarati) translated from English by Messrs. Dośi and Shah, The Jyoti Office Ltd., 82 Princess St., Bombay.

Saṃkṣipta Jaina Itihāsa—(Vol. III, pt. 2 in Hindi) by Kamta Prasad Jain, M. R. A. S., Sāhitya-Manīṣī, The Digambara Jaina Office, Chandawadi, Surat, pp. VI + 164 with 4 plates. (1938)

Dakṣiṇa Bhārata, Jaina va Jaindharma, by B. B. Patil, Advocate, Sangli (Belgaum) in Marāthi, pp. 250. (1938).

Pampa Rāmayaṇa Sangraha, edited with Introduction by B. M. Shri-Kanthaiya etc., Published by University of Mysore, pp. cviii + 194.

Select Contributions of Oriental Journals.

1. *New Indian Antiquary, Vol. I, No. 8 (Nov. 1938)*:—

   pp. 516—521.—*Jainism under the Muslim Rule*—by K. P. Jain.

2. *Quarterly Journal of the Mythic Society, Vol. XXIX, No. 2*:—

   pp. 150—162.—*Poligars of Mysore*—by P. B. Ramchandra Rao.

3. *The Journal of the Bihar & Orissa Research Society*—Vol. XXIV, pts. I—II:—

   The History of the widows' Right of Inheritance by A. S. Altekar.

4. *Epigraphia Indica*—Vol XXIII, pt. V:—

   Tandikonda Grant of Ammaraja II—by B. V. Krishna Rao.

5. *Prabuddha Bhārat, Oct. 1938*:—

   pp. 507—508—*Woman's place in Buddhism & Jainism*—by Prof. A. S. Altekar.

6. *Kannada Literary Academy, October 1938*:—

   pp. 281—292—Ranna's 'Gadāyuddha': The date of its composition: By Pandit M. Chennakrishnaiya, Bangalore.

7. *Prabuddha Karṇāṭaka Vol. 20 No. 1—2*:—

   pp. 119—136, pp. 101—124—Kādamba by N. Lakshmi Nārāyaṇa Rao, M.A., and R. S. Panchamukhi, M.A.

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. IV *MARCH, 1939* No. IV.

Edited by
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :
INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8 SINGLE COPY Rs. 1-4.

RULES.

1. The Jaina Antiquary and Jaina Siddhanta Bhaskara is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*,. in June. September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause cf Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ॥)

(४) जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण ... १)

(५) " २य तथा ३य सम्मिलित किरणें ... १।)

(६) " २य भाग की चारों किरणें ... ४)

(७) " ३य " " ... ४)

(८) " ४र्थ " " ... ४)

(८) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ॥)
(यह अर्ध मूल्य है)

(९) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PrintedBy D. K. Jain, Shree Saraswati Printing Works, Ltd., Arrah.